तुलनात्मक राजनीति
एवं
राजनीतिक विश्लेषण
Comparative Politics and Political Analysis

प्रश्न पत्र-VI

Paper-VI

एम.ए. राजनीति विज्ञान(उत्तरार्द्ध)

M.A. Political Science (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

अध्याय 1: तुलनात्मक राजनीति का विकास 5

अध्याय 2: तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र 13

अध्याय 3: तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के द ष्टिकोण 22

अध्याय 4: संविधानवादः अवधारणाएं, समस्याएं और सीमाएं 56

अध्याय 5: सरकार के रूपः एकात्मक एवं संघात्मक सरकार 85

अध्याय 6: सरकार के रूपः संसदीय और अध्यक्षात्मक सरकार 112

अध्याय 7: सरकार के अंग 126

अध्याय 8: राजनीतिक विकास 159

अध्याय 9: राजनीतिक आधुनिकीकरण 175

अध्याय 10: राजनीतिक संस्कृति 188

अध्याय 11: राजनीतिक समाजीकरण 202

अध्याय 12: राजनीतिक संचार 213

अध्याय 13: दलीय-व्यवस्थाएं 220

अध्याय 14: दबाव समूह 236

अध्याय 15: प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन प्रणाली 251

अध्याय 16: राजनीतिक अभिजन 265

अध्याय 17: नौकरशाही 279

अध्याय 18: शक्तियों का प थक्करण 293

अध्याय 19: कानून का शासन 302

अध्याय 20: न्यायिक पुनरावलोकन या पुनर्निरीक्षण 309

अध्याय 21: शक्ति, सत्ता और औचित्यपूर्णता 319

M.A. (Final)

Political Science

Paper-VI

Comparative Politics and Political Analysis

M. Marks : 100
Time : 3 Hrs.

Note: 10 Questions will be set–2 from each unit. The candidate is required to attempt 5 questions, selecting one from each unit.

Unit-I

Evolution of Comparative Politics as a discipline: Nature and scope: Approaches to the study of Comparative Politics: Traditional, Structural-Functional, Systems and Marxist Constitutionalism: Concepts, Problems and Limitations.

Unit-II

Forms of Government: Unitary-Federal, Parliamentary-Presidential: Organs of government: Executive, Legislative and Judiciary-their Interrelationship in comparative perspective: India, USA, U.K. and Switzerland.

Unit-III

Political Development, Political Modernization, Political Culture, Political Socialization/and Political Communication.

Unit-IV

Party systems and pressure Groups: Electoral systems

Unit-V

Political Elite: Elitist theory of Democracy: Bureaucracy-Types and role: Separation of Powers, Rule of Law, Judicial-Review Power. Authority and Legitimacy.

अध्याय-1

तुलनात्मक राजनीति का विकास
(Evolution of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति केवल आधुनिक युग की देन नहीं है, बल्कि इसका गौरवपूर्ण अतीत है। तुलनात्मक राजनीति के विकास की गाथा अरस्तु से प्रारम्भ होती है। अरस्तु ने ही सर्वप्रथम 158 देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की नींव रखी। अरस्तु के बाद अनेक विचारक सदैव यही बात सोचते रहे हैं कि कौन सी शासन-व्यवस्था किस समाज के लिए उपयुक्त हो सकती है। उनकी इसी बात में तुलनात्मक शब्द का समावेश हो जाता है। अरस्तु के बाद मैकियावेली, माण्टेस्क्यू, मार्क्स आदि विद्वानों ने तुलनात्मक विश्लेषण का विकास करके तुलनात्मक राजनीति का विकास किया है। इस तरह लम्बे विकास के दोर से गुजरती हुई तुलनात्मक राजनीति अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँच पाई है। अनेक उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण तुलनात्मक राजनीति आज एक स्वतंत्र विषय के रूप में विराजमान है। अरस्तु से लेकर वर्तमान अवस्था तक विकास को प्राप्त तुलनात्मक राजनीति के विकास का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

(I) द्वितीय-विश्व युद्ध तक तुलनात्मक राजनीति का विकास (Evolution of Comparative Politics upto Second World War)।

(II) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति का विकास (Evolution of Comparative Politics After Second World War) ।

(III) तुलनात्मक राजनीति की वर्तमान स्थिति (Present Position of Comparative Politics)

(I) द्वितीय विश्व युद्ध तक तुलनाात्मक राजनीति का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध तक तुलनात्मक राजनीति के विकास के प्रमुख सीमा-चिह्न निम्नलिखित हैं :-

1. **अरस्तु का योगदान (Contribution of Aristotle) :-**अरस्तु को तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत द ष्टिकोण का जनक कहा गया है। अरस्तु ने सर्वप्रथम 158 देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके शासन-प्रणालियों को क्रमबद्ध किया। उसने सबसे अच्छी और सबसे बुरी शासन-प्रणाली पर अपने विचार प्रस्तुत किए। उसने अपनी पुस्तक 'Politics' में राजनीति की अध्ययन पद्धतियों सम्बन्धी प्रश्न उठाए और उनका समाधान भी किया। उसने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग करके राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास सर्वप्रथम किया। उसने अपनी वैज्ञानिक पद्धति के बल पर तत्कालीन शासन-व्यवस्थाओं का गहरा अवलोकन किया और उनसे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण किया। अरस्तु ने राजनीति शास्त्र को अन्य शास्त्रों से अलग कर एक स्वतंत्र शास्त्र की पदवी प्रदान की। इसी कारण अरस्तु को राजनीति विज्ञान का जनक भी कहा जाता है। उसने प्लेटो की तरह आदर्शवादी अध्ययन न करके यथार्थवादी अध्ययन पर जोर दिया। उसने वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ही तथ्यों और आंकड़ों का विश्लेषण करके

उपयोगी निष्कर्ष निकाले। उसने क्रान्ति के कारणों का पता लगाया और उन्हें रोकने के सुझाव भी दिए। उसने सरकारों या शासन-व्यवस्थाओं के वर्गीकरण के सुनिश्चित सुझाव भी दिए। इस तरह अरस्तु का महत्त्व इसी बात में है कि उसने तुलनात्मक पद्धति का विकास किया। उसके द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक पद्धति आज भी तुलनात्मक अध्ययन का आधार है।

(2) **मैकियावेली और पुनर्जागरण काल (Machiavelli and the Renaissance)** :- बौद्धिक पुनर्जागरण के काल में राज्य को दैवी संस्था की बजाय मानवकृत संस्था बताया गया। इस युग में मानववाद और बौद्धिक स्वातन्त्र्यवाद का प्रचार हुआ। इस युग में 'मानव को ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड' माना गया। मैकियावेली ने बौद्धिक पुनर्जागरण काल का प्रतिनिधि होने के कारण राजनीति शास्त्र में पद्धति सम्बन्धी प्रश्न फिर से उठाए और अपनी पुस्तक 'The Prince' में बताया कि राजनीति का व्यवस्थित और तुलनात्मक अध्ययन क्यों जरूरी है ? उसने राज्य-कला और प्रशासन-कला के बारे में नए विचार प्रस्तुत किए। उसने अपनी पुस्तक 'The Prince' में बताया कि एक सफल शासक में कौन-कौन से गुण होने चाहिए। उन्होंने इस पुस्तक में राजनीतिक व्यवहार और शासनकला के बारे में विस्तार से बताया। उसने अच्छे और बुरे शासन पर अपने विचार प्रकट किए। उसने अपने ये विचार प्रकट करने से पहले अनेक शासन-व्यवस्थाओं को गम्भीर अध्ययन किया। उस समय इटली राष्ट्रीय एकता के अभाव में कमजोर व पिछड़ा राष्ट्र था, इसलिए उसने इटली को शक्तिशाली बनाने के लिए 'The Prince' में बताया कि शक्ति कैसे प्राप्ति की जा सकती है। इस तरह मैकियावेली का ग्रन्थ 'The Prince' तुलनात्मक अध्ययनों का सार है। उसने सबसे पहले ध र्म व राजनीति को प थक करके इसके औचित्य पर प्रकाश डाला। उसने अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर ही वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन करके कारणों की खोज की और सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए। उसने अनुभववाद और इतिहासवाद का मेल करके अपने तुलनात्मक अध्ययन का विकास किया, वर्तमान समस्याओं की जड़ें इतिहास में तलाश की और राजनीतिक समस्याओं का हल खोजा। उसने राजनीतिक चिन्तन का उद्देश्य सामाजिक अभियन्त्रण (Social Engineering) को बताया तथा श्रेष्ठ समाज की रचना के उपाय भी बताए। इस प्रकार निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि मैकियावेली ने ऐतिहासिक पर्यवेक्षणात्मक, यथार्थवादी और वैज्ञानिकता के गुणों से भरपूर आगमन अध्ययन पद्धति का प्रयोग करके तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। उसके अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन करके इटली के लिए उपयुक्त शासन-व्यवस्था की तलाश करना था। अपनी पुस्तक 'The Prince' के माध्यम से उसने अपने इस उद्देश्य को प्राप्त किया।

(3) **मॉण्टेस्क्यू का योगदान (Contribution of Montesquieu)** :- बुद्धिवादी युग का विचारक होने के नाते मॉण्टेस्क्यू ने अपने चिन्तन का लक्ष्य सामाजिक अभियन्त्रण की बजाय संवैधानिक अभियन्त्रण को बनाया। उसने अनुभूतिमूलक और निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक व ऐतिहासिक पद्धति को अपनाकर राजनीतिक समस्याओं का विवेचन वास्तविक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही किया। उसने अपनी पुस्तक 'The Spirit of the Laws' में संविधान निर्माण की कला को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और बताया कि सरकारों का संगठन कैसे किया जाए। उसकी रुचि इस बात में थी कि सरकारों का निर्माण कैसे हो, इस बात में नहीं कि शासकों को कैसा व्यवहार करना चाहिए। उसका ग्रन्थ 'The Spirit of the Laws' आधुनिक समस्याओं का दिग्दर्शन है। उसने इस ग्रन्थ में सरकारों के उदय, विकास और पराभव पर विचार करते हुए तुलनात्मक पद्धति का ही सहारा लिया। उसने इस ग्रन्थ में लिखा है-"मैंने इस बात पर विचार किया है कि सरकार के विभिन्न रूपों में कौनसा रूप बुद्धि के सबसे

अनुरूप है और मुझे यह प्रतीत होता है कि स्वतन्त्र सरकार सह होती है जो जनता की स्वतन्त्र प्रव त्ति के अधिक-से-अधिक अनुकूल उसका प्रदर्शन करे।" उसका विश्वास था कि मानवीय संस्थाएं, परम्पराएं और कानून किसी दैवी स्त्रोत की उपज न होकर पेड़-पौधों की तरह अनुकूल परिस्थितियों में धीरे-धीरे विकसित होती है। इसलिए राजनीति शास्त्र का सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों के साथ अध्ययन धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान आदि विषयों के सन्दर्भ में ही करना चाहिए। इस तरह मॉण्टेस्क्यू ने राजनीतिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया। उसके द्वारा प्रतिपादित सभी विषय आज तुलनात्मक राजनीति का अंग हैं। उसने विभिन्न समाजों की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या की है। उसने सामाजिक परिवर्तन को एक तकनीक कहकर सामाजिक व्यवस्था को मनुष्यों द्वारा बदलने की बात कही है। उसने तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके समाजों में श्रेष्ठतर संगठनों का पता लगाया और अपनी श्रेष्ठ सरकारों के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

इस तरह मॉण्टेस्क्यू की रुचि राजनीतिक व्यवस्थाओं के सरकारी ढाँचे को वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में थी। उसने राजनीतिक व्यवस्थाओं का बाह्य पर्यावरण से सम्बन्ध; आर्थिक कारकों और व्यवहारों की राजनीति में भूमिका; राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण की समस्याओं में अपना ध्यान लगाया और राजनीतिक व्यवस्थाओं की जीवन क्षमता पर विचार किया। उसके द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक व्यवस्थाओं का संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण, राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण, राजनीतिक व्यवस्था का समाज, अर्थव्यवस्था व परिवेश से सम्बन्ध आदि विचार तुलनात्मक अध्ययन के आधार हैं। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रयुक्त सिद्धान्त और विधियां आधुनिक समय में तुलनात्मक राजनीति के महत्त्वपूर्ण आधार हैं।

(4) **इतिहासवाद का युग (The Era of Historicism)** :- मॉण्टेस्क्यू के बाद राजनीति के अध्ययन पर इतिहासवाद का भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि इतिहासवाद के प्रत्यक्ष रूप से तो तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं दिया, परन्तु इतिहासवाद के दर्शन के रूप में उत्पन्न परिस्थितियों ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया। इतिहासकार के दर्शन के रूप में उत्पन्न विरोधी प्रव त्तियां ही आज तुलनात्मक राजनीति का आधार हैं। इतिहासवाद से तात्पर्य उस मान्यता से है जिसके अनुसार मानव समाज का एक क्रमिक व निश्चित दिशा में निरन्तर विकास हो रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार सारा विश्व एक ही दिशा में विकसित हो रहा है और इसमें सार्वभौमिकता और सर्वव्यापकता का गुण भी है। इतना होने के बावजूद भी इतिहासवाद के विचारकों में विकास की अन्तिम मंजिल व आधारभूत कारणों पर मतभेद हैं। यही मतभेद तुलनात्मक राजनीति की विषय सामग्री है। हीगल तथा मार्क्स में इतिहास की मंजिल को लेकर जो मतभेद हैं, वे तुलना के आधार हैं। हीगल मानव जीवन का लक्ष्य आत्मा के मोक्ष को कहता है और उसके इस काम में राज्य उसकी मदद कर सकता है, क्योंकि राज्य ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसलिए राज्य के आदेशों का पालन करना ही व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता है। इस प्रकार हीगल की व्याख्या में तुलना का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। उसके विपरीत मार्क्स विकास का अन्तिम उद्देश्य भौतिक द ष्टि से वर्गविहीन समाज की रचना करना है। मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष समाजों के विकास को एक महत्त्वपूर्ण अन्तिम मंजिल तक पहुंचाता है। इस तरह इसमें भी तुलना का अभाव है। परन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित अन्तिम मंजिल व विकास के प्रेरक तत्व ही तुलनात्मक अध्ययन का आधार हैं; क्योंकि उनमें मतभेद का गुण है।

'मार्क्स का धर्म' का प्रत्यय राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या का आधार है। इतिहासवादियों

ने राजनीति, इतिहास, संस्कृति और धर्म के सम्बन्धों के रूप में तुलनात्मक राजनीति को महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है। आज यह प्रश्न राजनीतिक विचारकों को कचोट रहा है कि इतिहास और राजनीति का आपस में क्या सम्बन्ध है ? धर्म व राजनीति का क्या सम्बन्ध है ? यही समस्या तुलनात्मक राजनीति का आधार है। विकासक्रम की सामाजिक गत्यात्मकता का पहलु भी तुलनात्मक राजनीति की सामग्री है। हीगल तथा मार्क्स द्वारा प्रतिपादिक सार्वभौमिक सिद्धान्त का विचार आज तुलनात्मक राजनीति का प्रमुख विषय है। अन्य इतिहासवादियों द्वारा प्रयुक्त विचार आज तुलनात्मक राजनीति में प्रयुक्त हो रहे हैं। अतः तुलनात्मक राजनीति के विकास में इतिहासवाद का अमूल्य योगदान है।

(5) **इतिहासवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएं (Reactions Against Historicism)** :- इतिहासवादियों ने राजनीति शास्त्र की अपेक्षा राजनीति के ऊपर अधिक ध्यान दिया। इसी कारण उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न तथा समंस्याएं राजनीति शास्त्र को परेशान करती रही। परिणामस्वरूप सामाजिक चिन्तन के विकास मे इसका प्रभाव कम होता रहा और अन्त में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया ने जन्म ले लिया। इस प्रतिक्रिया के दौरान तीन बातें उभरकर आईं। सर्वप्रथम-इसमें अमूर्त राजनीतिक विश्लेषण पर जोर दिया जाने लगा और राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं का अध्ययन अधिक से अधिक विषयगत अथवा आत्मपरक बन गया। इसके परिणामस्वरूप कल्पनात्मक अध्ययन की बजाय तथ्यों पर आधारित अध्ययन को बल मिला और तुलनात्मक आधार पर ही राजनीतिक संस्थाओं व व्यवहार का अध्ययन होने लगा। इसके बाद दूसरी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रतिक्रियावादियों ने किया और सामग्री की प थकता पर जोर दिया और इस प थकता का तुलनात्मक राजनीति के विकास पर सीधा प्रभाव पड़ा। औपचारिक-कानूनी अड़चनों पर बल दिया जाने के कारण कानूनी व्यवहार की सत्यता का प्रश्न खड़ा हो गया। यही तुलनात्मक अध्ययन का आधार थी। तीसरी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप संरुपनात्मक विश्लेषण का जन्म हुआ। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में विशेष ज्ञान प्रस्तुत करने पर बल दिया गया। अब प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था को अनोखी मानकर अलग से अध्ययन किया जाने लगा। इस प्रतिक्रिया के विचारकों का मानना था कि हर राज्य का अपना समाज, अपनी संस्कृति और राष्ट्रीय चरित्र भिन्न होने के साथ-साथ मूल्य व नीतियां भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए हर राज्य का प थक अध्ययन करना जरूरी हो जाता है। इन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप आगे चलकर समूहीकरण की प्रव त्ति का भी जन्म हुआ और राज्यों का अध्ययन समाज लक्षणों के समूहीकरण के आधार पर होने लगा। इस तरह राज्यों को समूहों में बांटना भी तुलनात्मक राजनीति का आधार बना। इस तरह इतिहासवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अध्ययन ने तुलनात्मक राजनीति का विकास किया और तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी सामग्री दी।

(6) **राजनीतिक विकासवाद का युग (The Era of Political Evolutionism)** :- इस युग को उत्तर-इतिहासवादी युग भी कहा जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध तक इतिहासवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं का दौर जारी रहा। इस दौरान अनेक विचारधाराओं का जन्म हुआ जिनका तुलनात्मक राजनीति के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इस युग में प्राचीन द ष्टिकोणों को त्यागकर राजनीति में नवीन द ष्टिकोणों का प्रयोग होने लगा। विकासवादी विचारकों ने विकास के पीछे निहित प्रेरक तत्वों को खोजने के प्रयास किए और कल्पना की बजाय जीवन की वास्तवविकताओं को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया। उन्होंने अपने अध्ययन का सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति और विकास तक सीमित किया। उन्होंने यह समझने का प्रयास किया कि राज्य के विकास के पीछे कौन से प्रेरक काम कर रहे हैं ? उन्होंने सीमित समस्याओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करके राजनीतिक संरचनाओं की उत्पत्ति के कारणों

को खोजने का प्रयास किया। उन्होंने जटिल राजनीतिक समस्याओं के बारे में ही जानने का प्रयास किया। उन्होंने आंकड़े एकत्रित करने पर ही अधिक ध्यान दिया ताकि राजनीतिक व्यवस्थाओं के मूल में निहित प्रक्रियाओं को समझा जा सके। इस युग की प्रमुख रचनाएं हैं-थियोडोर डी० बूल्ले की रचना 'Political Science' (1878), वुडरो विल्सन की पुस्तक 'The State Elements of Historical and Practical Politics' (1895), सर हेनरीमेन की 'Ancient Law' (1861) तथा 'Early History of Institutions (1874), एडवर्ड जैक्स की 'A Short History of Politics' तथा 'The State and the Nation' (1900-1919), सीले की 'Introduction to Political Science (1896), रूसो की 'Essay on the Origin of Inequality' (1931), स्मिथ और कैरी की 'The Origin and History of Politics' (1931), जेम्स ब्राइस की 'Modern Democracies' (1921) कार्ल जे० फ्रेडविक की 'Constitutional Govt. and Democracy' (1937)। इनमें से सर हेनरी मेन की रचनाएं राजनीतिक विकासवाद की आधारशिलाएं हैं। इसके अतिरिक्त मैकाइवर ने 'The Modern State' (1926) तथा ई०एम० सैट ने 'Political Institutions : A Preface' (1938) पुस्तकों के द्वारा भी राजनीतिक विकासवाद का ही प्रोषण किया है। इन सभी विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति और विकास के बारे में उपयोगी तथ्य एकत्रित करके तुलनात्मक राजनीति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस तरह हेनरी मेन, एडवर्ड जेम्स, सीले, रुसो, ब्राइस, फ्रेडरिक आदि विचारकों के प्रयासों के परिणामस्वरूप तुलनात्मक राजनीति को बहुत ही उपयोगी सामग्री मिल पाई है और उसी सामग्री पर आज तुलनात्मक अध्ययन का विकास हो रहा है।

(II) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति का विकास

यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध तक तुलनात्मक राजनीति के विकास के अनेक प्रयास हुए, इसके विकास में परेटो, मोस्का, मिथेल्स, मैक्स वेबर जैसे समाजशास्त्रियों ने भी अपना योगदान दिया, लेकिन कुल मिलाकर तुलनात्मक राजनीति का विकास धीमी गति से ही हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों की संख्या में भारी व द्धि, शक्ति के फैलाव तथा साम्यवाद के उदय के कारण तुलनात्मक अध्ययन को भी अपनी परम्परागत सीमाएं छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। इसके बाद तुलनात्मक राजनीति में व हत स्तरीय तुलनाओं को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र का विस्तार हुआ। राजनीति की प्रकृति की विस्त त धारणा का विकास हुआ और राजनीति से सम्बन्धित गैर-राजनीतिक तत्वों का अध्ययन भी तुलनात्मक राजनीति में होने लगा। अब तक सम्प्रभु राज्य पर आधारित औपचारिक तुलनाएं अपनी सीमाएं छोड़कर बाहर निकलने लगी और तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में नई प्रव त्तियों का समावेश हुआ। इससे राजनीति की प्रकृति की विस्त त व सामान्य अवधारणाओं पर व उसकी विषय-सामग्री में सुस्पष्टता आई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक अध्ययन में परम्परागत द ष्टिकोण की अनेक कमियाँ उभरकर सामने आईं। इन कमियों को दूर करने के लिए तुलनात्मक विश्लेंषण के तकनीकी पक्ष का विकास किया जाने लगा, गैर-राजकीय संस्थाओं को भी तुलनात्मक अध्ययन में स्थान दिया गया तथा तुलनात्मक अध्ययन को पाश्चात्य सीमाओं से निकालकर त तीय विश्व में लाकर रख दिया।

राबर्टस का मानना है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को अधिक व्यापक और विस्त त बनाने में दो धाराओं का मुख्य हाथ रहा। पहली धारा तुलना की कला और पद्धतियों के बारे में आत्मचेतना की प्रव त्ति थी जो अनेक विद्वानों के आत्म-निरीक्षण के कारण सामने आई। इस धारा का विकास बीयर, उल्म, हेक्शर तथा मैक्रिडीस आदि विद्वानों ने किया। इन विद्वानों के अध्ययन के निष्कर्षों को आमण्ड तथा कोलमैन ने अपनी पुस्तकों 'The Politics of Developing Areas' तथा 'Comparative Politics' में प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक राजनीति के विकास में दूसरी धारा के कारण तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र से बाहर राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक

विश्लेषण, राजनीतिक समाजशास्त्र आदि अवधारणाओं का विकास होने लगा, जिसके परिणामसवरूप तुलनात्मक राजनीति के विश्लेषण में जटिलताएं बढ़ने लगीं। इसके बाद डेविड ईस्टन, ऑमण्ड, कार्ल डायच, कोलमैन आदि ने राजनीतिक सिद्धान्त में तुलनात्मक विश्लेषण को व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त द्वारा सामाजिक व्यवस्थाओं की तुलना के साथ-साथ राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों से सम्बन्धित नई अवधारणाओं का भी समावेश हुआ। इससे Output, Input, Feedback, Support, Values, Demands, Autonomy, Load, Lead, Gain, Communication आदि नये शब्दों का समावेश तुलनात्मक राजनीति में हुआ। विगत दो दशकों से तुलनात्मक राजनीति में, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संचार, अभिजन वर्ग, नीति-निर्माण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास आदि अवधारणाओं का बहुत विकास हुआ है, तुलनात्मक राजनीति में नई-नई तकनीकें अपनाई गई हैं और नवोदित राष्ट्रों और त तीय विश्व के अध्ययन को महत्व दिया गया है।

ऑमण्ड और पॉवेल ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक अध्ययन के बारे में चार तत्वों का समावेश स्वीकार किया है-(i) तुलनात्मक राजनीति की आनुभविक सीमा का विस्तार (ii) वैज्ञानिक परिशुद्धता पर जोर (iii) राजनीति के सामाजिक परिवेश पर बल (iv) तुलनात्मक विश्लेषण के नवीन उपागमों का प्रयोग। इन तत्वों के तुलनात्मक राजनीति में विकास का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :-

(1) **तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र की आनुभविक सीमा का विकास (Development of the Empirical range of the field of Comparative Politics)** :- द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले तुलनात्मक राजनीति पर पश्चिमी देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया जाता था, लेकिन अब युद्ध के बाद उत्पन्न परिस्थितियों के कारण गैर-पश्चिमी देशों की राजनीतिक-व्यवस्थाओं का भी अध्ययन किया जाने लगा। युद्ध के बाद इटली में अधिनायकवाद का उदय, रूस में स्टालिन का तानाशाही नेत त्व, चीन में माओ का साम्यवादी नेत त्व, भारत, टर्की, अफ्रीका व एशिया के अन्य देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करना अब आवश्यक हो गया। तुलनात्मक राजनीति त तीय विश्व तथा एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका में युद्ध के बाद की परिस्थितियों से मुंह नहीं फेर सकती थी। गुटनिरपेक्षता की नीति, शीतयुद्ध का जन्म आदि घटनाओं के कारण भी तुलनात्मक राजनीति को यूरोप की सीमाएं छोड़नी पड़ी। अब तुलनात्मक राजनीति में लोकतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, साम्यवाद, विकसित व विकासशील, पश्चिमी व नवोदित त तीय विश्व के देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति के आनुभाविक क्षेत्र का विकास द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की प्रमुख घटना है।

(2) **वैज्ञानिक परिशुद्धता पर बल (Emphais on Scientific Reasoning)** :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नई अवधारणाओं का तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में विकास हुआ। उनको समझने के लिए नई तकनीकों और नवीन उपागमों की आवश्यकता हुई। इस समय व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रभाव के कारण भी परिमाणात्मक विधियों का प्रयोग बढ़ रहा था। इस क्रांति ने राजनीति विज्ञान व तुलनात्मक राजनीति दोनों को प्रभावित किया। इसके तुलनात्मक राजनीति को वैज्ञानिक बनाने में मदद मिली और राजनीतिक व्यवहार का वैज्ञानिक विधियों से अध्ययन किया जाने लगा। इस तरह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी क्रांति के कारण तुलनात्मक राजनीति में वैज्ञानिक परिशुद्धता पर जो दिया जा रहा है।

(3) **गैर-राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर बल (Emphasis on the study of Non-**

Political Institutions) :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति में सामाजिक परिवेश को महत्त्व दिया जाने लगा। राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले गैर-राजनीतिक समूहों व सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण का अध्ययन भी अब आवश्यक माना जाने लगा क्योंकि राजनीतिक व्यवहार सामाजिक परिवेश से भी प्रभावित होता है। अब राजनीतिक व्यवहार की सम्पूर्णता को समझने के लिए गैर-राजनीतिक संस्थाओं व सामाजिक परिवेश का अध्ययन आवश्यक हो गया। तुलनात्मक राजनीति में आज राजनीतिक संस्कृति, अभिजनो, दबाव समूहों, राजनीतिक दलों, नौकरशाही आदि के साथ साथ सामाजिक परिवेश पर अधिक जोर दिया जाता है। इस तरह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक समाजीकरण के संस्थाओं की विशेष महत्त्व दिया गया।

(4) **तुलनात्मक अध्ययन के नवीन उपागमों का विकास (Development of New approaches of Comparative Study)** :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं को समझने के लिए नए-नए उपागमों व द ष्टिकोणों का विकास हुआ। अब राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मकताओं और राजनीतिक व्यवस्थाओं का जटिल ताना-बाना समझने में परम्परागत द ष्टिकोण मददगार नहीं रहे, इसलिए नए द ष्टिकोणों का विकास हुआ। इसमें राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, माक्सर्ववादी-लेनिनवादी, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, व्यवस्था विश्लेषण, राजनीतिक आधुनिकीकरण आदि प्रमुख नए द ष्टिकोण हैं। इनमें संरचनात्मक-प्रकार्यातमक द ष्टिकोण भारत की राजनीतिक व्यवस्था की शल्य-क्रिया करने में सबसे अधिक उपयोगी है।

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति में नवीन प्रव त्तियों के उदय ने गैर-पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी स्थान मिला। अब तुलनात्मक राजनीति में गैर-राजनीतिक संस्थाओं व उने व्यवहार को भी स्थान मिला तथा सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा। नए-नए द ष्टिकोणों व तकनीकों के विकास ने तुलनात्मक राजनीति को आज एक स्वतंत्र अनुशासन के स्तर पर पहुंचा दिया, लेकिन तुलनात्मक राजनीति अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकी है। तुलनात्मक राजनीति में पूर्ण राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या करने वाले द ष्टिकोणों की तलाश जारी है।

(III) तुलनाात्मक राजनीति की वर्तमान स्थिति

तुलनात्मक राजनीति का महत्त्व इसकी वर्तमान स्थिति पर ही निर्भर है। वस्तुतः आज की जटिल समाज-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में राजनीति को केवल औपचारिक संस्थाओं और शासन के अंगों की जानकारी के आधार पर नहीं समझा जा सकता। आज राजनीति सामाजिक प्रक्रिया का एक आयाम है। राजनीतिक प्रणाली सामाजिक प्रणाली का ही एक हिस्सा है। आज विभिन्न शासन-प्रणालियों या शासन के अंगों में प्रकट रूप से अनेक समानताएं व असमानताएं हैं, इसलिए तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति बहुत जटिल हो गई है। अपने लम्बे इतिहास से परिपूर्ण तुलनात्मक राजनीति का वर्तमान स्वरूप अनिश्चित, अस्पष्ट और असंतोषजनक है। आज तुलनात्मक राजनीति एक संक्रमणकाल से गुजर रही है। प्रतिदिन राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली और राजनीतिक व्यवहार में नए नए परिवर्तन हो रहे हैं। अफगानिस्तान में तालिबान के शासन का अन्त, ईराक में सद्दाम हुसैन की अधिनायकता का अन्त, शीत युद्ध का अन्त, राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली पर आतंकवाद का प्रभाव आदि तथ्यों के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन में स्थायित्व का गुण आना असम्भव है।

आज तक राजनीति शास्त्री इस बात को स्पष्ट नहीं कर सके हैं कि त तीय विश्व के

विकासशील राष्ट्रों की राजनीति का अध्ययन कैसे करें। राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक उतार-चढ़ावों के कारण इन राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन व विश्लेषण करने के सारे उपागम असफल हो रहे हैं। अनेक विकासशील देशों में सैनिक क्रान्तियां हुई हैं। अफ्रीका में तख्ता पलट की अनेकों घटनाएं आज राजनीति शास्त्रियों के अध्ययन का केन्द्र बन रही हैं। अब तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं की अस्थिरता के कारणों का पता लगाना अनिवार्य हो गया है। त तीय विश्व के राज्यों में सेना की भूमिका, गैर-राजनीतिक तत्वों की भूमिका, राजनीतिक अस्थिरता के कारणों का पता लगाना तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का प्रमुख विषय बनकर राजनीतिशास्त्रियों को नई चुनौती दे रहा है। यद्यपि इन देशों की राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए नई नई तकनीकें या प्रविधियां प्रयोग में लाई जा रही हैं। विकासशील देशों को राजनीति का अध्ययन करने के लिए राजनीतिक व्यवस्थाओं को पश्चिमी तथा आधुनिक आदि में बांटा गया है। मैक्स वेबर ने राजनीतिक व्यवस्था को सामन्तवादी, बुर्जुआबादी एवं सर्वहारा में, कोलमैन ने प्रतियोगात्मक, अर्द्ध-प्रतियोगात्मक तथा सत्तावादी, डाहल ने प्रजातन्त्र, पुरोहिततन्त्र तथा सौदेबाजी आदि में विभाजित किया है। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक व्यवस्था के तत्त्वों पर भी विचार किया है। ईस्टन ने इन्हें आगत-निर्गत के रूप में बांटा है। कोलमैन व ऐप्टर ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के संघटकों पर प्रकाश डालते हुए दक्षिण एशिया, दक्षिण पूर्वी एशिया व निकट पूर्व के राज्यों के बारे में अध्ययन किया है।

आज त तीय विश्व के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने के लिए नए-नए द ष्टिकोण, नए आयाम व नवीन अवधारणाओं का प्रयोग हो रहा है। आज सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक संरचनाओं व राजनीतिक व्यवहारों की व्यपक स्तर पर तुलनाएं की जा रही हैं। पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में साम्यवाद के पतन ने तुलनात्मक राजनीति को नई चुनौती दी है। पोलैण्ड, रुमानिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी आदि देशों में साम्यवाद के पतन के बाद स्थापित प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं ने तुलनात्मक राजनीति को नई सामग्री दी है। आज तुलनात्मक राजनीति के सामने अनेकों ऐसी समस्याएं हैं, जिन पर वर्तमान उपागमों, तकनीकों व द ष्टिकोणों की प्रासंगिकता की परीक्षा की जा सकती है। यदि ये उपागम व द ष्टिकोण वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं के उतार-चढ़ावों को समझने में सफल रहते हैं तो तुलनात्मक राजनीति एक सम्पूर्ण राजनीतिक विश्लेषण का निर्माण कर सकती है और एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकती है।

आज तुलनात्मक राजनीति के सामने यह प्रश्न है कि तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति क्या है ? तुलनात्मक अध्ययन क्या है ? तुलनात्मक राजनीति की उपयोगिता क्या है ? इन प्रश्नों के समुचित उत्तर प्राप्त करने के लिए राजनीति-शास्त्री निरन्तर प्रयासरत हैं। आज राजनीतिशास्त्रियों के सामने राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का प्रश्न भी है। वे इस बात का निर्णन करने के लिए प्रयास कर रहे हैं कि कौन-सी व्यवस्था किस उद्देश्य के लाभदायक हो सकती है। आज तुलनात्मक राजनीति के पास मापन इकाई का भी अभाव है। इसके लिए संस्थापक-प्रकार्यात्मक विधि विश्लेषण को उपयोगी बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज अनेक राजनीतिक विद्वान उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए प्रयासरत हैं, इसलिए तुलनात्मक राजनीति का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है। आने वाले समय में तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक व्यवहार को समझने में एक सम्पूर्ण राजनीतिक विश्लेषण का निर्माण करने में सफलता प्राप्त करेगा।

अध्याय-2

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र (Nature and Scope of Comparative Politics)

तुलना मानव-स्वभाव का अंग व उपयोगी अध्ययन का आधारभूत तत्व है। व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में तुलना द्वारा ही किसी वस्तु को अच्छा या बुरा सिद्ध करता है। तुलना का इतिहास उतना ही पुराना है, जितनी मानव सभ्यता पुरानी है। इसी तरह राज्य के प्रादुर्भाव के साथ ही तुलनात्मक अध्ययन का राजनीतिक व्यवहार में भी प्रयोग होने लगा। तुलनात्मक अध्ययन किसी भी विषय की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। जे०सी० जौहरी ने लिखा है-"शक्ति संघर्ष में लिप्त विभिन्न राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के अनुभववादी अन्वेषण में तुलनात्मक विश्लेषण स जनात्मक तथा सम्वर्द्धनात्मक आधार प्रस्तुत करता है।" तुलनात्मक अध्ययन किसी भी विषय को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने तथा राजनीतिक प्रव त्तियों के बारे में भविष्यवाणी करने में सक्षम है। यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत अरस्तु से मानी जाती है, लेकिन इसके अवशेष अरस्तु से पहले भी मिलते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। आज राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन संस्थागत राजनीतिक संरचनाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें गैर-राजनीतिक संस्थाओं, कबीलों, समुदायों का व्यावहारिक अध्ययन भी किया जाता है। आज तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन पश्चिमी सीमाओं को लाँघकर त तीय विश्व की सीमाओं में पहुंच चुका है। यही आधुनिक राजनीतिक विज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

तुलनात्मक राजनीति का अर्थ

(Meaning of Comparative Politics)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद त तीय विश्व के अभ्युदय ने तुलनात्मक राजनीति को व्यापक आधार प्रदान किया है। अब इसका सम्बन्ध पश्चिम के देशों व संस्थागत राजनीतिक संरचनाओं से न होकर गैर-राजनीतिक संरचनाओं व इन्हें प्रभावित करने वाले गैर-राजनीतिक व्यवहार तथा त तीय विश्व के देशों की राजनीति से भी है। आज राजनीति विज्ञान में सदियों से प्रचलित राज्य, सरकार, संस्था, शक्तियों व जनमत के स्थान पर नई अवधारणाएं राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संचार, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक विकास, राजनीतिक व्यवस्था आदि प्रमुख अवधारणाएं मानी जाती है, क्योंकि अन्य सभी अवधारणाएं इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती हैं। आज नई तकनीक, पद्धति व द ष्टिकोणों ने तुलनात्मक अध्ययन को वैज्ञानिक व व्यवहारिक बना दिया है। आज इसमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का भी अध्ययन शामिल होने के कारण यह एक अन्तर-अनुशासीय विषय के रूप में स्थान पा चुकी है। आज तुलनात्मक राजनीति का अर्थ किन्हीं दो देशों की सरकारों या संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन से नहीं है। आज इसमें

सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक व गैर-राजनीतिक संस्थाओं, उनका व्यवहार तथा व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन भी शामिल है। तुलनात्मक राजनीति के बारे में विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं :-

तुलनात्मक राजनीति को परिभाषित करते हुए ब्रायबन्ती (Braibanti) ने लिखा है-"तुलनात्मक राजनीति सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों की पहचान और व्याख्या है जो राजनीतिक कार्यों तथा उनके संस्थागत प्रकाशन को प्रभावित करते हैं।"

एडवर्ड ए० फ्रीमैन (Edward A. Freeman) ने तुलनात्मक राजनीति के बारे में लिखा है-"तुलनात्मक राजनीति राजनीतिक संस्थाओं तथा सरकारों के विविध प्रकारों का एक तुलनात्मक विवेचन व विश्लेषण है।"

राय सी० मैक्रिडीस (Roy C. Macridis) के अनुसार-"हैरोडोटस तथा अरस्तु के समय से ही राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, संस्थाओं, सरकारों और राजनीतिक व्यवस्थाओं में विविधताएं जीवन्त रही हैं और इन विविधताओं में समान तत्वों की छानबीन करने के प्रयास को तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण कहा जाना चाहिए।"

एम० कर्टिस (M. Curtis) के अनुसार-"तुलनात्मक राजनीति, राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक व्यवहार की कार्य-प्रणाली में महत्वपूर्ण नियमितताओं, समानताओं और असमानताओं में तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति तुलनात्मक सरकारों, गैर-शासकीय राजनीतिक संस्थाओं, कबीलों, समुदायों व उनकी प्रक्रियाओं व व्यवहारों का अध्ययन है।

तुलनात्मक राजनीति व तुलनात्मक सरकार में अन्तर

(Difference between Comparative Government and Comparative Politics) :-

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति का ही एक अंग है। तुलनात्मक सरकार का कार्यक्षेत्र तुलनात्मक राजनीति की तुलना में काफी संकुचित है। प्रायः इन दोनों को समानार्थी माना जाता है। लेकिन इनमें मौलिक व आधारभूत अन्तर है। इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए जी० के० राबर्टस् (G.K. Roberts) ने लिखा है-"तुलनात्मक सरकार या शासन का प्रयोग राज्यों, उनकी संस्थाओं और उनके कार्यों से सम्बन्धित कुछ समूहों जैसे-राजनीतिक दल, दबाव समूह आदि के अध्ययन के लिए उपयुक्त लगता है, लेकिन तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र व्यापक है, जिसमें तुलनात्मक शासन तथा गैर राज्यीय राजनीति जैसे कबीले, निजी संस्थाएं आदि का भी अध्ययन किया जाता है।" तुलनात्मक सरकार के बारे में जीन ब्लौंडेल ने लिखा है-"तुलनात्मक सरकार विश्व की राष्ट्रीय सरकारों के विभिन्न प्रतिमानों का अध्ययन है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक राजनीति तुलनात्मक शासन का विकसित रूप है। तुलनात्मक शासन या सरकार का प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले तो ठीक लगता था, आज नहीं। आज तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवहार की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली से जुड़ गया है। नवोदित राष्ट्रों के रूप में त तीय विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भूमिका के कारण तुलनात्मक अध्ययन अपनी परम्परागत सीमाएं छोड़कर त तीय विश्व की ओर प्रस्थान कर चुका है। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्र में आए व्यापक परिवर्तनों ने राजनीति विज्ञान को नए सिरे से सोचने पर मजबूर कर दिया है। 1979 के बाद उत्तर'व्यवहारवादी क्रान्ति ने राजनीति विज्ञान को व्यक्ति की राजनीतिक व गैर-राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण करने के लिए बाध्य कर दिया है। सिडनी वर्बा ने केवल पश्चिमी देशों का अध्ययन न करके, एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के नए

राष्ट्रों का अध्ययन करने पर जोर दिया है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि तुलनात्मक राजनीति का कार्यक्षेत्र व्यापक हो चुका है। यह अपना परम्परागत रूप छोड़कर आधुनिकता की तरफ अग्रसर हो रही है। इसलिए तुलनात्मक सरकार से यह न केवल भिन्न है, बल्कि तुलनात्मक सरकारों को भी अपने में समेट लेती है। जहां तुलनात्मक सरकार राजनीतिक संस्थाओं व उनके कार्यों से सम्बन्धित है, वहीं तुलनात्मक राजनीति संस्थाओं व कार्यों के साथ साथ गैर-राजनीतिक संस्थाओं, कार्यों व उनके व्यवहार को भी समेट लेती है। अतः तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र तुलनात्मक सरकार से व्यापक है और तुलनात्मक सरकार का अध्ययन भी तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत आता है।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति

(Nature of Comparative Politics)

आज तुलनात्मक राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में अपना स्थान प्राप्त कर चुकी है। प्राचीन काल में तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध केवल विभिन्न सरकारों की तुलना मात्र से ही माना जाता था। अरस्तु ने वैज्ञानिक पद्धति का आरम्भ करके तुलनात्मक अध्ययन को नई दिशा देने का प्रयास किया। उसके बाद हैरोडोटस ने भी तुलनात्मक राजनीति का विकास किया। लेकिन उनका अध्ययन केवल राजनीतिक संस्थाओं, उनके ढांचे, सरकारों तक ही सीमित रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तुलनात्मक राजनीति का प्रकृति में काफी बदलाव आया। अब इसमें राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे व कार्यों के साथ साथ गैर राजनीतिक समुदायों, तथा निजी संस्थाओं व उनके व्यवहार का भी अध्ययन आवश्यक हो गया। इसलिए आज तुलनात्मक राजनीति में केवल शासन के ढांचों का ही अध्ययन न करके, बल्कि सभी राजनीतिक सिद्धान्तों, आदर्शों तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इसलिए आज तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति भी बदल चुकी है। इसलिए आज तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति को लेकर विद्वानों में मतभेदों का उभरना भी स्वाभाविक ही है। तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी दो मत प्रचलित हैं :-

(I) **तुलनात्मक राजनीति एक लम्बात्मक या अनुलम्बात्मक तुलनात्मक अध्ययन है (Comparative Politics is a Vertical Comparative Study)**

(II) **तुलनात्मक राजनीति एक अनुप्रस्थ या क्षैतिज तुलनात्मक अध्ययन है (Comparative Politics is a Horizontal Comparative Study)**

(I) **लम्बात्मक तुलनात्मक अध्ययन के रूप में** :- इस धारणा के समर्थकों का मानना है कि तुलनात्मक राजनीति एक ही देश में विभिन्न स्तरों पर स्थापित सरकारों (राष्ट्रीय एवं स्थानीय) और इनको प्रभावित करने वाले राजनीतिक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण का अध्ययन है। इस विचारधारा को मानने वालों का कहना है कि चूंकि क्षेत्रीय सरकारें अनेक होती हैं, इसलिए राष्ट्रीय सरकारों की उनसे राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं के सन्दर्भ में तुलना करके उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस धारणा के समर्थकों का कहना है कि तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की विभिन्न सरकारों की अनुलम्ब तुलना है, इसलिए वे एक ही देश की विभिन्न सरकारों की तुलना विभिन्न स्तरों पर करने पर जोर देते हैं। लेकिन गहराई से देखा जाए तो उनकी यह तुलना सतही स्तर पर ही ठीक प्रतीत होती है। अधिक व्यापक अध्ययन व विश्लेषण से राष्ट्रीय व प्रादेशिक सरकारों में समानताओं की बजाय असमानताएं अधिक दिखाई देती हैं। तुलना करने पर इनमें आर्थिक साधनों, नियमों व शक्ति की समानता ही प्रतीत होती है, लेकिन व्यवहार में राष्ट्रीय सरकार के पास आर्थिक साधन अधिक होते हैं। इसलिए आर्थिक साधनों की समानता मात्रात्मक होती है, गुणात्मक नहीं। इसी तरह नियमों में भी समानता की अपेक्षा असमानता ही अधिक होती है, क्योंकि

राष्ट्रीय सरकार के नियमों के पीछे शक्ति का तत्व प्रभावी रहता है। राष्ट्रीय सरकार सम्प्रभु होने के नाते स्थानीय सरकार से अधिक शक्तिशाली होती है। इसलिए राष्ट्रीय सरकार व स्थानीय सरकार के नियमों में समानता की बजाय असमानता ही अधिक होती है। इसी प्रकार शक्ति के कारण राष्ट्रीय सरकार के पास उत्पीड़न (Coercion) का तत्व होने के कारण, वह स्थानीय सरकार से अधिक प्रभावशाली होती है। इस प्रकार इन तीनों समानताओं की अपेक्षा असमानताएं ही अधिक हैं। राष्ट्रीय व स्थानीय सरकारों में पाई जाने वाली समानताएं सतही हैं। इनकी सहायता से इनकी प्रकृति तो समझी जा सकती है, लेकिन कोई सामान्यीकरण नहीं निकाला जा सकता। यह लम्बात्मक तुलना संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन के लिए तो सहायक हो सकती है, लेकिन राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकता का ज्ञान इससे नहीं हो सकता। अतः लम्बात्मक तुलना से तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति को वास्तविक रूप में समझना असम्भव है। इसलिए लम्बात्मक तुलना की धारणा आज मान्य नहीं हो सकती।

(II) **अनुप्रस्थ या क्षैतिज तुलनात्मक अध्ययन के रूप में** :- इस धारणा के समर्थकों का कहना है कि तुलनात्मक राजनीति तो राष्ट्रीय सरकारों की क्षैतिज तुलना है। ऐसी तुलना ही वास्तविक अध्ययन की आधार है और राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार की तुलना एक देश की राष्ट्रीय सरकारों में भी हो सकती है और दूसरे देश की राष्ट्रीय सरकारों के साथ भी। यह तुलना समय और भौगोलिक सीमाओं से परे है। इसके द्वारा एक देश की राजनीतिक व्यवस्थाा का राजनीतिक व्यवहार भी समझा जा सकता है और दूसरे देशों को राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक व्यवहार से उसकी तुलना भी की जा सकती है। यही धारणा तुलनात्मक राजनीति की वास्तविक प्रकृति को समझने में मददगार साबित होती है। इसमें तुलना एक राष्ट्र की केन्द्रीय सरकारों के बीच ऐतिहासिक आधार पर भी हो सकती है और समसामयिक आधार पर एक देश की राष्ट्रीय सरकार की तुलना दूसरे देशों की राष्ट्रीय सरकारों के साथ भी हो सकती है।

ऐतिहासिक आधार पर एक देश की राष्ट्रीय सरकार की इसी देश की भूतकालीन राष्ट्रीय सरकारों के साथ तुलना की जा सकती है। इस प्रकार की तुलना वर्तमान राजनीतिक व्यवहार की प्रकृति को समझने में सहायक होती है। प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक व्यवहार की जड़ें भूतकाल में होती हैं। उदाहरण के लिए भारत की राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवहार की जड़ें प्राचीन, मध्य व ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ढूंढ़ी जा सकती है। भारतीय राजनीति व्यवस्था में आज भी ब्रिटिश शासनकाल के अनेक तत्व मौजूद हैं, जो वर्तमान में राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवहार के महत्वपूर्ण अंग हैं। इस प्रकार की तुलना समान संस्कृति व सभ्यता वाले राज्यों की शासन व्यवस्था व राजनीतिक व्यवहार को समझने में तो ठीक है, लेकिन अलग प्रकार की सभ्यता व संस्कृति वाले राज्यों की शाासन व्यवस्था व राजनीतिक व्यवहार को समझने में परेशानी पैदा करती है। इसलिए इस प्रकार की तुलना का सीमित महत्व है।

समसामयिक आधार पर एक देश की राष्ट्रीय सरकार की दूसरे देशों की राष्ट्रीय सरकारों से तुलना करना बहुत उपयोगी व प्रामाणिक होता है। ब्लैंडेल ने इसे तुलनात्मक अध्ययन में सबसे उपयोगी व प्रामाणिक माना है। उसने लिखा है-"हमारे पास तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन का केवल एक ही द ष्टिकोण शेष रहता है और वह है-समकालीन विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित राष्ट्रीय सरकारों का राष्ट्रीय सीमाओं से आर-पार अध्ययन करना।" इस प्रकार की तुलनाएं सामान्यीकरण का आधार होती हैं। इसके द्वारा राजनीतिक व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण भी किया जा सकता है। इससे राजनीतिक संस्थाओं और उनके राजनीतिक व्यवहार को सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार की तुलनाएं ही सर्वश्रेष्ठ व प्रामाणिक होती हैं।

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये एक दूसरे

की पूरक हैं और राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली व उनके व्यवहार को समझने में सहायक हैं। इनके द्वारा राजनीतिक व्यवहार में समानताएं व असमानताओं को समझकर तुलनात्मक राजनीति के बारे में सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। यही राजनीतिक विश्लेषण की वैज्ञानिकता व विश्वसनीयता का आधार है। आज सीमाओं के आर-पार तुलनात्मक अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति एक स्वतंत्र अनुशासन का स्थान प्राप्त कर चुकी है। यह राजनीति विज्ञान की महत्वपूर्ण शाखा होने के बावजूद भी राजनीतिक संस्थाओं के साथ-साथ गैर-राजनीतिक संस्थाओं व उनके राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्वों का भी अध्ययन किया जाता है। यही तुलनात्मक राजनीति की वास्तविक प्रकृति है।

तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र

(Scope of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र आज एक विवादास्पद विषय है। आज तुलनात्मक राजनीति संक्रमणकालीन दौर मे है। हैरी एकसटीन ने इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखा है-"तुलनात्मक राजनीति के बारे में महत्वपूर्ण व विवादास्पद बात यह है कि वह संक्रमण की स्थिति में है-एक प्रकार की विश्लेषण शैली, दूसरे प्रकार की विश्लेषण शैली की ओर प्रस्थान कर रही है।" आज तुलनात्मक राजनीति की सीमा व मानकों तथा व्यवहारों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में काफी विवाद है। तुलनात्मक राजनीति की सीमाओं के बारे में परम्पराओं तथा आधुनिक राजनीतिक विश्लेषक एकमत नहीं हैं। आज तुलनात्मक राजनीति के सामने यह समस्या है कि इसमें क्या शामिल किया जाए या क्या नहीं तथा शामिल करने या न करने का आधार क्या हो ?

सीमा सम्बन्धी विवाद के बारे में सभी राजनीतिशास्त्री इस बात से तो सहमत हैं कि तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रीय सरकारों से है और इसमें सरकारी ढांचे के साथ-साथ सरकारों की कार्यप्रणाली तथा गैर-राजनीतिक संस्थाओं के राजनीतिक कार्य व व्यवहार शामिल हैं। लेकिन उनमें राजनीतिक क्रियाकलापों का सरकार की क्रिया-कलापों की व्याख्या को लेकर मतभेद हैं। इस बारे में उनके दो द ष्टिकोण हैं-कानूनी या संस्थागत द ष्टिकोण तथा व्यवहारवादी द ष्टिकोण। इन द ष्टिकोणों की उपयोगिता को लेकर भी राजनीति शास्त्रियों में परस्पर विवाद हैं। कानूनी या संस्थागत द ष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि तुलनात्मक राजनीति में केवल संविधान द्वारा निध ार्रित राजनीतिक व्यवहार तथा सरकारी ढांचे व संरचनाओं का ही अध्ययन किया जाए। इसके विपरीत किसी अन्य आधार पर राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करना बेईमानी होगी। इसलिए इस द ष्टिकोण के समर्थक राजनीतिक संस्थाओं व राजनीतिक व्यवहार के औपचारिक अध्ययन पर ही बल देते हैं। लेकिन कानूनी द ष्टिकोण के आलोचकों का कहना है कि इस प्रकार का अध्ययन सतही व दिखावटी होगा। इससे राजनीतिक प्रक्रियाओं व व्यवहार की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। चीन और रूस की संवैधानिक विधि से वहां की राजनीतिक व्यवस्था व उसके व्यवहार का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह ब्रिटेन व भारत में भी संविधान के ढांचे के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहार का सही आंकलन नहीं किया जा सकता। भारत में लम्बे समय से केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस पार्टी के शासन ने संविधान का संघात्मक रूप एकात्मक बनाकर रख दिया। इसी तरह ब्रिटेन में संवैधानिक राजनीतिक तन्त्र के स्थान पर निरंकुश राजतन्त्र का होना संविधान के आधाार पर राजनीतिक व्यवहार को समझने की चुनौती देता है। इसलिए व्यवहारवादी विचारक तुलनात्मक राजनीति को कानूनी सीमाओं के पाश से मुक्त करके व्यवहारवादी अध्ययन पर जोर देते हैं ताकि राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मकता को समझा जा सके। उनका कहना है कि संस्थागत अध्ययन की बजाय अनौपचारिक तत्वों को भी तुलनात्मक राजनीति में स्थान मिलना चाहिए।

व्यवहारवादी द ष्टिकोण के समर्थक तुलनात्मक राजनीति में राजनीति की व्यावहारिकता पर भी बल देते हैं। उनका कहना है कि तुलनात्मक राजनीति में केवल कानूनी व्यवस्था का औपचारिक अध्ययन व तुलना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार व्यावहारिक बनती है तथा राजनीतिक संस्थाओं का वास्तविक व्यवहार कैसा है, इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसलिए तुलनात्मक राजनीति में राष्ट्रीय संस्थाओं व गैर-राजनीतिक संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों को भी शामिल करना चाहिए। व्यवहारवादियों का मानना है कि हर राजनीतिक समाज में राजनीतिक गतिविधि हर तरह से शासन तन्त्र के आस-पास ही चक्कर काटती रहती है और इसी से हर राजनीतिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जीन ब्लौंडेल ने लिखा है-"तुलनात्मक सरकार या तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में उन तरीकों का, जो समाज में मूल्यों का अधिकृत विवरण होते हैं, परीक्षण किया जाता है।" यह परीक्षण मूल्यों के नियमन, रूपान्तरण तथा क्रियान्वयन से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति में मूल्यों की त्रिमुखी प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस तरह व्यवहारवादी विचारक तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र मूल्यों के नियमण, रूपान्तरण तथा कार्यान्वयन तक ही सीमित मानते हैं।

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र से सम्बन्धित दूसरा विवाद मानकों तथा व्यवहारों का विवाद है। मानकों का आधार कानून व नियम होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक व्यवहार कानूनों व नियमों के अनुकूल ही हों। इसकी प्रतिकूलता तुलनात्मक अध्ययन में कठिनाईयां उत्पन्न करती हैं। यदि मानकों के अनुसार ही राजनीतिक व्यवहार रहे तो तुलना करना आसान होता है। बाह्यकारी शक्ति के प्रयोग से कानून व नियमों पर आधारित मानक अशुद्ध होते हैं। इसलिए राजनीतिक व्यवहार के बारे में यह देखना भी आवश्यक होता है कि वह मानकों के अनुकूल है या प्रतिकूल। यद्यपि राजनीतिक व्यवहार व मानकों की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। ये दोनों गत्यात्मक हैं। जो मानक व व्यवहार आज हैं, आगे भी उनका वैसा ही होना अधिक सम्भव नहीं है। इसलिए इन दोनों में साम्य व गतिरोध का होना स्वाभाविक ही है। मानको (Norms) में परिवर्तन व्यवहार में परिवर्तन का कारण बन सकता है और व्यवहार भी नए मानकों की स्थापना का कारण हो सकता है। इसलिए राजनीतिक व्यवहार व मानकों के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन भी तुलनात्मक राजनीति में महत्वपूर्ण होता है। यदि इनकी उपेक्षा की जाएगी तो राजनीतिक व्यवस्था के वास्तविक व्यवहार के अध्ययन से हम दूर हो जायेंगे, क्योंकि मानक व व्यवहार सरकार की जीवित संरचना का महत्वपूर्ण अंग है।

उपरोक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति में न केवल विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं, उनके कार्यों का ही अध्ययन शामिल नहीं है, बल्कि इसमें गैर-राजकीय संस्थाओं के राजनीतिक कार्य व व्यवहार भी शामिल हैं। आज तुलनात्मक राजनीति में शासन प्रणाली व उसके राजनीतिक व्यवहार के समान व असमान दोनों तत्व ही शामिल हैं। मुनरो, हस्नम फाइनर, लास्की जैसे विद्वानों के प्रयासों ने अरस्तु के तुलनात्मक अध्ययन को बहुत व्यापक बना दिया है। आज तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र पश्चिमी देशों की सरकारों या राजनीतिक संस्थाओं व उनके व्यवहार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका प्रसार त तीय विश्व तक हो चुका है। अब राज्य से सम्बन्धित संस्थाओं व संगठनों की बजाय गैर-राजनीतिक संस्थाओं व उनके व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। आज तुलनात्मक राजनीति अन्धकार में भटकने की बजाय निश्चित कारणों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक संस्थाओं व राजनीतिक व्यवहार की महत्वपूर्ण नियमितताओं, समानताओं व असमानताओं पर अधिक ध यान दे रही है। आज तुलनात्मक राजनीति में सजग तुलनाओं का विशेष महत्त्व है। आज राजनीतिक विद्वान तुलनात्मक अध्ययन को निरर्थक व बोझिल बनाना नहीं चाहते। आज

तुलनात्मक राजनीति में नए-नए विषयों व नई-नई तकनीकों को महत्व दिया जा रहा है तथा तुलनात्मक राजनीति अन्य सामाजिक शास्त्रों से भी काफी कुछ ग्रहण कर रही है। इसलिए तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन कानून-निर्माण, कानून प्रयोग, विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंगों से सम्बन्धित निर्णयों, राजनीतिक दलों, दबाव समूहों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इसमें समस्त व्यक्तियों, संस्थाओं और समुदायों के सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन भी शामिल है। आज तुलनात्मक राजनीति में राज्यों की संस्थागत संरचनाएं, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक दल व दबाव समूह, राजनीतिक अभिजन, राजनीतिक हिंसा व राजनीतिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, प्रतियोगी राज्यों के बीच शक्ति सम्बन्ध, जनमत, तुलनात्मक विश्लेषण आदि का अध्ययन शामिल है। लेकिन तुलनात्मक राजनीति अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर चुकी है, बल्कि यह संक्रमणकाल के दौर से गुजर रही है। राजनीतिक विद्वान अभी भी इस अनिश्चय की स्थिति में हैं कि तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र क्या हो ?

तुलनात्मक राजनीति का महत्व

(Importance of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति, राजनीति विज्ञान का नया तत्व नहीं है। इसका अध्ययन भी उस समय से होता आ रहा है, जब से राजनीति व राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन आरम्भ हुआ। तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ से ही मानव के ध्यान का केन्द्र रहा है। अरस्तु से लेकर आज तक तुलनात्मक अध्ययन का काफी प्रचलन बढ़ा है। आज राजनीतिक व्यवहार को तुलनात्मक आधार पर समझने के लिए नए नए द ष्टिकोण का उपागम विकसित हो रहे हैं। तुलनात्मक अध्ययन या राजनीति का महत्त्व निम्नलिखित बातों से द ष्टिगोचर होता है :-

(i) राजनीतिक व्यवहार को समझना (Understanding of Political Behaviour) :- तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन देश-विदेश की राजनीति व राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायक होता है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन द्वारा विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं की समानताओं व असमानताओं का ज्ञान कराता है। इससे राजनीतिक घटनाचक्रों का भी ज्ञान होता है। तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक अभिजनों को भी महत्वपूर्ण जानकारी देता है। इसी के आधार पर वे राजनीतिक व्यवहारों व द ष्टिकोणों की जाँच-परख करके उनकी प्रासंगिकता जांचते हैं। तुलनात्मक अध्ययन राजनेताओं के लिए मार्गदर्शक का कार्य करता है। इसके द्वारा वे जनता के लिए योग्य सुझाव प्रस्तुत करते हैं और बदलते राजनीतिक व्यवहार के मानकों की जानकारी भी ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए-राजनेता मतदान व्यवहार के विभिन्न तत्वों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष तुलनात्मक आधार पर ही निकाल सकते हैं कि मतदान व्यवहार को प्रभावित करने में सबसे अधिक भूमिका किस तत्व की है। तुलनात्मक राजनीति का महत्व विद्यार्थी, शिक्षक व नागरिकों के साथ-साथ जनसाधारण के लिए भी होता है। इससे हम यह भली-भाँति जान सकते हैं कि विभिन्न राजनीतिक समाज के लोगों का राजनीतिक व्यवहार परस्पर अलग क्यों होता है, उसके मूल्य और विधियां कौन सी हैं, जो वे एक दूसरे को समझने के लिए प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं को सरलता से समझा जा सकता है। मैक्रीडिस तथा वार्ड के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति एक ऐसा मार्गदर्शक है जो घर बैठे-बिठाए ही देश-विदेश की सैर करा देता है। इस द्वारा इस बात का पता आसानी से लगाया जा सकता है कि एक ही प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था एक समाज में सफल तथा दूसरे में असफल क्यों होती है ? लोकतन्त्र का सफल संचालन भारत में क्यों हो रहा है, पाकिस्तान में क्यों नहीं। चीन में साम्यवाद सफल है-रूस में असफल क्यों हुआ। इस प्रकार के राजनीतिक प्रश्नों का हल तलाश करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन ही उपयोगी

रहता है। राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं को समझे बिना इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर नहीं दिए जा सकते।

(ii) राजनीति को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना (Making Politics a Scientific Study) :- अरस्तु के समय से ही तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राजनीति के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं। 1955 के बाद व्यवहारवादी क्रान्ति ने राजनीति को तुलनात्मक आधार पर एक विज्ञान का रूप देने का प्रयास किया है। व्यवहारवादियों ने राजनीतिक व्यवहार की निरन्तरताओं या नियमितताओं का पता लगाकर सामान्यीकरण के आधार पर सिद्धान्त विकसित करने के प्रयास किए हैं, क्योंकि यहीं सामान्यीकरण वैज्ञानिकता का आधार है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही राजनीतिक व्यवहार की नियमितताओं का पता लगाकर उनके कारणों का भी पता लगाया जा सकता है। इस तरह व्यवहारवादियों के प्रयासों से ही आज राजनीति विज्ञान राजनीति का विज्ञान बनने की ओर अग्रसर है।

(iii) राजनीति में सिद्धान्त निर्माण (Theory Building in Politics) :- तुलनात्मक अ ध्ययन द्वारा राजनीतिक व्यवहार की नियमितताओं का पता चलने से सिद्धान्त निर्माण करना आसान हो जाता है। राजनीति शास्त्र में ऐसे सिद्धान्तों की तलाश की जा रही है जो सम्पूर्ण विश्व के राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायक हों। तुलनात्मक राजनीति आनुमाविक सिद्धान्तों तक पहुंचने में सहायता करती है। ये आनुभाविक सिद्धान्त ही राजनीतिक व्यवहार के वास्तविक तथ्यों को समझने में मदद करते हैं। इसमें राजनीति शास्त्री स्वयं तथ्यों का संकलन करने के लिए राजनीतिक व्यवहार के क्षेत्र में जाकर राजनीतिक व्यवहार का अवलोकन करता है। आदर्शी सिद्धान्त की कल्पना पर आधारित होने के कारण सिद्धान्त निर्माण ठोस तथ्यों के अभाव में नहीं हो सकता। इसलिए आनुभाविक सिद्धान्त ही राजनीतिक वास्तविकताओं से सीधा सम्बन्ध रखता है। इसी कारण से तुलनात्मक राजनीति आदर्शी सिद्धान्तों की बजाय आनुभाविक सिद्धान्तों के अधिक समीप होती है। यथार्थ राजनीतिक व्यवहार की तुलना करना ही आनुभाविक सिद्धान्तों का निर्माण करना है। इस तरह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का महत्व राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्माण में है।

(iv) प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों की प्रामाणिकता परखना (Re-Validification of Political Theories) :-तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तों का पुनः परीक्षण करके, उनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। प्रचलित सिद्धान्तों या अतीत में स्थापित सिद्धान्तों की समसामयिक प्रासांगिकता की जाँच तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही की जा सकती है। तुलनात्मक राजनीति राजनीतिक सिद्धान्तों की जांच-परख के लिए नवीन उपकरण व तकनीक उपलब्ध कराती है। किसी भी शास्त्र में परम सिद्धान्त नहीं हो सकते, इसलिए राजनीतिक सिद्धान्त भी परम सिद्धान्त नहीं हो सकते। मानव व्यवहार एक परिवर्तनशील वस्तु है। इसलिए मानव व्यवहार पर आधारिक राजनीतिक सिद्धान्तों की बदलती परिस्थितियों में जांच करना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य में तुलनात्मक राजनीति ही सहायक होती है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही यह निष्कर्ष निकाला हा सकता है कि प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त वर्तमान सन्दर्भ में कितने प्रासंगिक हैं या कितने अप्रासंगिक।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तुलनात्मक अध्ययन से हम अपने देश की संस्थाओं को अधिक गहराई से समझकर उपस्थित समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा छात्रों, शिक्षकों, राजनीतिक विद्वानों सभी को उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। इसके द्वारा हम अपने देश की शासन पद्धति का दूसरे देशों की शाासन-पद्धतियों से तुलनात्मक अध्ययन करके उपयोगी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इससे राजनीतिक व्यवहार को समझने, राजनीति-शास्त्र को विज्ञान बनाने, आनुभाविक अध्ययनों के आधार पर सिद्धान्त निर्माण करने तथा प्रचलित सिद्धान्तों

की औचित्यता व प्रामाणिकता जांचने में सहायता मिलती है। आज की लोक कल्याणकारी राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक व्यवहार के बारे में सामान्य नियमों का निर्धारण करना बहुत आवश्यक हो गया हैं ताकि सामान्य राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सके और राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व का गुण प्रदान किया जा सके।

अध्याय-3

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के द ष्टिकोण

(Approaches to the Study of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है, जितना राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना का इतिहास। मनुष्य प्रारम्भ से ही राजनीतिक संस्थाओं की श्रेष्ठता पर विचार करता रहा है। अरस्तु से लेकर आज तक मनुष्य का यही प्रयास रहा है कि राजनीतिक संस्थाओ को राज्य व सरकार क लक्ष्यों के अनुकूल कैसे बनाया जाए ? सभी राजनीतिक विचारक अमूक राजनीतिक संस्था व व्यवस्था की अमूक समाज में सफलता व असफलता का मनन करते रहे हैं। इसके लिए उन्होंने प्रारम्भ से ही तुलनात्मक अध्ययन को महत्व दिया हैं इसी कारण से तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण और अध्ययन में महत्वपूर्ण बन गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले यह अध्ययन परम्परागत तरीकों पर आधारित था, लेकिन आज तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक बन गया है। अब इसमें सामान्यीकरण के प्रयास तेज हो रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जटिल राजनीतिक परिस्थितियों ने तुलनात्मक राजनीति के विषय क्षेत्र व प्रकृति में परिवर्तन लाकर उसका अध्ययन आधुनिक द ष्टिकोणों से किया जाना अपरिहार्य बना दिया है। इस तरह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के दो द ष्टिकोण उभर गए हैं :- (i) परम्परागत द ष्टिकोण (ii) आधुनिक द ष्टिकोण।

यद्यपि इन द ष्टिकोणों में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना सरल नहीं है, क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले भी तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी बनाने के प्रयास शुरु हो चुके थे, लेकिन तुलनात्मक अध्ययन की द ष्टि से इन दोनों में कुछ आधारों पर अन्तर किया जा सकता है। प्रथम अन्तर तो यह हो सकता है कि परम्परागत द ष्टिकोण औपचारिक कानूनी व संस्थागत था। इसमें केवल संविधानिक संस्थाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन होता था, लेकिन आधुनिक द ष्टिकोण में राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे के साथ साथ उनको प्रभावित करने वाले राजनीतिक व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है। दूसरा अन्तर अध्ययन क्षेत्र के आधार पर हो सकता है। परम्परागत राजनीति में पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया जाता था, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नवोदित त तीय विश्व के राष्ट्रों का अध्ययन भी इसमें शामिल है। तीसरा अन्तर विश्लेषण पद्धति का हो सकता है। परम्परागत अध्ययन औपचारिक अध्ययन था। इसमें केवल संविधानिक संस्थाओं का औपचारिक विवेचन किया जाता था, लेकिन आधुनिक द ष्टिकोण में राजनीतिक व्यवस्थाओं के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इसलिए आधुनिक द ष्टिकोण परम्परागत द ष्टिकोण की तरह वर्णनात्मक न होकर विश्लेषणात्मक है। चौथा अन्तर राजनीतिक अध्ययन की प्रकृति के बारे में हो

सकता है। परम्परागत द ष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार की प्रकृति को समझने के लिए व्याख्या तक ही सीमित था। वह किसी उपयोगी निष्कर्ष तक पहुंचने में प्रायः असफल ही रहा, लेकिन आधुनिक द ष्टिकोण समस्या-समाधानात्मक है। यह राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार की व्याख्या के साथ साथ सामान्य निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है। इस तरह तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के दोनों द ष्टिकोण एक दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से काफी भिन्न हैं

(I) परम्परागत द ष्टिकोण

(Traditional Approach)

अरस्तु को परम्परागत द ष्टिकोण का जनक माना जाता है। सबसे पहले अरस्तु ने ही 158 देशों के संविधानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के लिए राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया था। यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन के परम्परागत द ष्टिकोण के अवशेष अरस्तु से पहले भी पाए जाते हैं, लेकिन अरस्तु ने तुलनात्मक अध्ययन को सुव्यवस्थित आधार प्रदान किया। अरस्तु के बाद सिसरो, मैकियावेली, माण्टेस्क्यू, कार्ल मार्क्स, बार्कर, हरमन फाइनर, लास्की, कार्ल जे० फ्रैड्रिक, ऑग व जिंक, मुनरो आदि विद्वानों पे परम्परागत द ष्टिकोण को विकसति किया। इन सभी विद्वानों ने संविधानिक संस्थाओं के ढांचे पर ही जोर दिया। उनके अध्ययन की शैली विवरणात्मक ही रही। इनका द ष्टिकोण यूरोप तक ही सीमित होने के कारण अत्यन्त संकुचित रहा और इसमें केवल लिखित संविधानों और राजनीतिक शक्ति के संस्थागत रूप पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया। यह द ष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं व उनके व्यवहार के औपचारिक पहलुओं से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त सीमित रहा क्योंकि परम्परागत द ष्टिकोण के विद्वानों ने राज्य और शासन के ऐतिहासिक और औपचारिक ढांचे और संगठन के अध्ययन को ही तुलनात्मक राजनीति समझ लिया था। मैक्रीडिस ने लिखा है-"विदेशी सरकारों के अध्ययन विस्त त रूप से, पश्चिमी यूरोपीय प्रजातन्त्रों अथवा पश्चिमी यूरोप के राज्यों और इंग्लैण्ड से सम्बन्धित थे।" इस द ष्टिकोण के विद्वानों ने न तो गैर पश्चिमी देशों की राजनीतिक संस्थाओं के संगठनात्मक ढांचे पर ध्यान दिया और न ही गैर राजनीतिक तत्वों के अध्ययन पर ध्यान दिया। इसलिए यह द ष्टिकोण आगे चलकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की राजनीतिक परिस्थितियों में राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे व उनके संस्थागत व्यवहार के बारे में सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत करने में असफल रहा।

प्रमुख परम्परागत उपागम

(The Major Traditional Approaches)

परम्परागत उपागम में ऐतिहासिक उपागम, कानूनी-औपचारिक उपागम तथा संस्थागत उपागत तीनों का अध्ययन शामिल है। इनका संक्षिप्त ब्यौरा निम्न प्रकार से है :-

(i) ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach) :-

इस उपागम के अन्तर्गत राज्यों की शासन प्रणालियों का ऐतिहासिक आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस उपागम के प्रतिपादक मेकियावेली, माण्टेस्क्यू, बेजहॉट तथा सर हेनरी मेन हैं। इन सभी विचारकों ने राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किया और वर्तमान तुलनात्मक राजनीति के लिए प्रमख अध्ययन सामग्री प्रस्तुत की। यदि आज हम किसी देश की राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें इसके लिए उस देश की राजनीति की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि में झांकना पड़ेगा। किसी देश की राजनीतिक संस्कृति की जड़ें इतिहास के गर्भ में पोषित होती हैं। उसका वर्तमान स्वरूप उसके अतीत का सुन्दर इतिहास लिए हुए होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक उपागम तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी ऐतिहासिक तथ्य उपलध्ध कराता है। यदि इस

उपागम के दोषों को दूर कर दिया जाए तो यह उपागत तुलनात्मक अध्ययन में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(ii) **कानूनी-औपचारिक उपागम (Legal Formal Approaceh) :-**

इस उपागम के अन्तर्गत संविधानिक संस्थाओं के ढांचे, उनके अंगों की कानूनी शक्तियों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण संविधानिक प्रावधानों के तहत ही किया जाता है। इस उपागम के प्रतिपादक वुडरो विलसन, डॉयसी, जेम्स ब्राइस, के०सी० ह्वीयर, हर्मन फाइनर, आइवर जैनिंग्स, कार्ल फ्रैड्रिक आदि विचारक हैं। इन विचारकों की द ष्टि में देश का संविधान ही किसी देश की राजनीति को नियमित कर सकता है क्योंकि संविधानिक कानून द्वारा ही किसी देश की आन्तरिक राजनीति के लिए आवश्यक व तर्कसंगत मानदण्ड निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिए भारत की राजनीति के अध्ययन में न्यायिक प्रक्रिया या कानूनों को विशेष महत्व दिया जाता है। इस द ष्टिकोण के द्वारा सरकार के तीनों अंगों, विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों, पारस्परिक सम्बन्धों, मौलिक अधिकारों आदि से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि इस द ष्टिकोण का प्रमुख दोष यह है कि इसके द्वारा किसी देश की राजनीति को यथार्थ रूप में समझना कठिन है, क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक तत्वों का अध्ययन शामिल नहीं होता, फिर भी संविधानों के निर्माण, संशोधन और व्याख्या के क्षेत्र में इसकी देन बहुत उपयोगी है।

(iii) **संस्थात्मक उपागत (Institutional Approach) :-**

यद्यपि इस उपागम का कानूनी-औपचारिक उपागम से घनिष्ठ सम्बन्ध है, लेकिन फिर भी यह उपागम कानूनी-उपागम से अलग है। यह उपागम राजनीति को कानून या औपचारिक संस्थाओं की परिधि में न बांधकर स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करता है। इस उपागम के अन्तर्गत राज्य की विभिन्न संस्थाओं के संगठन और भूमिका का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि इस उपागम की प्रमुख कमी यह है कि इसमें राजनीतिक व्यवहार की उपेक्षा की जाती है-जैसे मतदान व्यवहार के बारे में यह उपागम अपना मत प्रस्तुत नहीं करता, अर्थात इसमें अनौपचारिक समूहों की भूमिका की व्याख्या नहीं की जाती, लेकिन फिर भी यह देश की शासन प्रणाली के संगठन के अनुभव द्वारा दूसरे देशों की शासन व्यवस्थाओं को संगठनात्मक रूप में समझने में मदद करता है। भारत की संसदीय प्रणाली की तुलना ब्रिटिश संसदीय प्रणाली में तुलना इसी उपागम द्वारा ही संभव है। यद्यपि इस अध्ययन में कुछ जटिलताएं अवश्य पैदा हो सकती हैं, लेकिन यदि ध्यानपूर्वक इस उपागम का प्रयोग किया जाए तो यह राजनीतिक संस्थाओं के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

परम्परागत उपागम की विशेषताएं

(Features of Traditional Approach)

परम्परागत उपागम की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **परम्परागत द ष्टिकोण प्रधानतः अतुलनात्मक है (Traditional Approach is esentially Non-Comparative)** :- इस द ष्टिकोण के अन्तर्गत किए गए तुलनात्मक अध्ययन एक या अनेक देशों की समान प्रकार की संस्थाओं की समान प्रकार से व्याख्या से सम्बन्धित है। इस प्रकार के अध्ययन देश-विदेश के अध्ययन तक सीमित हैं। इसमें तुलना का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। एक ही देश की राजनीतिक संस्था को आधार मानकर दूसरे देशों में अध्ययन करना किसी भी द ष्टि में तुलनात्मक नहीं कहला सकता। उदाहरण के लिए-ब्रिटेन, फ्रांस व

अमेरिका की व्यवस्थापिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन किसी भी रूप में तुलनात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा अध्ययन उपयोगी अध्ययन का आधार नहीं बन सकता। इस द ष्टिकोण द्वारा मुख्यतः राज्य के ढांचे के विश्लेषण प्रभुसत्ता का निवास, चुनाव प्रणाली, राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली आदि का अतुलनात्मक अध्ययन ही किया जा सकता है। इसलिए मैक्रीडिस ने लिखा है-"अब तक के तुलनात्मक अध्ययन केवल नाम से ही तुलनात्मक थे।" इसी कारण परम्परागत द ष्टिकोण का सम्बन्ध देश-विदेश के अध्ययन से ही रहा। अतः परम्परागत द ष्टिकोण का सम्बन्ध देश-विदेश के अध्ययन से ही रहा। अतः परम्परागत अध्ययन प्रधानतः अतुलनात्मक ही है।

(2) **परम्परागत द ष्टिकोण प्रधानतः वर्णनात्मक है (Traditional Approach is essentially Descriptive)** :- परम्परागत द ष्टिकोण के दौरान लिखी गई रचनाओं में केवल राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन या व्याख्या ही की गई है। इसमें वैज्ञानिकता का पुट नहीं है। इस द ष्टिकोण में अध्ययन के उन तत्वों की उपेक्षा की गई है जो तुलनात्मक अध्ययन में उपयोगी होते हैं। इस उपागम के अन्तर्गत राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन ऐतिहासिक और कानूनी द ष्टिकोण से करके सामान्यीकरण के प्रयासों से बचा गया है। यह अध्ययन मूल रूप में राजनीतिक संस्थाओं में अन्तर्निहित राजनीतिक प्रक्रियाओं में दबाव एवं हित समूहों, व्यवहार आदि का अध्ययन करने में असफल रहा। इस उपागम का उद्देश्य संस्था विशेष आदि का अध्ययन करने में असफल रहा। इसमें कभी भी राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे में पाई जाने वाली असमानताओं व समानताओं के कारणों पर विचार नहीं किया गया। अतः परम्परागत द ष्टिकोण का स्वरूप वर्णनात्मक ही रहा, विश्लेषणात्मक नहीं।

(3) **परम्परागत द ष्टिकोण प्रधानतः सीमित अथवा संकुचित है (Traditional Approach is essentially Parochial)** :- परम्परागत द ष्टिकोण का सम्बन्ध मुख्यतयाः यूरोप व अमेरिका तक ही रहा, इस द ष्टिकोण द्वारा इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का ही वर्णन किया गया। इस द ष्टिकोण के विचारकों ने पाश्चात्य लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं से हटकर जर्मनी, इटली आदि अलोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का अध्ययन नहीं किया और न ही एशिया व अफ्रीका के देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। इस द ष्टिकोण के द्वारा किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त के निर्माण के प्रयास भी नहीं किए। इस प्रकार परम्परागत द ष्टिकोण गैर-यूरोपियन राजनीतिक व्यवस्थाओं से दूर रहने के कारण अत्यन्त सीमित या संकुचित रहा।

(4) **परम्परागत द ष्टिकोण प्रधानतः स्थिर अथवा गतिहीन है (Traditional Approach is essential static)** :- परम्परागत द ष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं का कानूनी द ष्टिकोण से अध्ययन करता है। यह राजनीतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली और राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्वों-दबाव, समूहों, चुनाव, जनमत आदि पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका है। वास्तव में राजनीतिक व्यवहार के गैर राजनीतिक तत्वों का भी तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके अध्ययन के बिना न तो कोई उपयोगी निष्कर्ष ही प्रस्तुत किया जा सकता है और न ही किसी सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है। इसलिए परम्परागत द ष्टिकोण स्थिर व गतिहीन है, क्योंकि यह परिवर्तन से किसी भी रूप का विरोधी है। अतः राजनीतिक व्यवस्थाओं की गत्यात्मक शक्ति को समझने में यह द ष्टिकोण प्रायः असफल ही रहा है।

(5) **परम्परागत द ष्टिकोण मुख्यतया प्रबन्धात्मक है (Traditional Approach is predominatly monographic)** :- परम्परागत द ष्टिकोण विशेष रूप से किसी राजनीतिक व्यवस्था की संस्थाओं या किसी विशेष संस्था के अध्ययन से ही सम्बन्धित है। लास्की, ब्राईस, डासयी,

वुडरो विल्सन आदि की रचनाएं देश-विशेष की राजनीतिक संस्थाओं के कानूनी-औपचारिक अध्ययन तक ही सीमित हैं। उदाहरण के लिए डायसी ने इंग्लैण्ड की तथा विल्सन ने अमेरिका की राजनीतिक संस्थाओं का ही अध्ययन किया है, अन्य किसी देश की राजनीतिक संस्थाओं का नहीं, इसलिए परम्परागत द ष्टिकोण मुख्य रूप से प्रबन्धात्मक है।

(6) **परम्परागत द ष्टिकोण मुख्यतया आदर्शी है (Traditional Approach is predominatly normative)** :-इस द ष्टिकोण के विचारकों ने स्वयं की मान्यताओं के आधार पर विशेष प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन किया है और इन्हीं मान्यताओं की कसौटी पर राजनीतिक व्यवसायों को परखा है। उदाहरण के लिए इस द ष्टिकोण के समर्थकों ने लोकतन्त्र को उन्हीं देशों ने उपयुक्त माना है, जहाँ दो दलों का अस्तित्व हो। इसी कारण उन्होंने बहुदलीय प्रणाली वाले लोकतन्त्रीय देशों या संविधानिक आदर्शों से पथ-भ्रष्ट शासन प्रणालियों का अध्ययन नहीं किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परागत द ष्टिकोण का लक्ष्य मुख्यतया राजनीतिक संस्थाओं के कानूनी व औपचारिक अध्ययन तक ही सीमित रहा। इसमें गैर यूरोपीय राष्ट्रों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को कोई स्थान न मिल पाने के कारण यह द ष्टिकोण अत्यन्त अनुदार व संकुचित बन गया। गैर-राजनीतिक तत्वों की उपेक्षा करने के कारण यह गतिहीनता का शिकार हो गया और यह तुलनात्मक अध्ययन की परिधि से मुख्यतया बाहर ही रहा। इसी कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन व व्यवहार की व्याख्या करने में यह द ष्टिकोण असफल रहा। इसी कारण परम्परागत राजनीतिक द ष्टिकोण आलोचना का शिकार हो गया और एक नए व आधुनिक द ष्टिकोण की आवश्यकता अनुभव हुई।

परम्परागत द ष्टिकोण की आलोचना

(Criticisms of Traditional Approach)

परम्परागत द ष्टिकोण संकीर्ण व स्थिर होने के कारण अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मकता को समझने में नाकाम रहने के कारण इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) परम्परागत द ष्टिकोण का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं के नाममात्र ही तुलनात्मक अध्ययन से रहा। इसमें शासन की संस्थाओं का वर्णन तो किया गया और उनमें समानान्तर तत्वों की खोज भी की गई, लेकिन तुलना के आधार पर राजनीतिक शक्ति के संगठन व प्रयोग की उपेक्षा की गई। इसलिए इस द ष्टिकोण का स्वरूप अतुलनात्मक ही अधिक रहा।

(2) परम्परागत द ष्टिकोण में राजनीतिक व्यवहार के अराजनैतिक तत्वों की उपेक्षा करके इस द ष्टिकोण पर संकुचित होने का दाग लग गया। इस द ष्टिकोण ने राजनीतिक व्यवहार के गत्यात्मक तत्वों की घोर उपेक्षा की गई। आमण्ड व पॉवेल ने लिखा है-"इस द ष्टिकोण का मुख्य जोर संस्थाओं, कानूनों, विधियों, राजनीतिक विचारों तथा विचारधारा पर ही रहा और उनके कार्य, अन्तःक्रिया, व्यवहार व उपलब्धियों की उपेक्षा की गई।" राजनीतिक व्यवहार के गैर राजनीतिक तत्वों-दबाव समूह, लोकमत आदि की उपेक्षा करके यह द ष्टिकोण संकुचित मानसिकता का शिकार हो गया।

(3) इस द ष्टिकोण का सम्बन्ध लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं तक ही रहा और इसमें गैर-लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की घोर उपेक्षा की गई। इस द ष्टिकोण द्वारा केवल पाश्चात्य राजनीतिक

व्यवस्थाओं के प्रजातन्त्रीय स्वरूप का ही अध्ययन किया गया। जर्मनी, इटली जैसी गैर-प्रजातन्त्रीय राज-व्यवस्थाओं का अध्ययन करने में यह असफल रहा। इसी कारण इसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा।

(4) इस द ष्टिकोण में राजनीतिक व्यवस्थाओं का सैद्धान्तिक अध्ययन करके उनके व्यवहारिक पहलू की उपेक्षा की गई। इसमें उपलब्ध राजनीतिक संस्थाओं का कानूनी व औपचारिक द ष्टिकोण के आधार पर ही अध्ययन किया गया। इस द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवहार की पूर्णतयाः उपेक्षा की गई। इसी कारण परम्परागत द ष्टिकोण को अधूरा द ष्टिकोण कहा जाता है।

(5) इस द ष्टिकोण का अध्ययन केन्द्र यूरोपीय देशों-इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस तथा अमेरिका तक ही सीमित रहा। इसके एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका के देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन नहीं किया गया। इसी कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों की व्याख्या करने में यह द ष्टिकोण असफल रहा। यदि यह समयानुसार परिवर्तनशीलता का गुण ग्रहण कर लेता तो इसे आलोचना का शिकार भी नहीं होना पड़ता। अपने अन्तिम सांस तक इसके प्रयास पाश्चात्य राजव्यवस्थाओं के अध्ययन तक ही सीमित रहे।

(6) इस द ष्टिकोण द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्णनात्मक अध्ययन तो किया गया, लेकिन किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। यदि यह द ष्टिकोण समस्या समाधानात्मक हो जाता तो इसकी यह दुर्दशा नहीं होती। इसमें राजनीतिक संस्थाओं में समानताएं व असमानताएं तो तलाश कर ली गई, लेकिन उनके कारणों को जानने का कोई प्रयास नहीं किया गया। इसी कारण परम्परागत द ष्टिकोण आनुभाविक क्षेत्र का विकास नहीं कर सका। इसलिए आलोचकों का आवेश है कि परम्परागत द ष्टिकोण में तथ्यों का संकलन तो कर लिया गया लेकिन उनके परिमाणन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

(7) परम्परागत द ष्टिकोण अन्तर-अनुशासनात्मक प्रव त्तियों के प्रति उदासीन ही रहा। इसने समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और मानवशास्त्र के क्षेत्र में हो रही खोजों, नवीन पद्धतियों के प्रति आंख मूंद कर रखी। इसी कारण यह द ष्टिकोण वैज्ञानिक पद्धति का विकास करने में असफल रहा और अन्तर-अनुशासनीय द ष्टिकोण से भी दूर चला गया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परागत द ष्टिकोण वर्तमान जटिल राजनीतिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में असफल रहा। आज राज्य की प्रकृति, कार्यों और महत्व के कारण राजनीतिक व्यवस्थाओं में आए क्रांतिकारी परिवर्तनों ने परम्परागत द ष्टिकोण को अपर्याप्त बना दिया है। आधुनिक कल्याणकारी राज्यों के युग में जनसाधारण की जागरूकता तथा उनकी बढ़ती राजनीतिक सहभागिता ने परम्परागत द ष्टिकोण को चुनौती दी है। तुलनात्मक राजनीति के कार्यक्षेत्र व प्रकृति में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आए बदलाव ने परम्परागत द ष्टिकोण को अप्रासंगिक बना दिया है। आज जब आधुनिक द ष्टिकोणों ने तुलनात्मक राजनीति को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दिया है और यह स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है, परम्परागत द ष्टिकोण की बात करना एक बेईमानी है।

परम्परागत द ष्टिकोण का महत्व

(Importance of Traditional Approach)

यद्यपि परम्परागत द ष्टिकोण अनेक दोषों से परिपूर्ण है, लेकिन फिर भी उसे निरर्थक और महत्वहीन नहीं माना जा सकता। इस द ष्टिकोण ने लम्बे समय तक राजनीतिक संस्थाओं का

कानूनी-औपचारिक अध्ययन करके राजनीति के अध्ययन को महत्वपूर्ण दिशा दी है। आज चाहे इसका महत्व कम हो, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध से पहले इसका महत्व बहुत रहा। आज जिन नए नए तुलनात्मक अध्ययन के द ष्टिकोणों का विकास हो रहा है, वह परम्परागत द ष्टिकोण द्वारा संकलित तथ्यों के अध्ययन पर ही आधारित है। परम्परागत तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन से जिन प्रव त्तियों का जन्म हुआ था, वे प्रव त्तियां ही आधुनिक तुलनात्मक अध्ययनों का उपयोगी आधार है। वर्तमान में राजनीति विज्ञान का जो व्यापक स्वरूप हमारे सामने है, उसकी जड़ें परम्परागत अध्ययन में हैं। इसी कारण परम्परागत द ष्टिकोण की कुछ बातें आज भी आधुनिक द ष्टिकोणों में स्थान रखती हैं। यद्यपि वर्तमान युग में जटिल राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति को समझने में यह द ष्टिकोण अधिक सहायक नही रहा है, लेकिन फिर भी इसे पूर्णतया अनुपयोगी नहीं माना जा सकता।

(II) आधुनिक द ष्टिकोण

(Modern Approach)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परम्परागत द ष्टिकोण की कमियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आध ुनिक द ष्टिकोण का जन्म हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक संस्थाओं और उनके पेचिदा राजनीतिक व्यवहार को परम्परागत द ष्टिकोण से समझना असम्भव हो गया। नवोदित त तीय विश्व के राष्ट्रों और गैर-राजनीतिक तत्वों को तुलनात्मक अध्ययन से बाहर रखने का मतलब था-राजनीतिक संस्थाओं व व्यवहार का अपूर्ण अध्ययन। बदलते परिवेश में तुलनात्मक राजनीति को अपने विषय क्षेत्र और प्रकृति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया और इसके लिए अध्ययन की नवीन पद्धतियों और द ष्टिकोणों की आवश्यकता अनुभव हुई। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद परम्परागत द ष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप जो विश्लेषण, निरीक्षण तथा परीक्षण की नवीन पद्धतियां विकसित हुईं उन्हीं को आधुनिक द ष्टिकोण या उपागम कहा गया है। इस द ष्टिकोण का उद्देश्य राजनीतिक वैज्ञानिकों के हाथ में एक ऐसा मानदण्ड सौंपना था जो समस्त प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना कर सके और यह इतना संक्षिप्त व सुस्पष्ट भी हो कि वह सब प्रकार के आदर्शों से मुक्त रहे तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सामान्य निष्कर्ष निकालने में संकोच न करे। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए फ्रेडरिक, ब्राइस, आमण्ड व पॉवेल, लुसियन पाई, सिडनी वर्बा, डेविड ई० ऐप्टर आदि विद्वानों ने आधुनिक द ष्टिकोण को विकसित किया। इसके परिणामस्वरूप तुलनात्मक राजनीति को नई दिशा मिली और तुलनात्मक अध्ययन में राजनीतिक संस्थाओं के साथ-साथ गैर-राजनीतिक तत्वों-हित समूहों, दबाव समूहों, राजनीतिक दलों के व्यवहार, मतदान व्यवहार, लोकमत आदि के अध्ययन को भी शामिल कर लिया गया। इससे तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक संस्कृति उपागम, राजनीतिक आधुनिकीकरण व विकास उपागम, व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण तथा मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम आदि नए उपागमों का आगमन हुआ।

आधुनिक द ष्टिकोण की आवश्यकता

(Need of Modern Approach)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परम्परागत द ष्टिकोण की अप्रासंगिकता के कारण तुलनात्मक राजनीति में विश्व की राजव्यवस्थाओं के जटिल ताने-बाने तथा व्यवहार को समझने के लिए नवीन उपागम की आवश्यकता अनुभव हुई। आमण्ड व पॉवेल के अनुसार नवीन या आधुनिक उपागम का विकास तीन परिवर्तनों - (i) एशिया, अफ्रीका व मध्यपूर्व में नए प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रों का उदय (ii) अटलांटिक समुदाय के राष्ट्रों के प्रभुत्व का अन्त और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति व प्रभाव का उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशी क्षेत्रों में प्रसार व विस्तार (iii) साम्यवाद का राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की

संरचना व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदलने को संघर्ष में एक शक्तिशाली प्रतियोगी के रूप में उभरना - से हुई। इन परिवर्तनों के कारण परम्परागत द ष्टिकोण डांवाडोल स्थिति में पहुंच गया और वह बदली हुई राजनीतिक परिस्थियितयों में राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रक्रियाओं को समझने में असफल होता प्रतीत हुआ। उसके लिए निरंकुश राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रमुख चुनौती देने वाली बन गई। विश्व में सैनिक शासनों, साम्यवादी व पूंजीवादी विचारधाराओं ने परम्परागत द ष्टिकोण के सामने नया खतरा उत्पन्न कर दिया। राजनीतिक यथार्थ की गत्यात्मक शक्तियों या गैर राजनीतिक पहलुओं को समझने के लिए नए उपागमों, पद्धतियों व प्रविधियों की आवश्यकता अनुभव हुई। इस प्रकार बदले हुए विश्व परिद श्य में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद गैर-लोकतांत्रिक देशों की गैर-लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के ढांचे व व्यवहार को तुलनाात्मक अध्ययन में शामिल करना व उसे समझना आवश्यक हो गया, जिसके परिणामस्वरूप तुलनात्मक राजनीति को नए उपागमों का प्रवेश हुआ।

आधुनिक द ष्टिकोण की विशेषताएं

(Features of Modern Approach)

आधुनिक द ष्टिकोण की प्रमुख विशेंषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **आधुनिक द ष्टिकोण वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित अध्ययन पर आधारित है (Modern Approach is based on Scientific and Systematic Study)** :- आधुनिक द ष्टिकोण में प्रत्येक घटना के कारणों पर भी व्यापकता से विचार किया जाता है। इसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि राजनीतिक व्यवहार ऐसा क्यों होता है। इसलिए इसमें कार्य-कारण और क्रिया-प्रक्रिया का सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की जाती है। इसमें सामान्यीकरण करने के लिए परिकल्पनाओं की सत्यता की जांच भी की जाती है। इसमें परिकल्पनाओं की सत्यता को जांचने के लिए तथ्यों को एकत्रित किया जाता है, विश्लेषण किया जाता है और सामान्यीकरण के लिए तुलनाएं की जाती हैं। इसके लिए नवीन वैज्ञानिक विधियों व पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। अतः आधुनिक द ष्टिकोण वैज्ञानिक व व्यवस्थित अध्ययन पर जोर देता है।

(2) **आधुनिक द ष्टिकोण विश्लेषणात्मक व व्याख्यात्मक है (Modern Approach is Analytical and Explanatory)**: यह द ष्टिकोण परम्परागत द ष्टिकोण की तरह वर्णनात्मक न होकर व्याख्यात्मक है। इस द ष्टिकोण के विद्वानों की मान्यता है कि वर्णन मात्र से ही राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति को नहीं समझा जा सकता। इसलिए यह द ष्टिमकोण विश्लेषणात्मक ढंग से समस्या के समाधान को उपाय प्रस्तुत करता है। इसमें परिकल्पनाओं को सत्य सिद्ध करने के लिए परीक्षण किए जाते हैं, आंकड़े एकत्रित किए जाते हैं और उनका विश्लेंषण करके तुलनात्मक आधार पर सामान्यीकरण किए जाते हैं। इस द ष्टिकोण के माध्यम से उन संरचनाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है जिनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था परिचालित होती है और अन्य व्यवस्थाओं से साम्य या गतिरोध रखती है। इसके लिए विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग तथा अनुभववादी पर्यवेक्षण पर जोर दिया जाता है। इसलिए तुलनात्मक राजनीति में विश्लेषणात्मक पद्धति का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है।

(3) **आधुनिक द ष्टिकोण सामाजिक सन्दर्भी अनुष्ठित अध्ययन पर जोर देता है (Modern Approach stresses on Social Context-oriented Studies)** :- आधुनिक द ष्टिकोण राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं के प्रति भी संवेदनशील है। इसलिए यह राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक शक्तियों की अन्तर्क्रिया के साथ मिलाकर ही करता है। यह परम्परागत द ष्टिकोण के विपरीत गैर-राजनीतिक तत्वों जो

राजनीतिक संस्थागत व्यवहार को प्रभावित करते हैं, का अध्ययन भी आधुनिक तरीकों से करने पर जोर देता है। आधुनिक द ष्टिकोण की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवहार सामाजिक क्रियाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं पर ही आधारित होता है। राजनीतिक संस्थाओं का कार्य संचालन भी सामाजिक शक्तियों से अवश्य प्रभावित होता है। इसी कारण आज तुलनात्मक राजनीति अन्तर-अनुशासकीय अध्ययन पर जोर देती है।

(4) **आधुनिक द ष्टिकोण अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन पर जोर देता है (Modern Approach stresses on Inter-Disciplinary Studies)** :- आधुनिक द ष्टिकोण के विद्वानों का मानना है कि राजनीतिक क्रियाओं पर सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक तत्वों व परिस्थितयों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिए वे तुलनात्मक राजनीति में अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन पर जोर देते हैं। इसी कारण आज तुलनात्मक अध्ययन में अन्य सामाजिक विज्ञानों की पद्धतियों के प्रयोग की भी अनुमति दी जाने लगी है। इसलिए आज तुलनात्मक राजनीति अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति की ओर अग्रसर है और इसमें मानव शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि की पद्धतियों का बेहिचक प्रयोग हो रहा है।

(5) **आधुनिक द ष्टिकोण व्यवहारवादी अध्ययन पर जोर देता है (Modern Approach stesses on Behavioural Studies)** :- आधुनिक द ष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में गैर-राजनीतिक तत्वों को प्रवेश करा दिया है। अब तुलनात्मक राजनीति में व्यवहारवाद से परे कुछ भी समझना असम्भव है। यह द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन करने के लिए आनुभविक विधियों पर जोर देता है। व्यवहारवाद के आगमन से अब तुलनात्मक राजनीति में तुलनाएं विशेष तकनीकी प्रक्रियाओं द्वारा की जाने लगी हैं और वैज्ञानिक विधियों से उनकी सार्थकता सिद्ध होने लगी है। इसी कारण आधुनिक द ष्टिकोण पर आधारित वर्तमान तुलनात्मक अध्ययन परम्परागत अध्ययन से बिल्कुल अलग है। आज राजनीतिक व्यवहार का निर्माण करने वाली व उसे प्रभावित करने वाली शक्तियों को तुलनात्मक अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान है। व्यवहारवाद ने तुलनात्मक राजनीति को राजनीतिक घटनाओं के बारे में भविष्यवाणी करने की करने की क्षमता प्रदान की है। इससे तुलनात्मक राजनीति में अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति का विकास हुआ है। अतः व्यवहारवाद का तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और विषय क्षेत्र को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान है।

(6) **आधुनिक द ष्टिकोण का क्षेत्र व्यापक है (Scope of Modern Approach is extensive)** :- आधुनिक द ष्टिकोण के आगमन से तुलनात्मक राजनीति में औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के साथ-साथ गैर राजनीतिक तत्वों जो राजनीतिक संस्थाओं व उनके व्यवहार को प्रभावित करते हैं, का भी अध्ययन किया जाता है। आज तुलनात्मक राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाओं को महत्व दिया जाता है। परम्परागत द ष्टिकोण केवल पाश्चात्य देशों की लोकतांत्रिक राज व्यवस्थाओं के अध्ययन तक ही सिमटकर रह गया था। आधुनिक द ष्टिकोण सभी प्रकार की राज-व्यवस्थाओं चाहे वह सैनिकवादी हो या लोकतन्त्रवादी, पूंजीवादी हो या समाजवादी, सभी से सम्बन्ध रखता है। आधुनिक द ष्टिकोण समस्त देशों की समस्त प्रकार की राज-व्यवस्थाओं की तुलना करने में समर्थ है। इस तरह आधुनिक द ष्टिकोण के व्यापक स्वरूप ने तुलनात्मक राजनीति के विषय क्षेत्र व प्रकृति को भी व्यापक बना दिया है।

(7) **आधुनिक द ष्टिकोण व्यवस्थामूलक है (Modern Approach is System-Oriented)** :- आधुनिक द ष्टिकोण संविधान तन्त्र की बजाय राजनीतिक व्यवस्था पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। इसमें व्यवस्था को ही आधार मानकर राजनीतिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं

का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस द ष्टिकोण के विद्वानों का मानना है कि राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे तो बनावटी हो सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि जो संविधान में है, व्यवहार में भी वही लागू हो। इसलिए वे राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार और प्रक्रियाओं को ही वास्तविक मानकर अध्ययन परजोर देते हैं। ऐसा अध्ययन ही समस्या समाधानात्मक हो सकता है। इस अध्ययन का आधार सभी आधुनिक द ष्टिकोण के विद्वान राजनीतिक व्यवस्था के मूल में काम करने वाली तीन शक्तियों (i) राज्य सत्ता (ii) शक्ति का एकाधिकार (iii) शक्ति तन्त्र को मानते हैं। इन्हीं शक्ति के आधार पर एक राजनीतिक व्यवस्था दूसरी से भिन्न होती है और इसी से राजनीतिक व्यवस्था की वैधता तथा अवैधता की परीक्षा होती है। इसी के आधार पर राजनीतिक विद्वानों ने राज-व्यवस्थाओं को कई श्रेणियों - (i) पाश्चात्य या आंग्ल-अमेरिकी व्यवस्था (ii) महाद्विपीय व्यवस्था (iii) पूर्व-औद्योगिक सामाजिक व्यवस्था (iv) सर्वाधिकारिणी व्यवस्था (v) सैनिक शासन आदि में बांटा है। राजनीतिक व्यवस्थाओं का यह वर्गीकरण विभिन्न व्यवस्थाओं की समानताओं व असमानताओं को समझने में सहायता करता है और अध्ययन में वास्तविकता के तत्व का समावेश करता है। इससे राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मक शक्तियों को समझकर सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी करने में सुविधा रहती है। अतः आधुनिक द ष्टिकोण व्यवस्थापरक अध्ययन द्वारा राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकता को समझने में तुलनात्मक राजनीति की मदद करता है।

(8) **आधुनिक द ष्टिकोण संरचनात्मक-कार्यात्मक अध्ययन पर आधारित है (Modern Approach is based on Structural-Functional Study)** :- इस द ष्टिकोण के अनुसार किसी राजनीतिक व्यवस्था की संरचना और इसके द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों में गहरा सम्बन्ध होता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुरूप ही कार्य करती है। उदाहरण के लिए पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाएं सैनिक व्यवस्थाओं से पूर्णतया अलग प्रकार के कार्य करती है, क्योंकि इनकी संरचना बिल्कुल एक दूसरे के विपरीत होती है। इसलिए आधुनिक द ष्टिकोण के आगमन से तुलनात्मक राजनीति में संरचनात्मक ढांचे के साथ-साथ उसके द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। इससे राजनीकि व्यवस्था की वास्तविक प्रकृति का पता लगाना आसान हो गया है और व्यवस्थाओं की तुलना करके सजीव तत्वों को पहचानने में सुविधा हुई है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले आगत-निर्गत (Input-Output) कार्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्नता करते हैं। इसी पर तुलनात्मक अध्ययन आधारित है।

आधुनिक द ष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

(A Critical Evaluation of Modern Approach)

यद्यपि आधुनिक द ष्टिकोण के आगमन से तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और विषय क्षेत्र का विकास भी हुआ है और यह स्वतंत्र अनुशासन के रूप में स्थान भी प्राप्त कर चुकी है, लेकिन फिर भी यह अनेक दोषों से परिपूर्ण है। इसके कारण तुलनात्मक राजनीति में जिन नई-नई अवधारणाओं व प्रविधियों का प्रचलन हुआ है, उनसे तुलनात्मक अध्ययन बोझिल व अस्पष्ट बन गया है। इसने तुलनात्मक राजनीति का विषय क्षेत्र सागर की तरह असीमित बना दिया है। आज राजनीति शास्त्री इस बात का निर्णय करने में असमर्थ हैं कि किन किन विषयों या अवधारणाओं को तुलनात्मक अध्ययन में जगह दी जाए और किन किन प्रविधियों का प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जाए। आज तुलनात्मक राजनीति में प्रयुक्त अवधारणाओं-राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक समाजीकरण आदि को अनेक विद्वान अलग अलग ढंग से परिभाषित कर रहे हैं। आज तुलनात्मक अध्ययन अध्ययन विकासशील देशों की राज-व्यवस्थाओं

पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने के कारण एकपक्षीय व भेदभावपूर्ण लगने लगा है। विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के संक्रमणकाल के दौर में होने के कारण इन पर किए गए सारे अध्ययन आज निरर्थक से प्रतीत हो रहे हैं। इससे सामान्यीकरण का मार्ग अवरुद्ध हो रहा है। ऐसी स्थिति में किसी सामान्य सिद्धान्त-निर्माण की कल्पना करना बेकार है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक द ष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति और विषय क्षेत्र को अधिक जटिल बना दिया है। इसने तुलनात्मक अध्ययन के छात्रों के लिए चुनौतियों पेश कर दी हैं। अब इसकी व्यवहारिक उपयोगिता कम होती दिखाई देने लगी है। लेकिन फिर भी हम आधुनिक द ष्टिकोण की तुलनात्मक राजनीति को महत्वपूर्ण देन को नहीं भूल सकते। इसने तुलनात्मक अध्ययन को वैज्ञानिक व व्यवस्थित आधार प्रदान किया है। इससे राजनीतिक व्यवहारों को निर्धारित करने वाले गैर-राजनीतिक तत्वों को तुलनात्मक राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को संकुचितता की परिधि से निकाल कर व्यापकता प्रदान की है। इसके आगमन से पहले तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध पाश्चात्य राज-व्यवस्थाओं से था और तुलनाएं भी नाममात्र की थी। लेकिन अब तुलनात्मक राजनीति में गैर-पाश्चिमी देशों की सभी प्रकार की राज-व्वस्थाओं को अध्ययन का विषय समझा जाने लगा है। तुलना की नवीन प्रविधियों ने आज तुलनात्मक अध्ययन को व्यापक आधार प्रदान किया है। इसने तुलनात्मक राजनीति की अनुभववादी सीमा का विस्तार करके अध्ययन के ढंग को परिशुद्धता प्रदान की है। यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन के आधुनिक द ष्टिकोण में कुछ कमियां अवश्य हैं। यदि इन कमियों को दूर किया जाए तो आधुनिक द ष्टिकोण महत्व तुलनात्मक अध्ययन के लिए दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाएगा।

तुलनात्मक राजनीति के प्रमुख आधुनिक द ष्टिकोण

(The Major Approaches of Comparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति के प्रमुख आधुनिक द ष्टिकोण निम्नलिखित हैं :-

(I) **व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण** (System Analysis Approach)

(II) **संरचनात्मक-कार्यात्मक द ष्टिकोण** (Structural-Functional Approach)

(III) **मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण** (Marxist-Leninist Approach)

(I) व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण

(System Analysis Approach)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परम्परागत द ष्टिकोण से जटिल राजनतिक परिस्थितियों को समझने और सामान्य सिद्धान्त निर्माण में असफल रहने के बाद राजनीतिक विद्वानों को नवीन उपागमों की आवश्यकता अनुभव हुई ताकि इनकी सहायता से बदली हुई परिस्थितियों में राजनीतिक प्रक्रियाओं की वास्तविकता को समझा जा सके और विकासशील देशों की पेचिदा व चुनौती भरी राजनीतिक घटनाओं का स्पष्टीकरण दिया जा सके। ऐसे ही वातावरण में सर्वप्रथम जिस नए द ष्टिकोण का जन्म हुआ और जिसने बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में राजनीतिक व्यवहार को समझने मे राजनीतिक विद्वानों की मदद की वह था-राजनीतिक व्यवस्था उपागम। इसके आगमन से तुलनात्मक राजनीति को न केवल वैज्ञानिक बनाने में सहायता मिली, बल्कि राजनीतिक व्यवहार के बारे में सर्वव्यापी नहीं तो कम से कम मध्य-स्तरीय सिद्धान्तों के निर्माण का मार्ग अवश्य प्रशस्त हुआ। इसके आगमन से पाश्चात्य राज-व्यवस्थाओं के साथ-साथ विकासशील देशों की राज-व्यवस्थाओं के अध्ययन पर ध्यान दिया जाने लगा और तुलना के नए मार्ग खुल गए।

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा पर आधारित है। राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण के आगमन से पहले राजनीतिक व्यवस्था के लिए संकीर्ण अर्थ में संस्थागत आधार पर ही प्रयुक्त किया जाता था। इसके लिए राष्ट्र, सरकार या राज्य जैसे शब्दों का प्रचलन आम था। लेकिन व्यवस्था विश्लेषण के आगमन ने राजनीतिक व्यवस्था को नया अर्थ प्रदान किया। अब शासन की संरचनाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, गैर-राजनीतिक तत्वों - राजनीतिक दलों, लोकमत, दबाव समूह आदि का अलग-अलग अध्ययन न करके सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में समझना आवश्यक हो गया। अब पुराने प्रत्ययों जैसे राज्य, सरकार आदि की प्रासांगिकता कम होने के कारण तुलनात्मक विश्लेषण के अधिक व्यापक ढांचे की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। अब विचारधारा से मुक्त यथार्थवादी द ष्टिकोण की आवश्यकता को सभी राजनीतिक विद्वान महसूस करने लगे ताकि तुलनात्मक राजनीति को वैज्ञानिक बनाने में मदद मिल सके। इसलिए व्यवस्था विश्लेषण के आगमन से इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति होने की सम्भावना बढ़ गई।

राजनीतिक व्यवथा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Political System) :- राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की संकल्पना से सम्बन्धित है। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त विभिन्न व्यवस्थाओं में कुछ मौलिक समानताएं तलाश कर अपना आधार कायम करता है। यह विभिन्न अनुशासनों के बीच खड़ी असमानताओं की दीवार को तोड़कर एकीकरण का प्रयास करता है। यद्यपि कई बार सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त और व्यवस्था विश्लेषण को समान समझ लिया जाता है, लेकिन इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध होते हुए भी काफी अन्तर है। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त से निकलने के बाद भी यह सामाजिक विज्ञानों के लिए बहुत विस्त त व महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इससे प्रयुक्त व्यवस्था शब्द विशिष्टता का बोध कराता है और एक राजनीतिक व्यवस्था को दूसरे से अलग करता है। यहां व्यवस्था उस अवस्था का बोध कराती है जिसमें अलग-अलग प्रकार की अन्तःक्रियाएं घटित होती हैं। राजनीति शास्त्र में व्यवस्था उपागम का प्रवेश अन्य सामाजिक व प्राकृतिक विज्ञानों से हुआ है। आज तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्था की अव धारणा का प्रचलन बढ़ चुका है। तुलनात्मक अध्ययन में तो एक उप-व्यवस्था के रूप में राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का प्रयोग सभी राजनीति शास्त्री करने लगे हैं। ऑमण्ड व पॉवेल ने लिखा है-"राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा अधिक लोकप्रिय होती जा रही है क्योंकि यह किसी भी समाज की राजनीतिक क्रियाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।"

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण का प्रतिपादन सर्वप्रथम डेविड ईस्टन ने किया है। उन्होंने 1953 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'The Political System' में राजनीतिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए कहा है-"किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को, जिससे उस समाज में बाध्यकारी अथवा अधिकारपूर्ण नीति निर्धारित होती है, राजनीतिक व्यवस्था कहा जाता है।" यद्यपि इस परिभाषा के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था के मूल लक्षणों को समझना असम्भव है, लेकिन फिर भी यह राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या अवश्य करती है। इसकी त्रुटि को दूर करने के लिए डेविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को फिर से परिभाषित करते हुए लिखा है-"राजनीतिक व्यवस्था स्वयं में परिपूर्ण सत्ता है जो उस वातावरण या परिवेश, जिसमें वह घिरी हुई होती है और जिसके अन्तर्गत वह परिचालित होती है, स्पष्ट तौर पर अलग रहती है।" आमण्ड व पॉवेल ने राजनीतिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है-"राजनीतिक व्यवस्था से इसके अंगों की अन्तर्निर्भरता और इसके पर्यावरण में किसी न किसी प्रकार की सीमा का बोध होता है।" यहां अन्तनिर्भरता का तात्पर्य है कि यदि व्यवस्था के किसी अंग में कोई परिवर्तन आता है तो उससे अंगों पर भी प्रभाव पड़ता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राजनीतिक व्यवस्था का सम्बन्ध

न्यायसंगत शारीरिक दमन से जुड़ा हुआ है। ईस्टन की द ष्टि में यह मूल्यों का सत्तात्मक आवंटन करती है। आमण्ड व पॉवेल की द ष्टि में राजनीतिक व्यवस्था केवल सरकार के तीनों अंगों का ही बोध नहीं कराती, बल्कि इसमें सभी प्रकार की संरचनाएं शामिल होती हैं। आमण्ड व पॉवेल की द ष्टि में न्याय संगत शक्ति ही वह डोर है जो राजनीतिक व्यवस्था को सम्पूर्ण ताने बाने में बाँधती है। राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसी उप-व्यवस्था है जिसके सभी भाग आपस में एक माला की तरह गुँथे हुए हैं। यह पर्यावरण से प्रभावित भी होती है, लेकिन उसकी दासी नहीं होती। यह प्रत्येक स्वतन्त्र समाज के कार्यों की वह व्यवस्था है जो शक्ति के न्यायसंगत प्रयोग द्वारा समाज में कानून व्यवस्था बनाए रखने तथा समाज को बदलने की शक्ति रखती है।

राजनीतिक व्यवस्था के लक्षण (Features of Political System) :- राजनीतिक व्यवस्था के कुछ अपने अलग लक्षण होते हैं। यदि हम ध्यान से देखें तो प्रत्येक समाज की संरचना सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक व सहभागिता चार संरचनात्मक स्तरों से मिलकर बनती है। राजनीतिक संरचना ऐसी ही एक समाज की संरचना है जो अनोखी विशेषताएं लिए हुए हैं। इसे अन्य उप-संरचनाओं या व्यवस्थाओं से अलग करने वाले लक्षण निम्नलिखित हैं :-

(i) **न्यायसंगत शारीरिक उत्पीड़न (Legitimate Physical Coercion)** :- सभी समाजों में राजनीतिक व्यवस्था शारीरिक शक्ति के न्यायसंगत प्रयोग से जुड़ी हुई है। ईस्टन इसे 'मूल्यों के सत्तात्मक आवंटन (Authoritative Allocation of Values), लॉसवेल और कॉप्लान 'गम्भीर वंचन' (Severe Deprivation), डाहल 'शक्ति, कानून और सत्ता' (Power, Rule and Authority) कहता है। राजनीतिक व्यवस्था की सभी परिभाषाएं राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपूर्ण प्रतिबन्धों; दण्ड देने की शक्ति, लागू करने की शक्ति तथा बाध्य करने की शक्ति को शामिल करती हैं। अपने औचित्यपूर्ण शक्ति के प्रयोग द्वारा ही राजनीतिक व्यवस्था विशिष्टता का गुण प्राप्त करती है। राजनीतिक व्यवस्था में केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका ही शामिल नहीं होती बल्कि इसमें सभी प्रकार की गैर-राजनीतिक संरचनाएं-हित समूह, राजनीतिक दल, लोकमत को अभिव्यक्त करने वाले साधन, दंगे-फसाद, प्रदर्शन, संचार माध्यम आदि भी सभी शामिल होती है। न्यायसंगत शब्द का समावेश होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था का उद्देश्य शक्ति व हिंसा का प्रयोग करना ही नहीं होता बल्कि यह सामाजिक कल्याण, राष्ट्रीय सुरक्षा आदि उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ऐसा करती हैं।

(ii) **अंगों की पारस्परिक निर्भरता (Inter-dependence of parts)** :- राजनीतिक व्यवस्था के अंगों में सायविक एकता पाई जाती है। जिस प्रकार शरीर का एक भी अंग विकृत हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर-तन्त्र प्रभावित करता है, उसी प्रकार राजनीतिक व्यवस्था का प्रत्येक अंग एक दूसरे के साथ गुँथा होता है। उदाहरण के लिए सरकार के तीनों अंगों - कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका का आपस में गहरा सम्बन्ध होता है। यदि इनमें से एक भी अंग अपने उत्तरदायित्वों से विमुख हो जाए तो अन्य अंगों के साथ साथ सम्पूर्ण तन्त्र ही डांवाडोल हो जाता है। इनमें तालमेल के अभाव में सम्पूर्ण व्यवस्था टूट सकती है। अतः अंगों की पारस्परिक निर्भरता राजनीतिक व्यवस्था का विशेष लक्षण है।

(iii) **सीमा का विचार (Notion of Boundary)** :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की अपनी सीमा होती है जिसके आधार पर उसे एकाधिकारवादी, लोकतन्त्रीय, सैनिकवादी, साम्यवादी आदि नामों से पुकारा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था नागरिकों, प्रजाजनों, मतदाताओं आदि की कार्यात्मक भूमिका से संचालित होती है। सभी व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में सामर्थ्य अनुसार भूमिकाएं अदा करते हैं। ये भूमिका राजनीतिक भी हो सकती हैं और गैर-राजनीतिक भी। जिस राजनीतिक व्यवस्था में जनता को अधिकाधिक भूमिकाएं अदा करने का मौका मिलता है, वह व्यवस्था लोकतांत्रिक होती है और जिसमें कम या ना के बराबर अवसर

मिलता है, वह सर्वसत्ताधिकारी राजनीतिक व्यवस्था कहलाती है। राजनीतिक व्यवस्थाओं का नामकरण लोगों की विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं की मात्रा के आधाार पर ही होता है। सीमा के आधार पर ही एक राजनीतिक व्यवस्था दूसरी से भिन्न बनती है। संसार की सभी निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं में लोगों की राजनीतिक सहभागिता सीमित होती है और शासन की समस्त शक्तियों का शासक वर्ग के हाथ में केन्द्रित हो जाती हैं, इसके विपरित लोकतन्त्र में शक्त्यिों का प थक्करण व लोकमत को महत्व दिया जाता है। इससे भूमिकाओं के क्षेत्र का निर्धारण होता है और भूमिकाएं राजनीतिक व्यवस्था की सीमा निर्धारित करती हैं। चुनावों के समय राजनीतिक व्यवस्था की सीमाएं भी लोगों की भूमिकाओं में व द्धि के कारण विस्तुत हो जाती हैं तथा चुनावों की समाप्ति पर सरकार के गठन के बाद लोगों की राजनीतिक भूमिकाओं के कम होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था की सीमाएं भी सिकुड़ जाती हैं। इस प्रकार लोगों की भूमिकाएं राजनीतिक व्यवस्था की सीमा को निर्धारण करने में प्रत्यक्ष योगदान देती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएं

(Characteristics of Political System)

व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण की द ष्टि में अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं-

(1) **राजनीतिक स्त्रोतों का असमान नियन्त्रण** (Uneven Control of Political Resources) :- राजनीतिक स्त्रोत वह साधन है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। इन राजनीतिक स्त्रोतों में धन, भोजन, शक्ति की धमकी, मित्रता, सामाजिक स्तर, विधि-निर्माण के अधिकार, मताधिकार आदि आते हैं। इन सभी राजनीतिक स्त्रोतों का प्रत्येक समाज में असमान वितरण होता है। इसके प्रमुख कारण (i) कार्यों का विशेषीकरण (ii) भौगोलिक अन्तर (iii) लोगों के लक्षणों और प्रेरकों में अन्तर (iv) लोगों में कार्य की पहल करने की शक्ति में अन्तर है। जब कार्य का विशेषीकरण हो जाता है तो विकसित और अविकसित राजनीतिक समाजों में स्त्रोतों का वितरण असमान हो जाता है। इसी तरह भौगोलिक असुविधा के कारण सभी व्यक्तियों की राजनीतिक स्त्रोतों तक पहुंच नहीं हो पाती और इससे भी राजनीतिक स्त्रोतों का असमान वितरण हो जाता है। सभी व्यक्ति राजनीति में प्रवेश के इच्छुक नहीं होते। उनके लक्षणों और प्रेरकों में अन्तर आने तथा उनकी कार्य के प्रति पहल करने की शक्ति में अन्तर के कारण भी राजनीतिक स्त्रोतों का वितरण असमान हो जाता है।

(2) **राजनीतिक प्रभाव की खोज** (The Quest for Political Influence) :- प्रत्येक व्यक्ति की सदैव यही इच्छा रहती है कि उसका समाज में राजनीतिक प्रभाव बढ़े और वह अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने में सुविधा महसूस करे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ पूर्ति के लिए सरकारी नीतियों, नियमों और निर्णयों को प्रभावित करने के प्रयास करता रहता है। सभी राजनीतिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपने राजनीतिक प्रभाव का खुलकर प्रयोग करते हैं। उनके प्रभाव में बाध्यकारिता का तत्व शामिल होने के कारण वह राजनीतिक व्यवस्था को कम या अधिक अवश्य प्रभावित करता है।

(3) **राजनीतिक प्रभाव का असमान वितरण** (Uneven Distribution of Political Influence) :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक प्रभाव वाले लोगों की कई श्रेणियां होती हैं। जिनके पास राजनीतिक संसाधन अधिक होते हैं, वे सरकार की नीतियों को अधिक प्रभावित करते हैं। कम राजनीतिक संसाधनों वाले व्यक्ति राजनीतिक प्रक्रियाओं को अपना

कम प्रभाव ही डाल पाते हैं। राजनीतिक संसाधनों का राजनीतिक प्रभाव का गहरा सम्बन्ध होता है। इनके बीच असमानता का पाया जाना स्वाभाविक ही है। जिस व्यक्ति की राजनीति में रुचि अधिक होती है और आर्थिक साधन भी पर्याप्त होते हैं तो वह अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में सफल हो जाता है। यही राजनीतिक प्रभाव के असमान वितरण का आधार है। राजनीतिक प्रभाव के असमान वितरण के तीन प्रमुख कारण - (i) राजनीतिक स्त्रोतों का असमान वितरण (ii) व्यक्तियों की कुशलता में अन्तर (iii) राजनीतिक लक्ष्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाले साधनों में अन्तर है। अधिक राजनीतिक प्रभाव वाले व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान पर पहुंच कर उसकी निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

(4) **संघर्षपूर्ण उद्देश्यों का समाधान (Resolution of Conflicting Aims)** :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्तियों के हित और उद्देश्य अलग अलग होते हैं। समाज इन हितों में सामंजस्य स्थापित रखने का प्रयास करता है। इन उद्देश्यों या हितों में स्वाभाविक सामंजस्य कभी-कभार ही पाया जाता है। इनमें विरोध होना स्वाभाविक बात है। जब यह विरोध समाज की काबू से बाहर हो जाता है तो राज्य व सरकार को समाज में कानून व व्यवस्था कायम करने के लिए अपनी बाह्यकारी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। समाज की मांगों में अधिकाधिक सन्तुलन करके राजनीतिक व्यवस्था में संघर्ष और अराजकता की स्थिति पैदा होने से बचने के लिए सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों को ही प्राथमिकता देना सरकार व राज्य का प्रमुख लक्ष्य है। सरकार की दमनकारी नीति द्वारा विरोधों में सामंजस्य कायम करना उसका अन्तिम विकल्प है।

(5) **औचित्यपूर्णता की प्राप्ति (The Acquisition of Legitimacy)** :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपनी नीतियों, निर्णयों, नियमों का आधार औचित्यपूर्ण बनाए रखना चाहती है। इसलिए संघर्षों के समाधान पर विरोधी हितों में सामंजस्य कायम करने के लिए हिंसा व दमन की नीति का कम से कम प्रयोग करना चाहती है। राजनीतिक व्यवस्था में उसके संचालकों का सदैव यही ध्येय रहता है कि राजनीतिक व्यवस्था में सम्पादित किया जाने वाला प्रत्येक कार्य नैतिक व न्यायसंगत हो और लोग उस कार्य को औचित्यपूर्ण मानकर स्वीकार करें। यदि राजनीतिक व्यवस्था की औचित्यता की प्राप्ति नहीं होगी तो वह कभी वैधता का गुण प्राप्त नहीं कर सकती। प्रजातन्त्र में तो औचित्यपूर्ण कार्यों का राजनीतिक व्यवस्था के लिए बहुत महत्त्व होता है। शासकों के प्रति जनता का विश्वास ही ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को औचित्यता प्रदान करता है। अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक सत्ताधारकों द्वारा अपनी राजनीतिक व्यवस्था का औचित्यपूर्ण बनाए रखने के लिए प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। जनता की सहभागिता और विश्वास ही प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को औचित्यपूर्ण और वैध बनाता है।

(6) **विचारधारा का विकास (The Development of Ideology)** :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के सत्ताधारक अपने कार्यों के प्रति जनता में विश्वास बढ़ाने के लिए अपने विचारधारा रूपी मन्त्र का प्रसार करते हैं। यह विचारधारा ही लोगों के हितों में पाए जाने वाले संघर्ष को एक मंच पर लाकर छोड़ देती है। विचारधारा ही प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को अलग पहचान देती है। इसी के आधार पर दलों का निर्माण होता है और जनता का समर्थन भी प्राप्त किया जाता है। यह नेत त्व को औचित्य प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विचारधारा के आधार पर ही राजनीतिक व्यवस्थाएं - पूंजीवादी, साम्यवादी, लोकतांत्रिक, निरंकुशवादी आदि रूप प्राप्त करती है। अतः प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(7) **अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रभाव (Influence of Other Political Systems)** :-

आज का युग विज्ञान व तकनीकी विकास का युग है। आज समस्त विश्व एक 'Global Village' (वैश्विक गांव) बन गया है। एक स्थान की घटना दूसरे स्थान पर भी अपना प्रभाव डालती है। कोई भी देश एक दूसरे से अपरिचित नहीं रह सकता। इसलिए आज राजनीतिक व्यवस्थाएं अपने समाज के पर्यावरण के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय या दूसरे देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं से भी प्रभावित होने लगी हैं। कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों व समझौतों की अनदेखी नहीं कर सकता। राजनीतिक व्यवस्थाओं की अन्तनिर्भरता ने आज राजनीतिक व्यवस्थाओं की परम्रागत सीमाओं को तोड़ दिया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था दूसरी राजनीतिक व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकती। उस पर एक दूसरी का कम या अधिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसे राजनीतिक व्यवस्थाओं की अन्तनिर्भरता का नाम दिया जाता है।

(8) **राजनीतिक व्यवस्थाओं की गत्यात्मकता (Dynamism of Political System)** :- परिवर्तनशीलता प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य गुण है। जो राजनीतिक व्यवस्था अपने को समय के अनुसार परिवर्तित करने का गुण नहीं रखती, वह टूटने के कगार पर पहुंच जाती है। स्थिरता का अर्थ - नष्ट होना है। इसी कारण सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं अपने को गतिशील बनाए रखने के लिए नई नई भूमिकाओं को स्वीकार करती हैं और व्यक्तियों की इच्छाओं व आवश्यकताओं के अनुकूल स्वयं को ढालने का प्रयास करती रहती हैं। राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व परिवर्तनों के प्रति उसका सचेत होना और उन्हें स्वीकार करने पर ही निर्भर करता है।

इस प्रकार प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में उपरोक्त सभी विशेषताएं सामान्य रूप से पाई जाती हैं। इनमें पाए जाने वाले अन्तर मात्रात्मक होते हैं, प्रकारात्मक नहीं। जब इन विशेषताओं में प्रकारात्मक अन्तर आ जाते हैं तो ये सामान्य विशेषताएं नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिए वैधता प्राप्त करना प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य होता है। साम्यवादी व्यवस्थाएं भी वैधता प्राप्त करने के उतने ही प्रयास करती हैं, जितनी प्रजातन्त्रीय व्यवस्थाएं।

राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता

(The Functioning of a Political System)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को कुछ महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। उसकी क्रियात्मकता से तात्पर्य उसके द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों से है। उसे अपने अन्दर या समाज की तरफ से उठने वाली मांगों या निवेशों के रूप में आने वाली बातों के बारे में स्वयं को क्रियाशील बनाकर रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा उन मांगों को निर्गतों या निर्णयों में बदलना पड़ता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को कार्य-निष्पादन तीन स्तरों पर करना पड़ता है :-

(I) **प्रबोधक प्रक्रिया स्तर** (The Stage of Monitoring Process)

(II) **रूपान्तर प्रक्रिया स्तर** (The Stage of Conversion Process)

(III) **प्रतिसम्भरण प्रक्रिया स्तर** (The Stage of Feedback Process)

(I) प्रबोधक प्रक्रिया स्तर

(The Stage of Monitoring Process)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को संवेदनशील बनाने के लिए कुछ प्रबोधक (Monitoring) तत्वों की आवश्यकता पड़ती है। ये तत्व वातावरण व राजनीतिक व्यवस्था दोनों की उपज हो सकते हैं। इन प्रबोधक तत्वों को मांगें या निवेश तथा समर्थन कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को

क्रियाशील बनाने में इन मांगों या निवेशों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पहले तो ये मांगें और निवेश वातावरण से आती हैं, लेकिन व्यवस्था की क्रियाशीलता के बाद ये राजनीतिक व्यवस्था के अन्दर से भी जन्म लेना शुरु कर देती हैं।

(II) रूपान्तर प्रक्रिया स्तर

(The Stage of Conversion Process)

राजनीतिक व्यवस्था को अपने अन्दर व बाहर से उठने वाली मांगों पर विचार-विमर्श करके उन्हें निर्णयों या निर्गतों के रूप में परिवतर्तित करने का भी महत्वपूर्ण काम करना पड़ता है। विचार-विमर्श की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि कई निवश या मांगें अनुचित व राजनीतिक व्यवस्था को परेशान करने वाली होती हैं। इसलिए रूपान्तर स्तर पर अनुचित मांगों को अस्वीकार कर दिया जाता है या फिर विचार करनेके लिए सुरक्षित रख लिया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को मांगों को निर्गतों में बदलने से पहले अपने साधनों, व्यवस्था के लक्ष्यों, मांग का औचित्य आदि पर ध्यान देना पड़ता है। राजनीतिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत मांगें व निवेश रूपान्तरण प्रक्रिया द्वारा निर्णयों, नीतियों व कानूनों के रूप में पर्यावरण में आ जाते हैं।

(III) प्रतिसम्भरण स्तर

(The Stage of Feedback Process)

यह देखने के लिए कि मांगों के रूप में आने वाले निवेशों का रूपान्तरण उसी प्रकार हुआ है या नहीं जिस प्रकार मांग करने वाले चाहते हैं, प्रतिसम्भरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है। प्रतिसम्भरण प्रक्रिया द्वारा मांगों की प्रभावकारिता जांची जाती है। यदि किसी मांग की प्रभावकारिता कम रह जाती है तो उसे प्रभावशाली राय देकर फिर से निर्णयों, नियमों व नीतियों के रूप में संशोधन के साथ पर्यावरण में छोड़ दिया जाता है। प्रतिसम्भरण द्वारा निर्णयों के विरुद्ध जनता द्वारा किए जाने वाली प्रतिक्रिया या समर्थन दोनों का पता चल जाता है। जिन निर्गतों पर जनता विरोध उत्पन्न करती है, उन पर फिर से विचार करके स्वागत योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार प्रतिसम्भरण मांगों के निर्गतों या निर्णयों के रूप में बदलने के बाद निर्गतों के विरोध या समर्थन को जांचने का तरीका है।

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण पर ईस्टन तथा आमण्ड व पॉवेल के विचार

(Easton and Almond-Powell's views on Political System Analysis)

डेविड ईस्टन को ही व्यवस्था विश्लेषण का प्रतिपादक माना जाता है। उन्होंने 1953 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'The Political System' में राजनीतिक विज्ञान में एक सामान्य सिद्धान्त निर्माण का विचार पेश किया था। उसके बाद उसने 1965 में अपनी पुस्तकों 'A Framework for Political Analysis' तथा 'A System Analysis of Political Life' में व्यवस्था विश्लेषण के विकास पर बल दिया। उसने राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए लिखा है कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण उप-व्यवस्था है। यह एक खुली और स्वयं को समंजित (Adjust) करने वाली व्यवस्था है जो एक वातावरण में कार्य करती है। यह पर्यावरण अन्तःसमाजीय और ब्रह्म-समाजीय दो प्रकार का होता है। हर राजनीतिक व्यवस्था के दो विशेष अनुलक्षण होते हैं। प्रथम तो वह आदानों-प्रदानों और कार्य-सम्पादनों की प्रक्रिया है और दूसरी, वह उत्पात्तों और दबावों को सहन करती है। उसकी आदान-प्रदान की प्रक्रिया पर्यावरण तथा उसके अन्दर ही

चलती है। उसके उत्पात्तों व दबावों से उसकी रक्षा करने के लिए उसके अन्दर ही मुआवजे की प्रक्रियाएं होती हैं। ये उत्पात या दबाव पर्यावरण से आते हैं जो राजनीतिक व्यवस्था को अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। इस तरह राजनीतिक व्यवस्था कार्य-निष्पादन की ऐसी व्यवस्था है जो पर्यावरण तथा व्यवस्था की भीतर उत्पन्न दबावों या उत्पातों के वशीभूत रहकर कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्था के तीन संघटक (Components)-राजनीति व्यवस्था के निवेश, मांगों का रूपान्तरण तथा राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत है।

(I) **निवेश (Input)** :- ईस्टन का मानना है कि राजनीतिक व्यवस्था ऐसे वातावरण में कार्य करती है जहां पर इसके ऊपर सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव पड़ते हैं। इस पर समाज में रहने वाली विभिन्न जातियों का भी प्रभाव पड़ सकता है। यह प्रभाव निवेशन कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है। (i) मांग (Demand) (ii) समर्थन (Support)। वातावरण के वे प्रभाव जो राजनीतिक व्यवस्था पर कोई न कोई दबाव डालते हैं, जिससे राजनीतिक व्यवस्था दूसरी दिशा में उन्मुख होती है, मांग कहलाते हैं। ये मांग सामान्य और विशिष्ट दो तरह की हो सकती है। निवेशन का दूसरा पक्ष समर्थ है। समर्थन राजनीतिक वस्तुओं की तरफ अभिमुखी होता है। यह सकारात्मक या नकारात्मक, अतिव तात्मक या सक्रिय तथा खुला अर्थात् प्रकट या अप्रकट हो सकता है। इसका उद्देश्य सत्तारूढ़ अधिकारियों की मदद करना, राजनीतिक जीवन के नियमों व कानूनों में स्थायित्व लाना और उन्हें लागू करना तथा समाज के सदस्यों में एकता और संगठन कायम रखना होता है। सकारात्मक समर्थन राजनीतिक व्यवस्था का पोषक तथा नकारात्मक समर्थन व्यवस्था का शोषक होता है।

(II) **मांगों का रूपान्तरण (The Conversion of Demands)** :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपने समर्थनों और साधनों का प्रयोग मांगों को अस्वीकार करने, उनकों पूरा करने या उनमें परिवर्तन करने के लिए करती है। कुछ मांगें तो सकारात्मक या नकारात्मक ढंग से पूरी कर दी जाती हैं। कुछ को सामान्य मांग में बदलकर सामान्य नियम बना दिए जाते हैं और सामान्य हित के लिए मुद्दों के रूप में मान्यता दे दी जाती है। मांगों की संख्या कम करके उन्हें साधनों के अनुकूल बनाया जाता है। इस स्तर पर उचित व अनुचित मांगों पर विचार करके उनका समूहीकरण कर दिया जाता है। मांगों का रूपान्तरण इस तरह किया जाता है कि उन्हें जनसमर्थन मिलने लगता है।

(III) **निर्गत (Output)** :- मांग और समर्थन के आधार पर जो निर्णय रूपान्तरण प्रक्रिया के माध्यम से लिए जाते हैं, उन्हें निर्गत कहा जाता है। ये निर्गत सत्तात्मक (Authoritative) तथा सहनिर्गत (Associated) दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के निर्गत बन्धनकारी होते हैं जो सामान्य कानूनों से लेकर न्यायालय के विशिष्ट निर्णयों के रूप में भी होते हैं। सह-निर्गत निर्देशात्मक होते हैं। ये बन्धनकारी नहीं होते। निर्गतों का सम्बन्ध विधायिका, कार्यपालिका या न्यायपालिका से होता है। ये निर्गत निर्णयों, नीतियों या नियमों के रूप में सरकारी अभिकरणों के द्वारा लागू किए जाते हैं।

ईस्टन अपने आगत-निर्गत की प्रक्रिया से प्रतिसम्भरण की दोहरी व्यवस्था का भी जिक्र करता है। जब निर्णयों का प्रभाव नीतियों के रूप में जनता पर पड़ता है तो उसके लिए शासक वर्ग अपने निर्गतों की प्रभावकारिता जांचने के लिए तथा उन्हें पुनः समायोजित करने के लिए प्रतिसम्भरण का सहारा लेता है। ईस्टन ने प्रतिसम्भरण को निर्गतों के साथ ही जोड़ा है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध निर्गतों से होता है। प्रतिसम्भरण द्वारा निवेश व निर्गतों के चक्रीय ढाँचे में सम्बन्ध स्थापित रखा जाता है। इसमें निर्गतन की प्रक्रिया वातावरण से एक बार फिर पुनः निवेशन के रूप में राजनीतिक

व्यवस्था को प्रभावित करती है और यही राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाए रखने का आधार है।

इस प्रकार ईस्टन का 'Input-Output' का मॉडल एक ऐसा सांचा है जिसके द्वारा किसी भी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन किया जा सकता है। इसी तरह ऑमण्ड व पॉवेल ने भी राजनीतिक व्यवस्था के बारे में अध्ययन के लिए संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक मॉडल प्रस्तुत किया है। उसने राजनीतिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए कहा है कि राजनीतिक व्यवस्था सभी स्वतन्त्र समाजों के अन्तःक्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था है जो बहुत कुछ वैध भौतिक बाध्यता का प्रयोग करके अथवा प्रयोग करने की धमकी देकर एकीकरण और अनुकूलन के कार्यों का सम्पादन करती है। ऑमण्ड व पॉवेल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के तीन संघटक (Components) राजनीतिक संरचनाएं, राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक नेत त्व हैं। इन संघटकों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाया जाता है। इनके द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्य - (i) मांगों का चयन व संयुक्तीकरण (ii) मांगों का रूपान्तरण या निर्गतन (iii) व्यवस्था का अनुरक्षण (Maintenance) (iv) व्यवस्था का अनुकूलन करना है। ऑमण्ड व पॉवेल ने भी ईस्टन के आगत-निर्गत मॉडल को लगभग स्वीकार किया है। लेकिन निवेशों के बारे में दोनों के विचारों को साम्य होते हुए भी रूपान्तरण और निर्गतों के बारे में ऑमण्ड की द ष्टि अधिक व्यापक है। ऑमण्ड व पॉवेल ने राजनीतिक व्यवस्था को आगत-निर्गत के रूप में न समझकर संरचनात्मक व कार्यात्मक आधार पर समझने का प्रयास किया है। सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं ऑमण्ड व पॉवेल द्वारा बताए गए कार्य ही निष्पादित करती हैं। इसलिए उससे प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में सहायता मिल सकती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ईस्टन तथा ऑमण्ड-पॉवेल ने राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण का विकास करके सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने हेतु महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई है। व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण व नीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए एक बहुत ही उपयोगी उपागम है।

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण का महत्व

(Importance of Political System Analysis Approach)

तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन को उपयोगी बनाने में व्यवस्था विश्लेषण का महत्वपूर्ण योगदान है। यह द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों और गत्यात्मकताओं को समझने में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इस द ष्टिकोण द्वारा प्रस्थापित अवधारणाओं, प्रत्ययों और प्रविधियों ने सम्पूर्ण विश्व को राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव बना दिया है। यह सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित करके राजनीतिक व्यवस्था की सततता द्वारा सामान्य सिद्धान्त के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अग्रसर है। इस द ष्टिकोण का सम्बन्ध विश्व में अस्तित्ववान समस्त प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं से है। राजनतिक व्यवस्था की अवधारणा पर आधारित यह द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न संरचनात्मक व कार्यात्मक पहलुओं पर द ष्टि रखने में तुलनात्मक अध्ययन में रुचि रखने वाले अध्येताओं की मदद करता है। इसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को अस्थिर बनाने वाले तत्वों की पहचान करने में भी सहायता मिलती है। इस द ष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इस द ष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति को परम्परागत सिद्धान्तों की दलदल से निकालकर आधुनिक बनाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। इस द ष्टिकोण ने 'राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तुत करके तुलनात्मक अध्ययन को समसामयिक व गतिवान बनाया है। इसने राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकता को समझने में तुलनात्मक राजनीति की भरपूर मदद की है। अतः व्यवस्था विश्लेषण तुलनात्मक अध्ययन का सर्वोत्तम उपागम है और यह गत्यात्मक और व्यवस्था की सततता का सिद्धान्त निर्मित करने की ओर उन्मुख है। इस द ष्टिकोण के आगमन से

तुलनात्मक अध्ययन को जो नई दिशा मिली है, वही व्यवस्था विश्लेषण की अमूल्य देन है।

राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण की आलोचनात्मक समीक्षा

(A Critical Evaluation of Political System Analysis Approach)

यद्यपि व्यवस्था विश्लेषण उपागम ने तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन फिर भी यह उपागम अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका। ईस्टन तथा ऑमण्ड व पॉवेल ने इस द ष्टिकोण में नई नई अवधारणाओं, संकल्पनाओं का प्रयोग करके जटिलताओं का समावेश कर दिया। इस द ष्टिकोण को परिशुद्धता व परिमार्जितता प्रदान करने के चक्कर में ईस्टन ने इसे अव्यवहारिकता का ही जामा पहना दिया। इसकी आलोचना के आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा के साथ संरचनात्मक-कार्यात्मक व्याख्या जोड़ने से यह उपागम अधिक उलझनमय बन गया है। राजनीतिक विकास, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक आधुनिकीकरण के बिना इस राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को समझना कठिन है। दूसरी तरफ राजनीतिक व्यवस्था को अधिक स्वायत्तता प्रदान करके सामाजिक व्यवस्था की अन्य उप-व्यवस्थाओं के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया गया है। अतः यह द ष्टिकोण जटिल व अव्यवहारिक सा प्रतीत होता है।

(2) यह द ष्टिकोण निरन्तरता के सन्दर्भ में ही राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझ सकता है, अकस्मात उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करने में यह सहायक नहीं है।

(3) यह द ष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक व्यवस्थाओं जैसे 'संयुक्त राष्ट्र संघ' आदि का अध्ययन करने में उपयोगी नहीं है। इसी कारण व्यवहारवादी विद्वानों ने इसे संकुचित द ष्टिकोण कहकर आलोचना की है।

(4) यह द ष्टिकोण आगत-निर्गत व संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के आधार पर अभिजन-वर्ग अर्थात शासक वर्ग की राजनीतिक क्रियाओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। इसका बहुसंख्यक समाज के वर्गों से कोई सरोकार नहीं है, अतः यह अभिजन-वर्ग के हितों का ही पोषण करता है।

(5) अभिजन-वर्ग के हितों का पोषक होने के कारण यह द ष्टिकोण यथास्थिति का पक्षधर है। यह क्रांतिकारी परिवर्तनों को राजनीतिक व्यवस्था में शामिल करने व उनकी व्याख्या करने में असमर्थ है।

(6) ईस्टन तथा ऑमण्ड ने मूल व्यवस्था से राजनीतिक व्यवस्था को जोड़कर इसको अव्यवहारिक बना दिया है। यदि सत्तात्मक रूपान्तरण को राजनीतिक व्यवस्था से अलग कर दिया जाए तो सामाजिक व्यवस्था की अन्य उप-व्यवस्थाओं से राजनीतिक व्यवस्था को अलग करना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवस्था विश्लेषण में अनेक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोष हैं। इसका मुख्य उद्देश्य यथास्थिति का समर्थन करके विद्यमान व्यवस्था का ही पोषण करता है। यह राजनीतिक व्यवस्थाओं को राष्ट्रीय स्तर पर ही परिभाषित करने और उनका अध्ययन करने में सहायक हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की व्यवस्थाओं का अध्ययन करने में यह द ष्टिकोण असमर्थ है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यह द ष्टिकोण बिल्कुल ही अप्रासंगिक है। प्रो० पाल एफ० क्रीस ने लिखा है-"हमें इस संभावना के प्रति जागरूक होना चाहिए कि राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त एक-न-एक दिन अवश्य ही संतोषजनक ढंग से राजनीतिक अन्वेषण में सक्षम होगा।" इसके लिए हमें राजनीति को क्रमबद्ध व व्यवस्थामूलक अर्थ में समझना अति आवश्यक होगा। इस

प्रकार हम कह सकते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा के विकास द्वारा इस द ष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति की महान सेवा की है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न जटिल राजनीतिक परिस्थितियों में राजनीतिक व्यवहार को समझने में इस द ष्टिकोण ने तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी आधार प्रदान किया है। इसने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उपयोगी सामान्य सिद्धान्त निर्माण करने की दिशा में अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका है।

(II) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण

(Structural-Functional Approach)

व्यवस्था विश्लेषण के बाद तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र को जो द ष्टिकोण अधिक लोकप्रिय हुआ है, वह संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण ही है। यद्यपि यह द ष्टिकोण भी राजनीतिशास्त्र में व्यवस्था विश्लेषण की तरह ही अन्य समाज शास्त्रों की देन है, लेकिन इस द ष्टिकोण ने व्यवस्था विश्लेषण की कमियों को दूर करके अपने आप को तुलनात्मक अध्ययन में प्रतिष्ठित स्थान पर स्थापित किया है। यद्यपि यह द ष्टिकोण भी राजनीतिक व्यवस्था को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में समझने में राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का ही सहारा लेता है, लेकिन यह राजनीतिक व्यवस्था को क्रान्तिकारी परिवर्तनों के सन्दर्भ में भी समझने की योग्यता रखने के कारण व्यवस्था विश्लेषण से आगे निकल जाता है। यह द ष्टिकोण असमान विशेषताओं वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना करने के नए प्रतिमान स्थापित करता है। इस द ष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक ऑमण्ड, डेविड ईस्टन, एप्टर तथा हैरी एकसटीन आदि विद्वान हैं।

सर्वप्रथम ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण के आगत-निर्गत (Input-Output) मॉडल की कमियों पर अपना स्थान केन्द्रित किया। इस मॉडल के अव्यवहारिक होने के कारण ऑमण्ड ने उन कृत्यों की पहचान की जो समाज-व्यवस्था को कायम रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके बाद 1960 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Politics of the Developing Areas' में न केवल इन कृत्यों का वर्गीकरण ही किया बल्कि प्रत्येक कृत्य के लिए उपयुक्त संरचना की भी पहचान की। उन्होंने स्पष्ट किया कि एक संरचना एक से अधिक कृत्य भी पूरे कर सकती है। इस द ष्टिकोण के आगमन से व्यवस्था विश्लेषण की कमियां तो दूर हुई ही, साथ में तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को अधिक स्पष्ट रूप में समझना भी आसान हो गया। इस द ष्टिकोण से राजनीतिक व्यवस्था की अन्तर्वस्तु से कार्यात्मक पक्ष को अलग करके राजनीति व्यवस्था को समझना अधिक उपयुक्त हो गया है। इसके बाद तुलनात्मक राजनीति में भी राजनीति का सामान्य सिद्धान्त निर्माण का रास्ता प्रशस्त होने लगा है। इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति में संरचनात्मक-कार्यात्मक द ष्टिकोण का प्रयोग उन गत्यात्मक तत्वों की पहचान करने के उद्देश्य से होने लगा है जो राजनीतिक व्यवस्था को जीवित बनाए रखने में मदद करते हैं।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक का अर्थ

(Meaning of Structural-Functional)

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण एक ऐसी पद्धति है जो राजनीतिक व्यवस्था के गठन और उसके कार्यों के सन्दर्भ में ही राजनीतिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करती है। यह द ष्टिकोण संरचना और प्रकार्य के दो प्रत्ययों पर आधारित है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक को इन्हीं दो प्रत्ययों के आधार पर समझा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों को सम्पादित करने की व्यवस्था जिस व्यवस्थात्मक संगठन द्वारा की जाती है, वह संरचना है। अतः संरचनाओं को प्रकार्यों के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है। हर कोई संगठन संरचना नहीं हो सकता। जो संगठन नियमित रूप से प्रकार्यों को सम्पादित करता है, वही संरचना कहलाता है। प्रकार्य को

परिभाषित करते हुए राबर्ट सी० बोन ने लिखा है-"एक प्रकार्य व्यवस्था को बनाए रखने और उसे विकसित करने के लिए किया जाने वाला ऐसा क्रिया-प्रतिमान है जो नियमित रूप से होता रहता है।" प्रकार्य के साथ निष्कर्ष भी जुड़ा रहता है। कई बार प्रकार्य विकार्य और विकार्य प्रकार्य बन जाता है। प्रकार्य ऐसा क्रिया-प्रतिमान है जो व्यवस्था को बनाए रखने, उसे विकसित करने तथा नियमित रूप से घटित होता रहता है। प्रकार्य ही ऐसा क्रिया-प्रतिमान होता है जो व्यवस्था का पोषक होता है तथा विकार्य व्यवस्था को नष्ट करने वाला क्रिया-प्रतिमान होता है। तुलनात्मक राजनीति में प्रकार्य उसी क्रिया-प्रतिमान को कहा जाता है जो राजनीतिक व्यवस्था का अनुरक्षक हो, उसे विकसित करने वाला हो तथा नियमितता का गुण भी रखता हो। इस प्रकार संरचना व प्रकार्य के आधार पर ही संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण विकसित हुआ है। तुलनात्मक राजनीति में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इस उपागम में तीन प्रमुख बातें निहित हैं-(i) किसी व्यवस्था द्वारा कौन से आधारभूत प्रकार्य पूरे किए जाते हैं ? (ii) ये प्रकार्य किन संरचनाओं द्वारा पूरे होते हैं ? और (iii) ये प्रकार्य किन परिस्थितियों में पूरे होते हैं ? इन तीनों प्रश्नों के सन्दर्भ में ही यह द ष्टिकोण संरचना और प्रकार्य के प्रत्ययों को विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की व्याख्या

(Explanation of Structural-Functional Approach)

इस द ष्टिकोण के समर्थकों का मानना है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक गतिविधियों को संचालित करने के लिए एक अलग ढांचा होता है। यह ढांचा या संरचना एक गतिशील मशीन की तरह कार्य करती है। इस ढांचे के अलग अंग-प्रत्यंग होते हैं। प्रत्येक अंग-प्रत्यंग अपने अपने कार्यों का निष्पादन करके व्यवस्था रूपी मशीन को गतिशील बनाए रखता है। जिस प्रकार शरीर रूपी मशीन को संचालित रखने में शरीर के अंग अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं, उसी तरह सामूहिक अन्तनिर्भरता के आधार पर अंग भी कार्य करके संरचनात्मक ढांचे को गति प्रदान करते हैं। जिस प्रकार शरीर रूपी मशीन को विभिन्न अंग गतिशील बनाए रखते हैं, उसी प्रकार संरचना रूपी मशीन को उसके अनेक अंग गति प्रदान करते हैं। यह संगठनात्मक मशीन अपने अलग अलग अंगों को कुछ 'Input' (आगत) कार्य सौंपकर उन्हें 'Output' (निर्गत) के रूप में पूरा करवाती है। इस प्रकार संरचना में 'Output-Input' का चक्कर चलता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में इस 'Input-Output' का विशेष महत्व है। इस 'Input-Output' (आगत-निर्गत) की प्रक्रिया को समझने के लिए जिस नए द ष्टिकोण का विकास हुआ है, वह द ष्टिकोण संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण ही है। विश्लेषण की इकाई के रूप में यह उपागम समूची राजनीतिक व्यवस्था पर बल देता है। यह द ष्टिकोण सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाए रखने के लिए विभिन्न व्यवस्थाओं में कार्यात्मक अन्तनिर्भरता स्वीकार करता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की विशेषताएं

(Characteristics of Structural-Functional Approach)

इस द ष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) यह द ष्टिकोण विश्लेषण की इकाई के रूप में सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

(2) यह द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवस्था के अनुरक्षण (Maintenance) के लिए व्यवस्था की संरचनाओं द्वारा कुछ कार्य या विकार्यों का होना आवश्यक मानता है।

(3) इस द ष्टिकोण के अनुसार विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रकार्यों की अन्तनिर्भरता पाई

जाती है। इसी आधार पर यह संरचनाओं को परिभाषित करता है।

(4) इस द ष्टिकोण का मानना है कि एक प्रकार के प्रकार्यों के लिए एक सी संरचनाओं का होना आवश्यक नहीं है।

(5) इस द ष्टिकोण का मानना है कि संस्कृति में परिवर्तन संरचनात्मक परिवर्तन का आधार है।

(6) इस द ष्टिकोण विकार्य को भी प्रकार्यों के समान ही महत्व देता है। विशेष परिस्थितियों में विकार्य-प्रकार्य का स्थान लेकर व्यवस्था का अनुरक्षण कर सकता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण पर आमण्ड के विचार

(Almond's views on Structural-Functional Approach)

इस द ष्टिकोण की व्याख्या सबसे पहले ऑमण्ड ने ही की है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Politics of Developing Areas' में राजनीतिक विकास तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण में रुचि दिखाई है। उसने बताया है कि एक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार दूसरे प्रकार की व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लेती है। परम्परागत व्यवस्थाएं राजनीतिक विकास क्रम में आधुनिक व्यवस्थाएं बनकर निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर प्रस्थान करती है। इस व्याख्या द्वारा आमण्ड ने बताया कि आधुनिक व्यवस्थाओं में प्राचीन-व्यवस्थाओं के तत्व कितनी मात्रा में पाए जाते हैं। इसी प्रकार ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण के द्वारा तुलनात्मक अध्ययन को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उसने स्पष्ट किया है कि एक अच्छी कार्यक्षमता वाली व्यवस्था कम कार्यक्षमता वाली व्यवस्थाओं से अच्छी होती है। उसने राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास की तरह ही मानकर पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में तत्वों को खोजकर उनके आधार पर ही विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी समान तत्वों की पहचान करने का प्रयास किया।

आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था को अन्तः क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था कहा है जो सभी स्वतन्त्र समाजों में पाई जाती है और कम या अधिक रूप में न्यायसंगत भौतिक बाध्यता के प्रयोग या प्रयोग की धमकी द्वारा एकीकरण और अनुकूलन का प्रयास करती है। राजनीतिक व्यवस्था समाज में तारतम्य या व्यवस्था स्थापित करने वाली वैध व औचित्यपूर्ण शक्ति है जो आगतों व निर्गतों के रूप में प्रवाहित होती रहती है और वह व्यवस्था को विशिष्टता का गुण प्रदान करती है। राजनीतिक व्यवस्था आंतरिक और बाहरी पर्यावरण से घिरी होने के कारण वातावरण से प्रभावित भी होती रहती है और उसे प्रभावित करने का सामर्थ्य भी रखती है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में संरचना और कार्यों के आधार पर सम्पूर्णता, अन्तनिर्भरता, सीमारेखाएं, खुली व्यवस्था, व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के स्थान पर भूमिकाओं की प्रतिक्रियाएं आदि विशेषताएं पाई जाती हैं। कार्यों की द ष्टि से अन्तनिर्भर होने के कारण ही राजनीतिक व्यवस्था में गतिशीलता रहती है। एक व्यवस्था में चार प्रकार की समानताएं (i) एक राजनीतिक संस्कृति (ii) राजनीतिक ढांचों की बहु-कार्यात्मकता (iii) कुछ निश्चित समान राजनीतिक कार्य (iv) क्रिया-प्रतिक्रियाओं में वैधता होती है। उपरोक्त विशेषताओं के कारण ही सभी संरचनाएं राजनीतिक व्यवस्था में विशिष्ट कार्य करने लगती हैं और राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप बदल देती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था के कार्य

(Functions of Political System)

ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के दो कार्य आगत व निर्गत बताए हैं। उसका कहना है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं पर्यावरण से प्राप्त आगतों को पूरा करने के लिए संसाधन तलाश करती है

और रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा उन्हें निर्गतों में बदल देती हैं। वह निर्गतों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया जानने के लिए प्रतिसम्भरण की व्यवस्था की करती है।

(I) राजनीतिक व्यवस्था के आगत-कार्य

(Input Functions of Political System) :-

(1) **राजनीतिक समाजीकरण एवं भर्ती** (Political Socialization and Recruitment)

(2) **हित-अभिव्यक्ति या स्पष्टीकरण** (Interest Articulation)

(3) **हित-समूहीकरण** (Interest Aggregation)

(4) **राजनीतिक सम्प्रेषण** (Political Communication)

प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक समाजीकरण व भर्ती का कार्य राजनीतिक दलों का अन्य संगठनों द्वारा किया जाता है। दबाव समूह हितों को व्यक्त करने का प्रमुख साधन है। वे लोगों की मांगों का समूहीकरण करके उन्हें राजनीतिक सत्ताधारियों के पास पहुंचाते हैं। राजनीतिक सम्प्रेषण इस समस्त प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। संचार साधनों, समाचार-पत्रों आदि के माध्यम से जनता को राजनीतिक व्यवस्था की नीतियों और निर्णयों से अवगत कराया जाता है। राजनीतिक सम्प्रेषण जनता व सत्ताधारकों के बीच एक कड़ी का काम करता है। यह राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाता है।

(II) राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत कार्य

(Output Function of Political System) :-

राजनीतिक व्यवस्था रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा आगतों को निर्गतों में बदल देती है। यह रूपान्तरण राजनीतिक और शासकीय दोनों स्तरों पर होता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था के तीन निर्गत उभरकर आते हैं :-

(1) **नियम-निर्माण** (Rule-Making)

(2) **नियम-अनुप्रयोग** (Rule-Application)

(3) **नियम-अधिनिर्णय** (Rule-Adjudication)

राजनीतिक व्यवस्था के ये तीनों निर्गत कार्य सरकार के परम्परागत संरचनाओं के कार्यों पर ही निर्भर करता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था नियमों के निर्माण, क्रियान्वयन के साथ-साथ नियमों या कानूनों के टकरावों या विरोधाभासों को दूर करने की व्याख्या भी करती है।

इस प्रकार आमण्ड ने अपने संरचनात्मक-कार्यात्मक द ष्टिकोण द्वारा सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। उसने संरचनाओं द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों की व्याख्या करके अपने द ष्टिकोण को व्यापक आधार प्रदान किया है। उसने आगत कार्यों को समाजीकरण व संचार से जोड़कर अपने द ष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रदान किया है, लेकिन कुछ अनावश्यक तथ्यों के समावेश से इस द ष्टिकोण में अस्पष्टता और जटिलता में व द्धि हो गई है। राजनीतिक दलों का राजनीतिक समाजीकरण व भर्ती के लिए आवश्यक मानकर ऑमण्ड ने उन राजनीतिक अध्ययन के प्रति भेदभावपूण्र रवैया अपनाया है जिन देशों में या तो राजनीति दल हैं ही नहीं, यदि हैं तो नाममात्र के हैं। संघर्ष की प्रव त्ति का विरोध करने के कारण यह द ष्टिकोण मार्क्सवाद का विरोधी है। प्राकृतिक विज्ञान की अवधारणाओं को राजनीति-विज्ञान में प्रयुक्त करके ऑमण्ड ने अनुचित कार्य किया है। इन अवधारणाओं का राजनीतिक संरचनाओं से कोई सरोकार नहीं हो सकता। कार्डिनर ने इस द ष्टिकोण की आलोचना करते हुए संरचना और कार्यों के बीच स्थापित सम्बन्धों को 'कार्यात्मक उद्देश्य का भ्रम' (Fallacy of Functional Teleol-

ogy) कहा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टि अर्थहीन व अप्रासंगिक है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को नई दिशा प्रदान करने में इस द ष्टिकोा का बहुमूल्य योगदान है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण पर डेविड ईस्टन के विचार

(David Easton's Views on Structural-Functional Approach)

व्यवहारवादी क्रान्ति के जनक डेविड ईस्टन ने 1965 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'System Analysis of Political Life' में राजनीतिक जीवन की कुछ विशेष श्रेणियां बताई थीं जिनके आधार पर राजनीतिक जीवन के तथ्यों के विश्लेषण के साथ साथ एक स्तरीय सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है। डेविड ईस्टन एक ऐसी विश्लेषणात्मक व्यवस्था प्रस्तुत करना चाहते थे जो समस्त प्रकार के आचरणों को बताने में सक्षम हो। इस पुस्तक के माध्यम से ईस्टन ने एक ऐसा सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसके दो पहलू - (i) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों की राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण करना (ii) सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार की समस्याओं के लिए सिद्धान्त प्रयोग करना है। ईस्टन ने अपने विश्लेषण में शक्ति सम्बन्धों की बजाय राजनीति को मूल्यों का सत्तात्मक आवंटन माना है। उसका यह विचार रहा है कि राजनीतिक व्यवस्था एक जीवन्त व्यवस्था है, इसलिए इसके अस्तित्व पर कोई शक नहीं होना चाहिए। ईस्टन का ध्येय व्यवस्था की निरन्तरता को बनाए रखना है। इसलिए वह तत्वों की अपेक्षा करने की बजाय व्यवस्था के जीवित रहने की दशाओं की अपेक्षा करता है। इसलिए ईस्टन ने ऑमण्ड के संरचनात्मक प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की आलोचना की है। उसका कहना है कि यह द ष्टिकोण अपूर्ण व अपर्याप्त है। इसमें कार्य की अवधारणा किसी सिद्धान्त का आधार नहीं बन सकती। ऑमण्ड का सन्तुलन मॉडल वास्तविकता को सरल तो बनाता है, लेकिन उसका चित्रण नहीं कर सकता। ऑमण्ड ने अपने मॉडल में व्यवहारिक ज्ञान की खोज में राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन की उपेक्षा की है।

ईस्टन ने राजनीतिक विश्लेषण के दो तरीके प्रस्तुत किए हैं। प्रथम विश्लेषण में वह निरन्तरता और परिवर्तन दोनों का विवेचन करता है और दूसरे में वह राजनीतिक जीवन के तत्वों को पहचानने पर जोर देता है। ईस्टन इसे सिद्धान्तवादी ढांचा या विश्लेषण की संरचना का नाम देता है। ईस्टन के विश्लेषण का मुख्य लक्ष्य अन्तःक्रियाओं की प्रक्रिया है, जो ऑमण्ड से भिन्न है। ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को एक आत्म-नियामक तथा वातावरण से प्रभावित होने वाली खुली व्यवस्था माना है। उसका मानना है कि राजनीतिक व्यवस्था की संरचना और प्रक्रिया में आन्तरिक व बाहरी परिस्थितियों के दबाव से तथा पूर्ववर्ती निर्णयों की सूचना से दो प्रकार से परिवर्तन होते हैं। खुली व्यवस्था होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था में सीमा रेखाएं उसे अन्य समाज की व्यवस्थाओं से अलग करती है। यह राजनीतिक व्यवस्था दो प्रकार के दबावों-मांगों और समर्थनों का सामना करती है। जब समर्थन रूपी भवन में दरारें आ जाती हैं तो व्यवस्था भी चरमरा जाती है। लेकिन बाहरी व आन्तरिक परिस्थितियों में परिवर्तन के बाद भी व्यवस्था में निरन्तरता बनी रहती है। इसलिए शासन व सत्ता में परिवर्तन होते रहते हैं और समाज फिर भी निरन्तर बना रहता है। अतः राजनीतिक व्यवस्था का मूल्यांकन उसके कार्यों के आधार पर न करके उसकी निरन्तरता के आधार पर ही करना चाहिए। राजनीतिक समाजीकरण का विद्वान होने के कारण ईस्टन इस बात पर जोर देता है कि राजनीतिक व्यवस्था स्वयं संचालित होने वाली प्रक्रिया है जिसे कार्यों के आधार पर जांचना अनुचित है।

इस प्रकार ईस्टन के विचार ऑमण्ड से बिल्कुल अलग हैं। ईस्टन ऑमण्ड के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण को उपयोगी मानते हुए भी राजनीतिक व्यवस्था के संरचनात्मक पहलू से अधिक बल राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों और उसके कार्यों पर दिया है। ऑमण्ड की राजनीतिक

व्यवस्था की परिभाषा के आधार पर उसका अधिक जोर संरचनात्मक पहलू है। इसी तरह ईस्टन ने ऑमण्ड के सन्तुलन के विचार को भी सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया है। उसने संतुलन की बजाय पर्यावरण और राजनीतिक व्यवस्था की अन्तःक्रिया पर जोर दिया है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण पर एप्टर व हैरी हकसटीन के विचार

(Apter and Harry Eckstein's Views on Structural-Functinal Approach)

ऑमण्ड की तरह एप्टर भी अपने व्यवस्था विश्लेषण को महत्व देता है। उसने अपने अध्ययन के लिए विकासशील देशों की संक्रमणशील व्यवस्थाओं का चुनाव किया है। वह अपने विश्लेषण में चयन प्रणाली को महत्व देता है। उसने चयन प्रणाली का प्रयोग सरकारों व उसके अंगों दोनों के चुनाव के लिए किया है। उसने अपने विश्लेषण का उद्देश्य यह बताया है कि उपनिवेशीवादी देशों में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बदलने के प्रक्रिया कैसे प्रभावी बनती है। उसका विचार है कि सभी सरकारें स्थायित्व चाहती हैं और धीरे धीरे स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में परिवर्तनों का पक्ष लेती हैं। आधुनिकीकरण विकास की प्रक्रिया का एक विशिष्ट तत्व है। औद्योगिकरण के बिना आधुनीकिकरण का सामाजिक ढांचा जन्म नहीं ले सकता। औद्योगिक समाजों में आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसी कारण राजनीतिक समस्याएं भी जटिल बन जाती हैं। इसलिए एप्टर ने ऑमण्ड के संरयचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण का समर्थन करते हुए भुमिकाओं को कार्य द्वारा परिभाषित व्यवहारों का संस्थागत रूप माना है। उसकी संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की व्याख्या संरचनात्मक और व्यवहारात्मक दोनों द ष्टिकोण को जोड़ देती है। उसका कहना है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना सरकार का उद्देश्य होता है। उसकी मान्यता है कि सरकार एक निश्चित संरचना है जो सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखती है। सभी सरकारों के कुछ आकस्मिक कार्य होते हैं जो समाज की सुद ढ़ता की तरफ संकेत करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एप्टर ने भी ऑमण्ड की तरह ही अपनी व्याख्या में संरचना और उसके कार्यों पर बल दिया है। राजनीतिक आचरण की समस्याओं के विस्तार में जाने के कारण उसका द ष्टिकोण कम व्यवस्थित है।

हैरी एकस्टीन ने भी तुलनात्मक राजनीति के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण पर आधुनिक समय में महत्वपूर्ण ढंग से विचार किया है। उसका कहना है कि राजनीतिक व्यवस्था कुछ ऐसी संरचनाओं से निर्मित है जो राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न हैं। आज राजनीतिक व्यवस्था एक सामूहिक निर्णयकारी संरचना है। यह संरचनाओं का एक ऐसा समूह भी है जो सामाजिक मूल्यों का आधिकारिक आवंटन करती है और समाज में एकीकरण को बनाए रखने व धमकी के माध्यम से अनुकूलन का कार्य भी करती है। जिस तरह राजनीतिक व्यवस्था को संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक शब्दावली में परिभाषित किया जा सकता है उसी तरह राजनीतिक व्यवस्थाओं का विभाजन उसकी राजनीतिक गतिविधियों व उपगतिविधियों को परिभाषित करके भी किया जा सकता है। हैरी एकस्टीन का कहना है कि समाज में स्थिर व्यवस्था भी आवश्यक है, लेकिन फिर भी उसमें तीव्र और क्रान्तिकारी परिवर्तनों की संभावनाएं हैं। अतः यह भी सम्भव है कि समाज विकास के उन स्तरों को पीछे छोड़ते हुए तीव्र गति से आगे छलांग लगा दे जिसमें से कोई समाज गुजरा है अथवा यह भी सम्भव है कि वह समाज दूसरे समाज की अप्रेक्षा अपने कार्यात्मक तत्वों में व्यापक परिवर्तन के माध्यम से विकास का नया मार्ग ग्रहण कर ले।

इस प्रकार हैनरी एकस्टीन भी संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण के आधार पर सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या करता है। यह द ष्टिकोण राजनीतिक विकास के रूप में एक व्यवस्था

को दूसरी व्यवस्था की ओर गति करने व समाज में तीव्र परितर्वनों के विचार को मान्यता देता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण का महत्व

(Importance of Structural-Functional Approach)

यह द ष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में एक महत्वपूर्ण आधुनिक द ष्टिकोण है। इस द ष्टिकोण ने तुलनात्मक अध्ययन में राजनीतिक व्यवस्थाओं को संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक आधार पर समझने का प्रयास किया है। इसने तुलनात्मक राजनीति को परम्परावादी द ष्टिकोण के पाश से छुटकारा दिलाकर एक नवीन अनुशासन बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसने एक ऐसा सुसंगत तथा समग्र सिद्धान्त पेश किया है जो समस्त राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने में समर्थ है। इसके आगमन से आज सामान्य सिद्धान्त के निर्माण की सम्भावना प्रबल हो गई है। इसने तुलनात्मक राजनीति को एक वैज्ञानिक और सुनिश्चित उप-अनुशासन बना दिया है। यह द ष्टिकोण राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं की अन्तनिर्भरता और अन्तःक्रिया के प्रति संवेदनशील है। यह राजनीतिक व्यवस्था को गति प्रदान करने वाले तत्वों की पहचान करने में सक्षम है। यह राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रखकर राजनीतिक घटनाओं को समझने का प्रयास करता है। यह राजनीतिक संरचनाओं को प्रकार्यों के रूप में परिभाषित करके वास्तविक व्यवहार को जांचने का काम करता है। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के वास्तविक कार्य-संचालन को समझना आसान है। इससे यथार्थवादी निष्कर्ष निकालने और राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मक शक्तियों को समझने में मदद मिलती है। अतः संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक उपयोगी देन है। इसने तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करने व सामान्य सिद्धान्त निर्माण के कगार पर पहुंचने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसलिए यह द ष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण उपागम है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की आलोचना

(Criticisms of Structural-Functional Approach)

इस उपागम में अनेक गुण होते हुए भी यह उतना महत्व प्राप्त नहीं कर सका है, जितना इसे चाहिए था। इसका प्रमुख कारण इसका दोषपूर्ण होना है। इसके प्रमुख दोष या आलोचनाए निम्नलिखित हैं :-

(1) यह द ष्टिकोण रूढ़िवादी एवं सामाजिक परिवर्तन का विरोधी है। इसमें स्थायित्व और व्यवस्था अनुरक्षण की परिस्थितियों पर अधिक ध्यान दिया गया है। यह केवल यह बात बताता है कि कोई व्यवस्था कैसे जीवित रह सकती है। लेकिन यह द ष्टिकोण व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसके स्थायित्व के साथ ही गत्यात्मक शक्तियों की बात भी करता है। इस द ष्टि से यह आलोचना व्यवहारिक न होकर सैद्धान्तिक ही है।

(2) यह द ष्टिकोण व्यवस्था के अनुरक्षण की बात तो करता है, लेकिन यह बताने में असमर्थ है कि परिवर्तन का व्यवस्था अनुरक्षण पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस द ष्टिकोण के पास ऐसा कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड नहीं है जो व्यवस्था के अनुरक्षण के बारे में ठीक जानकारी दे सके। इस द ष्टिकोण में यह जानने का अभाव है कि व्यवस्था ठीक प्रकार से अनुरक्षित हो रही है या नहीं। अतः संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण के पास व्यवस्था अनुरक्षण को जाँचने की कोई वस्तुनिष्ठ कसौटी नहीं है।

(3) यह द ष्टिकोण इस बात को तो स्पष्ट करता है कि संरचना में परिवर्तन से प्रकार्य के निष्पादन के तरीके में भी परिवर्तन आ जाता है। परन्तु यह द ष्टिकोण इस बात को स्पष्ट करने में असमर्थ है कि परिवर्तनों के कारण आने वाले परिवर्तनों और प्रभावों की प्रकृति, तीव्रता और मात्रा क्या है।

(4) यह द ष्टिकोण प्रकार्यों के प्रत्यय पर आधारित है। लेकिन यह द ष्टिकोण प्रकार्यों को जानने का कोई निश्चित मानदण्ड प्रस्तुत नहीं करता। यह द ष्टिकोण यह बात स्पष्ट करने में असमर्थ है कि किस राजनीतिक संरचना के लिए कौनसा प्रकार्यों का सेट चुना जाए और यह निष्पादन के आधार पर चुना जाए या किसी अन्य आधार पर।

(5) इस द ष्टिकोण में प्रयुक्त प्रत्यय व अवधारणाएं परिमाणात्मक द ष्टि से परिभाषित नहीं की गई है। इससे यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती की कौन सी संरचना कौन से प्रकार्य निष्पादित करती है।

(6) इस द ष्टिकोण से यह भी पता नहीं चलता है कि जिन कार्यों का इस द ष्टिकोण में विवेचन हुआ है, वे कार्य राजनीतिक व्यवस्था द्वारा निष्पादित हो रहे हैं या नहीं। इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती है कि कोई व्यवस्था अपने कार्यों को पूर्ण रूप से निष्पादित कर रही हैं या आंशिक रूप से या बिल्कुल नहीं कर रही है।

(7) यह द ष्टिकोण साम्यवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में असमर्थ है, क्योंकि विभेदीकरण के अभाव में इन देशों में अलग प्रकार्यों को करने वाली स्वतंत्र संरचनाएं नहीं हैं।

(8) यह द ष्टिकोण वर्तमान परिप्रेक्षय में ही राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन करने में मदद करता है। इसमें ऐतिहासिक व भविष्य के प्रति कोई चिन्ता नहीं है।

(9) यह द ष्टिकोण राजनीतिक क्रियाओं को राजनीतिक संरचनाओं से अलग करके देखता है। ऐसा करना अनुचित है, क्योंकि किसी भी संरचना की पहचान उसकी कार्यात्मक प्रक्रिया से होती है।

(10) यह द ष्टिकोण संघर्ष की बजाय सहमति को राजनीतिक व्यवस्था का आधार मानता है। लेकिन मार्क्सवादी विचारक संघर्ष को अनिवार्य मानते हैं। उनकी द ष्टि में संघर्ष विकास का आधार है। अतः यह द ष्टिकोण मार्क्सवादियों की आलोचना का शिकार हुआ है।

(11) यह द ष्टिकोण आरोपित संरचनाओं के बारे में पक्षपाती है। इसका प्रमुख जोर स्वाभाविक रूप से विकसित संरचनाओं के अध्ययन पर ही है। इसलिए यह द ष्टिकोण विकासशील देशों की आरोपित संरचनाओं का अध्ययन करने में असममर्थ सा प्रतीत होता है।

(12) यह द ष्टिकोण राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था की अन्य उप-व्यवस्थाओं से अलग देखता है। जबकि वास्तविक रूप में राजनीतिक व्यवस्था अन्य सामाजिक उप-व्यवस्थाओं के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई होती है। इसे इनसे अलग करके स्वतन्त्र रूप में देखा न्यायसंगत नहीं हो सकता।

उपरोक्त आलोचना के कारण यह द ष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक सीमित द ष्टिकोण सा प्रतीत होता है। इसमें ऐसे तथ्यों की अनदेखी की गई है जो राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाते हैं। इसकी आलोचनाओं से इसकी सीमित उपयोगिता का ही आभास होता है। लेकिन फिर भी इसका महत्व शून्य नहीं है। इसने एक ऐसा सैद्धान्तिक विचार प्रस्तुत किया है जो विश्लेषणात्मक व आनुभविक रूप में तुलनात्मक राजनीति को महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। इस द ष्टिकोण के आगमन से ही तुलनात्मक राजनीति परम्परागत द ष्टिकोण के बन्धनों से मुक्त हुई है और नवीन

अनुशासन की दिशा में आगे बढ़ी है। अतः संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोण की तुलनात्मक अध्ययन को आधुनिक व वैज्ञानिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका है।

(III) मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण

(Marxist-Leninist Approach)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवोदित विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए प्रयुक्त सभी उपागम अप्रासांगिक प्रतीत होने पर अमेरिकन विद्वानों ने विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का समग्रवादी अध्ययन करने के उद्देश्य से मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण का विकास किया। विश्व में साम्यवाद के बढ़ते प्रसार ने राजनीतिक विश्लेषकों के सामने यह समस्या उत्पन्न कर दी कि साम्यवादी देशों की जटिल राजनीतिक व्यवस्थाओं को कैसे समझा जाए। इस समस्या से निजात पाने के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम का विकल्प शेष रह गया। पाश्चात्य जगत के राजनीतिशास्त्रियों ने इस उपागम को अपनाकर तुलनात्मक अध्ययन के सामान्यीकरण तक पहुंचने की चेष्टा की है। इस उपागम के प्रतिपादक स्टीफेन व कलार्कसन हैं।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम की आवश्यकता

(The Necessity of Marxist Leninist Approach)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकासशील देशों की राज-व्यवस्थाओं का राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक संस्कृति आदि नई अवधारणाओं के आधार पर व्यवस्थित अध्ययन के लिए अनेक पद्धतियों व द ष्टिकोणों का सहारा लिया गया। तुलना के नए आयामों ने तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन को सिद्धान्त निर्माण के अन्तिम पड़ाव पर लाकर छोड़ दिया। काफी प्रयासों के बाद भी राजनीतिक सिद्धान्त कोई सामान्य सिद्धान्त पेश नहीं कर सके जो हर परिस्थिति में हर राज-व्यवस्था का सम्पूर्ण अध्ययन या विश्लेषण कर सके। साम्यवाद के बढ़ते प्रसार से भी राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने के लिए भी उन्हें नए द ष्टिकोण की आवश्यकता थी। ऐसे में अमेरिकन राजनीति शास्त्रियों स्टीफेन तथा कलार्कसन का ध्यान मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम की तरफ गया। धीरे-धीरे इस द ष्टिकोण को प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का चीर-फाड़ करके अध्ययन करने में उपयुक्त पाया गया। पिछले दो दशकों से यह द ष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए प्रमुख द ष्टिकोण है। इसके प्रचलन व उपयोगिता में व द्धि होने के तीन कारण हैं :-

(I) **तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के अन्य उपागमों द्वारा सामान्य सिद्धान्त के निर्माण में असफल रहना** :- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यवस्था विश्लेषण द ष्टिकोण व संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक द ष्टिकोणों के द्वारा तुलनात्मक अध्ययन के सामान्यीकरण के प्रयास किए गए। इन उपागमों में प्रयुक्त प्रत्ययों व अवधारणाओं की जटिलताओं ने राजनीतिक विश्लेषण के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया। विकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्था में होने वाले तीव्र परिवर्तनों में प्रचलित उपागमों को चुनौती दी। उदाहरण के लिए पाकिस्तान में तानाशाही शासन की स्थापना ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अध्ययन को चुनौती पेश की। ऐसे वातारण में कोई राजनीतिक द ष्टिकोण सामान्यीकरण द्वारा अपना कार्य नहीं कर सका।

(II) **पाश्चात्य विकासवादी विश्लेषण की संकल्पनात्मक असफलता** :- पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विकसित द ष्टिकोणों में प्रयुक्त प्रत्ययों व अवधारणाओं के अर्थ में पाई जाने वाली भिन्नता ने प्रचलित उपागमों को अप्रासंगिक बना दिया। सभी राजनीतिक विद्वान इस अवधारणाओं को परिभाषित करने के चक्कर में पड़कर सामान्य सिद्धान्त निर्माण के मूल उद्देश्य से पीछे

हट गए। राजनीतिक व्यवस्था को परिभाषित करने पर अनेक मत प्रचलित हो गए। इस संकल्पनात्मक अनुपयोगिता या पतन से प्रत्ययी समानता वाले उपागम की आवश्यकता अनुभव हुई।

(III) **पाश्चात्य ढांचे द्वारा नवोदित राज्यों की राजनीति का संतोषजनक अध्ययन का किया जाना** :- नवोदित विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देने वाले कारणों को जानने में पाश्चात्य उपागम असफल रहे। इसी कारण नए उपागम की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

(IV) **साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं का जन्म** :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस एक महान शक्ति के रूप में उभरा। धीरे-धीरे पूर्वी यूरोप और हिन्द चीन के क्षेत्र में भी साम्यवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। इन साम्यवादी देशों की जटिल राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करने के लिए पाश्चात्य राजनीति शास्त्रियों के पास कोई उपागम नहीं था। इस प्रकार साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण ही उचित प्रतीत हुआ।

इस प्रकार प्रचलित उपागमों को अपूर्ण मानकर राजनीतिक विद्वानों ने एक ऐसे द ष्टिकोण को विकसित करने का निश्चय किया जो सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत कर सके। जिसमें संकल्पनात्मक स्थायित्व हो व जो विकासशील देशों को राजनीतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न पहलुओं को जानकारी दे सके और जिसके निष्कर्ष आम व्यक्ति की समझ में आ सके। इसलिए उन्होंने मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण का ही विकास किया, क्योंकि इस द ष्टिकोण में ही प्रत्ययी व संकल्पनात्मक समानता थी। यह द ष्टिकोण किसी भी देश में हर परिस्थिति में तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ था।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारणा का अर्थ

(Meaning of Concept of Marxist-Leninist)

मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारणा मार्क्स और लेनिन के विचारों पर आधारित है। दोनों के विचार द्वन्द्ववाद पर आधारित हैं। दोनों का मानना है कि समाज के विकास में द्वन्द्ववादी शक्तियों की प्रमुख भूमिका होती है। इनका मानना है कि प्रत्येक युग की व्यवस्था के निर्माण में उत्पादन शक्तियों का विशेष हाथ रहा है। वर्ग-संघर्ष का प्रत्यय एक स्थाई प्रत्यय है। इसके आधार पर किसी भी युग की कैसी भी व्यवस्था का विश्लेषण किया जा सकता है। मार्क्स का विचार था कि समस्त ऐतिहासिक घटनाओं पर आर्थिक घटनाओं का ही प्रभाव पड़ता हैं समस्त सामाजिक ढांचा आर्थिक ढांचे के अनुसार ही बदलता रहता है। समस्त ऐतिहासिक घटनाएं भौतिकवादी परिस्थितियों में ही निष्कर्ष हैं। समाज में हर युग में दो विरोधी वर्ग रहे हैं। कभी ये वर्ग दास और स्वामी, कभी अमीर-गरीब, कभी शोषक-शोषित, कभी पूंजीपति और श्रमिक के रूप आर्थिक सम्बन्धों के नियामक रहे हैं। जिस वर्ग के पास आर्थिक शक्ति रही है, उसने सदैव दूसरे का शोषण किया है। इस व्यवस्था में राज्य भी एक वर्ग है जो पूंजीपतियों या साधन सम्पन्न व्यक्तियों के हितों का पोषक है। राज्य कोई स्थायी संस्था नहीं है। मार्क्सवादी क्रान्ति के सफल हो जाने पर वर्ग विहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य समाप्त हो जाएगा। इसका अस्तित्व संक्रमणकालीन दौर में ही रहेगा। जब पूंजीपति वर्ग का सर्वहारा वर्ग नाश कर देगा और उत्पादन के साधनों पर अपना वर्चस्व कायम कर लेगा तो राज्य अनावश्यक हो जाएगा। उस समय राज्य का स्थान ऐसे समुदाय ले लेंगे जो व्यक्तियों द्वारा स्वतंत्रता और स्वेच्छा से बनाए जायेंगे। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक पूंजीवादी देश में स्थापित हो जाएगी। लेनिन ने भी मार्क्स के विचारों से सहमति दिखाते हुए अपने साम्यवादी सिद्धान्तों के अन्त में वर्ग-संघर्ष द्वारा समाजवाद की स्थापना की बात स्वीकार की है। उसने कहा

है कि राज्य का स्वरूप कैसा भी हो, वह वर्ग संघर्ष का अस्तित्व ही प्रकट करता है। लेनिन ने क्रान्ति को नई व्यवस्था के निर्माण के लिए मार्क्स से अधिक महत्व दिया है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण की व्याख्या

(Explanation of Marxist-Leninist Approach)

यह द ष्टिकोण ऐतिहासिक गत्यात्मकता तथा सामाजिक प्रासांगिकता में विश्वास रखता है। इस द ष्टिकोण की मान्यता है कि औपचारिक संरचनाओं व संस्थाओं के द्वारा राजनीतिक प्रक्रियाओं को आधार मिलता है। इस द ष्टिकोण के समर्थकों का विश्वास है कि सामाजिक विज्ञानों का अन्तःशास्त्रीय द ष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए ताकि तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी बनाया जा सके। इस द ष्टिकोण के समर्थकों का दावा है कि राज्यशक्ति, वर्ग, उद्योगों आदि की धारणाएं आज भी वही हैं जो सैंकड़ों वर्ष पहले थी। इस धारणाओं का विकासशील देशों की धारणाओं से भी साम्य है। आज मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण में जो प्रत्यय व अवधारणाएं प्रयुक्त होती हैं, वे विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करने के लिए किसी अन्य नए देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करने में सक्षम है। इसलिए विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने के लिए किसी अन्य नए उपागम की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्ययी स्थायित्व के कारण यह द ष्टिकोण प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या करने में समर्थ है।

मार्क्सवादी विचारक राजनीति को कोई स्वतंत्र गतिविधि न मानकर उसे आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी हुई मानते हैं। इस द ष्टिकोण का मानना है कि समाज के सभी सदस्य अपने हित साधन के उद्देश्य से ही नागरिक समाज का गठन करते हैं। नागरिक समाज उनके स्वार्थों को पूरा कर सकता है। राजनीतिक जीवन उन्हें एकता के जाल में कभी नहीं बांध सकता। नागरिक समाज की उत्पादन शक्तियां ही राजनीतिक जीवन की नियामक होती हैं। इसी कारण सभी समाजों की राजनीति में मौलिक अन्तर आ जाता है और अलग-अलग संरचनाएं व उप-संरचनाएं जन्म लनेने लगती हैं। इसलिए राज्य की औपचारिक संस्थाओं और संरंचनाओं का अध्ययन ही उपयुक्त रहता है। इसलिए अलग-अलग प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं व संरचनाओं के राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए साम्यवादी द ष्टिकोण ही अपनाया जाना चाहिए। ऐसा द ष्टिकोण मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण ही है, क्योंकि इसकी अवधारणाएं, मान्यताएं, प्रविधियां व प्रत्यय स्थाई है। इस द ष्टिकोण द्वारा किसी भी युग की किसी भी प्रकार की व्यवस्था का समग्रवादी अध्ययन किया जा सकता है। इस अध्ययन में शक्ति के आर्थिक पहलू को ही प्रमुख स्थान मिलना चाहिए क्योंकि यही राजनीतिक गतिविधियों के संचालन का आधार है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण की विशेषताएं

(Characteristics of Marxist-Leninist Approach)

यह द ष्टिकोण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **प्रत्ययी स्थायित्व** **(The Conceptual Stability)** :- इस द ष्टिकोण द्वारा प्रयुक्त प्रत्यय व अवधारणाएं शाश्वत महत्व की हैं। इस द ष्टिकोण द्वारा प्रयुक्त राज्य, सरकार, वर्ग-संघर्ष आदि प्रत्ययों का आज भी वही अर्थ है जो सैंकड़ों वर्ष पहले था। इस प्रत्ययी स्थायित्व के कारण राजनीतिक व्यवस्थाओं की ऐतिहासिक व समसामयिक दोनों आधारों पर तुलना करना आसान हो जाता है। प्रत्ययी स्थायित्व के कारण अध्ययन में भ्रान्तियों का निवारण हो जाता है और प्रत्ययों को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे शोध

ा को सामान्य व विशिष्ट लक्ष्यों को प्रापत करने में आसानी रहती है। इसमें अध्ययन में सरलता का गुण पैदा हो जाता है।

(2) **संघटित या समग्रवादी पद्धति (Integrated or wholistic Methodology)** :- इस द ष्टिकोण में समग्रवादी पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इसमें अलग-अलग तुलनाओं का कोई महत्व नहीं है। इसमें निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए सभी परिवत्यों और तत्वों का ध्यान रखना व उनको शामिल करना आवश्यक है। विकासशील देशों को परिवर्तनशील राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए इस प्रकार की पद्धति अधिक उपयोगी है।

(3) **ऐतिहासिक गत्यात्मकता पर आधारित (Based on Historical Dynamism)** :- यह द ष्टिकोण इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था द्वारा भावी विकास की गति को समझने में हमारी मदद करता है। इस द ष्टिकोण में ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्तियों को विशेष महत्व दिया है। इस द ष्टिकोण ने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष की अवधारणा द्वारा समाजों की गत्यात्मकता को समझने पर बल दिया है। अतः यह उपागम ऐतिहासिक द ष्टि से गत्यात्मकता पर आधारित है।

(4) **सामाजिक द ष्टि से प्रासांगिक द ष्टिकोण (Socially relevant Approach)** :-यह द ष्टिकोण आदर्शवादित से दूर रहकर ठोस सामाजिक समस्याओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। इस द ष्टिकोण के समर्थकों का ध्येय केवल सिद्धानत निर्माण करना ही नहीं था, बल्कि उन्होंने एक ऐसा द ष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया है जो सामाजिक उपयोगिता रखता हो। इस द ष्टिकोण का सामाजिक समस्याओं से गहरा सम्बन्ध है। समाज में विद्यमान आर्थिक असमानता पर द ष्टि डालना इसका प्रमुख लक्ष्य है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण एक विंहगम द ष्टिकोण है। यह अध्ययन के यथार्थवादी रूप पर जोर देता है। इसका प्रमुख जोर व्यावहारिक ज्ञान पर है और यह विकासशील देशों की राज-व्यवस्थाओं का राजनीतिक अस्थायित्व के दौर में भी विश्लेषण करने में सक्षम है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण का महत्व

(Importance of Marxist-Leninist Approach)

इस द ष्टिकोण का महत्व निम्न कारणों से है :-

(1) इस द ष्टिकोण द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मक शक्तियों को समझना आसान है। यह द ष्टिकोण इन परिवत्यों और तथ्यों की खोज करता है जिनसे कोई राजनीतिक व्यवस्था गतिशील बनती है।

(2) प्रत्ययी स्थायित्व के कारण यह द ष्टिकोण किसी भी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था को समझने में सक्षम है। प्रत्ययी स्थायित्व के कारण संकल्पनाओं की जटिलता व अर्थ-विभिन्नता की समस्या स्वतः ही दूर हो जाती है। इससे नीति-निर्धारकों और आम जनता में सम्पर्क बढ़ता है। शोध पूरा करने में भी शोधकर्ता को प्रत्ययों को पुनःपरिभाषित नहीं करना पड़ता। यह प्रत्ययी स्थायित्व गत्यात्मकता का प्रतीक है, जड़ता का नहीं।

(3) यह द ष्टिकोण समग्रवादी अध्ययन पर जोर देता है। राजनीतिक व्यवस्था के सभी पहलुओं पर एक साथ द ष्टि रखने में यह द ष्टिकोण समर्थ है। राजनीति के समस्त पहलुओं पर एक साथ द ष्टि रखने से यह तुलनात्मक अध्ययन को अधिक सुगम व प्रभावी बनाता है। विकासशील देशों की परिवर्तनशील राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करने में इस द ष्टिकोण की विहंगम द ष्टि बहुत लाभदायक है।

(4) यह द ष्टिकोण इतिहास की द ष्टि से एक गत्यात्मक द ष्टिकोण है। यह इतिहास की व्याख्या द्वारा अतीत के साथ साथ भारी विकास की अवस्था को समझने में भी सक्षम है। यह द ष्टिकोण समाज के विकास के प्रेरकों व अवरोधों पर प्रकाश डालते हुए व्यवस्थाओं को ऐतिहासिक विकास से सम्बन्धित करता है। यह विकासशील राज-व्यवस्थाओं के दिशाहीन परिवर्तनों को समझने में इतिहास का ही सहारा लेता है। इसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व के इतिहास के आधार पर भी अध्ययन किया जा सकता है। इससे राजनीतिक व्यवहार को वास्तविक बनाने वाले गत्यात्मक तत्वों की ऐतिहासिक आधार पर भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(5) अन्तःशास्त्रीय अध्ययन पर बल देने के कारण यह द ष्टिकोण अध्ययन को यथार्थवादी और व्यावहारिक बनाने में मदद करता है।

(6) यह उपागम आदर्शी सिद्धान्तों के निर्माण की बजाय ठोस सामाजिक समस्याओं को समझने व स्पष्ट करने में मदद करता है। इसका समन्वय उन ठोस सामाजिक समस्याओं से है जो राजनीतिक व्यवस्थाओं के विघटन का कारण बनती है और उन्हें पतन के गर्त में धकेलती है।

(7) यह उपागम विकासशील देशों को परिवर्तनशील राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति को समझने व अध्ययन करने में अन्य द ष्टिकोणों की तुलना में अधिक अच्छा हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक उपयोगी द ष्टिकोण है। प्रत्ययी स्थायित्व के कारण यह शोध को क्रमबद्ध व व्यवस्थित बनाने में सक्षम है। विकासशील देशों में पाए जाने वाली राजनीतिक अस्थिरता के वातवारण में भी यह द ष्टिकोण अच्छा काम करता है। गत्यात्मक शक्तियों की पहचान करने में सक्षम होने के कारण यह द ष्टिकोण विहंगम द ष्टि रखता है। इसके द्वारा किसी भी समय किसी भी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था का सम्पूर्ण अध्ययन किया जा सकता है। अतः मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण एक अति महत्वपूर्ण द ष्टिकोण है जो पिछले दो दशकों से तुलनात्मक अध्ययन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण की आलोचना

(Criticisms of Marxist-Leninist Approach)

अनेक गुणों के बावजूद भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण आलोचना का शिकार हुआ है। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) विहंगम द ष्टि अपनाने के कारण यह द ष्टिकोण छोटे-छोटे महत्वपूर्ण तथ्यों की अनदेखी कर देता है। यह सब राजनीतिक घटनाओं को समान समझने की भारी भूल करके तुलनात्मक अध्ययन को अनुपयोगी ही बनाता है। यह द ष्टिकोण सभी प्रकार की समस्याओं के लिए एक जैसी प्रविधियों के प्रयोग की अनुमति देता है जबकि अलग समस्या के लिए अलग प्रविधि की ही आवश्यकता पड़ती है। इस तरह यह द ष्टिकोण सबको एक लाठी से हाँकना चाहता है।

(2) यह द ष्टिकोण राजनीतिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं को एक साथ मिलाकर अध्ययन पर जोर देता है। लेकिन वास्तव में राजनीतिक प्रक्रियाएं और सामाजिक संरचनाएं परस्पर इतनी उलझी हुई होती हैं कि समष्टि स्तर के अध्ययन सार्थक नहीं हो सकते। राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले परिवर्त्यों की संख्या इतनी अधिक होती है कि इनको एक साथ देखना असम्भव है। व्यष्टि स्तर के अध्ययन की उपेक्षा करने के कारण यह राजनीतिक समस्याओं की पूरी वास्तविकता को पूरी तरह समझने में असमर्थ है। विकासशील देशों की

जटिल व अस्थिर राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन इस द ष्टिकोण से करना निष्पक्ष नहीं हो सकता।

(3) यह द ष्टिकोण सिद्धान्त निर्माण की तो चिन्ता करता है, लेकिन उसकी परिशुद्धता का ध्यान नहीं रखता। इस द ष्टिकोण के समर्थक सिद्धान्त निर्माण तो करना चाहते हैं, लेकिन परिशुद्ध आंकड़े संकलित करने से कतराते हैं। इस द ष्टिकोण द्वारा प्राप्त तथ्यों को मापा नहीं जा सकता। बिना मापन के कोई भी निष्कर्ष परिशुद्धता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकतौ।

(4) इस द ष्टिकोण में प्रयुक्त वर्ग की अवधारणा को परिभाषित करना कठिन कार्य है। वर्ग की अवधारणा बहुत व्यापक है। इस द ष्टिकोण में वर्ग की अवधारणा का जितनी सरलता से प्रयोग किया गया है, व्यवहार में यह उतना ही मुश्किल है।

(5) यह द ष्टिकोण विकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की बजाय विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है, जबकि विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएं विकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक जटिल व उलझी हुई होती हैं। इनका अध्ययन करना एक कठिन कार्य है।

(6) यह द ष्टिकोण पद्धतियों की अपेक्षा उद्देश्यों को अधिक महत्व देता है, जबकि पद्धतियिों का राजनीतिक विश्लेषण में सख्ती से पालन किए बिना संकलित तथ्यों की विश्वसनीयता की कोई गारन्टी नहीं हो सकती। राजनीतिक घटनाओं को समझने और उनका स्पष्टीकरण देने के चक्कर में इस द ष्टिकोण में अध्ययन पद्धति का बलिदान कर दिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी द ष्टिकोण विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का पोषक होने के कारण एक पक्षीय व एकांगी है। विचारधारा विशेष से सम्बन्धित होने के कारण यह साम्यवादी व्यवस्थाओं का ही रक्षक है। लेकिन अनेक कमियों के बावजूद इस द ष्टिकोण से राजनीति शास्त्र को तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में व्यवस्थित व वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। इस द ष्टिकोण ने विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन से मुंह मोड़ चुके और निराश राजनीतिक विद्वानों को नया मार्ग दिखलाया है। इस द ष्टिकोण ने विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थिरता और अराजकता के वातावरण में भी कार्य किया है। इसके आगमन से राजनीतिक गतिविधियों की जटिल गत्यात्मक शक्तियों को समझना आसान हुआ है। सोवियत संघ के विघटन के बाद भी यह उपागम प्रासंगिक बना हुआ है। अतः मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम कुछ दोषों के बावजूद भी तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में उपयोगी है। तुलनात्मक अध्ययन को नई दिशा देने में इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

अध्याय-4
संविधानवाद : अवधारणाएं, समस्याएं और सीमाएं
(Constitutionalism : Concepts, Problems and Limitations)

संविधानवाद का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना राजनीतिक संस्थाओं का इतिहास। राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक शक्ति के प्रादुर्भाव ने मानव को इनकी निरंकुशता के बारे में सोचने को बाध्य किया है। शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करती है और जब इसका सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं या राजनीति से जुड़ जाता है तो इसके पथभ्रष्ट व दुरुपयोग की संभावना बहुत ज्यादा हो जाती है। इसलिए एक चिन्तनशील व सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य ने प्रारम्भ से ही इस राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए सामाजिक रूप में कुछ नियन्त्रण व बाध्यताएं राजनीतिक शक्ति के ऊपर लगाई हैं। ये बाध्यताएं परम्पराओं, कानूनों, नियमों, नैतिक मूल्यों के रूप में भी हो सकते हैं और संगठित संवैधानिक शक्ति के रूप में भी। संविधान ही एकमात्र ऐसा प्रभावशाली नियन्त्रण का साधन होता है, जो राजनीतिक शक्ति को व्यवहार में नियन्त्रित रखता है और जन-उत्पीड़न को रोकता है। यदि राजनीतिक शक्ति या संस्थाओं पर संविधानिक नियन्त्रण न हो तो वह अत्याचार करने से कभी नहीं चूकती। इस अत्याचार और अराजकता की स्थिति से बचने के लिए शासक और शासन को बाध्यकारी बनाया जाता है। यही बाध्यता व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षक है। यद्यपि व्यवहार में कई बार शासक वर्ग राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग भी कर देता है, लेकिन ऐसा तभी सम्भव है, जब शासित वर्ग जागरुक ना हो या वह शासक वर्ग में अन्धाधुन्ध विश्वास रखने वाला हो। इसी कारण से राजनीतिक शक्ति को नियन्त्रित रखने ओर उसे जन-कल्याण का साधन बनाने के लिए उसमें उत्पीड़न या बाध्यता (Coecive) का समावेश कराया जाता है। इस उत्पीड़न या बाध्यता की शक्ति को संविधान तथा सभी शासकों को नियन्त्रित अधिकार क्षेत्र में रखने की संवैधानिक व्यवस्था को संविधानवाद कहा जाता है।

संविधानवाद का अर्थ
(Meaning of Constitutionalism)

संविधानवाद एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसका संचालन उन विधियों और नियमों द्वारा होता है जो संविधान में वर्णित होते हैं। इसमें निरंकुशता के लिए कोई जगह नहीं होती है और शासन संचालन लोकतांत्रिक तरीके से किया जाता है। संविधान और संवैधानिक सरकार संविधानवाद के आधार-स्तम्भ हैं। संविधानवाद उसी राजनीतिक व्यवस्था में सम्भव है, जहां संविधान हो और शासन संविधान के नियमों के अनुसार ही होता हो। इसलिए संविधान और संवैधानिक सरकार के बारे में भी जानना जरूरी है।

संविधान उन कानूनों या नियमों का संग्रह होता है जो सरकार के संगठन, कार्यों, उद्देश्यों, सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों, नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों, नागरिकों के सरकार के साथ सम्बन्धों की व्याख्या करता है। हरमन फाईनर ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है-"संविधान आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था है।" आस्टिन के अनुसार-"संविधान वह है जो सर्वोच्च सरकार के संगठन को निश्चित करता है।" डायसी के अनुसार-"वे सब नियम जिनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में राजसत्ता का वितरण तथा प्रयोग किया जाता है, राज्य का संविधान कहलाते हैं।" फ्रेडरिक के अनुसार-"संविधान जहां एक तरफ सरकार पर नियमित नियन्त्रण रखने का साधन है, वहीं दूसरी तरफ समाज में एकता लाने वाली शक्ति का प्रतीक भी है।" सी०एफ० स्ट्रांग के अनुसार-"संविधान उन सिद्धान्तों का समूह है जिनके अनुसार राज्य के अधिकारों, नागरिकों के अधिकारों और दोनों के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।" लोवेन्स्टीन ने कहा है-"यह शक्ति प्रक्रिया पर नियन्त्रण के लिए आधारभूत साधन है और इसका प्रयोजन राजनीतिक शक्ति पर सीमा लगाने व नियन्त्रण करने के तरीकों का उच्चारण है।" ब्राईस के अनुसार-"किसी राज्य अथवा राष्ट्र के संविधाना में वे कानून या नियम शामिल होते हैं जो सरकार के स्वरूप को निर्धारित करते हैं तथा उसके नागरिकों के प्रति कर्तव्यों और अधिकारों को बतलाते हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधान शासक व शासितों के सम्बन्धों को निर्धारित करने वाला महत्वपूर्ण कानून है। यद्यपि व्यवहार में इसका रूप अलग भी हो सकता है। संविधान लिखित तथा अलिखित दोनों प्रकार के हो सकते हैं। यद्यपि सिद्धान्त में तो संविधान शासक वर्ग पर नियन्त्रण की व्यवस्था करता है, लेकिन कई बार व्यवहार में संविधान का शासक वर्ग पर कम नियन्त्रण पाया जाता है। इसका कारण उस राज्य में संवैधानिक सरकार का न होना है। प्रथम विश्वयुद्ध के जर्मनी में संविधान तो था, लेकिन वहां संवैधानिक सरकार नहीं थी। सारी शासन-व्यवस्था पर हिटलर का निरंकुश नियन्त्रण था। इसलिए संविधानवाद के लिए संविधान के साथ साथ संवैधानिक सरकार का होना भी जरूरी है।

संवैधानिक सरकार वह होती है जो संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार संगठित, सीमित और नियन्त्रित हो तथा व्यक्ति विशेष की इच्छाओं के स्थान पर केवल विधि के अनुसार ही कार्य करती हो। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी, इटली, रूस आदि देशों में संविधान होते हुए भी संवैधानिक सरकारों का अभाव था, क्योंकि वहां के तानाशाही शासकों के लिए संविधान एक रद्दी कागज की तरह था। इसलिए वहां पर संविधानवाद नहीं था। संविधानवाद के लिए संविधान के साथ-साथ संवैधानिक सरकार का होना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। संवैधानिक सरकार ही संविधान को व्यावहारिक बनाती हैं। संविधान के व्यवहारिक प्रयोग के बिना संविधानवाद की कल्पना नहीं की जा सकती।

संविधान और संवैधानिक सरकार का अर्थ-स्पष्ट हो जाने पर संविधानवाद को आसानी से समझा जा सकता है। संविधानवाद आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह उन विचारों व सिद्धान्तों की तरफ संकेत करता है, जो उस संविधान का विवरण व समर्थन करते हैं, जिनके माध्यम से राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। संविधानवाद निरंकुश शासन के विपरीत नियमों के अनुसार शासन है जिसमें मनुष्य की आधारभूत मान्यताएं व आस्थाएं शामिल हैं। संविधानवाद शासन की वह पद्धति है जिसमें जनता की आस्थाओं, मूल्यों, आदर्शों को परिलक्षित करने वाले संविधान के नियमों व सिद्धान्तों के आधार पर ही शासन किया जाता है और संविधान के द्वारा ही शासक वर्ग को प्रतिबंधित या नियन्त्रित किया जाता है ताकि व्यवहार में शासक वर्ग निरंकुश न बनकर जन-इच्छा के अनुसार ही शासन करता रहे। इस प्रकार संविधानवाद एक सीमित शासन भी है क्योंकि इसमें प्रतिबन्धों की व्यवस्था होती है। संविधानवाद को परिभाषित करते हुए अनेक विद्वानों ने कहा है :-

पिनाक और स्मिथ के अनुसार-"संविधानवाद केवल प्रक्रिया एवं तथ्यों का ही मामला नहीं है बल्कि राजनैतिक शक्तियों के संगठनों का प्रभावशाली नियन्त्रण भी है, एवं प्रतिनिधित्व, प्राचीन परम्पराओं तथा भविष्य की आशाओं का भी प्रतीक है।"

सी० एफ० स्ट्रांग के अनुसार-"संवैधानिक राज्य वह है जिसमें शासन की शक्तियों, शासितों के अधिकारों और इन दोनों के बीच सम्बन्धों का समायोजन किया जाता है।"

कोरी तथा अब्राहम के अनुसार-"स्थापित संविधान के निर्देशों के अनुरूप शासन को संविधानवाद कहा जाता है।"

जे० एस० राऊसैक के शब्दों में-"धारणा के रूप में संविधानवाद का अभिप्राय है कि यह अनिवार्य रूप से सीमित सरकार तथा शासन के रूप में नियन्त्रण की एक व्यवस्था है।"

कार्टन एवं हर्ज के अनुसार-"मौलिक अधिकार तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका प्रत्येक संविधानवाद की अनिवार्य और सामान्य विशेषता है।"

के० सी० व्हीयर के अनुसार-"संवैधानिक शासन का अर्थ किसी संविधान के नियमों के अनुसार शासन चलाने से कुछ अधिक है। इसका अर्थ है कि निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन। ऐसा तभी संभव है जब किसी देश का शासन संविधान के नियमों के अनुसार ही चलता हो। इसके पीछे मौलिक उद्देश्य यही है कि शासन की सीमाएं बांधी जा सकें और शासन चलाने वालों के ऊपर कानूनों व नियमों का बन्धन रहे।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधानवाद का अर्थ है-उत्तरदायी व सीमित सरकार (Responsible and Limited Government)। इसके आधार हैं संविधान और संविधानिक सरकार। यद्यपि इनकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। उपरोक्त सभी परिभाषाएं पूर्ण नहीं हैं। समय और परिस्थितियों के अनुसार संविधानवाद का अर्थ बदल जाता है। लेकिन यह बात तो सत्य है कि संविधान (लिखित या अलिखित) तथा संवैधानिक सरकार के बिना इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

संविधान और संविधानवाद में अन्तर

(Difference between Constitution and Constitutionalism)

संविधान ही संविधानवाद का आधार होता है। कुछ राजनीतिक विद्वान इन दोनों को पर्यायवाची मानते हैं, लेकिन व्यवहार में स्थिति भिन्न हो सकती है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और इटली में संविधान तो थे, लेकिन संविधानवाद नहीं था। इसलिए संविधान और संविधानवाद में परिस्थितियों के अनुसार अन्तर होता है। इस अन्तर के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) **परिभाषा की दृष्टि से अन्तर (Difference from the view point of definition)** :- यदि परिभाषा के आधार पर देखा जाए तो संविधान एक संगठन का प्रतीक होता है तथा संविधानवाद एक विचारधारा का प्रतीक है, जिसमें राष्ट्र के मूल्य, विश्वास तथा राजनीतिक आदर्श शामिल होते हैं। संविधान एक ऐसा संगठन है जिसमें सरकार और शासितों के सम्बन्धों को निर्धारित किया जाता है। संविधान राजनीतिक व्यवस्था के शक्ति सम्बन्धों की आत्मकथा है। संविधानवाद उन विचारों का द्योतक है जो संविधान का वर्णन और समर्थन करते हैं तथा जिसके माध्यम से राजनीतिक शक्ति पर प्रभावकारी नियन्त्रण कायम रखना संभव होता है। सी०एफ० स्ट्रांग ने संविधान को परिभाषित करते हुए कहा है-"संविधान उन सिद्धान्तों का समूह है जिनके अनुसार राज्य के अधिकारों, नागरिकों के अधिकारों और दोनों के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।" संविधानवाद को परिभाषित करते हुए

कोरी तथा अब्राहम ने लिखा है-"स्थापित संविधान के निर्देशों के अनुरूप शासन को संविधानवाद माना जाता है।" इस प्रकार परिभाषा की द ष्टि से संविधान एक संगठन का तथा संविधानवाद एक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।

(2) **प्रकृति की द ष्टि से अन्तर (Difference from the view point of Nature)** :- प्रकृति की द ष्टि से संविधान एक साधन प्रधान धारणा है और संविधानवाद एक साध्य प्रधान धारणा है। संविधानवाद राजनीतिक समाज के लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सुव्यवस्था है। यह हर समाज के गन्तत्यों को प्राप्त करने की संविधान रूपी साधन द्वारा चेष्टा करता है। इस तरह संविधान वह साधन है जो राजनीतिक समाज के लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करके संविधानवाद की स्थापना करता है या संविधानवाद रूपी साध्य को प्राप्त करता है।

(3) **उत्पत्ति की द ष्टि से अन्तर (Difference from the view point of Origin)** :- संविधान का निर्माण किया जाता है, जबकि संविधानवाद विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होता है। यद्यपि ब्रिटेन का संविधान परम्पराओं पर आधारित व अलिखित होने के कारण इसका अपवाद है। संविधान का निर्माण सर्वोच्च अधिकार प्राप्त किसी संस्था द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत का संविधान एक संविधान सभा द्वारा लगभग 3 वर्ष में तैयार किया गया था। संविधानवाद किसी भी देश के राजनीतिक समाज के मूल्यों, विश्वासों तथा आदर्शों के विकास का परिणाम होता है। संविधान जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप सदैव परिवर्तित व संशोधित होते रहे हैं, लेकिन संविधानवाद की स्थापना के बाद उसे बदलना या समाप्त करना निरंकुशता व अराजकता को जन्म देता है।

(4) **क्षेत्र की द ष्टि से अन्तर (Difference from the view point of Scope)** :- क्षेत्र की द ष्टि से संविधान एक अपवर्जक (exclusive) तथा संविधानवाद एक अन्तभूर्तकारी (Inclusive) धारणा है। संविधानवाद तो कई देशों में यदि उनकी संस्कृति समान है तो एक पाया जा सकता है, लेकिन संविधान हर देश का अलग-अलग होता है, क्योंकि इसमें वर्णित अधिकार व कर्तव्य, शासक व शासितों के सम्बन्ध प्रत्येक देश के राजनीतिक समाज में अलग-अलग ढंग के होते हैं। य़द्यपि कई देशों के संविधानों में भी समानता का लक्षण दिखाई देता है, लेकिन यह लक्षण मात्रात्मक होता है, गुणात्मक नहीं। उदाहरण के लिए लोकतन्त्रीय देशों में संविधान में प्रायः कई प्रकार के समान लक्षण होते हैं। उसी तरह साम्यवादी देशों के संविधानों में भी अलग प्रकार की समानता देखने को मिलती है। इस तरह संविधान एक सीमित अवधारणा है, जबकि संविधानवाद एक विस्त त धारणा है। इसे देशकाल की सीमाएं बांध नहीं सकती।

(5) **औचित्य की द ष्टि से अन्तर (Difference from the view point of Legitimacy)** :- संविधान का औचित्य विधि के आधार पर सिद्ध किया जाता है, जबकि संविधानवाद में आदर्शों का औचित्य विचारधारा के आधार पर सिद्ध होता है। जिस देश के संविधान में उचित कानून व नियमों की व्यवस्था होती है तथा संविधान जन-इच्छा के अनुकूल होता है तो उस संविधान को औचित्यपूर्ण माना जाता है। इसी तरह यदि किसी देश में संवैधानिक आदर्शों को संवैधानिक उपायों से ही प्राप्त करने के प्रयास किए जाते हैं तो संविधानवाद का औचित्य सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संविधान और संविधानवाद में गहरा अन्तर है। एक संगठन का प्रतीक है तो दूसरा विचारधारा का। एक साधन है तो दूसरा साध्य, एक सीमित धारणा है तो दूसरी विस्त त, एक का निर्माण होता है तो दूसरे का विकास। इतने अन्तर के बावजूद भी दोनों में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि दोनों की दिशाएं अलग-अलग होंगी तो इसके राजनीतिक समाज के लिए विनाशकारी परिणाम निकलेंगे।

संविधानवाद के आधार

(Foundations of Constitutionalism)

राजनीतिक समाज के लोगों में पाई जाने वाली मतैक्य की भावना ही संविधानवाद का आधार है। यह मतैक्य इतना ठोस और व्यापक होता है कि राजनीतिक शक्ति को जनता के ऊपर आजमाने के कोई आवश्यकता नहीं होती। यह मतैक्य विरोध हो सहमति के बीच में होता है। सामान्य परिस्थितियों में जनता शासक वर्ग की हर आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझती है और संविधान के आदर्शों को प्राप्त करने में शासक वर्ग को पूरा सहयोग देती है। यह मतैक्य जितना अधिक विरोध की बजाय सहमति के नजदीक होगा, उतनी ही अधिक संविधानवाद में ठोसता व व्यावहारिकता का गुण होगा। यही मतैक्य संविधानवाद की आवश्यक शर्त भी है और आवश्यकता भी है। विलियम जी० एण्ड्रयूज के अनुसार यह मतैक्य चार प्रकार का हो सकता है :-

(i) **संस्थाओं के ढांचे और प्रक्रियाओं पर मतैक्य (Consensus on the form of Institutions and procedures)** :- यदि नागरिक यह महसूस करते हैं कि सरकार उनके हितों के विरुद्ध कार्य कर रही हैं तो वे सरकार का विरोध करने में कोई देर नहीं करते। इससे विद्रोह या क्रांति की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए ऐसी स्थिति संविधानवाद के विपरीत होती है। इसी कारण संविधानवाद के लिए जनता का सरकार व उसकी नीतियों पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। यह विश्वास ही संविधान और संविधानवाद के साम्य का आधार है। इसलिए संविधानवाद को बनाए रखने के लिए संस्थाओं के ढांचे और प्रक्रियाओं पर नागरिकों में मतैक्य होना जरूरी है।

(ii) **सरकार के आधार के रूप में विधि-शासन की आवश्यकता पर सहमति (Agreement on desirability of the rule of law as bais of Government)** :-जनता को सदैव यह विश्वास होना चाहिए कि सरकार या शासन कानून द्वारा ही चलाया जा रहा है और शासक वर्ग विधि के शासन की उपेक्षा नहीं कर रहा है। जनता की यही आस्था या विश्वास आपातकाल में शासक वर्ग को संविधानवाद से छूट देकर लाभ पहुंचाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में हिटलर को तथा इटली में मुसोलिनी को इसी छूट का लाभ मिला था। ऐसा विशिष्ट परिस्थितियों में ही होता है। इसलिीए संविधानवाद के लिए जनता को सरकार के कार्यों को विधि के शासन के रूप में देखने पर मतैक्य की भावना रखनी चाहिए। यही सहमति संविधानवाद की रक्षा करती है।

(iii) **समाज के सामान्य उद्देश्यों पर सहमति (Agreement on the general goals of Society)** :-राजनीतिक समाज के लोगों में सामान्य उद्देश्यों पर सहमति का अभाव राजनीतिक व्यवस्था में तनाव व खिंचाव उत्पन्न करता है। इससे दूसरे क्षेत्रों में मतैक्य के टूटने की संभावना बढ़ जाती है। सामान्य उद्देश्यों पर असहमति की स्थिति सम्पूर्ण संवैधानिक ढांचे को नष्ट कर सकती है। इसलिए संविधानवाद के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक समाज के लोगों में समाज के सामान्य उद्देश्यों पर सहमति बनी रहे। यही संविधानवाद की आधारशिला है। इसके अभाव में संविधानवाद में ठोसता नहीं आ सकती।

(iv) **गौण लक्ष्यों एवं विशिष्ट नीति-प्रश्नों पर सहमति (Concureence in lesser goal and on specific policy question)** :- संविधानवाद के भवन को धराशायी होने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक समाज के लोगों में गौण लक्ष्यों और विशिष्ट नीति-प्रश्नों पर भी सहमति बनी रहे। विशिष्ट नीति-प्रश्नों पर असहमति सहमति के

अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित कर सकती है और संविधानवाद रूपी भवन को गिरा सकती है। यह सहमति अधिक आवश्यक न होते हुए भी, संविधानवाद की ठोसता के लिए जरूरी है। इसके कारण संविधानवाद रूपी भवन हल्के-फुल्के झटकों से हिलने से बच जाता है। यह सहमति संविधानवाद को व्यावहारिकता का गुण प्रदान करती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाज के लोगों में संस्थाओं के ढांचे व प्रक्रियाओं पर, सरकार के आधार के रूप में विधि के शासन की आवश्यकता पर, समाज के सामान्य उद्देश्यों, गौण लक्ष्यों तथा विशिष्ट नीति-सम्बन्धी प्रश्नों पर आम राय का होना जरूरी है। यह राय या मतैक्य सहमति के जितने पास होता है और विरोध से जितनी दूर होता है, संविधानवाद की जड़ें उतनी ही अधिक गहरी होती हैं। राजनीतिक समाज में होने वाले छोटे-मोटे उतार-चढ़ाव संविधानवाद को इस स्थिति में कोई हानि नहीं पहुंचा सकते। यदि राजनीतिक समाज के लोगों में मतैक्य की भावना का अभाव होगा तो संविधानवाद की रक्षा करने का कोई विलक्प नहीं हो सकता। अतः विभिन्न बातों पर राजनीतिक समाज के लोगों में पाया जाने वाला मतैक्य या सहमति ही संविधानवाद का आधार है।

संविधानवाद के तत्व

(Elements of Constitutionalism)

संविधान के आदर्श ही संविधानवाद का आधार होते हैं। इन आदर्शों का अभाव जनक्रान्ति की प ष्ठभूमि तैयार करता है। इसलिए संविधानवाद के लिए इन आदर्शों का होना बहुत जरूरी होता है। इन आदर्शों या तत्वों के अभाव में कोई भी संविधान व्यावहारिक धरातल पर उपयोगी नहीं हो सकता। पिनॉक व स्मिथ के अनुसार ये तत्व निम्नलिखित हैं :-

(1) **संविधान आवश्यक या अपरिहार्य संस्थाओं के अभिव्यक्तक के रूप में (The Constitution as an embodiment of essential Institutions)** :- कोई भी संविधान चाहे वह लिखित हो या परम्पराओं पर आधारित ब्रिटेन के संविधान की तरह अलिखित हो, अपनी अपरिहार्य संस्थाओं (कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका) की व्यवस्था अवश्य करता है। यदि संविधान में इन संस्थाओं और इनके अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या नहीं होगी तो संविधानवाद की कल्पना करना असम्भव है। संविधान में इन संस्थाओं के अधिकार व शक्तियों के साथ-साथ इनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या होना जरूरी है, यही संविधानवाद की प्रमुख मांग है। यदि इन संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या न की गई हो तो सदैव शासक-वर्ग या नौकरशाही तन्त्र के निरंकुश होने के आसार बने रहते हैं। अतः संविधानवाद के लिए प्रत्येक संविधान में चाहे वह लिखित हो या अलिखित, उसमें विधायिमा, कार्यपालिका और न्यायपालिका के गठन, शक्तियों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या, संविधानवाद के लिए आवश्यक है, क्योंकि ये संस्थाएं राज्य की अपरिहार्य संस्थाएं हैं।

(2) **संविधान राजनीतिक शक्ति के प्रतिबन्धक के रूप में (The Constitution as restraint upon political power)** :- प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था को सुचारु ढंग से चलाने के लिए उस पर कुछ प्रतिबन्धों की व्यवस्था का होना भी संविधानवाद की आधारशिला है। प्रत्येक लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के संविधान में कुछ ऐसे उपाय किए जाते हैं कि शासन या सरकार हर समय नियंत्रित रहते हुए अपनी शक्तियों को जनहित में ही उपयोग किए हैं। इससे शासक वर्ग की स्वेच्छाचारिता का फल जनता को नहीं भोगना पड़ता। लोकतांत्रिक राज्य में ये प्रतिबन्ध, विधि का शासन (Rule of Law), **मौलिक अधिकार** (Fundamental Rights), **शक्तियों का प थक्करण** (Separation

of Powers) तथा परम्पराएं व सामाजिक बहुलवाद (Convention and Pluralism) आदि के रूप में होते हैं। जब राज्य का शासन कानून के अनुसार चलाया जाएगा और नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होगा तो संविधानवाद को हिलाने वाला कोई नहीं हो सकता। यदि संविधान में ही शासन के तीनों अंगों की शक्तियों का प थक्करण कर दिया जाएगा तो शक्तियों का केन्द्रीयकरण नहीं होगा और शासक वर्ग निरंकुश नहीं बन सकेगा तो संविधानवाद मजबूत स्थिति में बना रह सकता है। इसी तरह सामाजिक परम्पराएं तथा बहुलवाद जब इतना मजबूत होगा कि साधारण सी राजनीतिक उथल-पुथल अराजकता पैदा करने में नाकाम रहे तो संविधानवाद को बनाए रखने में कोई परेशानी नहीं हो सकती। इस तरह संविधान में इन प्रतिबन्धों की व्यवस्था किए बिना संविधानवाद के स्थायित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। ये प्रतिबन्ध ही शासन को सीमित व उत्तरदायी बनाते हैं। अतः प्रतिबन्धों द्वारा सीमित व उत्तरदायी सरकार ही संविधानवाद का आधार है। इसलिए संविधान का राजनीतिक शक्ति पर नियन्त्रण लगाना अनिवार्य है।

(3) **संविधान विकास के निदेशक के रूप में (The Constitution as the Director of Development)** :- संविधान में विकास का गुण भी होना चाहिए। वर्तमान में ही प्रभावी शक्ति बने रहने से वह भविष्य के प्रति उदासीन बन सकता है। इसलिए उसमें गतिशीलता तथा लोचशीलता का गुण भी होना चाहिए। समय व परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक समाज के मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं आदि में परिवर्तन होते रहते हैं। पुराने राजनीतिक मूल्यों व आदर्शों का स्थान नए मूल्य व आदर्श लेने के लिए तैयार रहते हैं, केवल उन्हें राजनीतिक समाज की अनुमति की प्रतिज्ञा होती है। इसलिए प्रत्येक देश के संविधान में नवीन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इन परिवर्तित व सम्व द्धित मूल्यों को ग्रहण करने की क्षमता का होना आवश्यक है। यदि कोई भी संविधान भावी विकास की योजना की उपेक्षा करता है तो वह राजनीतिक समाज की सहानुभूति खो देता है और क्रान्ति का शिकार हो सकता है। गतिहीनता को प्राप्त संविधान समाज के सामान्य व गौण उद्देश्यों को प्राप्त करने की बजाय उसमें वाचक बनकर राजनीतिक व सामाजिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करता है। इसलिए संविधान को राजनीतिक समाज की बदलती हुई मान्यताओं या संस्कृति का सम्मान करना चाहिए ताकि संविधानवाद की व्यवहारिकता बनी रहे और संविधानवाद एक गत्यात्मक ध ारण बनी रहे।

(4) **संविधान राजनीतिक शक्ति के संगठक के रूप में (The Constitution as an organisor of Political Authority)**:- संविधान किसी भी शासन-व्यवस्था को वैधता या औचित्य प्रदान करता है। वह यह बात सुनिश्चित करता है कि सरकार के समस्त क्रिया-कलाप उसके अधिकार क्षेत्र के अनुसार ही हों और स्वयं सरकार भी वैधता का गुण बनाए रखे। इसलिए संविधान सरकार की सीमाओं की स्थापना के साथ-साथ सरकार की विभिन्न संस्थाओं में शक्तियों का लम्बात्मक तथा अम्बरान्तीय (Vertical and Horizntal) विभाजन व वितरण भी करता है। संविधान राजनीतिक शक्ति का संगठक उसी अवस्था में रह सकता है जबकि संविध ान द्वारा यह व्यवस्था हो कि सरकार के कार्य अधिकार-युक्त रहें तथा सरकार स्वय भी वैध हो। यदि ऐसा न होगा तो सरकार विरोधी शक्तियां सरकार को गिरा सकती हैं। सरकार को संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करने के अलावा अपनी ऐसी कार्यशैली की स्थापना करनी होती है कि लोगों में शासन-सत्ता के प्रति निष्ठा व लगाव बना रहे। यदि निष्ठा या लगाव सरकार की वैधता का भी प्रतिबिम्ब है। यदि कोई भी सरकार वैधतापूर्ण नहीं रहेगी तो न तो संविधान राजनीतिक शक्ति का संगठक रहेगा और न ही संविधानवाद की प्राप्ति होगी। इसलिए सरकार का संविधानवाद की व्यावहारिकता के लिए वैध होना अनिवार्य है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधान अपरिहार्य संस्थाओं का अभिव्यक्तक, राजनीतिक शक्ति का प्रतिबन्धक, राजनीतिक विकास का निदेशक तथा राजनीतिक शक्ति का संगठन होना चाहिए। इसके अभाव में संविधान संविधानवाद का आधार कभी नहीं बन सकता तथा वह केवल कागज का टुकड़ा मात्र होगा, जिसकी कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं होगी।

संविधानवाद की विशेषताएं

(Features of Constitutionalism)

यद्यपि किसी भी देश के संविधान में दूसरे देशों के संविधानों से मात्रात्मक समानता मिल सकती है, क्योंकि वह संविधान गुणात्मक रूप से दूसरे देशों के संविधान के समान नहीं होता, लेकिन संविधानावाद की द ष्टि से कई देशों के संविधानवाद में गुणात्मक समानता भी मिल जाती है। विकासशील लोकतन्त्रीय देशों में संविधानवाद की सभी विशेषताएं या गुण लगाभग समान रूप से मिल जाते हैं। ये विशेषताएं ही संविधानवाद के स्वरूप को निश्चित करती हैं। संविधानवाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होती हैं :-

(1) **संविधानवाद एक गत्यात्मक अवधारणा है (Constitutionalism is a Dynamic Concept)** :- गतिशीलता संविधानवाद का प्रमुख गुण होता है। इसी कारण संविधानवाद विकास का सूचक होता है, विकास में बाधक नहीं। समय व परिस्थितियों के अनुसार समाज के मूल्य व आदर्शों के बदलने के कारण संविधानवाद को भी अपनी प्रकृति को बदलना पड़ता है। यही संविधानवाद की गत्यात्मकता का आधार है। संविधानवाद समाज के मूल्यों व आदर्शों की स्थापना व प्राप्त करने के साथ साथ नए मूल्यों पर समाज की भविष्य की आकांक्षाओं के प्रति भी गम्भीर होता है। यदि संविधानवाद लोकशीलता तथा परिवर्तनशीलता के गुण से ही होगा तो संविधानवाद की रक्षा करने वाला कोई नहीं होगा। ऐसे संविधानवाद के दिन जल्दी ही लद जाएंगे और वह विनष्ट हो जाएगा। अतः संविधानवाद का प्रमुख गुण गतिशीलता है और संविधानवाद एक गत्यात्मक अवधारणा है।

(2) **संविधानवाद मूल्यों पर आधारित अवधारणा है (Constitutionalism is a value based concept)** :- संविधानवाद का सम्बन्ध इन आदर्शों से होता है जो किसी राष्ट्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं और राष्ट्रवाद का आधार होते हैं। संविधानवाद उन विश्वासों, राजनीतिक आदर्शों और मूल्यों की तरफ इशारा करता है जो प्रत्येक नागरिक को बहुत ही प्रिय होते हैं। अभिजन वर्ग के बाद समाज का बुद्धिजीवी वर्ग इसको जनता तक पहुंचाता है। सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होने पर ही मूल्य संविधान का आदर्श बनते हैं और संविधानवाद को मूल्यों से युक्त करता है। इन मूल्यों की रक्षा के लिए नागरिक हर बलिदान देने को तैयार रहते हैं। जिन मूल्यों को समाज द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है, वे मूल्य संविधानवाद से दूर हट जाते हैं। सामाजिक स्वीकृति के बाद ही ये मूल्य राष्ट्र-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित स्थान पर पहुंच जाते हैं। अतः संविधानवाद मूल्य-युक्त अवधारणा है और इसका सम्बन्ध राष्ट्र-दर्शन से है।

(3) **संविधानवाद संस्कृति सम्बद्ध अवधारणा है (Constitutionalism is a culture-bound concept)** :- मूल्य किसी भी राजनीतिक समाज की संस्कृति का अंग होते हैं। प्रत्येक देश के मूल्य व आदर्श उस देश की संस्कृति की ही उपज होते हैं और उनका विकास भी राजनीतिक संस्कृति के विकास पर पर ही निर्भर करता है। संविधानवाद भी इन्हीं मूल्य और आदर्शों से घनिष्ट रूप से जुड़ा होता है। यद्यपि राजनीतिक समाज की संस्कृति में विविधता का गुण भी पाया जाता है, परन्तु संविधानवाद एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में सभी विरोधों में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें अपने देश की संस्कृति का अंग बना देता है। इस

तरह प्रत्येक देश की संस्कृति से ही संविधानवाद अपना विकास करता है। अतः संविधान का राजनीतिक संस्कृति से गहरा सम्बन्ध होता है।

(4) **संविधानवाद संविधान पर आधारित अवधारणा है (Constitutionalism is a Constitution based concept)** :-संविधान नागरिक समाज के मूल्यों व आदर्शों का प्रतिबिम्ब होता है। संविधान किसी भी देश का सर्वोच्च कानून होता है। प्रतिबन्धों की व्यवस्था के कारण जनता का संविधान में गहरा विश्वास होता है। यदि विश्वास और लगाव संविधानवाद का भी आधार है। यदि संविधान और संविधानवाद में साम्य नहीं होगा तो राजनीतिक उथल-पुथल की घटनाएं शुरु हो सकती हैं और देश में अराजकता का माहौल पैदा हो सकता है। इसलिए संविधानवाद को बचाने वाले कोई नहीं हो सकता। ऐसी संभावना असामान्य स्थिति में ही होती है, सामान्य स्थिति में नहीं, इसलिए संविधानवाद को संविधान पर ही आश्रित रहना पड़ता है। इसी से संविधानवाद व्यवहारिकता का गुण प्राप्त करता है।

(5) **संविधानवाद समभागी अवधारणा है (Constitutionalism is a shared concept)** :- एक देश के मूल्य व आदर्श दूसरे देशों के संविधान का भी अंग बन सकते हैं, लेकिन से समान आदर्श मन्त्रालय आधार पर तो ठीक रहते हैं, गुणात्मक आधार पर नहीं। लेकिन संविधानवाद का आदर्श बनने पर ये मूल्य और मान्यताएं स्थायित्व का गुण प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि समान संविधानवाद वाले देशों में भी कुछ असमान लक्षण हो सकते हैं, लेकिन यह अन्तर मात्रात्मक ही रहता है, गुणात्मक नहीं। विकासशील प्रजातन्त्रीय देशों में संविधानवाद के आधारभूत लक्षण लगभग समान मिलते हैं। यदि कोई अन्तर द ष्टिगोचर भी होता है तो वह संविधानवाद की समन्वयकारी शक्ति में घुल जाता है। अतः संविधानवाद एक समभागी अवधारणा है। संविधान तो प्रत्येक देश का अपना अलग होता है, संविधानवाद के लक्षण समान रूप से कई देशों में एक जैसे ही मिल सकते हैं।

(6) **संविधानवाद साध्यमूलक अवधारणा है (Constitutionalism is an ends concept)** :- संविधानवाद का मुख्य उद्देश्य संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। इस कार्य में वह साधन रूपी संविधान की उपेक्षा नहीं कर सकता। साध्य और साधन में गहरा सम्क्न्ध होने के कारण इन्हें एक दूसरे से अलग करने का तात्पर्य होगा। संविधानवाद की आत्मा को नष्ट करना। इसलिए साध्यों के रूप में संविधानवाद राजनीतिक समाज के मूल्यों व आदर्शों को प्राप्त करने की पूरी चेष्टा करता है। अतः संविधानवाद का सम्बन्ध साध्यों से अधिक तथा साधनों से कम होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधानवाद संविधान पर आधारित अवधारणा है। यह संविधान के आदर्शों व मूल्यों को साध्य के रूप में प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसका राजनीतिक समाज के मूल्यों से गहरा लगाव होने के कारण यह संस्कृति से सम्बन्धित भी होता है। इसमें अन्य देशें की संस्कृति को अंगीकार करने का गुण भी होता है और यह समय व परिस्थितियों के अनुसार विकास की तरफ भी बढ़ता रहता है। इस प्रकार यह गतिशील अवधारणा भी है। संविधानवाद की इन्हीं विशेषताओं के कारण संविधानवाद दूसरे देशों तक अपना विस्तार करता है और यह एक व्यापक अवधारणा बन जाता है।

संविधानवाद की उत्पत्ति और विकास

(The Origin and Development of Constitutionalism)

संविधानवाद की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है। इसकी उत्पत्ति और विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है। यूनानियों से लेकर वर्तमान समय तक संविधानवाद एक लम्बी एतिहासिक प्रक्रिया से गुजरा है। यूनानी चिन्तकों के बाद इसे परवर्ती विचारकों ने भी

विकसित होने में अपना सहयोग दिया है। एक गतिशील अवधारणा के रूप में संविधानवाद का अपना एक विशिष्ट प्रकार का इतिहास है। यूनानी नगर राज्यों के जन्म से वर्तमान अवस्था तक संविधानवाद के विकास को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है :-

(1) **यूनानी संविधानवाद (Greek Constitutionalism)** :- संविधान की उत्पत्ति सबसे पहले यूनान के ऐथेंस नगर में हुई थी। सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिकों ने ही राज्य के रूप, कार्यों और उद्देश्यों पर विचार करते हुए राज्य के विभिन्न रूपों में अन्तर किया। उन्होंने विवेकपूर्ण ढंग से संविधानिक शासन पर विचार किया और व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करने वाली राज्य की शक्ति पर मनन किया। प्लेटो ने संविधानिक शासन के बारे में कहा कि संविधानिक शासन शासक की इच्छा से नहीं, बल्कि नियमानुसार संचालित होता है। प्लेटो की तरह अरस्तु ने भी संविधानवाद के तत्वों - सार्वजनिक हित, सामान्य कानूनों का शासन, सहमति का आधार आदि पर अपने विचार दिए। अरस्तु की द ष्टि में अच्छी नागरिकता की कसौटी-संविधान का पालन करना था। अरस्तु ने सर्वप्रथम राज्य और सरकार में शासन के उद्देश्यों तथा संस्थात्मक आधार पर भेद व वर्गीकरण किया। यूनानी विचारकों ने संविधानों का पालन कराने के लिए शिक्षा पर बहुत जोर दिया ताकि राज्य को अराजकता से बचाया जा सके। यूनानी नगर राज्यों में संविधान का पालन अनिवार्य रूप से किया जाता था। आज भी यूनानी संविधानवाद का प्रभाव कानून की सर्वोच्चता के रूप में विद्यमान है। लेकिन यूनानी संविधानवाद का सबसे बड़ा दोष उसमें गतिशीलता व परिवर्तनशीलता का अभाव था। इसी कारण वह संविधानवाद तो समाप्त हो गया लेकिन उसका राजनीतिक आदर्श आज भी जीवित है।

(2) **रोमन संविधानवाद (Roman Constitutionalism)** :- यूनानी नगर-राज्यों के पतन के बाद रोम के महान साम्राज्य की स्थापना के बाद रोम में सरकार के उपकरण के रूप में संविधान का जन्म हुआ। यह संविधान द ष्टान्तों, मानव स्म तियों, राज्य के विशेषज्ञों के कथनों, रीति-रिवाजों पर आधारित सरकार का कानून था। रोमन संविधानवाद कानून के शासन के रूप में विख्यात है। उन्होंने सामान्य और संविधानवाद कानूनों में अन्तर किया। उनका अतिराष्ट्रीय सत्ता में भी विश्वास था। उन्होंने यह भी सिद्धान्त दिया कि कानूनी शक्ति का स्रोत जनता ही है। जब रोमन गणतन्त्र का पतन हुआ तो संविधानवाद भी विनाश की ओर चल पड़ा। प्रो० स्ट्रांग ने लिखा है-"रोमन संविधानवाद की शुरुआत एकतन्त्रात्मक, अभिजाततंत्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक तत्वों के सुन्दर मेल से हुई और उसका अन्त अनुत्तरदायी निरंकुशतन्त्र के रूप में हुआ।" लेकिन रोमन संविधानवाद की यह बात आज भी लोकतन्त्रीय शासन प्रणालियों में संविधान का प्रमुख आदर्श है कि सम्राट को शक्ति सौंपने वाली जनता उसकी शक्ति को वापिस भी ले सकती है। आधुनिक युग में जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम, बन्धुत्व, सहिष्णुता का आदर्श अपनाया जा रहा है, वह रोमन संविधानवाद की ही देन है। कानून का सहिताकरण और उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त रोमन सिद्धान्तवाद की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, जो आधुनिक संविधानवाद का प्रमुख आधार है।

(3) **मध्यकाल में संविधानवाद (Constitutionalism in Medieval Age)** :- रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद यूरोप को सामन्तवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में चर्च ही सर्वोच्च धार्मिक सत्ता थी। उसे ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी था। इससे संविधानवाद का मार्ग अवरुद्ध हो गया। लेकिन आगे चलकर सामन्तवाद की बुराईयों का अन्त हुआ और दैवीय सत्ता के स्थल पर स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तथा वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन में केन्द्रीयकरण की प्रगति ने सामन्तवाद की बुराईयों को नष्ट कर दिया और वहां पर संविधानवाद के लक्षण प्रकट होने लगे। ब्रिटेन में राजा के दैवी अधिकारों के स्थान पर संसद की सर्वोच्चता का सिद्धान्त पनपने लगा। इय

युग में लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त, सर्वव्यापी कानून, प्रतिनिधि लोकतन्त्रवाद की अवधारणा का उदय हुआ। पैडुआ के मार्सीलियो ने कहा कि "जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है।" इंग्लैण्ड और फ्रांस में संविधानवाद की दो दिशाएं-राष्ट्रवाद और प्रतिनिधि लोकतन्त्रवाद का उदय हआ। फ्रांस में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रात त्व की भावना के उदय ने निरंकुश राजतन्त्र पर तीव्र प्रहार करके संविधानवाद का नया अध्याय शुरु किया।

(4) **पुनर्जागरण और संविधानवाद (Renaissance and Constitutionalism)** :- पुनर्जागरण काल में इटली और जर्मनी में संविधानवाद का मार्ग अवरुद्ध हो गया। इटली में मैकियावेली ने 'The Prince' पुस्तक में राजनीति को नैतिक नियमों से अलग कर दिया, यूरोप में सामन्तवाद के पतन के बाद एकीकरण करने वाली शक्ति राजा ही था। इस काल में केवल इंग्लैण्ड ही ऐसा देश था, जहां संविधानवाद का विकास हुआ। 1688 की शानदार क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड के निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर सीमित राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस युग में इंग्लैंड में मन्त्रिपरिषद तथा प्रधानमन्त्री की संस्थाओं का जन्म हुआ। 1742 में प्रधानमंत्री वालपोल ने अविश्वास मत के कारण अपना पद छोड़ दिया। इससे इस सिद्धान्त की स्थापना हो गई कि मन्त्रीपरिषद व प्रधानमन्त्री अपने पद पर उसी समय तक रह सकते हैं, जब तक उन्हें लोकसदन का विश्वास हासिल रहे। इंग्लैंड में कानून के शासन की स्थापना ने संविधानवाद का नया अध्याय शुरु किया। इस युग में ही अमेरिकी व फ्रांसीसी क्रांतियों ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों को जन्म दिया। अमेरिका के स्वतन्त्रता युद्ध का नारा था-"प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं।" 4 जुलाई 1776 के अमेरिका स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र में कहा गया कि "सब व्यक्ति समान हैं और सभी को जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख प्राप्त करने के अधिकार हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही सरकारें स्थापित की जाती हैं।" वास्तव में आधुनिक संविधानवाद का जन्म यहीं से होता है। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के घोषणा पत्र में भी इसी बात पर बल दिया गया कि मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र और अधिकारों में समान है। कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। जब 1791 में फ्रांस का संविधान बनाया गया था तो इस घोषणा को उसमें महत्वपूर्ण जगह मिली।

(5) **औद्योगिक क्रान्ति से प्रथम विश्वयुद्ध तक संविधानवाद (Constitutionalism from Industrial Revolution upto First World War)** :- औद्योगिक क्रान्ति के जनम ने संविधानवाद को विकसित किया। इस क्रान्ति के कारण पूंजीवादी वर्ग ने शासन पर कब्जा करके कानूनों का प्रयोग मनमाने तरीके से करना शुरु कर दिया। पूंजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना में व द्धि हुई और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वता की भावना भी बढ़ी। पूंजीवाद ने श्रमिक आन्दोलनों को जन्म दिया। श्रमिक संगठित होकर अपने राजनीतिक अधिकारों की मांग करने लगे। 1867 और 1885 के सुधार अधिनियम श्रमिकों के आन्दोलन के ही परिणाम थे। 1848 में मार्क्स के कम्यूनिष्ट मैनीफेस्टो (Comminist Monifesto) में श्रमिकों को एकता के लिए कहा गया। इसका संविधानवाद के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। पूंजीपतियों ने निरंकुश सत्ता के स्थान पर संविधानिक सत्ता के प्रयास शुरु कर दिए। मध्यम वर्ग को मताधिकार प्राप्त हो गया और राष्ट्रवादी दलों के संगठन के कारण राष्ट्रवाद तथा संविधानिक सत्ता के प्रयास शुरु कर दिए। मध्यम वर्ग को मताधिकर प्राप्त हो गया और राष्ट्रवादी दलों के संगठन के कारण राष्ट्रवाद तथा संविधानिक सुधारों का विकास हुआ। इटली तथा जर्मनी में एकीकरण आन्दोलनों का विकास हुआ। 1859 में एकीकृत इटली का संविधान बना, डेनमार्क में 1864 में संसदीय व्यवस्था की स्थापना हुई, आस्ट्रिया और हंगरी में 1869 में नए संविधान बने और फ्रांस में 1875 में त तीय गणतन्त्र की स्थापना हुई। इस तरह संविधानवाद का सीमित विकास हुआ। 1874 में स्विट्रलैंड में भी आधुनिक ढंग के संविधान का निर्माण

हुआ, जो आज तक भी प्रचलित है। इसमें जनमत संग्रह की व्यवस्था द्वारा जनता को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। 1889 में जापान के सम्राट ने भी वैधानिक शासन की स्थापना के लक्ष्य को प्राप्त करने वाले नए संविधान पर हस्ताक्षर किए। 1875 में कनाडा में भी एक नए संविधान का निर्माण किया गया। इस तरह संविधानवाद में नई नई प्रव त्तियों का विकास हुआ और संविधानवाद में आधुनिकता के तत्वों का समावेश होता गया।

(6) **प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध तक संविधानवाद (Constitutionalism from First World War upto Second World War)** :- प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद का विकास नए ढंग से हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद यूरोपीय सीमाओं को लाँघकर सार्वभौमिकता की तरफ बढ़ने लगा। युद्ध के बाद सभी देशों ने लोकतन्त्रीय संविधानों का निर्माण शुरु किया। राष्ट्र संघ की स्थापना ने संविधानवाद के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस दौरान इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद के उदय ने संविधानवाद को गहरी क्षति भी पहुंचाई। इसी तरह रूस में भी साम्यवाद के प्रादुर्भाव ने संविधानवाद के लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का त्याग कर दिया। लेकिन इसके बावजूद भी नए लिखित संविधानों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, लोकसत्ता और राष्ट्रीयता को महत्वपूर्ण स्थान मिला। लेकिन यह व्यवस्था आडम्बरपूर्ण थी। 1922 में मुसोलिनी ने इटली में तथा 1933 में हिटलर ने जर्मनी में संविधान के आदर्शों के विपरीत अपनी निरंकुश सत्ता स्थापित करके संवैधानिक शासन की धज्जियां उड़ा दी। ऐसे वातावरण में 1936 में स्पेन में जनरल फ्रांको ने भी प्रचलित गणतन्त्रात्मक संविधान का उल्लंघन कर दिया। इस स्थिति में बेल्जियम, नीदरलैंड, डेनमार्क और चकोस्लोवाकिया आदि राज्यों ने अपनी संसदीय व्यवस्था की बड़ी मुस्किल से रक्षा की।

(7) **द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संविधानवाद (Constitutionalism after Second World War)** :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद धुरी शक्तियों का नामोनिशान मिट गया और संविधानवाद का मार्ग अवरुद्ध करने की उनमें कोई शक्ति नहीं रही। लेकिन इसके बाद संविधानवाद का साम्यवादी प्रतिमान उभरने लगा। अनेक देशों में सोवियत संघ के मार्गदर्शन में साम्यवादी सरकारों की स्थापना ने लम्बे समय तक संविधानवाद साम्यवादी तरीके से विकास किया। उधर अमेरिका के झण्डे तले पाश्चात्य संविधानवाद का पाश्चात्य प्रतिमान ही लागू करने के प्रयास जारी रहे। नवोदित त तीय विश्व के राष्ट्रों ने संविधानवाद का नया प्रतिमान विकसित किया। इस तरह संविधानवाद के नए-नए प्रतिमान उभरे। उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की पकड़ ढीली होने से स्वतंत्र राष्ट्रों ने अपने अपने संविधान बनाने आरम्भ कर दिए। जापान ने 1946 में संविधान का नया प्रारूप स्वीकार किया जो प्रजातांत्रिक तथा शांतिवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। वह प्रारूप जापान में आज भी विद्यमान है। 1947 में भारत ने ब्रिटेन से औपनिवेषिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके 1950 में अपना तथा प्रजातन्त्रीय संविधान लागू किया। 1949 में चीनी क्रान्ति के बाद माओ के नेत त्व में चीन में जनवादी गणतन्त्र की स्थापना हुई। चीन में 1954 में समाजवादी संविधान बनाया गया, लेकिन उसके बाद 1975, 1978 तथा 1982 में चौथी बार संविधान का निर्माण हुआ। अन्तिम संविधान चीनी जनकांग्रेस ने व्यापक विचार-विमर्श के बाद ही तैयार किया है और उसका रूप आज भी वही है। इसके बाद बर्मा, इण्डोनेशिया, श्रीलंका आदि राष्ट्रों ने भी अपने नए संविधान बनाए। 1958 में फ्रांस के पांचवे गणतन्त्रीय संविधान का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ने संविधानवाद की रक्षा करने के प्रयास किए हैं। अनेक राष्ट्रों की संस्था के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर सभी राष्ट्रों के लिए लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के आदर्श के रूप में कार्यरत हैं।

यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ईराक, अफगानिस्तान, पाकिस्तान आदि राष्ट्रों में सैनिक शासन व निरंकुशतावादी ताकतों के प्रादुर्भाव से संविधानवाद को गहरा आघात भी पहुंचा है। अमेरिका ने अफगानिस्तान और इराक की फासीवादी ताकतों को समाप्त करके वहां अपना कठपुतली अस्थायी शासन तो स्थापित कर लिया है, लेकिन वहां संवैधानिक सरकार जैसी कोई वस्तु नहीं है। वहां पर अराजकता की स्थिति में संविधानवाद की कल्पना करना असम्भव है। इसी तरह पाकिस्तान में सैनिक शासन के कारण आज संविधानिक सरकार के अभाव में संविधानवाद नहीं है। लेकिन आज जनता की आवाज संविधानवाद के लिए नया मार्ग तलाश करने को तैयार है। पाकिस्तान, ईराक व अफगानिस्तान में भी वहां की जनता का रुझान प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के प्रति अधिक है। आज विश्व में संविधानवाद का रास्ता रोकने वाली ताकत अधिक मजबूत नहीं हैं। संविधानवाद का रास्ता रोकने वाली ताकतों का जो हर्ष ईराक व अफगानिस्तान में हुआ है, वही अन्य देशों में भी हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज संविधानवाद विकास के मार्ग पर अग्रसर है।

संविधानवाद की अवधारणाएं

(Concepts of Constitutionalism)

संविधानवाद संविधान पर आधारित अवधारणा है। संविधान जनता का सर्वोच्च कानून होता है। प्रत्येक देश के संविधान के अपने राजनीतिक आदर्श व मूल्य होते हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति के अपने गुण अन्य देशों से भी साम्य रखने के कारण कई देशों में सांझे संविधानवाद का विकास हो जाता है। यद्यपि यह तो सत्य है कि समस्त विश्व में एक संविधानवाद नहीं हो सकता, क्योंकि विश्व के देशों की संस्कृति में काफी अन्तर है। इसी आधार पर संविधान भी अलग अलग होते हैं और संविधानवाद भी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व में तीन तरह का संविधानवाद विकसित हुआ है। इस आधार पर संविधानवाद की तीन अवधारणाएं निम्नलिखित हैं :-

(I) संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा (Western Concept of Constitutionalism)।

(II) संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा (Marxist or Communist Concept of Constitutionalism)।

(III) संविधानवाद की विकासशील देशों की अवधारणा (Concept of Consitutionalism of Developing Countries)।

(I) संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा

(Western Concept of Constitutionalism)

इस अवधारणा को उदारवादी लोकतन्त्र की अवधारणा भी कहा जाता है। यह अवधारणा मूल्य मुक्त तथा मूल्य अभिभूत दोनों व्याख्याओं पर आधारित हैं। मूल्य मुक्त अवधारणा के रूप में इसमें केवल संविधानिक संस्थाओं का वर्णन किया जाता है, संविधानवाद के आदर्शों व मूल्यों का नहीं। जब राजनीतिक समाज के आदर्शों और मूल्यों के द ष्टिगत संविधानवाद की व्याख्या की जाती है तो वह मूल्य-अभिभूत व्याख्या कहलाती है। मूल्य अभिभूत व्याख्या ही आधुनिक लोकतन्त्र की मांग है। संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा उदारवाद का दर्शन है। यह संविधानवाद साध्य और साध्य दोनों है। इसमें राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे के साथ-साथ राजनीतिक समाज के मूल्यों, आदर्शों (स्वतंत्रता, समानता, न्याय) को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। यह संविधानवाद प्रतिबन्धों की व्यवस्था द्वारा सीमित सरकार की व्यवस्था करता है और कुछ संविधानिक उपबन्धों द्वारा राजनीतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता व अधिकारों का बचाव होता है और विधि के शासन द्वारा समाज में सुव्वस्था बनी रहती है। पश्चिमी

संविधानवाद में संविधान का महत्व सरकार से अधिक होता है क्योंकि सरकार का निर्माण संविधान के बाद में होता है। इस संविधानवाद में संवैधानिक सरकार संविधान के आदर्शों को मानने के लिए बाध्य प्रतीत होती है। संवैधानिक उपबन्ध तथा उत्तरदायित्व का सिद्धान्त उसे संविधानात्मक बनाए रखने में मदद करते हैं। इस तरह पाश्चात्य संविधानवाद लोकतन्त्रीय भावना पर आधारित होता है।

पाश्चात्य संविधान के आधार

(Foundations of Western Constitutionalism)

पाश्चात्य संविधानवाद के आधार - संस्थागत व दार्शनिक हैं। दार्शनिक आधार साध्यों के संकेतक हैं और संस्थागत आधार इन साध्यों को व्यवहार में प्राप्त करने के साधनों की व्यवस्था है। इन्हीं आधारों पर पाश्चात्य संविधानवाद आधारित हैं। ये आधार निम्नलिखित ढंग से समझे जा सकते हैं :-

(क)दार्शनिक आधार

(Philosophical Foundation)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के कुछ मूलभूत लक्ष्य होते हैं। इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वह व्यवस्था गतिशील रहती हैं। यह जरूरी नहीं है कि सभी पाश्चात्य देशों में राजनीतिक व्यवस्थाओं के लक्ष्य समान हों इसलिए पाश्चात्य संविधानवाद के चार दार्शनिक आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता** :- यह पाश्चात्य संविधानवाद का प्रमुख साध्य है। समस्त संविधानवाद पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में इसी साध्य के आसपास घूमता है। इस साध्य में राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति की मदद करती हैं। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता को पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में साध्य का दर्जा दिया गया है। यदि व्यक्ति को असीमित स्वतंत्रता प्रदान की गई तो वह निरंकुशतावादी बन जाएगा और समाज में अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी, इसलिए व्यक्ति को सीमित स्वतन्त्रता ही दी गई है।

(2) **राजनीतिक समानता** :- पाश्चात्य संविधानवाद राजनीतिक शक्ति की सर्वोच्चता को प्रतिबन्धित करते हुए उसे विभिन्न वर्गों में बांटता है। यदि राजनीतिक शक्ति का असमान वितरण किया गया तो सदैव राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाएगी। इसलिए राजनीतिक शक्ति को समान सहभागिता का रूप दिया जाना जरूरी है। पाश्चात्य संविधानवाद का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ राजनीतिक समानता का लक्ष्य भी अपनाया गया है। राजनीतिक समानता द्वारा इसमें राजनीतिक शक्ति को निरंकुश बनने से रोकने की उचित व्यवस्था है।

(3) **सामाजिक और आर्थिक न्याय** :- यदि राजनीतिक सत्ता समाज के समसत वर्गों तथा व्यक्तियों के लिए सामाजिक व आर्थिक न्याय की स्थापना नहीं करेगी तो समाज में आर्थिक और सामाजिक विषमताएं चरम सीमा पर पहुंच कर संविधानिक व्यवस्था को ही चुनौती देने लगेंगी। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अन्त के साथ-साथ सामाजिक विघटन की स्थिति पैदा हो जाएगी। इसलिए पाश्चात्य या उदार लोकतन्त्रात्मक संविधानवाद में सामाजिक तथा आर्थिक न्याय को महत्वपूर्ण साध्य माना जाता है ताकि व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ साथ सामाजिक व आर्थिक न्याय की व्यवस्था बनी रहे।

(4) **लोक-कल्याण की भावना** :- पाश्चात्य संविधानवाद का प्रमुख लक्ष्य जनकल्याण है। खुली प्रतिस्पर्धा और आर्थिक साधनों के अभाव में आर्थिक व सामाजिक विषमता के शिकार लोगों

को ऊपर उठाने के लिए पाश्चात्य संविधानवाद में विशेष गुण पाए जाते हैं। पाश्चात्य देशों में समाज के पिछड़े वर्गों के लिए सरकार विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं को अपनी संविधानिक व्यवस्था में ही स्थान देती है। उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों में शासन-व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य जन-कल्याण को बढ़ावा देना है ताकि अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इसी साध्य से अन्य साध्यों को गति प्राप्त होती है।

(ख) संस्थागत आधार

(Institutional Foundations)

पाश्चात्य संविधानवाद के संस्थागत आधार दार्शनिक आधारों को अमली जामा पहनाते हैं। इसके लिए राजनीतिक शक्ति को विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में वितरित किया जाता है। इससे सरकार को सीमित व उत्तरदायी बनाया जाता है। इसके लिए पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक व्यवस्थाओं की शक्ति को निम्नलिखित तरीकों से नियन्त्रित रखा जाता है:-

(1) **लोकतन्त्रीय सरकार का गठन** :- लोकतन्त्रीय सरकार जनता की प्रतिनिधि होती है। जनता ही राजनीतिक शक्ति का अन्तिम स्त्रोत मानी जाती है। जिस सरकार का गठन जनता द्वारा किया जाता हो और वह जनता के प्रति ही उत्तरदायी हो, वह कभी निरंकुश नहीं बन सकती। उदारवादी लोकतन्त्रों में ऐसी ही सरकारों को प्राथमिकता दी जाती है।

(2) **प्रतिनिधि सरकार** :- जब लोकतन्त्रीय सरकार प्रतिनिधि सरकार होगी तो वह सीमित रहेगी। राजनीतिक समाज के प्रत्येक वर्ग को न केवल चुनावों में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो बल्कि सरकार के गठन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व न मिलने से प्रतिनिधित्व से हीन वर्ग राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है। इसलिए उचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के अभाव में सरकार सही अर्थों में संस्थागत व्यवस्थाओं से सीमित व प्रतिबंधित नहीं बन सकती।

(3) **सामाजिक बहुलवाद** :- राजनीतिक समाज में अनेक वर्गों व संघों का पाया जाना स्वाभाविक है। बहुल समाज में सभी वर्गों के हितों में तालमेल बैठाना सरकार का उत्तरदायित्व बनता है। यदि सरकार वर्ग विशेष के हितों की रक्षा करने वाली होगी तो सामाजिक बहुलवाद को धक्का लगेगा और समाज की विघटनकारी ताकतें सुविधाहीन वर्ग के साथ मिलकर सरकार की वैधता को ही चुनौती देने लगेंगे। अतः सरकार को सीमित रखने में सामाजिक बहुलवाद की व्यवस्था महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

(4) **खुला समाज अथवा सामाजिक गतिशीलता** :- खुला समाज, वास्तव में व्यक्ति के लिए सामाजिक गतिशीलता की व्यवस्था ही है। ऐसा समाज सभी परम्परागत, कानूनी तथा अन्य रूढ़िवादी बन्धनों से मुक्त होता है। ऐसा समाज अन्तःकरण, अभिव्यक्ति और भाषण की स्वतंत्रता पर आधारित होता है और समाज के हर व्यक्ति और वर्ग को वैध संघ या संस्था बनाने की छूट होती है। ऐसे समाज में ही राजनीतिक व्यवस्था उन्मुक्त बन सकती हैं और लोकतन्त्रीय रूप ग्रहण कर सकती है। ऐसा समाज किसी विशेष दर्शन से मुक्त रहता है क्योंकि विशेष दर्शन से युक्त समाज में संस्थागत सरकारों पर नियंत्रण करना असम्भव होता है। संस्थागत सरकारों पर स्वयं के दर्शन से रहित खुले समाज में ही सम्भव है।

पाश्चात्य संविधानवाद के तत्व

(Elements of Western Constitutionalism)

पाश्चात्य देशों में संविधान के दो तत्व - सीमित सरकार की परम्परा तथा राजनीतिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त हैं।

सीमित सरकार (Limited Government) :- पाश्चात्य राजनीतिक समाजों में सीमित सरकार की परम्परा का विकास लोकतन्त्र के विकास के साथ ही हुआ है। राजनीतिक शक्ति को नियन्त्रित व उत्तरदायी बनाने के लिए पाश्चात्य समाजों में अनेकों संस्थागत व्यवस्थाएं की गई हैं। पश्चिमी देशों में जैसे लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का विकास होता गया वैसे-वैसे सरकार को नियन्त्रित करने की विधियां भी विकसित होती गई। पाश्चात्य देशों में सरकार को सीमित रखने के लिए निम्नलिखित संस्थागत तरीके अपनाए जाते हैं :-

(1) विधि का शासन (Rule of Law)।

(2) मौलिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं की व्यवस्था (Provision of Fundamental Rights and Liberties)।

(3) राजनीतिक शक्ति का विभाजन, प थक्करण, विकेन्द्रीकरण व नियन्त्रण (Distribution, Separation, Decentralization and Control of Political Power)।

(4) स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायपालिका (Independent and Impartial Judiciary)।

(1) विधि का शासन (Rule of Law) :- यह शासन इंग्लैण्ड के संविधानवाद की देन है। यह शासन व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने तथा किसी शासक की तानाशाही रोकने का सबसे अच्छा व प्रभावी उपाय है। जब किसी देश में किसी व्यक्ति का शाासन न होकर कानून का शासन होता है तो वहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई हानि नहीं पहुंच सकती। कानून के सामने सभी व्यक्ति समान होते हैं और समस्त राजकीय व प्रशासनिक गतिविधियां कानून द्वारा नियन्त्रित रहती हैं। यह सच्चे संविधानवाद का आधारभूत तत्व होता है। पिनाक एवं स्मिथ ने पाश्चात्य देशों के संविधानवाद में कानून के शासन की व्यवस्था के बारे में कहा है-"विधि का शासन का सिद्धान्त पश्चिमी संविधानवाद की सबसे शक्तिशाली और गहरी परम्परा है। इसी तरह चार्ल्स मैकलवेन ने लिखा है-"कानून का शासन पश्चिमी जगत में सरकार पर एक आधारभूत प्रतिबन्ध है और यही संविधानवाद का अति प्राचीन और क्रमिक आधार है।" इस तरह कानून के शासन द्वारा शासक-वर्ग पर नियन्त्रण रखकर सीमित सरकार की परम्परा को विकसित किया जाता है।

(2) मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था (Provision of Fundamental Rights and Liberties) :- मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की व्यवस्था पाश्चातय संविधानवाद का आधारभूत स्तम्भ है। संविधान में अधिकारों व स्वतंत्रताओं की व्यवस्था करके सरकार के कार्यों को मर्यादित किया जाता है। इससे सरकार का कार्यक्षेत्र निश्चित होता है और सरकार की निरंकुशता पर रोक भी लगती है। अधिकारों की स्वीकृति ही सामाजिक गतिशीलता को जन्म देती है और सामाजिक विभिन्नताओं को एकता के सूत्र में बांधने का सबसे अच्छा उपाय भी साबित होती है। इनके द्वारा सामाजिक न्याय की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है। प्रायः पाश्चात्य संविधानों में चार प्रकार की स्वतंत्रताएं प्रदान की जाती हैं - (i) व्यक्ति की स्वतंत्रता (ii) अन्तःकरण अथवा आत्मा व मस्तिष्क की स्वतंत्रता (iii) समान लाभ व अवसरों की स्वतंत्रता (iv) राजनीतिक गतिविधियों की स्वतन्त्रता। इन स्वतंत्रताओं में राजनीतिक स्वतंत्रता अन्य स्वतन्त्रताओं के लिए आधार-स्तम्भ के रूप में कार्य करती है। कोई भी व्यक्ति या संस्था इन अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का उल्लंघन नहीं कर सकता। बहुमत पर आधारित शासन में अल्पसंख्यकों पर अत्याचार व अन्याय रोकने का भी ये सबसे प्रभावशाली प्रावधान है। इस तरह मौलिक अधिकार और स्वतंत्रताएं पश्चिमी संविधानवाद की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

(3) राजनीतिक शक्ति का विभाजन, प थक्करण, विकेन्द्रीकरण व नियन्त्रण (Distribution,

Separation, Decentralization and Control of Political Power) :- पाश्चात्य संविधानवाद में शक्ति विभाजन का महत्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीय स्तर से स्थानीय स्तर तक विकेन्द्रीकरण करके राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोका जाता है और इसके दुरुपयोग की सम्भावना कम की जाती है। राजनीतिक शक्ति का विभाजन होने से सभी शक्तियां अपने अपने अधिकार क्षेत्र में ही रहकर कार्य करने को विवश होती है और दूसरे के क्षेत्राधिकार में प्रवेश नहीं करती। राजनीतिक शक्ति का विभाजन के साथ-साथ कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका को अलग अलग शक्तियां सौंप दी जाती हैं। यदि राजनीतिक शक्ति तीनों के पास रहेगी तो उनके अपने अपने स्वतंत्र अधिकार क्षेत्र होने के कारण वे एक दूसरे के नियन्त्रक भी बने रहेंगे। पिनॉक तथा स्मिथ ने लिखा है-"पाश्चात्य संविधानवाद का सार शक्तियों के पथक्करण में निहित है।" राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के रूप में संसद के दोनों सदनों के पास अलग-अलग शक्तियां होती हैं और एक सदन दूसरे सदन की निरंकुशता पर रोक लगाने का प्रभावी साधन बनता है। इस तरह शक्तियों का विकेन्दीकरण भी सरकार को सीमित रखने का महत्वपूर्ण साधन है। इस तरह पाश्चात्य संविधानवाद में एक शक्ति को दूसरी शक्ति का नियन्त्रण बनाने के लिए राजनीतिक शक्ति का विभाजन किया जाता है, राजनीतिक शक्ति को केन्द्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय सरकारों में विभाजित करके संघात्मक व्यवस्था द्वारा राजनीतिक शक्ति पर नियंत्रण रखा जाता है। सरकार के तीनों अंगों को अलग-अलग शक्तियां सौंपकर उनके अधिकार क्षेत्र की व्याख्या कर दी जाती है ताकि वे एक दूसरे पर नियन्त्रण रखें। राजनीतिक संस्थाओं की शक्ति का विकेन्द्रीकरण करके शक्तियों के सदुपयोग को सुनिश्चित किया जाता है क्योंकि इसमें कार्यपालिका की शक्तियां केन्द्रीय स्तर से स्थानीय स्तर तक विकेन्द्रित कर दी जाती हैं। राजनीतिक शक्तियों के विभाजन, पथक्करण व विकेन्द्रीकरण द्वारा राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग रूक जाता है और संसद के दो सदनों की व्यवस्था करके, दोनों को एक दूसरे पर आश्रित करके, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का इन पर अंकुश लगाकर राजनीतिक सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। इस प्रकार शक्तियों के विभाजन, पथक्करण तथा विकेन्द्रीकरण द्वारा सरकार को सीमित रखा जाता है।

(4) **स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका (Independent and Impartial Judiciary)** :- पाश्चात्य देशों की शासन-व्यवस्था में न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा विधानपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाता है। स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका ही संवैधानिक प्रतिबन्धों को अमली जामा पहनाती है, यह सरकार को संवैधानिक बनाती है और राजनीतिक शक्तियों का दुरुपयोग रोकती है। न्यायपालिका ही कानून के शासन की स्थापना करती है और सरकार की शक्तियों को सीमित रखती है। निर्णायक शक्ति के कारण न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा विशायिका की निरंकुशता पर रोक लगाती है और कानून का शासन कायम रखती है। निष्पक्ष न्यायपालिका ही पाश्चात्य संविधानवाद की प्रमुख विशेषता है। पीटर एच० मार्क के अनुसार-"स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका आधुनिक संवैधानिक सरकार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक है।" अतः स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका आधुनिक शासन-व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

(ख) राजनीतिक उत्तरदायित्व

(Political Responsibility)

पश्चिमी संविधानवाद की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसने शासन के प्रत्येक अंग को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था की है। नागरिकों के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व पाश्चात्य संविधानवाद का आधारभूत लक्षण है। पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक उत्तरदायित्व प्रजातन्त्र

का मेरुदण्ड है। पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक शक्ति को जनता के प्रति जवाबदेह बनाने के लिए निम्नलिखित संस्थागत उपाय किए गए हैं :-

(1) **निश्चित समय के बाद चुनाव** (Election after definite tenure)।

(2) **राजनीतिक दलों की व्यवस्था** (Provision of Political Parties)।

(3) **समाचार पत्रों अथवा प्रैस की स्वतन्त्रता** (Freedom of Press)।

(4) **लोकमत का महत्व** (Importance of Public-opinion)।

(5) **परम्पराएं और सामाजिक बहुलवाद** (Traditions and Social Pluralism)।

(1) निश्चित समय के बाद चुनाव (Election after definite tenure) :- पाश्चात्य देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में निश्चित अवधि के बाद चुनावों को बहुत महत्वपूर्ण तरीके से सम्पन्न कराया जाता है। चुनावों के द्वारा ही सरकार के औचित्यपूर्ण कार्यों की समीक्षा की जाती है। चुनाव जनता के हाथ में महत्वपूर्ण शस्त्र होता है जिसका प्रयोग जनता जन-विरोधी सरकार को बदलने के लिए प्रयोग करती है। चुनाव की तलवार सदैव शासक-वर्ग को जनहित के प्रति जागरुक बनाए रखती है। कई बार मध्यावधि चुनाव भी सरकार की वैधता की परीक्षा करते हैं। शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिए शासक वर्ग सदैव जनता के कल्याण पर ही ध्यान देने के प्रयास करता रहता है। चुनाव ही संविधानवाद को अमली जामा पहनाता है। चुनावों की व्यवस्था सरकार को उत्तरदायी बनाने का महत्वपूर्ण साधन है।

(2) राजनीतिक दलों की व्यवस्था (Provision of Political Parties) :- राजनीतिक दल जन इच्छा की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण साधन है। राजनीतिक दलों के बिना राजनीतिक उत्तरदायित्व की स्थापना नहीं हो सकती। दलों के माध्यम से ही नागरिक अपनी विशिष्ट नीतियां प्रकाश में लाते हैं। राजनीतिक दल लोगों को जागरूक बनाते हैं और सरकार व समाज के बीच कड़ी का काम भी करते हैं। राजनीतिक दल जनता की भावना को सरकार तक पहुंचाकर उसे सचेत करते रहते हैं। पाश्चात्य संविधानवाद में एक से अधिक दलों को महत्व देकर उनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की व्यवस्था है। पश्चिमी संविधानवाद की मान्यता है कि एक दल राजनीतिक उत्तरदायित्व के स्थान पर राजनीतिक निरंकुशता को जन्म देता है। ऐसी व्यवस्था तो साम्यवादी संविधानवाद में पाई जाती है। पश्चिमी देशों में बहुदलीय पद्धति विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व के माध्यम से लोकतन्त्र को मजबूत बनाने का महत्वपूर्ण तरीका है। इसमें विरोधी दल की भूमिका के कारण सत्तारूढ़ दल सरकार की भूमिका का निर्वहन करते समय जनता की आवाज को पहचानने में कभी चूक नहीं करता। इस प्रकार राजनीतिक दलों की भूमिका सरकार को उत्तरदायी बनाये रखती है।

(3) प्रैस की स्वतन्त्रता (Freedom of Press) :- पाश्चात्य देशों में प्रैस को सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। समाचार पत्र जनमत को व्यक्त करने वाले प्रभावशाली साधन हैं। समाचार पत्र जनता की आवाज सरकार तक पहुंचाकर सरकार को जन-कल्याण के प्रति सचेत करते रहते हैं और उसे अपने जन-उत्तरदायित्व का निर्वहन करने को बाध्य भी करते हैं। इसलिए प्रैस की स्वतन्त्रता राजनीतिक उत्तरदायित्व का महत्वपूर्ण साधन है।

(4) लोकमत का महत्व (Importance of Public-Opinion) :- जनमत प्रजातन्त्र का प्राण है। समाचारपत्र, रेडियो, दूरदर्शन आदि जनमत को अभिव्यक्त करने वाले प्रमुख साधन हैं। लोकमत एक ऐसा प्रभावशाली अस्त्र है जो सरकार को बनाने या गिराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति चुनावों के समय होती है। इसको प्रत्येक देश में महत्व

दिया जाता है। लोकमत के आगे निरंकुश सरकार भी झुकने को विवश हो जाती है। अतः लोकमत सरकार को उत्तरदायी बनाने का महत्वपूर्ण साधन है।

(5) **परम्पराएं और सामाजिक बहुलवाद (Traditions and Social Pluralism)** :- प्रत्येक राजनीतिक समाज में गैर-राजनीतिक समूहों व संस्थाओं का सरकार पर दबाव बनाने के लिए विशेष महत्व होता है। ये समूह इतने शक्तिशाली होते हैं कि कई बार ये अप्रत्यक्ष रूप में सरकार को बनाने और गिराने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये सरकार पर अपने अपने हितों को प्राप्त करने के लिए अनुचित दबाव भी डाल देते हैं। लेकिन प्रतिरोधी समूह या संघ सरकार को ऐसा करने से रोकते हैं। इस तरह सरकार की शक्तियां मर्यादित बनी रहती हैं। जिस देश में लोकतन्त्रीय परम्पराएं बहुत मजबूत होती हैं, वहां सरकार इन परम्पराओं और उनके सजग प्रहरी गैर राजनीतिक समुदायों की उपेक्षा नहीं कर सकती। उसे सामाजिक बहुलवाद का सम्मान हर अवस्था में करना ही पड़ता है। सुस्थापित परम्पराओं और सामाजिक समूहों की उपेक्षा करने का अर्थ होगा राजनीतिक अराजकता को बुलावा देना।

इस प्रकार पाश्चात्य देशों में सीमित सरकार और राजनीतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को महत्व दिया गया है। इन देशों में सरकार को सीमित रखने के लिए विशेष संस्थागत प्रावधान किए गए हैं। कानून के शासन व निष्पक्ष न्यायपालिका द्वारा सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाकर उसे जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए भी विशेष प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों के होते सरकार अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करने में संकोच करती है। समय पर चुनावों, राजनीतिक दलों व प्रैस की स्वतन्त्रता के द्वारा पाश्चात्य देशों में शासन-व्यवस्था को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के विशेष उपाय किए गए हैं। पाश्चात्य संविधानवाद की यही सबसे महत्वपूर्ण बात है कि इसमें सरकार मर्यादित व उत्तरदायी बनी रहकर जन-कल्याण के कार्य करती है।

(II) संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा

(Marxist or Communist Concept of Constitutionalism)

साम्यवादी देशों में संविधानवाद की अवधारणा पाश्चात्य संविधानवाद से सिद्धान्त में साम्य रखते हुए भी व्यवहारिक द ष्टिकोण से काफी भिन्न हैं। इस अवधारणा की द ष्टि में संविधान का उद्देश्य सबके लिए स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और अधिकार निश्चित करना न होकर, बल्कि समाजवाद की स्थापना करना है। यह संविधानवाद मार्क्स व लेनिन के वैज्ञानिक समाजवादी विचारों पर आध ाारित है। समस्त साम्यवादी संविधानवाद सोवियत संविधान के इर्द-गिर्द ही घूमता है और सोवियत संविधान का निर्माण समाजवादी तत्वों से हुआ है। साम्यवादी देशों में सरकार व शक्ति का अर्थ पाश्चात्य देशों के द ष्टिकोण से बिल्कुल विपरीत है। इसी आधार पर संविधानवाद में भी भिन्नता आ जाती है। साम्यवादी सरकार को पूंजीपति वर्ग के हाथ की कठपुतली मानते हैं, जो धनिक वर्ग के हितों की ही पोषक होती है। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति का आधार आर्थिक शक्ति है। उत्पादन शक्ति के धारक होने के कारण पूंजीपति राजनीतिक सत्ता के भी स्वामी होते हैं। इसलिए राजनीतिक शक्ति और मौलिक अधिकारों का प्रयोग जनसाधारण की बजाय अमीर लोग ही करते हैं। इसलिए पाश्चात्य जगत में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था राजनीतिक शक्ति प्राप्त लोगों के लिए ही रहती है। राजनीतिक शक्ति पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की बात करना मूर्खता है, क्योंकि आर्थिक व राजनीतिक शक्ति से सम्पन्न सरकार पर कोई भी नियन्त्रण प्रभावी नहीं हो सकता। इसलिए राजनीतिक शक्ति पर नियन्त्रण केवल तभी सम्भव है, जब आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण लगाया जाए।

साम्यवादी संविधानवाद आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण करने के लिए ऐसी समाजवादी व्यवस्था की

स्थापना पर जोर देते हैं जो आर्थिक साधनों का बंटवारा समाज की सभी व्यक्तियों या वर्गों में कर दे। उनका मानना है कि आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण से राजनीतिक शक्ति भी समस्त समाज के हाथ में आ जाएगी और सरकार की नीतियों का लाभ सभी व्यक्तियों को मिलने लगेगा। साम्यवादी विचारकों का मानना है कि आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण राजनीतिक शक्ति पर भी स्वयं नियन्त्रण रखने लग जाएगा।

संविधानवाद की साम्यवादी अवधारण की मान्यताएं

(Assumptions of Communist Concept of Constitutionalism)

साम्यवादी संविधानवाद की अवधारणा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :-

(1) **शक्ति के आर्थिक पक्ष की सर्वोच्चता** :- साम्यवादियों का मानना है कि सामाजिक जीवन में आर्थिक शक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जिस व्यक्ति के पास आर्थिक शक्ति होती है, वह सम्पूर्ण समाज पर अपना प्रभुत्व कायम करने व रखने में सफल होता है। इसी व्यवस्था के कारण वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है और शोषण व अन्याय की शुरुआत होती है। इसलिए वर्ग-संघर्ष व शोषण को रोकने के लिए आर्थिक शक्ति का बंटवारा समाज के समस्त व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए।

(II) **समाज में आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग का प्रभुत्व** :- आर्थिक शक्ति की सर्वोच्चता एक आर्थिक शक्ति सम्पन्न वर्ग को जन्म देती है। व्यवहार में इसी शक्ति से सम्पन्न वर्ग का राजनीतिक शक्ति पर भी नियन्त्रण रहता है। समस्त समाज आर्थिक शक्ति सम्पन्न वर्ग के निर्देशानुसार ही संचालित होता है।

(III) **राजनीतिक शक्ति का आर्थिक शक्ति के अधीन होना** :- आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग राजनीतिक शक्ति को भी आर्थिक शक्ति के अधीन कर देता है। समाज की सभी संस्थाएं आर्थिक शक्ति के आगे झुकने को मजबूर हो जाती हैं। इसलिए नियन्त्रण राजनीतिक शक्ति की बजाय आर्थिक शक्ति पर ही लगाए जाने चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साम्यवादी देशों में राजनीतिक शक्ति की बजाय आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण रखने हेतु संवैधानिक प्रावधान किए जाते हैं। साम्यवादी धारणा के अनुसार नियन्त्रणों की संस्थागत व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शक्ति को सार्वजनिक सत्ता के अधीन करना है। यद्यपि सामाजिक मूल्यों, राजनीतिक आदर्शों और संस्थाओं की प्राप्ति के लिए साम्यवादी देशों में भी पाश्चात्य देशों के समान ही संस्थागत व्यवस्थाएं की गई हैं। साम्यवादी देशों में भी पाश्चात्य संविधानवाद की तरह लिखित व सर्वोच्च संविधान, शक्तियों का विभाजन व प थक्करण, नागरिकों के मौलिक अधिकार, सरकार का उत्तरदायित्व, कानून का शासन आदि की सैद्धान्तिक रूप में संस्थागत व्यवस्थाएं की गई हैं, लेकिन व्यवहार में इन व्यवस्थाओं का कोई महत्व नहीं है। साम्यवादी देशों में साम्यवादी समाज की आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण रखने हेतु व्यवहार में निम्नलिखित तरीके प्रयोग में लाए जाए जाते हैं :-

(i) **उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व** :- साम्यवादियों का मानना है कि आर्थिक साधनों पर निजी स्वामित्व आर्थिक शक्ति को कुछ पूंजीपतियों तक ही सीमित कर देता है। इससे वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है। आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके समाज के बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग का शोषण करना शुरु कर देता है। समाज का बहुसंख्यक वर्ग पूंजीपतियों के आदर्शों व मूल्यों को मानने पर मजबूर हो जाता है। ऐसी स्थिति में संविधान प्रावधानों - मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का कोई महत्व नहीं रह जाता। इसलिए संविधानवाद को व्यवहारिक बनाने के लिए उसके मार्ग की बाधाएं दूर करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब उत्पादन व वितरण के साधनों

पर सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था हो। इससे राजनीतिक शक्ति व सत्ता का दुरुपयोग होने की संभावना कम हो जाएगी और संविधानवाद को व्यवहारिक गति मिलेगी।

(ii) **सम्पत्ति का समान वितरण** :- उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक नियन्त्रण हो जाने पर सम्पत्ति के समान बंटवारे में कोई परेशानी नहीं आएगी। इससे समाज में सम्पत्ति के कारण न तो संघर्ष होगा और न असमानता जन्म लेगी। इसलिए साम्यवादी आर्थिक समानता की स्थापना द्वारा संविधानवाद का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं। वे समाज को उन सभी बन्धनों से मुक्ति दिलाना चाहते हैं जो संविधानवाद के रास्ते में बाधा बनते हों।

(iii) **साम्यवादी दल का शासन** :- साम्यवादी देशों में आर्थिक समानता के कारण वर्ग-विहीन समाज में राजनीतिक दलों की आवश्यकता नहीं रहती। साम्यवादी बहुदलीय प्रणाली को साम्यवाद के लक्ष्यों को प्राप्त करने के मार्ग में बाधक मानते हैं। परन्तु साम्यवादी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समाज को नेत त्व देने व निर्देश के लिए एक राजनीतिक दल को तो आवश्यमक मानते हैं। साम्यवादियों की द ष्टि में ऐसा दल साम्यवादी दल ही हो सकता है। यह दल ही समाज का सच्चा प्रतिनिधि हो सकता है। यह दल शोषण व दमन का अन्त कर सकता है और सार्वजनिक हित में व द्धि कर सकता है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा सिद्धान्त में तो पाश्चात्य अवधारणा के पास हो सकती है, लेकिन व्यवहार में वह उससे काफी दूर ही रहती है। साम्यवादियों का मानना है कि संविधानवाद को व्यवहारिक बनाने के लिए नियन्त्रण की पाश्चात्य व्यवस्थाएं प्रभावी नहीं हो सकती। इसलिए वे आर्थिक साधनों के वितरण की मौलिक व्यवस्थाओं द्वारा राजनीतिक शक्ति पर नियन्त्रण स्थापित करके संविधानवाद के आदर्शों को सभी नागरिकों के लिए उपलब्ध कराते हैं। सिद्धान्त तौर पर साम्यवादी देशों में नियन्त्रण की जो औपचारिक व्यवस्थाएं की जाती हैं, व्यवहार में उनका कोई महत्व नहीं है। साम्यवादी देशों में शक्तियों के प थक्करण, मौलिक अधिकार, कानून का शासन आदि संवैधानिक व्यवस्थाएं संविध ानवाद की स्थापना में अपना कोई योगदान नहीं देती। साम्यवादी दल की तानाशाही के आगे ये व्यवस्थाएं निरर्थक व औपचारिकता मात्र रह जाती है। सोवियत संघ में 1917 में लेनिन की सरकार स्थापित होने के बाद वहां साम्यवादी दल की तानाशाही रही। लेनिन की द ष्टि में संवैधानिक उपबन्धों की कोई अहमियत नहीं थी। उसके बाद स्टालिन ने भी अपनी तानाशाही सरकार द्वारा संविधानवाद की धज्जियां उड़ा दी। इसी तरह पौलैण्ड, हंगरी, रुमानिया, चेकोस्लावाकिया, उत्तरी कोरिया, वियतनाम, क्यूबा आदि देशों में साम्यवाद की स्थापना होने के बाद से उसके पतन तक संविधान के आदर्शों की बजाय साम्यवादी दल या साम्यवादियों के आदर्शों का ही बोलबाला रहा। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद तथा अन्य साम्यवादी देशों द्वारा लोकतन्त्र को अपनाए जाने तक संविधानवाद के आदर्शों को व्यावहारिक तौर पर दबाया गया। आज चीन, वियतनाम व क्यूबा आदि साम्यवादी देशों में संविधानवाद का व्यावहारिक स्वरूप कुछ और ही है। इन देशों में साम्यवादी दलों या साम्यवादी नेत त्व के आगे संवैधानिक उपबन्धों का कोई महत्व नहीं है। इन देशों में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया जाता है। इन देशों के संविधानों में ऐसी धाराएं हैं जो साम्यवादी दल की तानाशाही की आड़ में संविधानात्मक की ही धज्जियां उड़ा देती हैं। संविधान के पास सरकार को नियन्त्रित व उत्तरदायी बनाने के लिए साम्यवादी दल के होते हुए कोई उपाय शेष नहीं रह जाता। इसलिए कुछ आलोचक साम्यवादी देशों में संविधानवाद के अस्तित्व से ही इंकार करते हैं क्योंकि वहां पर समस्त गतिविधियों का निर्णायक यही है। इन देशों में संविधानिक उपबन्ध जनता के साथ धोखा है और स्वयं संविधान भी साम्यवादी दल के हाथ में एक कठपुतली है। अतः साम्यवादी देशों में संविधानवाद की बात करना भी मूर्खता है।

(III) संविधानवाद की विकासशील देशों की अवधारणा

(Concept of Constitutionalism of Developing Countries) :-

राजनीतिक स्थावित्व के अभाव में विकासशील देशों में संविधानवाद का विकास उतना नहीं हुआ है, जितना पश्चिमी देशों में हुआ है। भारत को छोड़कर सभी विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएं अभी संक्रमणकाल के दौर से गुजर रही हैं। भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जो राजनीतिक स्थायित्व के साथ-साथ संविधानवाद में भी पाश्चात्य देशों से पीछे नहीं है। भारत में संविधानवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका है। भारत ने पाश्चात्य संविधानवाद के समस्त आदर्श प्राप्त कर लिए हैं और वह बराबर संविधानवाद का विकास कर रहा है। विकासशील देशों की अपनी कूछ समस्याएं हैं जो संविधानवाद के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हैं। फिर भी विकासशील देश कम या अधिक मात्रा में पश्चिमी देशों की तरह संविधानवाद का पोषण कर रहे हैं। विकासशील देशों के संविधानवाद को समझने के लिए इन देशों की समस्याओं को समझना बहुत आवश्यक है।

विकासशील देशों की समस्याएं

(Problems of Developing Countries)

विकासशील देशों की समस्याएं विकासशील देशों के संविधानवाद की सच्ची प्रकृति को स्पष्ट करती हैं। इनके कारण ही विकासशील देशों के संविधानवाद व पाश्चात्य देशों के संविधानवाद में अन्तर दिखाई देता है। ये समस्याएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **राजनीतिक स्थायित्व की समस्या** :- अधिकतर विकासशील देश लम्बे समय तक साम्राज्यवादी शोषण का शिकार रहे हैं। इन देशों को राजनीतिक सत्ता काफी संघर्षों के बाद मिली है। कुछ देशों में तो राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए कत्लेआम हुआ और भारत जैसे देशों को लम्बे राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद ही सत्ता मिल गई थी। लेकिन सत्ता प्राप्ति से आज तक अधिकांश विकासशील देश राजनीतिक अस्थिरता का शिकार रहे हैं। राजनीतिक दलों की अनेकता और राष्ट्रवाद के अभाव ने राजनीतिक अस्थिरता को पनपने में भरपूर मदद की है। इसलिए इन देशों में संविधानवाद की संस्थापक व्यवस्थाओं पर कभी भी मतैक्य नहीं हो सका है और संविधानवाद के चिरस्थायी मूल्य जन्म नहीं ले सके हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की राजनीतिक अस्थिरता का सर्वथा अभाव होने के कारण वहां से विधानवाद का पूर्ण विकास हुआ है।

(2) **आर्थिक विकास की समस्या** :- लम्बे साम्राज्यवादी शोषण का शिकार रह चुके विकासशील देशों को राजनीतिक अस्थिरता के साथ साथ आर्थिक पिछड़ापन भी गुलामी से विरासत में मिला है। साम्राज्यवादी देशों द्वारा इनका आर्थिक दोहन करने के कारण इनकी आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर है कि ये देश आज भी साम्राज्यवादी देशों पर निर्भर हैं और नव-साम्राज्वाद या डालर साम्राज्यवाद का शिकार हैं। देश की आर्थिक समस्याएं बार-बार संविधानवाद को चुनौती देती रहती हैं। तकनीकी ज्ञान के अभाव में उपलब्ध आर्थिक साधनों का भी समुचित उपयोग न हो पाने के कारण आर्थिक विकास की समस्या दिन-प्रतिदिन और अधिक गहरी होती जा रही है। आर्थिक समस्याओं के कारण इन देशों को बार-बार राजनीतिक अस्थिरता का सामना करना पड़ रहा है। जगह-जगह संविधानवाद को कुचलने वाली गतिविधियां जन्म ले रही हैं।

(3) **राजनीतिक सत्ता की वैधता की समस्या** :- विकासशील देशों में शासक वर्ग को सदैव अपनी सत्ता की वैधता की परीक्षा देनी पड़ती है। इसलिए वे चुनावों में अनुचित साधनों को महत्व देते हैं और समाज में अनैतिक मूल्यों को जन्म देकर संविधानवाद को पनपने से रोकते है।

(4) **आधुनिकीकरण की समस्या** :- नवोदित विकासशील देशों के सामने आधुनिकीकरण की समस्या एक विकट समस्या है। इन देशों में प्राचीन और नवीन मूल्यों में संघष्र व्याप्त रहता है। इसलिए शासक व शासित वर्ग में मतैक्य के अभाव के कारण इन देशों में संविधानवाद पिछड़ रहा है। इन देशों में आज तक भी सभी परम्परावादी लोगों और आधुनिकीकरण के प्रतिनिधियों के रूप में अभिजन वर्ग के बीच में वैचारिक संघर्ष है। यही संघर्ष और मतैक्य का अभाव संविधानवाद के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

(5) **राजनीतिक संरचना विकल्पों की समस्या** :- इन देशों के सामने सबसे बड़ी समस्या उपयुक्त राजनीतिक व्यवस्था के चुनाव की है। वे इस अनिश्चय की स्थिति में हैं कि वे पूंजीवाद को अपनाएं या साम्यवाद को, लोकतन्त्र को अपनाएं या निरंकुशवाद को। यदि वे एक को स्वीकार करते हैं तो फिर परिस्थितियां दूसरी को अपनाने को बाध्य कर देती हैं। भारत को छोड़कर शेष सभी विकासशील देश आज तक अपनी राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निश्चित नहीं कर पाए हैं। इसके अभाव में संविधानवाद के पाश्चात्य या साम्यवादी मॉडल को स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसलिए राजनीतिक विकास के संस्थात्मक मार्गों का अनिश्चय विकासशील देशों में संविधानवाद की स्थिति को अस्पष्ट बना देता है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की समस्या** :- अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और पहचान बनाने के लिए विकासशील देशों के सामने समस्या आती है कि वे किस गुट में शामिल हों या किस में नहीं। आज उन देशों के सामने गुट-राजनीति में शामिल होना मजबूरी है। इससे वे समाज के निश्चित मूल्यों की बलि चढ़ाकर अपनी अन्तराष्ट्रीय पहचान कायम करने का प्रयास करते हैं और संविधानवाद को खो देते हैं।

(7) **सुरक्षा की खोज की समस्या** :- विकासशील देशों के समाज बहुलवादी समाज हैं। परस्पर विरोधी हितों के कारण समाज का बार-बार राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव पड़ता रहता है। इससे सरकार को आन्तरिक सुरक्षा की चिन्ता हो जाती है और बाहरी आक्रमणों द्वारा भी जनता को एकता के सूत्र में बांधने तक के भी प्रयास करने पड़ते हैं। विकासशील देशों में सरकारों के सामने सदा आन्तरिक सुरक्षा के साथ-साथ बाहरी सुरक्षा या राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा की भी चिन्ता लगी रहती है। इससे समाज के सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करने से उनका ध्यान हट जाता है। इसके फलस्वरूप संस्थात्मक व्यवस्थाओं को मजबूत बनाने के लिए समाज व सरकार में मतैक्य नहीं बन पाता है और संविधानवाद से वे काफी दूर हट जाते हैं।

(8) **सामाजिक-सांस्कृतिक समता का उद्देश्य** :- राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए विकासशील देशों के बहुलवादी समाज का प्रत्येक वर्ग पूरी कोशिश करता है और अन्य समूहों को विकसित होने से रोकने के लिए राजनीतिक शक्ति का भी प्रयोग करता है। इससे समाज में संषर्ष की प्रव त्ति जन्म लेती है। ऐसी स्थिति में समाज के मूल्यों व आदर्शों के विकास की कल्पना करना बेकार है। इसलिए राष्ट्रीय एकीकरण के अभाव में उचित व परिपक्व संविधानवाद विकसित नहीं हो सकता।

(9) **संविधानों की परिवर्तनशील प्रव त्ति** :- विकसित देशों के संविधानों की तुलना में विकासशील देशों के संविधानों को बार-बार संशोधनों या परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में स्वच्छ संवैधानिक परम्पराएं विकसित नहीं हो पाती हैं और संविधानवाद का विकास भी रूक जाता है।

विकासशील देशों के संविधानवाद के लक्षण

(Features of Constitutionalism of Developing Countries)

विकासशील देशों की समस्याएं इन देशों में संविधानवाद को उस स्तर तक विकसित नहीं होने देती जैसा वह पाश्चात्य देशों में है। बहुलवादी समाज व शासक वर्ग में मतैक्य का अभाव विकासशील देशों के संविधानवाद को विकसित होने से रोकता है। लेकिन भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में जो संविधानवाद विकसित हुआ है, वह पाश्चात्य संविधानवाद से कम नहीं है। विकासशील देशों के संविधानवाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **विकासशील देशों में संविधानवाद संक्रमणकालीन दौर में है** :- विकासशील देशों में संविधानवाद अभी निर्माण की अवस्था में है। इन देशों में सामान्य उद्देश्यों पर समाज व सरकारों में मतैक्य का अभाव है। आज तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं का स्वरूप क्या हो ? कभी विकासशील देशों में उदारवादी लोकतन्त्र के आदर्शों को अपनाने पर जोर दिया जाता है तो कभी वे साम्यवादी विचारों की ओर अग्रसर होते हैं। इस संक्रमणकालीन दौर में संविधानवाद का विकसित रूप उभरना असंभव है। भारत को को छोड़कर अन्य किसी भी विकासशील देश ने निश्चित राजनीतिक व्यवस्था को नहीं अपनाया है।

(2) **विकासशील देशों का संविधानवाद मिश्रित प्रकृति का है** :- विकासशील देश पाश्चात्य तथा साम्यवादी संविधानवाद को एक बिन्दु पर लाने का प्रयास कर रहे हैं। वे पाश्चात्य उदारवादी लोकतन्त्र के स्वतन्त्रता, न्याय, समानता के साथ साथ सोवियत समाजवादी को भी अपने देश में संविधानों में स्थान देते हैं। भारत में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों - समानता व स्वतन्त्रता के साथ-साथ समाजवाद के सिद्धान्त आर्थिक समानता के लिए सम्पत्ति पर सार्वजनिक नियन्त्रण की बात को बराबर महत्व दिया जाता है। भारत की अर्थव्यवस्था को मिश्रित प्रकृति विकासशील देशों के संविधानवाद क लिए प्रमुख आदर्श है। इसी तरह मौलिक अधिकार और उन पर नियन्त्रण की व्यवस्था भी भारत के संविधानवाद की मिश्रित को इंगित करता है।

(3) **विकासशील देशों में संविधानवाद प्रवाह के दौर में है** :- विकासशील देशों में संविधानवाद स्थिरता प्राप्त नहीं कर सका है। यद्यपि राजनीतिक विकास का भ्रम संविधानवाद को विकसित समझने का भ्रम उत्पन्न करता है, लेकिन राजनीतिक व्यवस्था में अराजकता उत्पन्न करने वाली तथा उसे पिछड़ेपन के मार्ग पर धकेलने वाली परिस्थितियां उत्पन्न होकर उसे प्रवाह के दौर में छोड़ देती हैं।

(4) **विकासशील देशों में संविधानवाद दिशा रहित चरण में है** :- विकासशील देश इस अनिश्चय की स्थिति में हैं कि वे पाश्चात्य लोकतन्त्र का आदर्श लेकर आगे बढ़ें या साम्यवादी विचारों का आदर्श। आज तक विकासशील देश संविधानवाद के निश्चित आधारों व लक्ष्यों की स्थापना करने में असफल रहे हैं। अतः विकासशील देशों का संविधावाद आधारों के अभाव व मूल्यों की अनिश्चितता के कारण दिशाहीन चरण में हैं।

भारत में संविधानवाद

(Constitutionalism in India)

भारत एक विकासशील देश है। भारत में संविधानवाद पाश्चातय व साम्यवादी संविधानवाद का मिश्रित रूप है। भारत ने संसदीय प्रजातन्त्र को विरासत के रूप में अपनाया है। भारत में यह व्यवस्था अन्य विकासशील देशों की तुलना में अधिक सफल रही है। भारत के संविधानवाद में कानून

का शासन, मौलिक अधिकारों, स्वतन्त्रता व समानता का आदर्श, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका, राजनीतिक शक्ति का प थक्करण, निश्चित अवधि के बाद चुनाव, राजनीतिक दलों की व्यवस्था, प्रैस की स्वतन्त्रता, सामाजिक बहुलवाद आदि द्वारा सीमित सरकार व उत्तरदायी सरकार की परम्परा का निर्वाह किया गया है। इस द ष्टि से भारत में संविधानवाद उदारवादी पाश्चात्य लोकतन्त्र के काफी निकट है। इसी तरह भारत में साम्यवादी संविधानवाद के समाजवादी तथ्यों को भी अपनाया गया है। भारत में जनकल्याण को बढ़ावा देने के लिए उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था की गई है। अतः भारत का संविधानवाद मिश्रित प्रकृति का है और विकसित अवस्था में है।

इस प्रकार विकासशील देशों में भारत को छोड़कर संविधानवाद अभी निर्माण के दौर में है। धीरे धीरे कई विकासशील देशों में स्वच्छ संवैधानिक परम्पराएं विकसित हो रही हैं। होवार्ड रीगिन्स का कथन सत्य है कि "राज्य नए हैं और राजनीतिक खेल के नियम प्रवाह में हैं इसलिए संविध ानवाद अभी सुस्थिर नहीं हो सका है।" आज विकासशील देश संविधानवाद की वास्तविकताओं से काफी दूर है। भारत की तरह आज बर्मा, इण्डोनेशिया, नाईजीरिया, श्रीलंका आदि विकासशील देशों में संविधानवाद की लोकतन्त्रीय परम्पराएं विकसित हो रही हैं।

संविधानवाद की समस्याएं व सीमाएं

(Problems and Limitations of Constitutionalism)

संविधानवाद आधुनिक लोकतन्त्र का मूल मन्त्र है। संविधानवाद के बिना लोकतन्त्रीय आदर्शों व सिद्धान्तों का न तो विकास सम्भव है और न ही उनकी रक्षा। राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद संविधानवाद को साम्यवादी क्रान्ति ने उदारवादी प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों को चोट पहुंचाई और इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाजीवाद तथा स्पेन, पोलैण्ड, यूनान, रूमानिया आदि राष्ट्रों में अधिनायकवादी शासकों के उत्कर्ष ने संविधानवाद की गहरी जड़ें भी हिलाकर रख दी। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध ने धुरी राष्ट्रों तथा अन्य अधिनायकवादी राष्ट्रों को भारी नुकसान पहुंचाया और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद विश्व में संविधानवाद फिर से अपना आधार खड़ा करने के प्रयास में सफल हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इटली, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, स्विट्जरलैंड आदि राज्यों में अधि ानायकवादी तत्व समाप्त हो गए और इन देशों में संविधानवाद का विकास करने वाले प्रजातन्त्रीय तत्वों के विकास की परम्परा शुरु हो गई। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद के विकास के जो लक्षण दिखाई देते थे, वे आज धूमिल होते नजर आ रहे हैं। आज ईराक, अफगानिस्तान, पाकिस्तान आदि देशों में सैनिकवाद और निरंकुशतावाद का जो बोलबाला है, चारों ओर अराजकता का जो माहौल है, उसके परिणामस्वरूप संविधानवाद का विकास नहीं किया जा सकता। यद्यपि गिने चुने देशों में संविधानवाद विरोधी तत्वों के होने से संविधानवाद के विकास का रास्ता नहीं बदला जा सकता, लेकिन फिर भी संविधानवाद को चुनौती देने वाली समस्याएं संविधानवाद के मार्ग में बाधक हैं। उनके निराकरण के बिना संविधानवाद का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। संविधानवाद के मार्ग में बाधक समस्याएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **युद्ध (War)** :- संविधानवाद की प्रमुख सीमा यह है कि इसे शांति काल में ही लागू किया जा सकता है और विकास किया जा सकता है। युद्ध चाहे ग हयुद्ध के रूप में हो या दो देशों व अनेक देशों के मध्य में हो, इसे कायम रखना असम्भव व कठिन दोनों होता है। युद्ध के वातावरण में संविधानिक अधिकारों व आदर्शों का महत्व शून्य हो जाता है। इसमें नागरिकों के मौलिक अधिकार स्थाई या अस्थाई तौर पर स्थगित हो जाते हैं और संविधानिक सरकार भी संविधान के विपरित कार्य करने को बाध्य हो जाती है, इसलिए संविधानवाद जैसी वस्तु का अस्तित्व नष्ट होने लगता है। युद्ध में संविधान और संवैधानिक सरकार दोनों का आदर्श

समाप्त होने से संविधानवाद स्वतः ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि युद्धकाल में संविधानवाद पूरी तरह नष्ट हो जाए। यदि जनता स्वयं सरकार को अपने अधिकारों और सुविधाओं को कम करने की अनुमति दे दे या सरकार के युद्धकालीन कार्यों का समर्थन कर दे तो संविधानवाद को बचाने में मदद मिल सकती है। ऐसी स्थिति में संविधानवाद पर युद्ध का कम प्रभाव पड़ता है और युद्ध के बाद संविधानवाद को फिर से खड़ा करने में आसानी रहती है। लेकिन कई बान तानाशाही शासक इस छूट का अनुचित लाभ उठाकर उस देश में संविधानवाद की गहरी जड़ों को भी हिलाकर रख देते हैं। अतः युद्ध संविधानवाद की प्रमुख सीमा या उसके मार्ग में बाधा है।

(2) **निरंकुशतावाद (Dictatorship)** :- संविधानवाद और निरंकुशतावाद में विपरित सम्बन्ध है। यदि एक आगे बढ़ता है तो दूसरा पीछे हटता है और यदि दूसरा आगे बढ़ता है तो पहला पीछे हटता है। निरंकुशतावाद का रूप चाहे फासीवाद हो, नाजीवाद हो, सर्वहारा वर्ग या साम्यवादी दल की तानाशाही हो, सैनिकवादी शासन हो, किसी को भी संविधानवाद का मित्र नहीं कहा जा सकता। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली में फासीवादी और जर्मनी में नाजीवादी ताकतों ने संविधानवाद को जो क्षति पहुंचाई थी, उससे निरंकुशतावाद को किसी भी रूप में संविधानवाद के लिए अनुकूल नहीं माना जा सकता। निरंकुश या सर्वसत्ताधिकारी शासक शासन का संचालन संविधान के नियमों के अनुसार न करके अपनी इच्छा के अनुसार स्वार्थ सिद्धि के लिए ही करता है। इसमें जनभावना की बजाय शासक भावना की कदर की जाती है। इसलिए निरंकुशतावाद संविधानवाद की प्रमुख सीमा है। संविधानवाद को तानाशाही व सैनिक शासन में न तो लागू किया जा सकता है और न इसे लागू रखा जा सकता है। पाकिस्तान में सैनिक शासकों के कारण वहां पर लम्बे समय से न तो संविधान के आदर्शों का पालन हो रहा है और न ही वहां पर संविधानिक सरकार है। इसी तरह ईराक व अफगानिस्तान में भी लम्बे समय तक ऐसी ही स्थिति का रहना संविधानवाद के मार्ग में निरंकुशतावाद को बाधक बनाता है। अतः निरंकुशतावाद संविधानवाद के मार्ग में प्रमुख बाधा है। के०सी० व्हीयर ने लिखा है-"जैसे जैसे निरंकुशतावाद बढ़ता है, वैसे वैसे संविधानवाद पीछे हटता है।"

(3) **संसदीय संस्थाओं के पास कार्यभार की अधिकता (Too much workload of Parliamentary Institutions)** :-यदि संसदीय संस्थाओं के पास कार्यभार अधिक होगा तो वे अपने संविधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन सरलता से नहीं कर सकती। आधुनिक युग प्रजातन्त्र का युग है। इसमें राज्य को कल्याणकारी राज्य का दर्जा दिया गया है। आज इन संस्थाओं के पास राजनीतिक कार्यों के साथ आर्थिक कार्यों का बोझ भी है। ऐसी स्थिति में ये संस्थाएं अपने संविधानिक उत्तरदायित्व को उचित रूप से निभाने में असमर्थ हैं। इससे संविधानवाद का विरोध होता है। इसलिए संसदीय संस्थाओं का अधिक कार्य संविधानवाद की सीमा भी है और इसके मार्ग में प्रमुख बाधा भी है।

(4) **राजनीतिक समानता का सिद्धान्त (Principle of Political Equlity)** :- "प्रत्येक नागरिक को एक माना जाएगा, एक से अधिक नहीं" - यह लोकतन्त्र का प्रमुख सिद्धान्त है। यह सूत्र कम या अधिक विकसित देशों में तो ठीक हो सकता है, पिछड़े हुए या विकासशील देशों में नहीं, इन देशों में यह श्रमिकों को खुश करने की बजाय उन्हें नाराज ही करता है। सी०एस० स्ट्रांग का कहना है-"यह सूत्र भारी उलझन पैदा करता है, क्योंकि जहां समाज के कम उन्नत अंगों के आर्थिक हित के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के केन्द्रीय अवयवों को और अधिक कर्त्तव्य सौंपे जाएं, हालांकि उनके पास पहले ही इतने अधिक कर्त्तव्य हैं कि वे उनका उचित रूप से निष्पादन कठिनाई से ही कर सकते हैं, वहां मतदान की आधुनिक प्रणाली के अन्तर्गत

गठित संसद में उन्हें बहुमत प्राप्त करने में परेशानी पैदा होती है और ऐसी परिस्थिति में यह सम्भव है कि वे हताश होकर कुछ उच्छ ंखल असंविधानिक मार्गों का अनुचित मांगों के लिए चुनाव कर लें। ऐसी स्थिति में संविधानिक राज्य को इस कठिनाई का अनुभव करना पड़ेगा क्योंकि श्रमिकों के बहुमत में न होने के कारण भी उनका संगठित अल्मपत मांगों की पूर्ति के लिए जो असंवैधानिक कृत्य करेगा, वह समाज को पंगु बना सकता है और राज्य में फूट डाल सकता है।" इस प्रकार लोकतन्त्र का राजनीतिक समानता का सिद्धान्त की संविधानवाद के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

(5) **संविधान और संविधानिक सरकार द्वारा प्रदान की गई अधिक छूटें व स्वतन्त्रताएं (More Relaxations and Liberties provided by Constitution and Constitutional Goverment)** :- जिन देशों में लोगों को आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रताएं और दूसरी सुविधाएं प्रदान की जाती हैं, वहां पर नागरिक कई बार उनका अनुचित फायदा उठाने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए जिन देशों में प्रैस को अधिक स्वतन्त्रता दी गई है, वहां पर प्रैस कई बार अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके सरकार विरोधी वक्तव्य जारी करती रहती है। इससे सरकार के खिलाफ एक ऐसा जनमत तैयार हो जाता है कि सरकार के सामने दो ही विकल्प शेष रह जाते हैं कि या तो वह अपना पद छोड़ दे या सरकार विरोधी तत्वों को सख्ती से कुचल दे। इससे सरकार के सामने संविधानिक संकट व निरंकुशतावाद दोनों की समस्या पैदा होती है। लेकिन लोगों के आन्दोलन को सख्ती से दबाना संविधानवाद के हित में हो, यह आवश्यक नहीं है। दमन से संविधान और संविधानवाद दोनों को नुकसान पहुंचता है। इसलिए संविधानवाद शासन द्वारा जनता को आवश्यकता से अधिक छुट देने से सरकार विरोधी तत्व संविधान के आदर्शों को नुकसान पहुंचाने की चेष्टा करते हैं। इससे संविधानवाद को हानि पहुंचती है।

(6) **संवैधानिक शासन का स्थगन (Postponing the Constitutional Government)** :- कई बार आपात स्थिति में युद्ध या किसी अन्य संकट के समय अस्थायी रूप से संविधानिक शासन को स्थगित कर दिया जाता है। जैसे राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा के समय देश के शासक या सरकार द्वारा नागरिकों को दी जाने वाली सुविधाओं और अधिकारों को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है और युद्ध समाप्त होने या आपातस्थिति के टल जाने पर उन्हें फिर से उसी स्थिति में लौटा दिया जाता है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि आपातकाल में प्राप्त अधिकारों को शासक वर्ग फिर से विकेन्द्रित कर दे। जर्मनी और इटली में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हिटलर और मुसोलिनी ने राष्ट्रीय आपातकाल के नाम पर जो सुविधाएं जनता से ली थी, उन्हें वापिस नहीं की। लम्बे समय तक इन देशों ने अपने अपने देश की शासन की बागडोर निरंकुश शासकों के रूप में संभाली। इससे उन देशों में संविधानवाद को गहरा आघात पहुंचा। इसी तरह पाकिस्तान में जरनल मुशर्रफ ने भी शासन की बागड़ोर अपने हाथ में लेकर अब तक भी जनता को संवैधानिक शासन की स्थापना के अधिकार नहीं दिए हैं। अतः संवैधानिक शासन का स्थगन संविधानवाद के मार्ग में कई बार बहुत बड़ी बाध ा बन जाता है।

(7) **ग ह-युद्ध (Civil War)** :- जब किसी देश में किसी कारणवश ग ह युद्ध की शुरुआत होती है तो ऐसी स्थिति में संविधान विरोधी ताकतें सक्रिय हो जाती हैं और वे संविधानवाद के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन जाती हैं। संविधानिक सरकार को इन तत्वों को कुचलने के लिए ताकत का प्रयोग करना पड़ता है। कई बार ग ह-युद्ध को समाप्त करना सरकार के काबू से बाहर हो जाता है। ग ह-युद्ध में प्रायः सरकार विरोधी निरंकुश ताकतें ही अपने उद्देश्यों में कामयाब रहती हैं। ऐसी स्थिति में देश का शासन न तो संविधान के अनुसार ही चलाया

जा सकता है और न ही सरकार का रूप संविधानिक रहता है। अतः ग ह-युद्ध संविधानवाद के लिए बहुत बड़ी बाधा है।

संविधानवाद की समस्याओं या बाधाओं का निराकरण

(Eradication of the Problems of Constitutionalism)

यदि हमें संविधानवाद का लक्ष्य प्राप्त करना है तो इसके मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाओं का निराकरण करना आवश्यक हो जाता है। संविधानवाद की प्रमुख समस्याओं के समाधान के निम्नलिखित तरीके हैं :-

(1) सरकार को हर अवस्था में संविधान के आदर्शों व मूल्यों की रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे संविधानिक आदर्शों को हानि पहुंचती हो।

(2) राज्य व सरकार को अराजकता की स्थिति से निपटने में सक्षम होना चाहिए। यदि सरकार अराजकता से निपटने में असक्षम रहती है तो वह कभी भी संविधानवाद की रक्षा नहीं कर सकती। उसे अराजकता की स्थिति से निपटने के लिए प्रभुसत्तात्मक शक्तियां अपने पास सुरक्षित रखनी चाहिए ताकि अराजकता उत्पन्न करने वाली ताकतों का सफाया किया जा सके। लेकिन इस कार्य को करते समय सरकार को बड़ा सोच-समस्कर ही कदम उठाना चाहिए। जो सरकार अराजकता को समाप्त करने में असमर्थ रहती है, वह स्वयं भी अराजकता की पोषक बन जाती है और उसे किसी भी अवस्था में संवैधानिक नहीं माना जा सकता।

`(3) राजनीतिक दलों को लोगों को राजनैतिक शिक्षा देने का अपना उत्तरदायित्व पूरा करनाा चाहिए ताकि लोगों में जाग ति आए और वे न तो कोई असंवैधानिक कार्य करें और न दूसरे को करने की अनुमति दें। संविधानवाद के लिए शिक्षित व राजनीतिक रूप से जागरूक जनता से बढ़कर कोई दूसरा अस्त्र नहीं है।

(4) सरकार व राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिए कि जनता को यह विश्वास हो जाए कि शासक-वर्ग उनकी भलाई के लिए ही कार्य कर रहा है और वे अपने भाग्य के स्यवं निर्माता हैं। सरकार को संवैधानिक सत्ता का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि व्यक्तिगत अधिकारों का कोई नुकसान न हो। बहुमत को सदैव अल्पमत के हितों का ख्याल रखते हुए ही राज्य के अवयवों का गठन और विकास करना चाहिए। इससे संगठित अल्पमत के मन में शासन-सत्ता के प्रति विश्वास कायम होगा और वे असंवैधानिक मार्ग द्वारा अपनी मांगों के लिए आन्दोलन नहीं करेंगे। इसलिए राज्य व सरकार को प्रभुसत्ता की जटिल समस्याओं को ध्यान में रखकर ही कार्य करना चाहिए।

(5) संसदीय संस्थाओं के कार्यभार को कम करके संसदीय व्यवस्था को संविधानवाद के मार्ग में मित्र के रूप में खड़ा किया जा सकता है। जब तक संसदीय संस्थाओं के पास कार्य की अधिकता रहेगी, तब तक वे जनता के प्रति उदासीन ही बनी रहेंगी और उनका जनता से सम्पर्क टूटता जाएगा और असंवैधानिक मार्गों का द्वार खुल जाएगा। इसलिए स्ट्रांग ने कहा है-"एकात्मक राज्य भी अपने विधानमण्डलों के कार्यभार को इस तरह ईकाइयों में विभाजित कर दें कि उनके पास केन्द्रीय परियोजनाओं के लिए ही वे आवश्यक शक्तियां रह जाएं जो सामान्य हित के लिए आवश्यक है।" इसका अर्थ है-एकात्मक राज्य में संघीय राज्य का स जन करना। इसका सीधा सम्बन्ध विकेन्द्रीकरण से है। राष्ट्रीय महत्व के विषयों को छोड़कर केन्द्रीय सरकार को समस्त शक्तियां स्थानीय निकायों के पास विकेन्द्रित कर देनी

चाहिए। इससे जनता व जन-प्रतिनिधियों में निरन्तर सम्पर्क बना रहेगा और केन्द्रीय विधानमण्डलों का बोझ भी कम हो जाएगा। इससे प्रभुसत्ता का अर्थपूर्ण विकेन्द्रीयकरण हो सकेगा। यह सारी प्रक्रिया निश्चित योजना के अनुसार ही अमल में लाने में संविधानवाद की रक्षा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। स्ट्रांग ने लिखा है-"विकेन्द्रीकरण से केन्द्रीय विधानमण्डलों का अनावश्यक व असहनीय बोझ कम होगा, नौकरशाही के दोष दूर होंगे तथा जनता व प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाएगा।" इसमें स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं केवल मात्र स्थानीय संस्थाएं ही नहीं होंगी बल्कि वे संसद के साथ प्रभुसत्ता में भी हाथ बांटने वाली होंगी।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का विकास करके भी संविधानवाद का विकास किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने निरंकुशतावादी ताकतों पर जो दबाव बनाया है, वह संविधानवाद के रक्षक के रूप में कार्यरत है और इसने कई प्रकार से संविधानवाद की रक्षा की है। स्ट्रांग ने लिखा है-"अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राजनीतिक संविधानवाद की सुरक्षा की आवश्यक शर्त है।" इसलिए त तीय विश्वयुद्ध को टालने क लिए हमें अन्तर्राष्ट्रीयता को ही बढ़ावा देना चाहिए। संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना संविधानवाद के लिए बहुत बड़ा खतरा बन सकती है जैसा जर्मनी और इटली में हुआ था। अतः विश्व संघ या अन्तर्राष्ट्रीय संघों के विकास द्वारा ही संविधानवाद की रक्षा की जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि सरकार को जनवादी होना चाहिए ताकि संविधानिक शासन की स्थापना की जा सके। सरकार को हमेशा जन कल्याण के रास्ते पर ही चलना चाहिए ताकि जनता के मन में सरकार के प्रति विश्वास बना रहे और जनता की तरफ से उसे कोई खतरा उत्पन्न न हो सके। आज का युग लोकतन्त्रीय संविधानवाद का युग है। इसकी रक्षा जनता द्वारा ही की जा सकती है। जनता को सदैव यह विश्वास होना चाहिए कि सरकार व प्रशासन उनकी भलाई में ही कार्यरत है और उनकी सुख-सुविधाओं का पूरा ध्यान रखने में भी सक्षम है। जिस देश में यह राजनीतिक विश्वास शासक वर्ग के प्रति पाया जाता हो, वहां संविधानवाद को हिलाने वाली कोई शक्ति जन्म नहीं ले सकती। जिस देश में राजनीतिक परम्पराएं सुविकसित हो जाएं वहां संविधानवाद की जड़ें गहरी ही होती जाती हैं। वाटरगेट काण्ड को लेकर अमेरिका के राष्ट्रपति द्वारा त्यागपत्र दिया जाना पाश्चात्य या लोकतन्त्रीय संविधानवाद की द ढ़ता का प्रतीक है। आज संविधानवाद की रक्षा के लिए ऐसी ही राजनीतिक परम्पराओं की आवश्यकता है। इससे सरकार को संविधान ओर जनता के प्रति उत्तरदायी बनाकर संविधानवाद की रक्षा की जा सकती है। आज सीमित सरकार व मानव अधिकारों का सम्मान करके ही संविधानवाद का विकास किया जा सकता है। आज संविधानवाद के विकास व उसकी रक्षा के लिए आवश्यकता इस बात की है कि निरंकुशतावादी या अराजकतावादी तत्वों का सफाया करने में सरकार को सक्षम होना चाहिए और उसका स्वरूप जनवादी होना चाहिए। इसके अभाव में न तो संविधानवाद का विकास हो सकता है और न ही सरकार का स्वरूप संवैधानिक रह सकता है।

अध्याय-5

सरकार के रूप : एकात्मक व संघात्मक सरकार

(Forms of Government : Unitary and Federal)

प्रशासन की सुविधा के लिए राज्यों की शासन प्रणालियों को प्रान्तों व इकाइयों में बांटना आम बात है। आधुनिक युग में राज्यों के क्षेत्र व जनसंख्या इतनी विशाल है कि एक सरकार द्वारा उनका प्रशान चलाना असम्भव है। इसलिए प्रशासनिक सुविधा की द ष्टि से राज्यों को अनेक प्रान्तों व इकाइयों में बांटकर शासन-व्यवस्था को मजबूत व व्यवहारिक बनाया जाना आवश्यक हो गया है। आज विश्व के अधिकांश देशों में शासन को शक्तियों का बंटवारा केन्द्र व राज्य इकाइयों के बीच में पाया जाता है। शक्तियों का यह बंटवारा संविधानिक नियमों के तहत ही किया जाता है ताकि केन्द्र व राज्य इकाइयों में शक्ति-विभाजन व उसके व्यवहारिक प्रयोग में कोई कठिनाई न हो। जब शक्तियों का विभाजन न हो तो वहां केवल एक ही सरकार का मिलना स्वाभाविक है, ऐसी सरकार एकात्मक सरकार होती है। ऐसी सरकार बहुत ही कम देशों में है। संविधान द्वारा ऐसी सरकार को शक्तियों का स्वतन्त्र प्रयोग करने की छूट रहती है। इसके विपरीत शासन-शक्तियों के बंटवारे पर आधारित सरकार संघात्मक सरकार होती है। यद्यपि इस व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार को ही महत्वपूर्ण शक्तियां दी जाती हैं, लेकिन कुछ शक्तियां प्रान्तीय सरकारों को भी जाती है। इस व्यवस्था शक्तियों का बंटवारा स्पष्ट व व्यवहारिक होता है। प्रान्तीय सरकारें अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में स्वतन्त्र होती हैं। इस प्रकार एकात्मक सरकार में तो शासन की समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास तथा संघात्मक सरकार में ये शक्तियां केन्द्र व प्रान्तों में बंटी होती है।

एकात्मक सरकार : अर्थ व परिभाषा

(Unitary Govt. : Meaning and Definition)

एकात्मक सरकार के अन्तर्गत शासन की सारी शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास ही केन्द्रित रहती हैं। सारे देश में एक कार्यपालिका, एक विधायिका व एक न्यायपालिका ही होती है। यद्यपि उनको केन्द्रीय सरकार द्वारा कोई महत्वपूर्ण शक्ति नहीं दी जाती। यदि कोई शक्ति दे भी जाती है तो वे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में ही कार्य करती है। उन्हें उन शक्तियों का स्वतन्त्र प्रयोग करने की छूट नहीं होती। इस प्रकार इन सरकारों की कोई प थक व स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इन सरकारों की शक्तियों का स्त्रोत संविधान की जगह केन्द्रीय सरकार की होती है। प्रान्तीय या प्रादेशिक सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि बनकर ही कार्य करती हैं और देश के शासन संचालन में सहयोग देती हैं। एकात्मक सरकार अपने को प्रांतीय व प्रादेशिक सरकारों पर कम से

निर्भर बनाने की कोशिश करती है ताकि उसकी अखण्डता को कोई खतना उत्पन्न न हो। ब्रिटेन में इस प्रकार की ही सरकार है। फ्रांस व चीन में भी ऐसी ही सरकारें हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस देश में शासन की सारी शक्तियां एक ही हाथ में हों तो वह एकात्मक सरकार होती है। एकात्मक सरकार को कुछ विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) विलोबी के अनुसार-"एकात्मक सरकार में प्रथम बार तो सारी शक्तियां केन्द्रीय सरकार को दे दी जाती हैं और वह सरकार जिस प्रकार उचित समझे, इन शक्तियों का विभाजन स्वतन्त्र रूप से प्रादेशिक सरकारों में कर सकती है।"

(2) डॉयसी के अनुसर-"एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा शासन की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"

(3) सी०एफ० स्ट्रांग के अनुसार-"एकात्मक राज्य वह राज्य है जो एक केन्द्रीय शासन में संगठित हो अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रबन्ध में बनाए गए विभिन्न जिलों की शक्तियों को केन्द्रीय सरकार की इचछानुसार संगठित व संचालित करे और केन्द्रीय शक्ति सम्पूर्ण क्षेत्र में अपने प्रदेशों को विशेषाधिकार देने वाले किसी भी कानून से सीमित न होकर सर्वोच्च रहे।"

(4) फाइनर के अनुसार-"एकात्मक शासन वह होता है जहां एक केन्द्रीय सरकार में सम्पूर्ण शासन शक्ति निति होती है और उसकी इच्छा तथा अधिकार सारे क्षेत्र पर कानूनी रूप से सर्वशक्तिमान होते हैं।"

(5) गार्नर के अनुसार-"एकात्मक सरकार वहां होती है, जहां संविधान द्वारा सरकार की समस्त शक्तियां अकेले केन्द्रीय अंग या अंगों को दे दी जाएं और स्थानीय सरकारें अपनी शक्तियां, स्वतन्त्रता व अस्तित्व केन्द्रीय अंग या अंगों से ही प्राप्त करें।"

एकात्मक शासन का व्यवहारिक रूप

(Practicability of Unitary Government)

एकात्मक सरकार ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, इटली, जर्मनी व चीन आदि देशों में है। ब्रिटेन में स्थानीय संस्थाएं भी हैं, लेकिन उन्हें स्वतन्त्रता व शक्तियां संसद के सामान्य कानूनों द्वारा ही प्राप्त हुई हैं। वहां पर केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सरकारों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कराने का अधिकार प्राप्त है। काऊण्टी बरो, काउण्टी कौंसिन्स, म्युनिसिपल बरो, शहरी व ग्रामीण जिले, पेरिश आदि स्थानीय संस्थाएं केन्द्रीय सरकार के ही नियन्त्रण में हैं। फ्रांस में भी ब्रिटेन की तरह ही शासन प्रणाली को अपनाया गया है। सारे फ्रांस को प्रान्तों (डिपार्टमेण्टस) में बांटा गया है। प्रत्येक प्रान्त के अन्तर्गत अनेक ऐरानडाइमेण्ट्स तथा कम्यून हैं। ये सभी सरकारें केन्द्रीय सरकार के ही अधीन हैं। इनके अधिकारों व शक्तियों को संसद जब चाहे वापिस ले सकती है। इसी तरह चीन, इटली, जापान व जर्मनी आदि देशों में भी प्रादेशिक या स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकारों के अधीन हैं। उनकी स्वायत्तता संसदीय कानूनों पर निर्भर है। संविधानिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत उन्हें कोई अधिकार या शक्तियां नहीं दी गई हैं।

एकात्मक सरकार की विशेषताएं

(Features of Unitary Government)

एकात्मक सरकार या शासन की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं :-

(1) एकात्मक शासन में शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है। यद्यपि प्रशासन की सुविधा के लिए राज्यों को प्रान्तों व इकाइयों में भी बांटकर कुछ शक्तियां केन्द्रीय सरकार द्वारा उन्हें दी जाती हैं, लेकिन केन्द्रीय सरकार जब चाहे उन शक्तियों को वापिस ले सकती है। इसका अर्थ यह

है कि एकात्मक सरकार के पास शासन की सारी शक्तियां केन्द्रीत होती हैं। अपनी शक्तियों का बंटवारा प्रादेशिक सरकारों को भी करने में स्वतन्त्र व सक्षम होती है।

(2) एकात्मक शासन में प्रभुसत्तात्मक शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास ही रहती हैं, इसमें इकाइयों को प्रभुसत्तात्मक शक्तियां नहीं दी जाती।

(3) एकात्मक शासन में एकल या इकहरी नागरिकता पाई जाती है। इसमें केन्द्र व प्रान्तों के लिए अलग-अलग या दोहरी नागरिकता का प्रावधान नहीं होता।

(4) एकात्मक सरकार में एक ही कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका होती है। प्रान्तों या इकाइयों की कोई कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका नहीं होती।

(5) एकात्मक शासन में संविधान लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। संविधान का होना एकात्मक सरकार को औचित्यता प्रदान करता है और शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में करके प्रादेशिक सरकारों से उसकी रक्षा भी करता है। लिखित संविधान का होना एकात्मक शासन को वैधता प्रदान करता है। ब्रिटेन में यह संविधान अलिखित है, जबकि फ्रांस में लिखित है।

(6) एकात्मक शासन में संविधान का स्वरूप लचीला या कठोर दोनों प्रकार का हो सकता है।

इस प्रकार शक्तियों का केन्द्रीयकरण, केन्द्रीय संसद की सर्वोच्चता, समान प्रभुसत्ता वाले निकायों का अभाव, इकहरी नागरिकता, इकहरा शासन, लिखित या अलिखित कठोर या लचीला संविधान एकात्मक सरकार या शासन की प्रमुख विशेषताएं हैं।

एकात्मक सरकार के गुण

(Merits of Unitary Government)

आज बदलते परिवेश में प्रभुसत्ता सम्पन्न एकात्मक सरकार का होना अनिवार्य हो गया है। संकटकालीन परिस्थितियों में तो एकात्मक सरकार के विचार को और अधिक बल मिलता है। इसलिए अनेक विद्वान एकात्मक सरकार को आधुनिक युग में सफलता का ताज कहते हैं। इसका प्रमुख कारण एकात्मक सरकार का उपयोगी होना है। एकात्मक सरकार के निम्नलिखित लाभ होते हैं :-

(1) **राष्ट्रीय एकता (National Unity)** :- इकहरी नागरिकता के कारण नागरिकों के हित की भावना बढ़ती है। देश में एक सा कानून, एक सी न्याय व्यवस्था तथा एक सा शासन प्रबन्ध ा राष्ट्रीय एकता में व द्धि करता है। एकात्मक शासन में देश के प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार व स्वतन्त्रताएं प्राप्त होने के कारण मतभेदों के उत्पन्न होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

(2) **संकटकाल के लिए उपयुक्त (Suitable in time of Emergency)** :- संकटकालीन परिस्थितियों के आवश्यक निर्णय लेने के लिए शक्तिशाली केन्द्र का होना अत्यन्त आवश्यक है। एकात्मक शासन व्यवस्था ऐसी ही शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करके संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने में सक्षम होती है। इसमें केन्द्रीय सरकार को प्रादेशिक सरकारों से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती। देश हित के सारे निर्णय केन्द्रीय सत्ता द्वारा ही स्वतन्त्रतापूर्वक लिए जाते हैं।

(3) **दक्ष एवं कार्यकुशल प्रशासन (Efficient Administration)** :- एकात्मक शासन व्यवस्था में समस्त नीतियां व निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा ही लिए जाते हैं। इससे प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने में अधिक सुविधा रहती है। प्रशासनिक अधिकारियों को अपने अधिकार क्षेत्र का स्पष्ट ज्ञान रहने के कारण प्रशासन में दक्षता व कार्यकुशलता के गुण का भी समावेश

हो जाता है। इसमें केन्द्र व प्रान्तों में नीति सम्बन्धी गतिरोध पैदा नहीं होते और केन्द्र की सरकार की नीतियों व निर्णयों को मानना प्रान्तों के लिए बाध्यकारी होता है। इसमें निर्णय लेने व लपगू करने के बीच ज्यादा अन्तर न होने के कारण कुशल शासन का जन्म होता है।

(4) **लचीला शासन** (Flexible Government) :- एकात्मक शासन में संविधान अधिक कठोर नहीं होता। इसमें कोई नया कानून बनाते समय या संविधान में आवश्यक संशोधन करत समय प्रांतीय सरकारों की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। विलोबी ने संविधान के लचीलेपन को एकात्मक शासन की सफलता का आधार माना है। इसलिए यह शासन प्रणाली संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने में अधिक उपयुक्त है।

(5) **शक्तिशाली शासन** (Strong Administration) :- एकात्मक शासन का यह एक प्रमुख गुण है कि इसमें शासन शक्तिशाली होता है। शासन की सारी शक्तियां केन्द्रीय सरकार में निहित होने के कारण कानूनों को बनाने व उन्हें लागू करने का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही होता है। प्रान्तीय सरकारें केन्द्र के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य होती हैं। इससे देश में आन्तरिक झगड़ों की सम्भावना नहीं रहती। शक्तिशाली शासन प्रभावकारी विदेश नीति का भी जन्मदाता होता है।

(6) **सरल शासन** (Simple Administration) :- एकात्मक शासन प्रणाली में शासन का संगठन बहुत सरल होता है। इसमें न तो दोहरी शासन व्यवस्था होती है और न दोहरी नागरिकता। संविधान भी सीदे-सादे कानूनों का व्यवस्थापक होता है। कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी अपने देश के शासन के बारे में आसानी से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमं उलझाव वाली कोई संविधानिक व्यवस्था नहीं होती।

(7) **कम खर्चीला शासन** (Less expensive Administration) :-एकात्मक शासन में एक ही विधायिका, ाकर्यपालिका व न्यायपालिका होने के कारण प्रांतीय सरकारों के ऊपर होने वाला खर्च बच जाता है। इसमें प्रान्तों के लिए अलग विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका नहीं होती हैं। संघात्मक सरकारों में होने वाली दोहरे खर्च की तुलना में एकात्मक सरकारों की व्यवस्था अधिक लाभकारी होती है।

(8) **छोटे देशों के लिए उपयुक्त** (Best suited to small countries) :- यह शासन प्रणाली उन देशों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है जो जनसंख्या व भूभाग की द ष्टि से छोटे हैं और अधिक विकसित नहीं हैं। जापान व इटली द्वारा इसको अपनाने का प्रकुख कारण उनकी कम जनसंख्या व छोटा आकार होना है। यह उन देशों के लिए भी उपयुक्त है जो बड़े बड़े मन्त्रिमण्डलों का भार वहन करने में सक्षम नहीं है और आर्थिक द ष्टि से कमजोर है।

(9) **शासन की एकता** (Uniformity in government) :- इस शासन प्रणाली में एक कार्यपालिका होने से सारे देश के लिए एक जैसे कानूनों का निर्माण होता है और कानूनों को लागू करने वाली तथा प्रशासन चलाने वाली कार्यपालिका भी एक ही होती है। देश में समान कानून संहिता होने से प्रशासनिक एकता बनी रहती है और शासन मे सुचारूपन पैदा होता है।

(10) **संघर्ष या मतभेदों का अभाव** (Lack of Contradictions) :- एकात्मक शासन में शक्ति-विभाजन से उत्पन्न होने वाली समंस्याएं जन्म नहीं ले सकती। इसमें प्रान्तीय सरकारों को यह शिकायत नहीं रहती कि उन्हें कम शक्तियां दी गई हैं। इसलिए प्रान्तों व केन्द्र के बीच उत्पन्न होने वाले झगड़े एकात्मक शासन में पैदा नहीं होते और शासन सुचारु ढंग से बिना गतिरोध के चलता रहता है।

(11) **मजबूत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व विदेश नीति में सहायक** (Helpful for strong International relations and Foreign Policy) :- स्वतन्त्र व मजबूत विदेश नीति आधुनिक

परिस्थितियों में बहुत आवश्यक है। आन्तरिक रूप से मजबूत शासन व्यवस्था वाला देश विदेशी सम्बन्धों को भी मजबूत बनाने में सफल रहता है। आज सफल विदेशी सम्बन्धा के लिए शक्तिशाली केन्द्रीय शासन व स्थिर सरकार का होना आवश्यक है। उत्तरदायी व निर्णय लेने में सक्षम सरकार ही विदेश नीति व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में त्वरित निर्णयों के माध्यम से मजबूती ला सकती है। एकात्मक सरकार ही विदेश नीति पर संघात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक निश्चिन्त व द ढ़ निर्णय ले सकती है और अपनी योजनाओं को कार्यरूप दे सकती हैं।

(12) **उत्तरदायी सरकार (Responsible government)** :- एकात्मक सरकार समस्त निर्णयों व नीतियों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होती है। अपनी नीतियों व निर्णयों की असफलता का श्रेय वह दूसरों को नहीं दे सकती। हर क्षेत्र में प्रभुसत्तासम्पन्न होने के कारण वह प्रत्येक निर्णय लेने में सक्षम होती है। प्रान्तीय सरकारों के पास प्रभुसत्तासम्पन्न शक्तियों का अभाव एकात्मक शासन प्रणाली को अधिक उत्तरदायी बनाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकात्मक शासन प्रणाली कुशल और प्रभावी शासन का प्रतिबिम्ब होती है। समान कानून संहिता के कारण देश में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने व राष्ट्रीय एकता में व द्धि करने में ऐसी ही सरकार सहायक होती है। यह शासन व्यवस्था शक्ति-विभाजन जनित दुर्बलताओं से मुक्त होने के साथ सरल व स्पष्ट है। इसे देश का आम नागरिक भी समझ सकता है। प्रभुसत्तात्मक शक्तियों का विभाजन न होने के कारण यह केन्द्रीय सरकार के मार्ग-निर्देशन में सफल विदेश नीति के निर्माण व प्राप्ति में भी बहुत मददगार है। जिन देशों की जनसंख्या कम है या भौगोलिक द ष्टि से क्षेत्रफल कम है तो उन देशों के लिए यह शासन प्रणाली सबसे उपयुक्त है। संक्षेप में यह शासन प्रणाली संघात्मक शासन प्रणाली के सभी दोषों से मुक्ति प्रदान करती है।

एकात्मक शासन या सरकार के दोष

(Demerits of Unitary Govt.)

यद्यपि एकात्मक शासन व्यवस्था विशेष रूप से छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त रहती है। यह विकासशील देशों व आर्थिक रूप से कमहोर देशों के लिए भी उपयुक्त हो सकती है। लेकिन फिर भी यह दोषों से मुक्त नहीं है। इस पर निम्नलिखित आपेक्ष लगाये जाते हैं :-

(1) शासन की समस्त शक्तियां केन्द्र के पास होने के कारण यह केन्द्रीय सरकार की तानाशाही स्थापित करती है।

(2) केन्द्रीय सरकार की निरंकुशता के कारण यह प्रान्तीय व प्रादेशिक सरकारों के व्यक्तित्व व स्वतन्त्रता को कुचलने वाली है।

(3) इससे केन्द्रीय अवयवों के पास कार्य का अनावश्यक बोझ बढ़ जाता है। कई बार कम महत्व के मामलों पर भी केन्द्रीय सरकार को ही अनावश्यक समय बर्बाद करना पड़ता है।

(4) यह शासन प्रणाली स्थानीय समस्याओं का उपयुक्त हल तलाशने में प्रायः असफल ही रहती हैं।

(5) यह नौकरशाही की पोषक है। धीरे धीरे एकात्मक सरकार सरकारी निरंकुशता का रूप ले लेती है।

(6) यह प्रणाली बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। इसी कारण भारत रूस, अमेरिका आदि देशों में इस शासन प्रणाली को नहीं अपनाया गया है।

(7) इस शासन प्रणाली में जनता को सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि दिखाने का अवसर नहीं मिलता। गार्नर ने कहा है कि इससे स्थानीय शासन का महत्व व उपयोगिता का नाश होता

है। इससे जन-चरित्र का ह्रास भी होता है।

(8) शक्तियों का केन्द्रीयकरण जनतन्त्रीय भावनाओं को कुचलता है। जन-आस्थाओं के विकास के लिए शक्तियों का विकेन्द्रीयकरण अपरिहार्य है।

(9) इसके शासन व आम जनता के प्रति दूरियां इतनी बढ जाती हैं कि कई बार ये राजनीतिक व्यवस्था के पतन का कारण भी बन जाती है। जनता की राजनीतिक सहभागिता में आने वाली कमी लोगों को राजनीतिक रूप में जागरूक बनाने में बाधक बन जाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकात्मक शासन में अनेक दोष हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका कोई महत्व नहीं है। यह व्यवस्था छोटे देशों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिए एकात्मक शासन से अच्छा व प्रभावी विकल्प दूसरा नहीं हो सकता। सफल विदेश नीति के संचालन के लिए भी यह शासन प्रणाली आधुनिक युग में अपरिहार्य है। यदि एकात्मक शासन प्रणाली के दोषों को कुछ सीमा तक नियन्त्रित कर दिया जाए तो इससे सर्वोत्तम शासन प्रणाली अन्य नहीं हो सकती। इसको महत्वपूर्ण साबित करने के लिए यही तथ्य पर्याप्त है कि आज भी यह शासन प्रणाली ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, चीन, जापान आदि देशों में अच्छा कार्य कर रही है।

संघात्मक सरकार

(Federal Government)

संघात्मक सरकार संघवाद की अवधारणा पर आधारित है। संघवाद की जड़ें प्राचीन समय में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। आधुनिक समय में संघवाद का सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका में है। विश्व निरन्तर संघवाद की ओर प्रगति कर रहा है। यद्यपि 1991 में सोवियत संघ के विघटन से संघवाद को करारा झटका लगा है, लेकिन विश्व में संघवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें आसानी से उखाड़ना असम्भव है। आज भारत, स्विट्जरलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, युगोस्लाविया, अमेरिका आदि देशों में संघवाद अपनी चरम सीमा पर है।

संघात्मक सरकार का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Federal Government)

संघात्मक सरकार की अवधारणा 'संघ' शब्द पर आधारित है। अंग्रेजी भाषा में संघ शब्द के लिए 'Federation' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'Foedus' से निकला है, जिसका अर्थ है - सन्धि या समझौता। इस तरह शाब्दिक द ष्टिकोण से संघात्मक सरकार समझौते पर निर्मित सरकार है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक इकाइयां कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक केन्द्रीय सरकार का गठन करते हैं और शेष विषयों में अपनी अपनी अलग स्वतन्त्र सत्ता कायम रखते हैं। केन्द्रीय सरकार ही सम्पूर्ण देश का शासन चलाती है। इसके रहते हुए भी प्रान्तीय या प्रादेशिक सरकारों की स्वतन्त्रता का लोप नहीं होता है। केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों में शक्तियों का विभाजन संविधान रूपी समझौते के तहत ही होता है। प्रत्येक सरकार अपने अपने क्षेत्रों में सर्वशक्तिमान होती है। प्रायः दोनों ही सरकारें एक दूसरे के क्षेत्राधिकार में प्रवेश से बचने का हर सम्भव प्रयास करती रहती हैं। दोनों सरकारों का अस्तित्व संविधानिक प्रावधानों पर आधारित होता है। संघात्मक सरकार दोहरी सरकार होती है। इसमें केन्द्रीय सरकार के साथ साथ प्रान्तीय सरकारें भी होती हैं। प्रान्तीय सरकारों को अलग अलग विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका होती हैं। ऐसी सरकार में संविधान ही सर्वोच्च होता है। दोनों सरकारें को संविधान की मर्यादाओं के अन्तर्गत ही देश का शासन चलाना होता है।

इस प्रकार संघात्मक शासन वह होता है जहां संविधान के द्वारा शक्तियां केन्द्र और प्रान्तों में बंटी होती हैं और दोनों अपने कार्यों में स्वतन्त्र होते हुए भी संघात्मक शासन की सफल्ता के लिए सह-अस्तित्व की भावना के आधार पर कार्य करते हैं। अनेक विद्वानों ने संघात्मक सरकार को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) फाईनर के अनुसार-"संघात्मक शासन वह है जिसमें सत्ता एवं शक्ति का एक भाग संघीय इकाइयों या प्रान्तों में निहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में निहित होता है जो क्षेत्रीय इकाइयों द्वारा जानबूझकर संगठित की जाती है।"

(2) मॉण्टेस्क्यू के अनुसार-"सघात्मक सरकार एक ऐसा समझौता है जिसके द्वारा बहुत से एक जैसे राज्य एक बड़े राज्य के सदस्य बनने को सहमत हो जाते हैं।"

(3) डॉयसी के अनुसार-"संघवाद एक राजनीतिक समझौता है जिसके अनुसार राज्य के अधिकारों को सुनिश्चित करने के साथ-साथ सारे राष्ट्र की एकता को भी स१निश्चित किया जाता है।"

(4) गार्नर के अनुसार-"संघात्मक सरकार एक ऐसी प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक सामान्य प्रभुसत्ता के अधीन होती है। यह सरकारें अपने अपने निश्चित क्षेत्र में सर्वोच्च होती हैं। उनका कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा ही निश्चित किया जाता है।"

(5) के०सी० व्हीयर के अनुसार-"संघ शासन का अर्थ एक ऐसी पद्धति है जिसके सामान्य और प्रादेशिक शासकों में सामंजस्य होते हुए भी वे अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हैं।"

(6) सी०एफ० स्ट्रांग के अनुसार-"संघ राज्य एक ऐसी राजनीतिक योजना है जिसका उद्देश्य राज्यों के अधिकारों का राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। अर्थात् संक्षेप में ऐसा शासन जिसमें विधायिनी सत्ता केन्द्रीय या संघीय शक्ति और ऐसी लघुत्तर इकाईयों में विभाजित रहती है जो अपनी शक्ति की पूर्णता के अनुसार राज्य या प्रान्त कहलाती है।"

(7) डेनियल जे० एलाजारा के अनुसार-"संघीय व्यवस्था अलग-अलग राजनीतिक इकाइयों को एक ऐसी ब हत्तर राजनीतिक व्यवस्था में संगठित व एकताबद्ध करती है जिसमें हर राजनीतिक इकाई अपनी आधारभूत राजनीतिक अखण्डता से युक्त रहती है।"

(8) कोरी एवं अब्राहम के अनुसार-"संघवाद सरकार एक ऐसा दोहरापन है जो विविधता के साथ एकता का समन्वय करने की द ष्टि से शक्तियों के प्रादेशिक व प्रकार्यात्मक विभाजन पर आधारित होता है।"

(9) नाथन के अनुसार-"संघात्मक राज्य छोटे छोटे राज्यों का एक योग होता है जिसमें प्रत्येक अपनी प थक सत्ता का रखते हुए परिभाषित समान उद्देश्य के लिए संघ के रूप में एक दूसरे से मिलते हैं जो कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में विघटनशील नहीं हैं।"

(10) जैलिनेक के अनुसार-"एक संघात्मक कई राज्यों के मेल से बना हुआ एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है जो अपनी शक्ति संघ को बनाने वाले राज्यों से प्राप्त करता है, क्योंकि संघ के प्रति वे राज्य इस तरह बंधे होते हैं कि एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न संस्था का निर्माण हो जाता है।"

(11) हैमिल्टन के अनुसार-"संघात्मक शासन राज्यों का एक समुदाय है जो एक नए राज्य का निर्माण करता है।"

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संघात्मक शासन प्रणाली ऐसी प्रणाली होती है जिसमें शक्तियों का विभाजन केन्द्र व इकाइयों के मध्य संविधान या कानूनी सीमाओं के अन्तर्गत किया जाता है। अपने अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र होते हुए भी केन्द्र व

इकाइयां देश के संविधान के प्रति उत्तरदायी होते हैं। एक दूसरे के अधीन न होकर भी केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारें एक दूसरे की समन्वयक बनी रहती हैं और संघात्मक सरकार के सारे उद्देश्य आसानी से प्राप्त कर लिए जाते हैं।

संघ और परिसंघ में अन्तर

(Difference between Federation and Confederation)

संघात्मक शासन व्यवस्था परिसंघात्मक और एकात्मक शासन के बीच की व्यवस्था है और परिसंघात्मक शासन व्यवस्था एकात्मक शासन के पूर्णतयाः विपरीत व्यवस्था है। परिसंघात्मक सरकार स्वतन्त्र राज्यों ने कुछ महत्वपूर्ण मामलों में कुशल सहयोग को सम्भव बनाने के लिए परिसंघ में शामिल होने वाले राज्यों के आपसी समझौते का ही परिणाम होती हैं। इसमें राज्य शक्ति के अनेक स्वतन्त्र केन्द्र होते हैं और उन्हें मौलिक सत्ता भी प्राप्त रहती है। सामूहिक सुरक्षा, आर्थिक सहयोग आदि के लिए कुछ शक्तियां राज्य सरकारों द्वारा परिसंघ सरकार को दे दी जाती है। परिसंघात्मक सरकार की शक्तियां संविधानिक सत्ता को देन नहीं होती हैं। इस सरकार का राज्य सरकारों से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही रहता है। परिसंघात्मक सरकार का अस्तित्व भी राज्य सरकारों की इच्छा पर ही निर्भर करता है। यह सरकार राज्य सरकारों की सेविका बनकर कार्य करती है, स्वामी बनकर नहीं। यह सरकार राज्य सरकारों के समानान्तर भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत संघात्मक सरकार एकात्मक और परिसंघात्मक शासन व्यवस्थाओं के बीच की कड़ी है। इसमें राज्य व केन्द्रीय सरकार की शक्तियों का स्त्रोत संविधान होता है। दोनों की प थक प थक शक्तियां व स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। इसमें राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के अस्तित्व को चुनौती नहीं दे सकती। इस सरकार की प्रमुख विशेषता यह है कि एकात्मक तथा परिसंघात्मक सरकार से अलग होते हुए भी दोनों की विशेषताओं को समेटे हुए हैं। इन दोनों सरकारों में निम्नलिखित अन्तर हो सकते हैं :-

(1) परिसंघात्मक सरकार अस्थाई होती है क्योंकि इसका निर्माण संघात्मक इकाइयों द्वारा निश्चित उद्देश्यों के लिए स्वेच्छा से किया जाता है। निश्चित उद्देश्यों को पूरे करने के बाद ये सरकारें या तो विघटित हो जाती हैं या संघ राज्य की ओर उन्मुख हो जाती हैं। इसके विपरीत संघात्मक सरकार स्थाई होती है। इसका निर्माण दीर्घकालीन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संविधानिक व्यवस्था के तहत किया जाता है।

(2) संघात्मक शासन में इकाइयां स्वतन्त्र व प्रभुसत्तासम्पन्न नहीं होती। इसमें केन्द्रीय सरकार या संविधान ही सर्वोच्च सत्ता का स्वामी होता है। संघ निर्माण के बाद सम्प्रभु शक्तियां इकाइयों द्वारा केन्द्रीय सरकार को ही सौंप दी जाती है। इसके विपरीत परिसंघात्मक सरकार प्रभुसत्ता से विहीन होती है, क्योंकि वास्तविक सम्प्रभुता तो समझौता करने वाली इकाइयों के पास ही रह जाती है।

(3) संघात्मक शासन में एक राष्ट्रीयता व एक राष्ट्र का गुण पाया जाता है, जबकि परिसंघात्मक शासन में राष्ट्रीयता व पूर्ण राष्ट्र का अभाव पाया जाता है, क्योंकि समझौता करने वाली इकाइयां वास्तविक प्रभुसत्ता का त्याग नहीं करती और न ही अपनी राष्ट्रीयता परिसंघ को देती है।

(4) संघात्मक सरकार में दोहरी नागरिकता, दोहरी सरकार आदि तथ्यों का समावेश होता है, जबकि परिसंघात्मक सरकार में नागरिकता व संघीय सरकार का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

(5) संघात्मक सरकार की स्थापना का आधार संविधान होता है, जबकि परिसंघात्मक सरकार की स्थापना का आधार संघात्मक इकाइयों द्वारा परस्पर किया जाने वाला समझौता या सन्धि होती है।

(6) संघात्मक सरकार का निर्माण साधारण परिस्थितियों में होता है, जबकि परिसंघात्मक सरकार का जन्म असाधारण या बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा जैसे कारणों की देन है।

(7) संघात्मक शासन में नए नए कानूनों का निर्माण होता रहता है, जबकि परिसंघात्मक शासन व्यवस्था में पहले वाले कानून ही प्रभावी रहते हैं। यह शासन अपने को परिवर्तनशील व गतिशील बनाने में समर्थ नहीं हैं। ऐसा गुण तो संघात्मक शासन में है जो संविधान संशोधनों के द्वारा अपने को गतिशील व प्रासंगिक बनाए रखता है।

(8) परिसंघात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार की शक्तियां सीमित प्रकृति की होती हैं, क्योंकि उन्हें राज्य सरकारों द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में केन्द्रीय सरकार की शक्तियां व्यापक होती हैं, क्योंकि ये स्वतन्त्र रूप में संविधान द्वारा प्रदत्त हैं।

संघात्मक शासन के आधारभूत सिद्धान्त

(Basic Principles of Federal Govt.)

संघात्मक शासन संघात्मक संविधान तथा संघात्मक सरकार की अवधारणा पर आधारित है। संघात्मक संविधान वह होता है जिसमें केन्द्रीय व राज्य सरकारों की शक्त्यिों का विभाजन इस प्रकार किया जाता है जिससे दोनों सरकारों की स्वतन्त्रता बरकरार रहती है। विभाजन के साथ साथ यह दोनों सरकारों की शक्तियों का स्त्रोत भी होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहां संघात्मक संविधान हो, वहां संघात्मक सरकार भी होगी। संघात्मक सरकार तो वही हो सकती जहां केन्द्रीय सरकार व प्रादेशिक सरकारों की शक्तियों का ऐसा विभाजन हो कि व्यवहार में प्रत्येक सरकार एक दूसरे के बराबर व स्वतन्त्र हो। यही संघात्मकता का सिद्धान्त है। लेकिन आज अनेक सरकारें इस सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरती इसलिए उनके संघात्मक यहोने पर शक किया जाता है। लेकिन उदारीकरण का प्रभाव अब संघात्मक शासन व्यवस्था पर भी पड़ने लगा है, इसलिए अब संघात्मकता के सिद्धान्त का भी आधुनिकीकरण हो रहा है। आज प्रत्येक देश में संघात्मक सरकार या शासन को सुनिश्चित करने वाले कुछ सिद्धान्त या मापदण्ड निम्नलिखित हैं :-

(1) **सर्वोच्च, लिखित व कठोर संविधान** (Supreme, Written and Rigid Constitution) :- संघात्मक शासन में संविधान का लिखित होना बहुत आवश्यक है ताकि केन्द्र और प्रान्तों में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया जा सके। यदि संविधान लिखित नहीं होगा तो दोनों सरकारों में क्षेत्राधिकार या शक्तियों के बंटवारे तथा प्रयोग सम्बन्धी गतिरोध व झगड़े जन्म लेते रहेंगे। इसी तरह शक्तियों के विभाजन को अमली जामा पहनाने तथा राजनीतिक व्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के लिए संविधान का सर्वोच्च होना भी आवश्यक है। जिस शासन व्यवस्था में संविधान के अनुसार कानूनों व नियमों का निर्माण नहीं होता हो, वह व्यवस्था संघात्मक व्यवस्था नहीं हो सकती। सर्वोच्च संविधान ही सत्ता के रूप में अपने नियमों को राज्य व केन्द्रीय सरकारों पर थोप सकता है और उन्हें व्यावहारिक रूप दे सकता है। कोई भी सरकार या संस्था संविधान से ऊपर नहीं हो सकती। संविधान का उल्लंघन करने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता। भारत व अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता का पालन किया गया है। इसलिए वहां संघवाद सफल रहा है। संविधान की सर्वोच्चता के साथ-साथ संविधान का अचल या कठोर होने भी आवश्यक है। कठोर संविधान के होने से कोई भी सरकार सरलता से न तो कानून में परिवर्तन कर सकती है और न नए कानून का निर्माण कर सकती है। यदि किसी सरकार को संविधान में संशोधन का एकतरफा अधिकार दिया गया तो उससे संघात्मकता को गहरा आघात पहुंच सकता है। डॉसयी ने संविधान की अटलता व अपरिवर्तनशीलता का ही समर्थन किया हे। अमेरिका में संविधान की कठोरता के

कारण ही वहां संघवाद अधिक प्रभावी है। इस प्रकार संविधान का लिखित, कठोर व सर्वोच्च रूप ही संघवाद का आधारभूत सिद्धान्त है। इसके अभाव में किसी भी देश में संघात्मक शासन या सरकार की स्थापना नहीं की जा सकती।

(2) **शक्तियों का विभाजन** (Distribution of Powers) :- संघात्मक शासन की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के बीच संविधान द्वारा स्पष्ट तौर पर शक्तियों का बंटवारा लिखित रूप में किया जाए। संघात्मक सरकार की स्थापना वहीं हो सकती है जहां शक्तियों का विभाजन केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के बीच में होता है। इसमें राष्ट्रीय महत्व के विषय तो केन्द्रीय सरकार को तथा कम व गौण महत्व के विषय प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्राधिकार में आ जाते हैं। इस विभाजन का उद्देश्य यही होता है कि दोनों सरकारें अपने अपने क्षेत्रों में सीमित रहें और एक दूसरे के क्षेत्राधिकार में अनावश्यक हस्तक्षेप करके संघ को कोई हानि न पहुंचाएं स्ट्रांग का कहना है कि "शक्ति विभाजन का लक्ष्य यह होता है कि संघ तथा संघ निर्मात्री इकाइयां अपने अपने क्षेत्रों में सीमित हैं और उनमें से कोई भी सर्वोच्च नहीं है।" अमेरिका में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया है। इसलिए संघवाद के लिए शक्तियों का स्पष्ट व लिखित बंटवारा होना भी जरूरी है। इसके बिना संघात्मक शासन को सफल नहीं बनाया जा सकता।

(3) **दोहरी नागरिकता** (Double Citizenship) :-संघवाद में दोहरी नागरिकता का प्रावधान होता है। इसमें नागरिकों को एक तरफ तो सारे देश की नागरिकता प्राप्त होती है और दूसरी तरफ उस इकाई या प्राप्त की नागरिकता प्राप्त होती है, जिसमें वह रहता है। उदाहरण के लिए भारत में हरियाणा में रहने वाले नागरिक को एक तो भारत का नागरिक कहा जाता है और दूसरी ओर हरियाणा का नागरिक माना जाता है। यह नागरिकता प्रत्येक संघात्मक शासन व्यवस्था में दोहरी ही होती है। इससे नागरिकों की दोहरी राजभक्ति का आभास होता है। संघात्मक शासन व्यवस्था में जनता की निष्ठा राज्य व संघीय दोनों कानूनों के प्रति रहती है। इस तरह दोहरी नागरिकता भी संघात्मक शासन की आधारभूत विशेषता है।

(4) **न्यायपालिका की सर्वोच्चता** (Supremacy of the Judiciary) :- संघात्मक शासन में केन्द्र व प्रान्तों में मतभेदों को सुलझाने के लिए स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का होना भी बहुत आवश्यक है। संविधान की रक्षा, केन्द्र व प्रान्तों के झगड़ों को हल करने तथा संविधान की व्याख्या करने के लिए न्यायपालिका का सर्वोच्च होना जरूरी है। संघात्मक शासन व्यवस्था में कानून की व्याख्या, शक्तियों के प्रयोग आदि बातों को लेकर केन्द्र व प्रान्तों में झगड़े हो सकते हैं। कई बार कोई भी सरकार संविधान के नियमों के विरुद्ध कानून भी बना सकती है। इसलिए न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का होना भी जरूरी है ताकि उस अनुचित व संविधान विरोधी कानून को अवैध घोषित किया जा सके। अमेरिका तथा भारत में सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है। इसी कारण आज इन देशों में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त का पालन करने से संघवाद का आधार मजबूत बना हुआ है। इसी कारण न्यायपालिका का स्वतन्त्र व सर्वोच्च होना संघात्मक शासन की सफलता का आधार है।

(5) **द्विसदीय विधायिका** (Bicameral Legislature) :- संघात्मक शासन व्यवस्था में मुख्य रूप से दो सदनों का होना जरूरी है। इसमें एक सदन तो सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा प्रान्तों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में लोकसभा और राज्यसभा संसद के दो सदन हैं। इसी तरह अमेरिका में भी द्विसदनीय विधायिका या संसद की स्थापना की गई है। द्वितीय सदन पहने सदन की निरंकुशता को रोकने में कारगर सिद्ध हो सकता है और संघवाद की आत्मा का विकास कर सकता है। इसी कारण द्वितीय सब सीनेट को

अमेरिका में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और इसकी गणना संसार के शक्तिशाली द्वितीय सदनों में की जाती है। भारत व कनाडा में इस सदन की स्थिति काफी कमजोर है। लेकिन संघवाद के समर्थक द्वितीय सदन का होना संघात्मक शासन के लिए शुभ लक्षण मानते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधान का लिखित व कठोर रूप, संविधान व न्यायपालिका की सर्वोच्चता, द्विसदीय विधानमण्डल, दोहरी नागरिकता, शक्तियों का विभाजन आदि बातें संघात्मक शासन का आधार है। इसके अभाव में संघवाद की कल्पना करना निरर्थक है। भारत व अमेरिका में इन सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक पालन हुआ है। यही कारण है कि आज अमेरिका को एक सफल संघात्मक राज्य का दर्जा दिया जाता है।

संघात्मक शासन की विशेषताएं

(Features of Federal Government)

संघात्मक शासन के आधारभूत सिद्धान्तों का अवलोकन करने से संघात्मक शासन व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं द ष्टिगोचर होती हैं :-

(1) संघात्मक सरकार में शक्तियों का बंटवारा केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के बीच में होता है।

(2) संघात्मक सरकार में सम्प्रभुसत्तात्मक शक्तियां राज्य या संविधान के पास ही रहती हैं।

(3) संघात्मक सरकार में दोहरी शासन-व्यवस्था होती है। इसमें प्रान्तीय व केन्दीय सरकारें अपने अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र होते हुए भी संघात्मक शासन को सफल बनाने के लिए सहअस्तित्व के आधार पर ही कार्य करती है।

(4) संघात्मक शासन में संविधान लिखित, कठोर व सर्वोच्च होता है।

(5) संघात्मक सरकार दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त पर आधारित होती है।

(6) संघात्मक सरकार राष्ट्रीय एकता और प्रान्तों की स्वतन्त्रता का सामंजस्य स्थापित करती है।

(7) संघात्मक सरकार में इकाइयों को संघ से प थक होने की स्वतन्त्रता नहीं होती है।

(8) संघात्मक सरकार द्विसदनीय विधानमण्डल की व्यवस्था करती है।

(9) संघात्मक शासन व्यवस्था में न्यायपालिका स्वतन्त्र व सर्वोच्च होती है।

(10) संघात्मक शासन में शक्त्यिों का स्पष्ट विभाजन होता है। इसमें राष्ट्रीय महत्व के विषय तो केन्द्रीय सरकार के पास तथा कम महत्व के विषय प्रांतीय सरकारों के पास होते हैं।

(11) संघात्मक सरकार स्वयं उत्पन्न नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण संविधानिक प्रावधानों के तहत किया जाता है।

(12) संघात्मक शासन में केन्द्र व इकाइयों के बीच समन्वय की भावना का पाया जाना ही संघात्मक शासन की सफलता का आधार है।

लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि ये सारी विशेषताएं प्रत्येक संघात्मक राज्य में पाई जाएं। जिन राज्यों में ये सभी विशेषतउएं पाई जाती हैं, उन्हें पूर्ण संघात्मक राज्य कहते हैं। इसके विपरीत जिन राज्यों में संघवाद की कुछ या कम विशेषताएं देखने को मिलती हैं, उन राज्यों के०सी० व्हीयर ने अर्द्ध-संघात्मक (Quasi-Federal) राज्य कहा है।

सघात्मक सरकार के निर्माण व सफलता की आवश्यक शर्तें

(Pre-requisities for the formation and success of Federal Govt.)

संघात्मक सरकार एक मिश्रित प्रकृति की सरकार होती है। इसका निर्माण होता है, उत्पत्ति नहीं। इसका निर्माण एकात्मक सरकार को संघात्मक सरकार में परिवर्तित करने से भी हो सकता है और

आर्थिक व सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्यों के द ष्टिगत प्रांतीय सरकारों द्वारा अपनी सम्प्रभुत्ता का त्याग करके संघ निर्माण से भी हो सकता है। इसमें संघवाद की प्रव त्ति केन्द्रोन्मुख होती है। ऐसा संघवाद ही सर्वोत्तम संघवाद होता है। प्रत्येक संघवाद व्यवस्था का निर्माण कुछ निश्चित गन्तव्यों तक पहुंचने के लिए होता है। इसलिए संघात्मक शासन प्रणाली की सफलता के लिए यह अपरिहार्य हो जाता है कि वह अपने उद्देश्यों व गन्तव्यों को प्राप्त करने के लिए संघात्मक शासन की आवश्यक शर्तें पूरी करती हो। अनेक विद्वानों ने संघात्मक शासन प्रणाली के निर्माण और सफलता की कुछ आवश्यक शर्तें निम्नलिखित बताई हैं :-

(1) **एकता की प्रबल इच्छा** (Strong desire for Union) :- संघवाद की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संघ में शामिल होने वाली इकाईयों में 'संघ निर्माण' की प्रबल इच्छा हो। इसका निर्माण तभी सम्भव है जब छोटे छोटे राज्य या इकाइयां अपने सीमित साधनों तथा सुरक्षा की द टि से अपने को असुरक्षित महसूस करते हों और अपनी सुरक्षा और आर्थिक विकास की द ष्टि से एक होने को तैयार हों। अमेरिका में वर्तमान संविधान के निर्माण से पहले अमेरिका के राज्य उपनिवेशों के रूप में बिखरे हुए थे। लेकिन अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने तथा अपना अस्तित्व बनाए रखने की प्रबल इच्छा ने उनको संघ के रूप में एक होने को विवश कर दिया। सुरक्षा और आर्थिक विकास की इच्छा न केवल संघ का निर्माण कर सकती है, बल्कि संघ में स्थायित्व भी लाती है। इस तरह एकता की प्रबल इच्छा होने से संघ का निर्माण सम्भव हैं विविधता में एकता का गुण ही संघात्मक व्यवस्था को सफल बना सकता है।

(2) **भौगोलिक सामीप्य** (Geographical Contiguity) :- संघात्मक शासन व्यवस्था के सफल रहने के लिए यह आवश्यक है कि संघ की इकाईयां भौगोलिक द ष्टि से आपस में जुड़ी हों। इस बात का ज्यादा अन्तर नहीं पड़ता कि इकाइयां बड़ी हैं या छोटी। इकाइयों में भौगोलिक सामीप्य और सम्बद्धता ही संघात्मक सरकार की सफल्ता का आधार है। भारत व अमेरिका में भौगोलिक द ष्टि से सभी प्रान्तीय इकाइयां इस तरह जुड़ी हुई हैं कि केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों से निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। भौगोलिक द ष्टि से समीप इकाइयां ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक द ष्टि से राष्ट्रीय विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं। अमेरिका की संघात्मक शासन व्यवस्था की सफलता का कारण इकाइयों की भौगोलिक निकटता ही हैं। इसलिए गिलक्राइस्ट ने भौगोलिक एकता को राष्ट्रीय एकता स्थापित करने वाला तत्व माना है।

(3) **संघ की इकाइयों में समानता** (Equality among the Federating Units) :- संघात्मक सरकार की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि संघ में शामिल होनेवाली इकाईयों के अवयवी समानता हो। अवयवी इकाईयों में जनसंख्या, क्षेत्रफल, परम्पराओं आदि में समानता होना ही संघवाद को सफल अना सकता हैं यदि असमान विशेषताओं वाली इकाइयों को मिलाकर संघ का निर्माण किया जाएगा तो संघ में जल्दी विघटन के आसार पैदा हो सकते हैं। इसलिए वहीयर ने लिखा है-"सघ की इकाइयां न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए और न बहुत छोटी।" संघ में कोई भी इकाई इतनी ताकतवर नहीं होनी चाहिए कि वह संयुक्त शक्ति या अन्य इकाई से विरोध करने का साहस करे। इससे समान सांझेदारी के सिद्धान्त को आघात पहुंचेगा और संघ का विघटन हो जाएगा। यद्यपि संघ की इकाइयों में आकार व जनसंख्या की द ष्टि से असमानता भी हो सकती है, लेकिन उन्हें समान राजनीतिक सुविधाएं या प्रतिनिधित्व देकर समान बनाया जा सकता है। इससे छोटे राज्यों के प्रति बड़े राज्यों के मन में घ णा का भाव पैदा नहीं होगा और संघ की सभी इकाइयां समान सांझेदारी के लिए कार्य करेंगी। इसलिए संघवाद की सफलता के लिए संघ की इकाइयों में राजनीतिक

अधिकारों की द ष्टि से सन्तुलन को कायम रखना अपरिहार्य है।

(4) **राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)** :- संघ का निर्माण करते समय संघ के निर्माण में सहयोग देने वाली इकाइयों में उच्च स्तर की राजनीतिक सोच होनी चाहिए। जिस देश में लोगों में अपनी राजनीतिक संस्कृति के प्रति मूल्यवान विचार नहीं होते, वहां संघात्मक शासन कभी सफल नहीं हो सकता। संघात्मक सरकार की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि संघ की इकाइयों के शासक-वर्ग के साथ साथ जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का स्तर विकसित व उन्नत किस्म का हो, उन्हें राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों का समुचित ज्ञान हो, अधिकार व कर्त्तव्यों के प्रति आंख बंद करने वाली जनता व शासक वर्ग संघीय व्यवस्था का न तो निर्माण कर सकता है और न उसका सफलतापूर्वक संचालन कर सकता है।

(5) **भाषा, धर्म, जाति, इतिहास, संस्कृति आदि में एकता (Unity of Language, Religion, Race, History, Culture etc; :-** संघवाद की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि भौगोलिक द ष्टि से निकट इकाइयां अपनी भाषा, धर्म, इतिहास, जाति, संस्कृति आदि की द ष्टि से भी एकता का भाव रखने वाली हों। यदि संघ में विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाओं, संस्कृति वाली इकाइयों को शामिल किया गया तो संघ के संचालन में अनेक कठिनाइयां पैदा होंगी। भारत में प थक राज्यों की मांग का प्रमुख कारण भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएं भी रही हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की द ष्टि में संघ में समानता पाई जाए। लेकिन जहां तक सम्भव हो इन असमानताओं से बचने का ही प्रयास किया जाना चाहिए।

(6) **सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में समानता (Equqlity between Social and Political Institutions)** :- संघवाद की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संघ का निर्माण करते समय राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तरों पर समान प्रकार के शासन वाली सरकारें स्थापित होनी चाहिए। उदाहरण के लिए भारत में केन्द्र तथा राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली है। उसी तरह अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली है। इससे संविधान के बुनियादी ढांचे को सफल बनाने में मदद मिलती है। यदि केन्द्रीय व प्रांतीय अवयवों में सामाजिक संस्थाओं की द ष्टि से भी समानता हो तो सोने पर सुहागा हो जाएगा। इसके बाद संघवाद की सफलता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती।

(7) **समान सामाजिक-आर्थिक विकास (Equal Social-Economic Growth)** :- संघात्मक शासन व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संघ में शामिल होने वाली इकाइयों को समान आर्थिक विकास की सुविधाएं प्रदान की जाएं। किसी भी इकाई को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि आर्थिक-सामाजिक विकास की द ष्टि से उसके साथ भेदभाव किया जा रहा है। संचालक शासन प्रणाली की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता को शिक्षित किया जाए और उन्हें आधुनिक विचारों से सुसज्जित किया जाए। सामाजिक-आर्थिक विकास ही संघवाद की सफलता का आधार है और संघात्मक इकाइयों का एकता के सूत्र में बांधे रखने का साधन है।

(8) **केन्द्र-राज्य सम्बन्ध (Centre-State Relations)** :- संघवाद का स्वरूप सहकारी होना चाहिए। संघवाद को सफल बनाने के लिए केन्द्र व राज्यों में मधुर व विश्वासपूर्ण सम्बन्ध होने चाहिएं। प्रति वर्ष समय समय पर केन्द्र-राज्य की समीक्षा की जानी चाहिए। केन्द्र सरकार को ऐसे उपाय करने चाहिए जिससे राज्य सरकारों के साथ उसके सम्बन्ध समन्वयकारी हों। अवशिष्ट शक्तियों को लेकर केन्द्रीय सरकारों को राज्य सरकारों के साथ सहयोगात्मक व्यवहार करना चाहिए ताकि केन्द्र व इकाइयों में आंगिक एकता बनी रहे। केन्द्र का व्यवहार

क्षेत्रीय सरकारों के प्रति हमेशा सहयोगात्मक व सकारात्मक ही होना चाहिए। इसी पर संघवाद की सफलता निर्भर है।

(9) **संघात्मक व्यवस्था की लोकतन्त्रीय प्रकृति (Democratic Nature of the Federal System)** :- संघात्मक शासन प्रणाली का निर्माण जनतन्त्रीय भावना पर ही होना चाहिए। किसी भी इकाई की इच्छा के विरुद्ध उसे संघ में शामिल करना उस इकाई की भावनाओं का शोषण करना है। निरंकुशता संघवाद का सबसे प्रबल शत्रु है। संघात्मक सरकार का आधार हमेशा सहयोग व समझौतावादी ही होना चाहिए। लोकतांत्रिक भावनाओं को कुचलकर संघ के निर्माण व संचालन का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। 1958 में मिश्र और सीरिया को मिलाकर बनाया गया संयुक्त अरब गणराज्य 1961 में ही टूट गया। पिछले दशक में पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी का लोकतन्त्रीय भावना पर किया गया एकीकरण आज भी बरकरार है। इसलिए जनतन्त्रीय भावना पर आधारित संघवाद ही सफल होता है।

(10) **सामान्य उद्देश्यों पर मतैक्य (Unity of general goals)** :- संघात्मक सरकार की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि केन्द्र तथा इकाइयों में संघ के सामान्य गन्तकों या लक्ष्यों तक पहुंचने में सहमति की भावना हो। यदि सामान्य उद्देश्यों पर सहमति का अभाव पाया जाएगा तो न तो संघवाद की स्थापना ही की जा सकती है और न ही संघवाद को सफल बनाया जा सकता है। सामान्य उद्देश्यों पर यह सहमति संघ के निर्माण तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि इसकी व्यवहारिकता संघ के निर्माण के बाद भी संघ की सफलता के लिए अन्तिम क्षणों तक रहनी चाहिए।

(11) **शांति व सम्पन्नता (Peace and Prosperity)** :- यदि संघवाद का निर्माण शांति व आर्थिक सम्पन्नता के दौर में किया जाएगा तो वहीं संघ हमेशा के लिए कार्य करता रहेगा। राजनीतिक व्यवस्था में बार-बार उठने वाले आर्थिक संकट व युद्ध संघवाद को खोखला बना देते हैं। इससे संघवाद की प्रतिकूल प्रव त्तियों का जन्म होने लगता है और उसके परिणामस्वरूप संघात्मक शासन का अन्त हो जाता है। इसलिए संघवाद का निर्माण शांतिकाल में ही किया जाना चाहिए और राजनीतिक व्यवस्था को बार बार आने वाले आर्थिक संकटों से बचाना चाहिए। के०सी० व्हीयर का कहना है कि "युद्ध और आर्थिक संकट संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था में परिवर्तित कर देते हैं।"

(12) **राष्ट्रीयता की भावना (Spirit of Nationalism)** :- संघात्मक शासन की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों के अन्दर राष्ट्रीयता की प्रबल भावना हो। जब तक इकाइयां संकुचित राष्ट्रीयता या संकीर्ण स्वार्थों का शिकार रहेंगी, तब तक संघ का निर्माण नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता की भावना ही विविधता में एकता स्थापित कर सकती है। इसलिए प्रत्येक संघात्मक इकाई में राष्ट्रीयता की तीव्र इच्छा व भावना होनी चाहिए। इसी पर संघ की सफलता निर्भर करती है।

(13) **सम्पर्क भाषा की विद्यमानता (Presence of a link-language)** :- संघात्मक व्यवस्था की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि संघ का निर्माण करते समय सम्पर्क भाषा या इकाइयों को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी के रूप में एक सम्पर्क भाषा का प्रयोग किया जाए। इसका महत्व उन संघात्मक राज्यों में अधिक होता है, जहां भाषाई विभिन्नता पाई जाती है। सम्पर्क भाषा के अभाव में केन्द्र व इकाइयों में गतिरोध पैदा हो सकता है और यह गतिरोध सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को गर्त में धकेल सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संघवाद का निर्माण करते समय इकाइयों में प्रबल एकता, अवयवी समानता, भौगोलिक निकटता, राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक समानता, सामान्य उद्देश्यों पर मतैक्य आदि बातों का ध्यान रखना जरूरी है। आधुनिक युग में सैनिक सुरक्षा, आर्थिक विकास और

राष्ट्रीयता की भावना संघवाद के निर्माण का प्रमुख आधार बनकर उभर रही है। संघवाद की सफलता के लिए यह अपरिहार्य हो गया है कि संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों में एकता की प्रबल इच्छा हो और सैनिक सुरक्षा व आर्थिक विकास को अपना प्रबल लक्ष्य मानने वाली हों। आज के प्रजातन्त्रीय युग में संघवाद की सफलता के लिए उसका उदारवादी, जनभावनाओं पर टिका रहना बहुत जरूरी है। इन्हीं परिस्थितियों में संघात्मक व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है।

संघवाद के प्रकार

(Types of Federalism)

आज विश्व की संघात्मक प्रणालियों का व्यापक विश्लेषण करने के बाद राजनीतिक विश्लेषक इस बात से चिन्तित हैं कि आधुनिक संघवाद किस दिशा में जा रहा है। अपने प्राचीन स्वरूप में जो संघवाद स्थापना के समय सहकारी स्वरूप का था, वही संघवाद आज सौदेबाजी का संघवाद बन गया है। इस सौदेबाजी की व्यवस्था ने संघात्मक प्रणाली में संकीर्ण प्रान्तीय हितों को जन्म दिया है। आज केन्द्रीय व राज्य सरकारें संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आपसी विचार-विनिमय के समय सौदेबाजी करती प्रतीत होती है। 1967 के बाद भारत में संघवाद का सौदेबाजी वाला स्वरूप स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। इस सौदेबाजी की आड़ में आज आर्थिक विकास व राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकताओं ने केन्द्रीय सरकारों को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। प्रान्तीय सरकारों द्वारा आर्थिक विकास का बोझ न उठाए जाने के कारण इस कार्य को केन्दीय सरकारें ही कर रही हैं। इससे शक्तियों के केन्द्रीयकरण का विकास हुआहै। इसके परिणामस्वरूप संघवाद का एक नया रूप उभर रहा है, जिसे एकात्मक संघवाद या केन्द्रीकृत संघवाद भी कहा जाता है। इस प्रकार संघवाद के आज तीन प्रतिमान द ष्टिगोचर होते हैं :-

(I) सहकारी संघवाद (Co-operative Federalism)

(II) सौदेबाजी का संघवाद (Bargaining Federalism)

(III) एकात्मक संघवाद (Unitarian Federalism)

(I) सहकारी संघवाद (Co-operative Federalism) :- संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र व प्रांतीय सरकारों में शक्तियों का विभाजन करने के बाद सरकार के दोनों स्तरों पर सहयोग को बढ़ाने वाली व्यवस्थाएं भी की जाती हैं ताकि संघ के वांछित लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सके। इस सहयोग की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि सरकार के दोनों स्तर समान लक्ष्यों की दिशा में अग्रसर होते हैं। संघात्मक व्यवस्था के सामान्य उद्देश्य दोनों सरकारों के अलग-अलग कार्यों के बाद भी उनके अन्तःक्षेत्रीय सम्बन्धों को अनिवार्य बना देते हैं। व्हीयर का कहना है कि अन्तःक्षेत्रीय सम्बन्धों के बिना प्रादेशिक सरकारें आपसी अनुभवों के लाभों से वंचित हो जाएंगी और केन्द्रीय सरकार के अनुभवों से भी वंचित रह जाएंगी। इसलिए यह सहयोग प्रादेशिक सरकारों के मध्य होने के साथ साथ केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारों के बीच में भी होना आवश्यक है। इसी कारण विश्व के अनेक संघीय प्रणालियों में इस सहयोग को बढ़ाने वाले अभिकरणो की व्यवस्था की गई है। अमेरिका, भारत, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में सहयोग को बढ़ाने वाले अभिकरण कार्यरत हैं। आस्ट्रेलिया में अन्तःप्रादेशिक सम्मेलन, प्रीमियर्स कान्फ्रेंस, ऋण परिषद् के वार्षिक सम्मेलन, अमेरिका में राज्यपालों के सम्मेलन, कनाडा में डोमिनियन प्रोविन्सियल सम्मेलन, भारत में मुख्यमन्त्रियों, राज्यपालों व क्षेत्रीय परिषदों के सम्मेलन केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के आपसी सहयोग को बढ़ाने का साधन हैं। भारत के संविधान में ही केन्द्र-राज्यों के अन्तःसम्बन्धों को विकसित करने वाली अनेक व्यवस्थाएं की गई हैं। वित्त आयोग अन्तः-राज्यीय समितियां, क्षेत्रीय परिषदें, योजना आयोग,

राष्ट्रीय विकास परिषद आदि अभिकरण भारतीय संघ में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में सहयोग की प्रव त्ति बढ़ाने की दिशा में ठोस कार्य कर रहे हैं। भारत के संविधान में ही भारत को 'राज्यों का संघ' कहा गया है। इसलिए भारत की संघीय प्रणाली की स्थापना का आधार ही सहकारी संघवाद है। ग्रेनविल आस्टिन ने भी भारतीय संघ को सहकारी संघ कहा है। विश्व के अन्य देशों में भी सहकारी संघवाद की स्थापना का प्रमुख कारण एक ही राजनीतिक व्यवस्था में एक ही संघीय ढांचे द्वारा अनेक सरकारों की स्थापना करना है। जब सरकारें एक ही संघीय ढांचे से जन्म लेगी तो वे अवश्य ही उस ढांचे से अपना सम्बन्ध रखेंगी जिसने उनको खड़ा किया है। इसी कारण सहकारी संघवाद में विविधतायुक्त संस्कृतियां, संस्थाएं, विघटनकारी शक्तियां संस्थागत आधार पर ही सहयोगरत रहती हैं। जहां पर संघीय ढांचे में सहयोग की संस्थाओं का प्रावधान नहीं होता, वहां भी परम्पराओं के रूप में प्रायः ये जन्म ले ही लेती हैं। यही सहयोग की प्रव त्ति संघात्मक व्यवस्था को विघटन से बचाती है। आज आर्थिक विकास की जरूरतें, सुरक्षा की गारन्टी जैसी आवश्यकताओं ने सहकारी संघवाद को मजबूत आधार प्रदान किया है। आज का युग कल्याणकारी सरकारों का युग है। प्रान्तीय सरकारों के पास आर्थिक साधनों का प्रायः अभाव ही होता है। अचानक आने वाली प्राकृतिक आपदाएं प्रादेशिक सरकारों की अर्थव्यवस्था को झकोर देती है। उनसे उभरने के लिए केन्द्रीय सरकारों से सहयोग प्राप्त करने के सिवाय उनके सामने कोई विकल्प नहीं बचता। इसलिए अनेक समस्याएं प्रांतीय सरकारों को संघात्मक ढांचे के बुनियादी सिद्धांत की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य कर देती हैं। इसी कारण प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से सहयोग करती रहती है। यह संघवाद संघात्मक शासन प्रणाली का मौलिक रूप है। आज विश्व के अनेक देशों में यह प्रतिमान भी प्रायः देखने को मिल जाता है।

(II) **सौदेबाजी का संघवाद** (Bargaining Federalism) :- यद्यपि संघवाद की स्थापना का मूल आधार केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों में पाया जाने वाला पारस्परिक सहयोग है, लेकिन कुछ देशों में आज पारस्परिक सहयोग का स्थान सौदेबाजी ने ले लिया है। एशिया और अफ्रीका के नवोदित देशों ने पाश्चात्य संघवाद को गहरा आघात पहुंचाया है। इन देशों में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दलीय व्यवस्था के नए प्रतिमान स्थापित हुए हैं। इन राज्यों में द्विस्तरीय प्रकृति वाले राजनीतिक दलों के जन्म लेने से संघात्मक व्यवस्था में सौदेगाजी का प्रचलन बढ़ा है। आज बहुत से राजनीतिक दल संकीर्ण स्थानीय हितों को प्रमुखता देकर संघवाद के केन्द्रीय ढांचे को चुनौती दे रहे हैं और संघात्मक सरकार के सामान्य लक्ष्यों से मुंह फेर रहे हैं। यह सत्य है कि दोनों सरकारों के बिना संघात्मक शासन के लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जा सकते। जब राजनीतिक दल जनता का समर्थन संकुचित व क्षेत्रीय आधार पर प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तो इससे दो स्तरीय सरकारें ऐसे दलों के नियन्त्रण में आ जाती हैं कि उन पर राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को प्राप्त करने का बंधन नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति सौदेबाजी को जन्म देती है। यद्यपि आज तक व्यापक स्तर पर ऐसी सौदेबाजी किसी भी देश में नहीं हुई है, लेकिन इसके सीमित प्रयोग के संकेत अनेक संघात्मक देशों में प्रकट हुए हैं। भारत में 1967 के बाद सौदेबाजी का सिलसिला प्रारम्भ हुआ था। इसी कारण मोरिश जोन्स ने भारतीय संघात्मक शासन प्रणाली को सौदबाजी का संघ कहा है। सांझा सरकारों की आवश्यकता ने सौदेबाजी के संघवाद को अधिक पुष्ट किया है। आज भारत में राष्ट्रीय सरकार को अपने हितों को पूरा करने के लिए प्रांतीय सरकारों के सहयोग की आवश्यकता है। यह सहयोगात्मक आधार ही संघवाद की प्राथमिक शर्त है। लेकिन आज संकीर्ण स्वार्थों से परिपूर्ण प्रांतीय क्षेत्रों में कार्यरत क्षेत्रीय दल केन्द्र-राज्य सहयोग को कम करके सौदेगाजी की दिशा में धकेल रहे हैं। परन्तु चाहे सौदेबाजी पर आधारित ये राजनीतिक दल राष्ट्रीय दलों के साथ कितना ही खेल खेलें, संघात्मक व्यवस्था का अन्त नहीं कर सकते। जिस देश

में संविधानिक व्यवस्थाएं इतना प्रबल हों कि वे संकीर्ण क्षेत्रीय हितों को राष्ट्रीय हितों के साथ आसानी से मिला दें, वहां पर संघवाद को कोई हानि नहीं हो सकती। भारत जैसे विविधता वाले देश में तो क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय लक्ष्यों से अलग प्रादेशिक हित निर्धारित करके अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते। आधुनिक परिस्थितियों में सुरक्षा व आर्थिक विकास की आवश्यकता ने संकीर्ण प्रांतीय हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित कर दिया है। संघात्मक शासन व्यवस्था में सौदेबाजी के अंकुर तब तक अवश्य फूटे रहेंगे जब तक दो प थक स्वतन्त्र सरकारों का अस्तित्व रहेगा। लेकिन ये अंकुर संघात्मक शासन व्यवस्था का विघटन कभी नहीं कर सकेंगे। सौदेबाजी के लक्ष्य यदा-कदा ही किसी संघात्मक शासन में परिलक्षित हो सकते हैं, लेकिन इनसे संघात्मक शासन व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव पड़ने वाला नहीं होता।

(III) **एकात्मक संघवाद** (Unitarian Federalism) :- संघात्मक व्यवस्था एक गतिशील व्यवस्था है। अनेक उप-व्यवस्थाओं को अपने में समेटते हुए यह जटिल प्रक्रिया को जन्म देती है। इस जटिल प्रक्रिया में प्रादेशिक सरकारें अपना प थक व स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखने में परेशानी महसूस करती है। आज संघात्मक सरकार का व्यवहार अनेक गैर-राजनीतिक संस्थाओं व तत्वों से भी प्रभावित होने लगा है। संघात्मक व्यवस्था का बारीकी से अवलोकन करने पर यह तथ्य उजागर होता है कि संघात्मक व्यवस्था एकात्मक व्यवस्था की तरफ अग्रसर हो रही है। कई बार व्यवहार में केन्द्र व राज्यों की सरकारों का सीमांकन करना असम्भव होता है। यही स्थिति एकात्मक संघवाद की स्थिति होती है। पहले जो कार्य प्रादेशिक सरकारों द्वारा सम्पादित किए जाते थे, वे अब केन्द्रीय सरकार को पूरे करने पड़ रहे हैं। लोकतन्त्र में तो जनता सुविधाएं व सुरक्षाएं चाहते हैं, चाहे वे केन्द्रीय सरकार से मिले या राज्य सरकार से। बदलते विश्व परिवेश में सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक विकास की प्रव त्ति ने केन्द्रीय सरकारों को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। के०सी० व्हीयर ने भी केन्द्रीय सरकारों के पक्ष में शक्तियों के झुकाव की बात स्वीकार की है। वर्तमान समय में संघवाद की जो स्थिति है, वह न तो विशुद्ध रूप में संघात्मक है और न ही एकात्मक, बल्कि दोनों के बीच की स्थिति एकात्मक संघवाद (Unitarian Federalism) है। एकात्मक संघवाद का जन्म केन्द्रीय सरकार के पक्ष में शक्तियों के अधिक झुकाव का परिणाम है। इस झुकाव के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :-

(1) युद्ध राजनीति।

(2) लोक-कल्याण की राजनीति।

(3) दल राजनीति।

(4) टेकनो या शिल्पी राजनीति।

(5) आर्थिक मदद की राजनीति।

(6) मंदी की राजनीति।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

आज युद्ध-राजनीति राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या को जन्म देने वाला प्रमुख तत्व है। द्वितीय विश्व युद्ध इसी वैचारिक युद्ध-राजनीति का परिणाम था। अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आज केन्द्रीय सरकारें प्रान्तीय सरकारों की अपेक्षा अधिक शक्तियां केन्द्रित कर रहीं हैं, ताकि आपातकालीन परिस्थितियों का सामना किया जा सके। आज लोक कल्याण के विचार की कोई भी सरकार अवहेलना नहीं कर सकती। प्रान्तीय सरकारें सीमित आर्थिक साधनों के कारण लोक कल्याण का जिम्मा केन्द्रीय सरकार का ही समझने लगती हैं। इसी कारण धीरे-धीरे लोक कल्याण के लिए

केन्द्रीय सरकार आर्थिक साधनों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर रही है ताकि आर्थिक साधनों का प्रादेशिक सरकारों द्वारा दुरुपयोग न किया जा सके। आज दल-राजनीति भी क्षेत्रीय हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ अपनी राष्ट्रव्यापी प्रवृत्ति के कारण सामंजस्य स्थापित करने का सशक्त माध्यम है। बढ़ती राजनीतिक जागरुकता के कारण आज दलों का स्वरूप भी राष्ट्रीय स्तर का होता जा रहा है। भारत को छोड़कर किसी भी संघात्मक व्यवस्था वाले देश में क्षेत्रीय दलों का चरित्र भी राष्ट्रीय प्रकृति का है। आज वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति ने शासनतन्त्र के व्यवहार को प्रभावित करना शुरु कर दिया है। आधुनिक सरकारें नौकरशाही तन्त्र पर आधारित होती जा रही हैं। यह नौकरशाही तन्त्र प्रादेशिक सरकारों तक भी छा गया है। इस नौकरशाही तन्त्र की भर्ती केन्द्रीय सरकार द्वारा ही की जाती है और विशेषज्ञों के रूप में उनकी भूमिका केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बना देती है। आज आर्थिक विकास के लिए प्रादेशिक सरकारें केन्द्र पर ही निर्भर होती जा रही हैं। आर्थिक सहायता के नाम पर केन्द्रीय सरकारों प्रादेशिक सरकारों पर अपना अप्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित कर रही हैं। आज जनता आर्थिक मन्दी के दौर से गुजर रही है। जनता का प्रादेशिक सरकारों पर आर्थिक मन्दी को दूर करने की मांग का भारी दबाव पड़ रहा है। इसी कारण प्रादेशिक सरकारें केन्द्रीय सरकार पर अधिक आश्रित होती जा रही हैं। इन सभी कारणों के साथ-साथ आज राष्ट्रीय सम्बन्धों पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी महान भूमिका अदा करना चाहती है। बढ़ती राजनीतिक चेतना प्रादेशिक सरकारों को राष्ट्रीय हित के लिए अपने संकीर्ण स्वार्थों को छोड़ने को विवश करती हैं और प्रादेशिक सरकारें स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह समझने लगी हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सम्मान प्राप्त किए बिना उनका अस्तित्व भी सुरक्षित नहीं है। इसलिए आज संघात्मक सरकार के केन्द्रीय ढांचे की तरफ अधिक रूझान बढ़ रहा है और विश्व में संघवाद का झुकाव एकात्मकता की तरफ बढ़ रहा है। यह एकात्मक संघवाद आज समय की मांग है और आर्थिक विकास की एक आवश्यकता है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि इससे प्रांतीय या प्रादेशिक सरकारों की राष्ट्र-विकास में भूमिका समाप्त हो गई है। यह तो राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मक प्रकृति है जो केन्द्र व इकाइयों के सहयोग से ही आगे बढ़ती है। इसी कारण संघात्मक व्यवस्था भी कठिन व जटिल होते हुए भी अपने को लचीली व अनुकूलनशील बनाए रखने में सफल रहती है।

संघात्मक शासन के गुण

(Merits of Federal Government)

आधुनिक समय में विश्व के लगभग दो दर्जन देशों में संघीय सरकारें हैं। भारत, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा ब्राजील प्रमुख रूप से संघात्मक राज्य है। जिस प्रकार मध्य युग सामन्तवाद का युग था, इसी प्रकार आधुनिक युग संघवाद का युग माना जाता है। राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय विकास के लिए संघातमक व्यवस्था से बढ़कर अन्य कोई विकल्प नहीं हो सकता। वास्तव में संघात्मक व्यवस्था ही प्रादेशिक हितों व राष्ट्रीय हितों में सामंजस्य स्थापित कर सकती है। आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से कमजोर देशों के लिए तो संघात्मक व्यवस्था प्राणदायिनी है। सिजविक ने इसे राज्यों के शांतिपूर्ण एकीकरण की पद्धति माना है, लेकिन संघवाद के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों का भी होना आवश्यक है। जिस देश में संघवाद के विकास के अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध हों, वहां संघ के निर्माण के बाद संघात्मक व्यवस्था को कोई ताकत हानि नहीं पहुंचा सकती। अनेक विद्वानों ने संघात्मक शासन के निम्नलिखित गुण बताये हैं :-

(1) **विविधता में एकता** (Unity in Diversity) :- संघात्मक शासन व्यवस्था में विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बांधा जाता है। इसमें प्रादेशिक सरकारें अपनी स्वतन्त्रता भी बनाए रखती हैं और राष्ट्रीय विषयों पर एकीकरण का परिचय भी देती है। इस व्यवस्था में एकता और विभिन्नता के गुणों को मिलने का गुण है। इसकी स्थापना का लक्ष्य ही राष्ट्रीय एकता

के साथ-साथ स्थानीय स्वतन्त्रता का भी सामन्जस्य करना है। सामान्य परिस्थितियों में तो संघवाद प्रादेशिक सरकारों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में यही स्वतन्त्रता राष्ट्रीय हित का प्रमुख साधन बन जाती है और विविधता में एकता स्थापित हो जाती है।

(2) **संघात्मक शासन केन्द्रीय सरकार की निरंकुशता रोकता है** (Federal Government checks the despotism of Central Government) :- संघात्मक शासन शक्तियों के विभाजन या विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसमें प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकारों के अलग अलग क्षेत्राधिकार होते हैं। सामान्य परिस्थितियों में किसी भी सरकार को एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश का अधिकार नहीं है। प्रत्येक सरकार वही निश्चित कार्य करती है जो उसे संविधान द्वारा सौंपा गया है। इसलिए इसमें न तो एक व्यक्ति की तानाशाही चल सकती है और न नौकरशाही की मनमानी। इसमें न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व सर्वोच्चता का सिद्धान्त सरकार की निरंकुश प्रव त्तियों पर सबसे बड़ी रोक है। इससे नागरिकों के अधिकार व स्वतन्त्रताएं भी सुरक्षित रहते हैं और प्रांतीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार के कोप का भाजन भी नहीं बनना पड़ता। ब्राइस ने लिखा है-"संघात्मक व्यवस्था नागरिकों की स्वतन्त्रता को खतरे में डालने वाले व शक्तियों को निगलने वाले निरंकुश केन्द्रीय शासन के उत्थान को रोकता है।"

(3) **बड़े देशों के लिए उपयुक्त** (Suitable for big countries) :-संघात्मक शासन प्रणाली भारत जैसे विशाल देशों के लिए अधिक है उपयुक्त है। जिन देशों की जनसंख्या व क्षेत्रफल अधि ाक है और वहां पर एकात्मक सरकार द्वारा शासन चलाना कठिन होता है तो वहां पर समस्त देश को प्रान्तों व प्रादेशिक इकाइयों में बांटकर केन्द्रीय सरकार के भार को कम किया जा सकता है। यह उन देशों के लिए भी उपयुक्त है जहां विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाओं व संस्कृतियों के लोग रहते हों। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े देश का शासन आसानी से चलाया जा सकता है।

(4) **आर्थिक विकास के लिए लाभदायक** (Advantageous for economic progress) :- संघात्मक शासन प्रणाली मितव्ययी है। सभी राज्यों के एक स्थान पर संगठित हो जाने से आय में व द्धि होती है ओर सेनाओं तथा आर्थिक योजनाओं पर खर्च किया जाने वाला पैसा केन्द्रीय सरकार की जिम्मेवारी बन जाती है। ऐसे छोटे-छोटे राज्य या इकाइयां जो आर्थिक द ष्टि से बहुत कमजोर हैं और आर्थिक विकास के लिए दूसरे शक्तिशाली राज्यों पर निर्भर हैं तो वे संगठित होकर संघ का निर्माण कर सकती हैं। इससे उनकी स्वतन्त्रता की गारन्टी मिल सकती है। भारत में आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलने का प्रमुख कारण यही है कि प्रादेशिक सरकारों को सुरक्षा व आर्थिक साधन केन्द्रीय सरकार द्वारा ही उपलब्ध कराए जाते हैं।

(5) **निर्बल राज्यों की रक्षा** (Safeguards for the weak-states) :- संघात्मक शासन प्रणाली के अपनाने से निर्बल राज्यों की शक्तिशाली राज्यों से सुरक्षा हो जाती है। संघात्मक सरकार के अन्तर्गत छोटे-छोटे राज्य मिलकर अपना शक्तिशाली संगठन बना सकते हैं। सबल केन्द्रीय सरकार ही निर्बल राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकती है। इससे राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की भी सुरक्षा होगी और छोटे राज्यों का गौरव व प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। यदि 13 राज्य मिलकर संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा शक्तिशाली संघ न बनाते तो उन राज्यों को वह प्रतिष्ठा तथा गौरव कभी नहीं मिल सकता था जो आज प्राप्त है।

(6) **शासन में कार्यकुशलता** (Efficiency in Administration) :- संघात्मक शासन व्यवस्था में शक्तियों का बंटवारा होने के कारण प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का भी विकेन्द्रीकरण हो जाता है। इससे स्थानीय स्तर की समस्याएं स्थानीय प्रशासन द्वारा ही हल कर दी जाती हैं। अपने अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के कारण केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारें पूरी निष्ठा के साथ अपने कार्यों का सम्पादन करती हैं। कार्यभार कम होने के कारण प्रत्येक समस्या को भी शीघ्रता से हल कर लिया जाता है। केन्द्रीय सरकार को प्रादेशिक समस्याओं की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि इस

स्तर पर कार्य करने वाली सरकारें पहले ही मौजूद रहती हैं। इसलिए त्वरित निर्णय लेने और समस्या समाधान के लिए विकेन्द्रीकरण के समस्त लाभ प्रशासन को मिल जाते हैं और सरकार सुचारू ढंग से कार्य करती है।

(7) स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति (Realisation of local needs) :- संघात्मक शासन में स्थानीय समस्याओं को हल करने का प्रमुख उत्तरदायित्व स्थानीय प्रशासन या प्रादेशिक सरकारों का होता है। अपनी अलग शक्तियों से परिपूर्ण प्रादेशिक सरकारें अपना शासन प्रबन्ध चलाने के लिए स्वतन्त्र होती हैं। प्रेत्क इकाई की समस्याएं दूसरी इकाई से भिन्न प्रकृति की ही होती हैं। उनका एक ही नीति से समाधान नहीं हो सकता। इसलिए संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत ही प्रादेशिक समस्याओं का हल भली-भांति किया जा सकता है, क्योंकि स्थानीय प्रबन्ध के लिए प्रादेशिक सरकारों को केन्द्रीय सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती।

(8) लोगों को राजनीतिक शिक्षा देना (To provide Political Education to the people) :- संघात्मक शासन व्यवस्था में जनता को प्रशासन में भागीदारी निभाने के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं। यह व्यवस्था जनता को स्वशासन सिखाती है। इसमें जनता की सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि बढ़ती है। स्थानीय जनता और प्रशासन स्थनीय समस्याओं को स्वयं हल करते हैं। इससे लोगों का शासन के प्रति रूझान बड़ता है और धीरे धीरे उनकी राजनीतक चेतना का विकास भी होता जाता है। स्थानीय निकायों के चुनावों में जन-सहभागिता जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का सशक्त माध्यम है। भारत में स्थानीय स्वशासन में जनता की बढ़ती भागीदारी ने आज आम व्यक्ति को भी राजनीतिक रूप से शिक्षित बना दिया है।

(9) नागरिकों वे देश की प्रतिष्ठा में व द्धि (Enhancement in the prestige of the citizens and country) :- संघात्मक शासन प्रणाली अपनाने से प्रादेशिक इकाइयों के नागरिकों का राष्ट्रीय नागरिकता के रूप में सम्मान बढ़ता है। जब नागरिक विदेशों में जाते हैं तो उनकी पहचान देश की नागरिकता से होती है, राज्यों की नागरिकता से उतनी नहीं। इसी तरह संगठित इकाई के रूप में देश का सम्मान भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बढ़ता है और अपनी विदेश नीति को संगठित राष्ट्र ही प्रभावी बना सकता है। यदि भारत संघ न होता तो प्रादेशिक इकाइयों में बंटा होने के कारण इसका सम्मान उतना नहीं होता जितना आज है। 1947 से पहले 562 रियासतों के रूप में बंटे हुए भारत की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठा अधिक नहीं थी।

(10) यह विश्व राज्य के लिए एक आदर्श है (It is a model for the World State) :- संघात्मक शासन प्रणाली सम्पूर्ण मानव जाति के हित में है। आज संकीर्ण स्वार्थों में बंटे हुए विश्व के छोटे-छोटे व निर्बल राष्ट्र भी तीसरे युद्ध के भय से संघ के रूप में संगठित होकर अपने आपको मुक्त कर सकते हैं। यदि विश्व के रूप में देशों का संघ स्थापित हो जाए तो तीसरे युद्ध की सम्भावना नष्ट हो सकती है और मानव जाति युद्ध की लपटों से बच सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संघात्मक व्यवस्था विश्व राज्य का भी आदर्श बन सकती है। एम०एम० बाल ने कहा है-"एक संघीय प्रणाली विश्व सरकार के लिए एक नमूना प्रस्तुत करती है।"

संघात्मक शासन या सरकार के दोष

(Demerits of Federal Government)

यद्यपि संघवाद का प्रतिमान विश्व के लिए अनेक प्रकार के लाभों की कामना रखता है, लेकिन फिर भी आज तक अनेक देशों ने इस शासन प्रणाली को नहीं अपनाया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह शासन प्रण्साली उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी संघवाद के समर्थक इसे बताते हैं। अनेक विद्वानों ने संघात्मक शासन प्रणाली की खूब आलोचना की है। उनकी द ष्टि में इसमें निम्नलिखित दोष हैं : -

(1) संघीय सरकार एक दुर्बल सरकार होती है, क्योंकि न्यायपालिका की सर्वोच्चता केन्द्र या प्रांतीय सरकारों द्वारा बनाए गए कानूनों के लिए बहुत बड़ा खतरा होती है। सरकार की शक्तियों का विभाजन होने के कारण केन्द्रीय सरकार महत्वपूर्ण मामलों में भी प्रादेशिक सरकारों पर दबाव नहीं डाल सकती। संघीय सरकार में कोई भी इकाई केन्द्र के प्राधिकार को भी चुनौती दे सकती है और अलगाववाद का रास्ता अपना सकती है। डॉयसी ने स्पष्ट किया है कि संघीय संविधान एकात्मक संविधान की अपेक्षा अधिक कमजोर होता है। इसमें शक्तियों के विकेन्द्रीयकरण से शीघ्र निर्णय, एकरूपता, द ढ़ता, सुचारुता तथा उद्देश्य की एकता का अभाव पाया जाता है।

(2) संघात्मक शासन से विघटनकारी ताकतों को बढ़ावा मिलता है और राष्ट्रीय एकता का विकास रुक जाता है। इस शासन प्रणाली में प्रादेशिक सरकारों को काफी स्वतन्त्रता मिलने से संकीर्ण क्षेत्रीय भावनाएं उभरने लगती हैं और नागरिक देश हित को भूल जाते हैं। यदि भारत में एकात्मक शासन व्यवस्था होती तो प थक्कतावादी, आतंकवादी ओर अलगाववादी ताकतें जन्म नहीं लेती और पंजाब तथा जम्मू कश्मीर जैसी समस्याएं जन्म नहीं ले पाती।

(3) संघात्मक शासन प्रणाली विदेश नीति के सफल संचालन में बाधक होता है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि जो सन्धि या समझौता केन्द्र सरकार करे, उसे प्रान्तीय सरकारें भी मान लें। इसलिए विदेश नीति के संचालन से पहले प्रांतीय सरकारों की राय जानना भी जरूरी होता है। इस प्रकार संघात्मक शासन में स्वतन्त्र विदेश नीति का न तो निर्णय हो सकता है और न ही सचालन।

(4) संघात्मक शासन प्रणाली एक खर्चीली व्यवस्था है। इसमें दोहरी सरकार का बोझ केन्द्र को उठाना पड़ता है। केन्द्र के साथ साथ प्रान्तीय सरकारों का खर्चा भी देश को ही वहन करना पड़ता है। बार बार होने वाले चुनाव, पुलिस व्यवस्था, स्थानीय प्रशासन आदि पर किया जाने वाला खर्च इस प्रणाली को अधिक खर्चीली प्रणाली साबित करता है। शासन तन्त्र की दोहरी प्रणाली एकात्मक शासन की अपेक्षा इस व्यवस्था में समय और शक्ति के अपार व्यय को बढ़ा देती है।

(5) संकटकाल या राष्ट्रीय आपदा के समय यह प्रणाली काफी कमजोर साबित होती है। संकटकाल का मुकाबला तो एकात्मक सरकार ही कर सकती है, क्योंकि यह सर्वशक्ति सम्पन्न होती है। उसे प्रान्तीय सरकारों की राय लेने की जरूरत नहीं होती।

(6) संघात्मक व्यवस्था में संविधान में परिवर्तन की कठोर प्रक्रिया राजनीतिक व्यवस्था के विकास का मार्ग अवरुद्ध करती है। कई बार महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सहमति न बन पाने के कारण उपयोगी कानून भी निर्मित होने से चूक जाते हैं।

(7) संघात्मक शासन प्रणाली न्यायिक निरंकुशता को जन्म देती है। प्रत्येक संघात्मक शासन में केन्द्र व इकाइयों में झगड़े होना स्वाभाविक है। उन झगड़ों को निपटाने के लिए संघात्मक राज्यों में न्यायपालिका को स्वतन्त्र व सर्वोच्च बनाया गया है। न्यायपालिका इपनी इस शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकती है। न्यायपालिका को केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के कानूनों को अवैध घोषित करने का भी अधिकार है। कई बार न्यायपालिका कानून की गलत व्याख्या करके जन महत्वों के कानूनों को भी गलत करार दे देती है। अमेरिका तथा भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का न्यायपालिका ने कई बार दुरुपयोग किया है।

(8) संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र-राज्यों के झगड़ों का जन्म होता है। अपने अधिकार-क्षेत्र को लेकर या भारत जैसे संघात्मक देश में अवशिष्ट शक्तियों के प्रयोग को लेकर प्रायः केन्द्र-राज्यों में विवाद चलते रहते हैं। कई बार ये विवाद दो या दो से अधिक प्रादेशिक

सरकारों में भी चलते रहते हैं। हरियाणा-पंजाब में सतलुज नहर के निर्माण को लेकर, तमिलनाडु और कर्नाटक में कावेरी नदी के जल को लेकर कई बार विवाद हुआ है। भारत में संविधान की धारा 356 को लेकर राज्यपालों की संदिग्ध भूमिका पर कई बार केन्द्र के साथ राज्यों का टकराव हुआ है।

(9) संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था राष्ट्रीय एकता की भावना में कमी करती है। नागरिक प्रादेशिक हितों तक ही अपनी सोच रखने लगते हैं। उन्हें देश हित की अधिक चिन्ता नहीं होती।

(10) संघात्मक शासन व्यवस्था एक जटिल शासन प्रणाली है। इसमें विधायिका, प्रशासन, न्याय निर्णय आदि का दोहराव आम व्यक्ति के मन में संघात्मक सरकार के प्रति सन्देह की भावना पैदा करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संघात्मक सरकार में दोहरे शासन, दोहरी नागरिकता, अधिकरा क्षेत्र सम्बन्धी विवाद, नीति, कानून और प्रशासन में विविधता आदि के कारण सुद ढ़ व सक्षम सरकार का अभाव पाया जाता है। संकटकालीन परिस्थितियों में संघात्मक सरकार अधिक कारगर नहीं होती। अधिक खर्चीली व कमजोर आधार वाली सरकार एकात्मक सरकार जैसे लाभों से अछूती रहने के कारण आलोचना का पात्र बन जाती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संघात्मक सरकार बिल्कुल अनुपयोगी है। आज विश्व के लगभग दो दर्जन देशों द्वारा संघात्मक व्यवस्था को अपना लेना इसका महत्व प्रतिपादित करता है। आज अमेरिका, आस्ट्रेलिया, स्विस, कनाडा तथा भारत में संघात्मक सरकारें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। प्रजातन्त्रीय भावनाओं के विकास तथा विश्व संघ के निर्माण में संघात्मक सरकार का प्रतिमान ही सर्वोत्तम है।

केन्द्रीकृत संघवाद

(Centralised - Federation)

आज विश्व के संघात्मक देशों से शक्तियों के केन्द्रीयकरण की प्रव त्ति का विकास हो रहा है। बदलती विश्व परिस्थितियों ने आज प्रांतीय सरकारों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकारों को अधिक शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता को जन्म दिया है। आज अमेरिका तथा भारत जैसे संघात्मक राज्य भी केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने की दिशा में कार्यरत हैं। इन देशों का ढांचा संघात्मक होते हुए भी आज एकात्मक लगने लगा है। लिप्सन का यह विचार सर्वथा ठीक है कि आधुनिक समाज में सभी प्रव त्तियां केन्द्रीयकरण की दिशा में उन्मुख हैं, चाहे वे एकात्मक शासन में स्थानीय स्वायत्तता के रूप में हों या संघीय राज्यों के अधिकारों के रूप में। लियोनार्ड ने भी लिप्सन के मत की ही पुष्टि करते हुए कहा है कि "भविष्य की चौथाई शताब्दी में राज्य खोखले बन जायेंगे और वे मुख्यतः संघीय विभागों के ग्रामीण जिलों के रूप में कार्य करेंगे तथा अपने भरण-पोषण के लिए संघीय कोष पर निर्भर रहेंगे।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि आज संघात्मक राज्य केन्द्रवाद की दिशा में अग्रसर हैं। इस केन्द्रीयकरण की प्रव त्ति को जन्म देने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :-

(1) **संकटकालीन परिस्थितियां** :- दो विश्वयुद्धों तथा ग ह-युद्ध की परिस्थितियों ने प्रांतीय सरकारों की तुलना में शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता महसूस करा दी है। युद्धकाल में तुरन्त निर्णय लेना बहुत आवश्यक होता है। इसमें सक्षम नेत त्व की भी आवश्यकता पड़ती है। संगठित शक्ति और योग्य व सक्षम नेत त्व की आवश्यकता के रूप में युद्ध के भय ने शक्तिशाली केन्द्र को जन्म दिया है। चीन और पाकिस्तान के साथ सम्भावित युद्ध को देखते हुए आज भारत में केन्द्र सरकार को प्रांतीय सरकारों की तुलना में अधिक शक्तियां दी गई हैं। इसी कारण भारतीय संघ का झुकाव केन्द्रीयकरण की तरफ है।

(2) **संविधानिक संशोधन** :- संविधान के संशोधनों ने भी केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में अभूतपूर्व व द्धि की है। अमेरिका में 14 वें संशोधन ने नागरिकता का राष्ट्रीयकरण करके राज्यों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए तथा 16 वें संशोधन द्वारा राष्ट्रीय सरकार को आयकर लगाने का अधिकार प्रदान किया गया। भारत में संविधानिक संशोधनों द्वारा केन्द्र सरकार को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने के प्रयास बराबर किए जा रहे हैं।

(3) **आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन** :- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संघात्मक देशों में तीव्र आर्थिक विकास की आवश्यकता तथा बदलते सामाजिक मूल्यों ने केन्द्र सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाया है। आज आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रांतीय सरकारों केन्द्र सरकार पर ही निर्भर हैं। जनसंख्या व द्वि, आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं की जटिलताओं ने केन्द्र सरकारों को अधिक शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता को जन्म दिया है। श्रम, उत्पादन, वितरण, आर्थिक संकटों सम्बन्धी समस्याएं आज केन्द्र सरकार की आवश्यकता का अनुभव करा दिया है। भारत में योजना के महत्व ने केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। भारत में नियोजन की व्यवस्था ने संघवाद को लांघ दिया है। इसी तरह विश्व के अन्य संघात्मक देश भी अपनी आर्थिक-सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शक्तिशाली क्षेत्रीय सरकार के विकास का रास्ता अपना रहे हैं।

(4) **मौलिक विकास** :- संघात्मक देशों में संविधान लिखित होते हुए भी परिवर्तित परिस्थितियों में अपने आप ही विकसित होते रहते हैं। प्रारम्भ में अमेरिका में प्रान्तीय सरकारें अधिक शक्तिशाली थीं, लकिन कालान्तर में मौलिक विकास के तहत सघीय सरकार की शक्तियों की अपार व द्धि होती गई और अन्त में प्रादेशिक सरकारों की तुलना में केन्द्र सरकार अधिक शक्तिशाली बन गई।

(5) **कानून पर न्यायिक निर्णय** :- संघीय सरकार की शक्ति में व द्धि का प्रमुख कारण न्यायिक निर्णय है। न्यायपालिका ने संघीय विधायिका द्वारा श्रम, कृषि, अर्थव्यवस्था, प्रतिरक्षा, सामाजिक सुरक्षा पर बनाये गये कानूनों को अमेरिका के संघ में महत्वपूर्ण स्थान दे दिया। यदि न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति का प्रयोग करके इन कानूनों को अवैध घोषित कर देती तो ये कभी भी संविधान का अंग नहीं बन सकते थे। इससे अमेरिका में राष्ट्रीय सरकार की शक्तियों में व द्धि हुई।

(6) **लोक कल्याण की राजनीति** :- आज विश्व की सभी सरकारें जन-कल्याण को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानती हैं। जनकल्याण की योजनाओं को अमली जामा पहनाने के लिए अपार आर्थिक साधनों व प्रशासनिक मशीनरी की आवश्यकता पड़ती है। प्रांतीय सरकारें सीमित आर्थिक साधनों तथा प्रशासनिक मशीनरी का बोझ सहन करने में असक्षम होती हैं। इसी कारण प्रांतीय सरकारें लोक कल्याण की नीतियों को संचालित करने का भार केन्द्र सरकार के कन्धों पर लाद देती हैं। इसलिए आज जनकल्याण को बढ़ावा देने के लिए शक्तिशाली केन्द्र सरकार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है और भारत जैसे संघात्मक देश में तो केन्द्र अपने को इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक शक्ति अर्जित भी कर चुका है।

(7) **केन्द्र-राज्य सहयोग की बढ़ती हुई प्रव ति** :- आज केन्द्र व राज्य सरकारों में सहयोग की प्रव त्ति का निरन्तर विकास हो रहा है। आज प्रादेशिक सरकारें राष्ट्रीय हितों में ही अपने हित सुरक्षित समझने लगी है। इससे केन्द्र राज्य सम्बन्धों में सुधार आ रहा है और केन्द्र सरकार को अधिक शक्तियां प्राप्त हो रही हैं। अब राज्य सरकारों की स्थिति एक सहयोगी संस्था के रूप में रह गई है।

(8) **संविधान की उदारवादी न्यायिक व्याख्या** :- शक्तियों के विभाजन सम्बन्धी विवादों में

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई व्याख्याएं भारत व अमेरिका में केन्द्र सरकार के पक्ष मे ही हैं। भारत में अवशिष्ट शक्तियां भी केन्द्र सरकार को ही प्राप्त हैं। इस द ष्टि से भी वह प्रान्तीय सरकारों से अधिक शक्तिशाली हैं। अमेरिका में भी सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक व्याख्या के तहत ही 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' का विकास हुआ है। अतः न्यायिक पुनर्व्याख्याएं भी केन्द्र के पक्ष में ही हैं।

(9) **राज्यों की केन्द्र पर आर्थिक निर्भरता** :- देश के सभी आर्थिक संसाधन केन्द्र सरकार के पास ही होते हैं। यह निर्णय केन्द्र सरकार ही करती है कि किस राज्य को कितना देना है। केन्द्र पर आधारित आर्थिक मदद 'आर्थिक निर्भरता के सिद्धान्त' ने केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। प्रांतीय सरकारों को यह डर रहता है कि यदि उन्होंने केन्द्र सरकार की निरंकुशता के विरुद्ध आवाज उठाई तो उनको मिलने वाली आर्थिक सहायता रोक दी जायेगी। इसी कारण प्रान्तीय सरकारों की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण हो रहा है और केन्द्र सरकार की शक्तियों का केन्द्रीयकरण हो रहा है। आज शक्ति संतुलन केन्द्र सरकार के पक्ष मे ही है। भारत में आर्थिक सहायता देने वाली एजेंसियां केन्द्र सरकार के ही नियन्त्रण में हैं।

(10) **अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश** :- आज बदलती विश्व परिस्थितियों ने शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता को महसूस करा दिया है। आज सफल विदेश नीति के संचालन तथा बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा के द ष्टिगत केन्द्र सरकार को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने के प्रयासों को विश्व समुदाय व राष्ट्रीय जनता का समर्थन मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर किए जाने वाले समझौते व सन्धियां राष्ट्रीय सरकार के नाम से ही होते हैं। इसलिए आज राष्ट्रीय सरकार को प्रांतीय सरकारों की तुलना में अधिक शक्तियों की आवश्यकता है। आज प्रादेशिक सरकारें इस सच्चाई को अच्छी तरह समझने लगी हैं और अपनी शक्तियों का केन्द्र सरकार के पक्ष में त्याग कर रही हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज विश्व में संघात्मक सरकारों का रुझान केन्द्रवाद की तरफ बढ़ रहा है। इसी कारण आज संघवाद के ऊपर एकात्मकता के आरोप लगाए जाने लगे हैं। इसका प्रमुख कारण संघवाद का केन्द्रीयकरण की ओर झुकाव का बढ़ना है। आज बदलते विश्व परिवेश ने शक्तिशाली केन्द्र की आवश्कता को अपरिहार्य बना दिया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संघ की इकाइयां अपना महत्व खो चुकी हैं। इस एकात्मक संघवाद या केन्द्रीयकृत संघवाद को जन्म देने में इकाइयों का ही सबसे अधिक योगदान है। जब तक केन्द्र और इकाइयों में सहयोगात्मक रवैया रहेगा, तब तक न तो केन्द्र को कोई खतरा हो सकता है और न ही इकाइयों को। इसी सहयोगात्मक व्यवहार से संघवाद का निरन्तर विकास होता रहेगा।

संघवाद का भविष्य

(Future of Federalism)

संघवाद में बढ़ती केन्द्रीयकरण की प्रव त्ति को देखकर ऐसा लगता है कि संघवाद का भविष्य सुरक्षित नहीं है। 1991 ई० में सोवियत संघ के विघटन से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब विश्व में संघात्मक व्यवस्था का लोप होने वाला है। लेकिन आज भारत, अमेरिका, कनाडा, स्विस तथा आस्ट्रेलिया में संघवाद का जो रूप प्रचलित है, उसे देखकर तो कहा जा सकता है कि आज संघवाद एक अवधारणा के रूप में ही नहीं, बल्कि एक गत्यात्मक व व्यवहारिक ढांचे के रूप में भी विद्यमान है। यद्यपि आज विश्व में एकात्मक संघवाद का प्रतिमान विकसित हो रहा है और शक्तियों का झुकाव केन्द्र की तरफ जा रहा है, लेकिन फिर भी सहयोगात्मक आधार के रहते हुए केन्द्र व इकाइयों में मतभेदों के उभरने का कोई आसार नहीं है। जब तक केन्द्र-राज्यों में सहयोगपूर्ण

सम्बन्ध रहेंगे तब तक संघवाद अनिश्चितकाल तक चलेगा। यद्यपि इसका स्वरूप एकात्मक हो सकता है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के निर्माण में यह अवधारणा एक आदर्श प्रतिमान का कार्य करती रहेगी।

एकात्मक तथा संघात्मक सरकार में तुलना

(Comparison between Unitary and Federal Government)

केन्द्र तथा इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर दो प्रकार की सरकारें होती हैं - एकात्मक तथा संघात्मक। एकात्मक सरकार में शासन की समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास होती हैं, जबकि संघात्मक सरकार में शासन की ाक्तियां केन्द्र व इकाइयों में बंटी हुई होती हैं। उपरोक्त विवेचन में एकात्मक व संधात्मक सरकार के बारे में काफी विचार-विमर्श करने के बाद दोनों में अनेक विषमताएं या असमानताएं द ष्टिगोचर होती हैं। एकात्मक तथा संघात्मक सरकार में निम्नलिखित अन्तर हो सकते हैं :-

(1) एकात्मक सरकार में शासन का एक ही स्तर होता है। सारे देश का शासन केन्द्रीय सरकार ही चलाती है। स्थानीय सरकारों का अस्तित्व केन्द्र सरकार पर ही निर्भर करता है। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में शासन के दो स्तर - केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें होती हैं। प्रान्तीय सरकारों का अपना प थक संविधानिक अस्तित्व होता है।

(2) एकात्मक सरकार मे शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है। शासन के मुखिया की कुछ शक्तियां प्रादेशिक सरकारों को भी दी जा सकती हैं, लेकिन वे इनका प्रयोग केन्द्रीय सरकार के मार्ग-दर्शन में ही करती हैं। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में शक्तियों का विभाजन तथा विकेन्द्रीयकरण होता है। प्रादेशिक सरकारों को शक्तियां संविधान द्वारा ही अलग रूप में दे दी जाती हैं। इसमें शक्तियों के तीन स्तर - केन्द्रीय, प्रांतीय, समवर्ती होते हैं। केन्द्र सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकर केन्द्रीय सरकार को तथा राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार राज्य सरकार को होता है। समवर्ती सूची पर दोनों सरकारें कानून बना सकती हैं। शक्तियों के प्रयोग को लेकर संघात्मक सरकार में केन्द्र व प्रान्तीय सरकारें स्वतन्त्र होती हैं। इसमें केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्राधिकार में अनावश्यक प्रवेश नहीं कर सकती।

(3) एकात्मक सरकार का संविधान लिखित या अलिखित, लचीला या कठोर दोनों प्रकार का हो सकता है, जबकि संघात्मक सरकार का संविधान लिखित तथा कठोर होता है।

(4) एकात्मक सरकार में एक ही सरकार होती है। इसमें एक ही विधायिका, एक ही कार्यपालिका तथा एक ही न्यायपालिका सारे देश का शासन चलाती हैं। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में केन्द्र और राज्यों के लिए अलग अलग विधानमण्डल, कार्यपलिकाएं तथा न्यायपालिकाएं होती हैं।

(5) एकात्मक सरकार में न्यायपालिका सर्वोच्च नहीं होती। इसमें न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत संघात्मक राज्यों में केन्द्र व प्रान्तों में होने वाले झगड़ों का समाधान करने के लिए स्वतन्त्र व सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है। इसक न्यायिक पुनरवालोकन की शक्ति भी प्राप्त होती है। यह प्रांतीय या केन्द्र विधानमण्डल द्वारा बनाये गये कानूनों को अवैध घोषित करने का अधिकार रखती है।

(6) एकात्मक सरकार में इकहरी नागरिकता, इकहरा शासनतन्त्र पाया जाता है, जबकि संघात्मक सरकार में दोहनी नागरिकता तथा दोहरा शासनतन्त्र पाया जाता है।

(7) एकात्मक सरकार में कानूनों, न्याय विधानों और शासन-विधानों में एकरूपता का गुण पाया

जाता है, जबकि संघात्मक सरकार में इसका अभाव होता है।

(8) एकात्मक सरकार में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है, जबकि संघात्मक सरकार में संविधान सर्वोच्च होता है।

(9) एकात्मक सरकार में सारे देश में एक ही कानून होता है, जबकि संघात्मक सरकार में केन्द्र व प्रान्तीय सरकारें अलग अलग कानूनों का संचालन करती हैं।

(10) एकात्मक सरकार अधिक शक्तिशाली होता है। कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार ही होता है। संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने में यह अधिक सक्षम होती है। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में शक्तियों का बंटवारा होने के कारण केन्द्र सरकार निर्बल होती है। वह केवल निश्चित विषयों पर ही कानून बना सकती है। कई बार न्यायपालिका उसके कानूनों को अवैध घोषित कर देती है।

(11) एकात्मक सरकार विदेश नीति के सफल संचालन में सहायक होती है, जबकि संघात्मक सरकार विदेशी मामलों में प्रायः कमजोर ही साबित होती है। उसे यह विश्वास नहीं होता कि प्रांतीय सरकारें उसके द्वारा की गई सन्धि या समझौते को लागू करेंगी या नहीं।

(12) एकात्मक सरकार में इकहरी नागरिकता के कारण और सभी नागरिकों को समान सुविधाएं होने के कारण राष्ट्रीय एकता में व द्धि होती है। इसके विपरीत संघात्मक सरकार में प्रान्तीय हितों को बढ़ावा मिलने से राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसमें नागरिकों में संकीर्ण क्षेत्रीय हितों की भावना प्रबल होती है।

(13) एकात्मक सरकार अधिक कार्यकुशल तथा कम खर्चीली होती है, जबकि संघात्मक सरकार कम कार्यकुशल तथा अधिक खर्चीली होती है। क्योंकि संघात्मक सरकार में कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय प्रान्तीय सरकारों की सलाह से ही लिया जा सकता है।

(14) एकात्मक शासन प्रणाली एक सीधी-सादी शासन प्रणाली है। इसमें सरकार का एक ही स्तर, एक ही कानून, एक ही नागरिकता आदि होने के कारण आम व्यक्ति भी अपने देश की शासन प्रणाली के बारे में ज्ञान रख सकता है। इसके विपरीत संघात्मक शासन प्रणाली में दोहरी सरकारें, दोहरी नागरिकता, दोहरे कानून आदि के कारण आम व्यक्ति के लिए अपने देश की शासन प्रणाली को समझना कठिन होता है।

(15) एकात्मक सरकार में केन्द्रीय सरकार के पास सारी शक्तियां होने के कारण वह निरंकुश बन सकती हैं, जबकि संघात्मक सरकार में शक्तियों का विभाजन होने के कारण और न्यायपालिका की सर्वोच्चता के कारण वह निरंकुश नहीं बन सकती। उसका रूप लोकतन्त्रीय ही रहता है।

(16) एकात्मक सरकार छोटे देशों के लिए अधिक उपयुक्त है, जबकि संघात्मक सरकार बड़े देशों के लिए अधिक उपयुक्त है।

(17) एकात्मक सरकार में न तो स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और न ही लोगों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है, जबकि संघात्मक सरकार इन दोषों से मुक्त होती है।

(18) एकात्मक सरकार आपातकालीन परिस्थितियों का सामना करने में अधिक सक्षम है, जबकि संघात्मक सरकार आपातकालीन परिस्थितियों का मुकाबला करने में कठिनाई का अनुभव करती है।

कौनसी सरकार अधिक उपयुक्त है और क्यों : एकात्मक या संघात्मक

(Which Govt. is more suitable and why : Unitary or Federal)

संघात्मक तथा एकात्मक सरकारों का उद्देश्य कुशल, स्वस्थ और जन-हितैषी प्रशासन का संचालन

करना है ताकि राष्ट्रीय आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो जाए और विदेशों में राष्ट्र का सम्मान भी बढ़े। लेकिन किस देश में कौनसी शासन-प्रणाली या सरकार उपयुक्त रहती है, यह देश-विशेष की परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। संघात्मक सरकार के बारे में यह कहा जाता है कि जहां जातीय, धार्मिक, भाषाई, सांस्कृतिक आदि कारकों की विभिन्नता मौजूद हो और विशाल क्षेत्रफल वाला देश हो तो वहां संघात्मक शासन व्यवस्था ही सर्वोच्च रहती है क्योंकि बड़े क्षेत्रफल और अधिक जनसंख्या वाले देशों का शासन एकात्मक सरकार से चलाना कठिन होता है। विभिन्नताओं से युक्त ऐसा देश संघीय सरकार के रूप में ही अधिक कुशलतापूर्वक शासन चला सकता है। इससे प्रादेशिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता भी मजबूत बन सकती है। जो देश आर्थिक रूप से निर्बल हैं, वहां एकात्मक सरकार द्वारा ही शासन चलाना अधिक उपयुक्त है। एकात्मक सरकार देश को काफी खर्चों से बचा लेती है। लेकिन यह छोटे देशों के लिए अधिक उपयुक्त रहती है, बड़े देशों के लिए नहीं। संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने तथा विदेश नीति के सफल संचालन के लिए एकात्मक सरकार ही अधिक उपयुक्त दिखाई देती है। लेकिन आज आर्थिक विकास और सुरक्षा की भावना से संघवाद को अधिक बल मिला है। इससे विरोधी हितों को प्रजातन्त्रीय तरीके से संतुष्ट होने का अवसर भी प्राप्त होता है। लेकिन अधिक खर्चीली व निर्बल शासन पद्धति होने के कारण आज अनेक देश इसे स्वीकार करने से परहेज करते हैं। भारत के सन्दर्भ में हम देखें तो यहां संघात्मक शासन प्रणाली है। यद्यपि हमारे नागरिकों ने संकटकाल के दौरान राष्ट्रीय एकता का ही परिचय दिया है, लेकिन आज भारत के सामने आतंकवाद, अलगाववाद, साम्प्रदायिकता जैसी समस्याएं सिर उठा रही हैं, इन परिस्थितियों में शक्तिशाली एकात्मक सरकार का विकल्प ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। आज भारत को चीन और पाकिस्तान से जो सुरक्षा का खतरा है, उसे शक्तिशाली एकात्मक सरकार ही झेल सकती है। प्रादेशिक सरकारों व विरोधी दलों के नकारात्मक रवैये के कारण संघात्मक सरकार आज तक कोई ठोस निर्णय लेने में प्रायः नाकाम ही रही है। इसलिए आज अनेक राजनीतिक विद्वान भारत में एकात्मक सरकार की वकालत करते हैं। लेकिन भारत के संविधान में पहले ही कुछ ऐसे संकटकालीन प्रावधान हैं कि राष्ट्रपति युद्ध के समय संघात्मक शासन को एकात्मक शासन में बदल सकता है। आज भारत में एकल नागरिकता व एकल न्यायपालिका है। इस दृष्टि से भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अधिक असफल नहीं हो सकी है। लेकिन भारत की तरह विश्व के अन्य संघात्मक राज्यों में संकटकाल से निपटने तथा अराजकतावादी तत्वों से निपटने की कारगर व्यवस्थाएं नहीं हैं, वहां पर संघवाद को जीवित रखना मुश्किल हो जाता है। इसी कारण संकटकाल में वहां एकात्मक सरकार की मांग उठने लगती है। सत्य तो यही है कि कौनसी सरकार या शासन प्रणाली किस देश में उपयुक्त है, इस बात का निर्णय तो देश-विशेष की परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। सार रूप में तो यही कहा जा सकता है कि जिस देश के लोगों की राजनीतिक चेतना का स्तर काफी ऊँचा हो, लोग अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का ज्ञान रखते हों, राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देते हों, वहां पर चाहे वह देश छोटा हो या बड़ा, अमीर हो या गरीब, संघात्मक शासन व्यवस्था से बढ़कर दूसरी लोकतन्त्रीय प्रणाली कोई अन्य नहीं हो सकती। लेकिन जहां पर न तो लोगों में राजनीतिक चेतना है और देश का आकार भी छोटा है तथा दोहरे शासन का भार वहन करने की क्षमता भी नहीं है, वहां पर तो एकात्मक सरकार का विकल्प ही श्रेष्ठ है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में शक्तिशाली व प्रभुसत्तासम्पन्न एकात्मक सरकार ही विदेशी सम्बन्धों के कुशल संचालन के लिए समय की मांग है। यही कारण है कि सोवियत संघ जैसे संघात्मक राज्य भी बिखरकर एकात्मक शासन की ओर अग्रसर हो गए। आज विश्व में गिने चुने देशों में ही संघात्मक सरकारें हैं और उनमें भी एकात्मक संघवाद का जन्म हो रहा है। इससे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि आज विश्व का रुझान एकात्मक सरकारों के पक्ष में है। इसलिए अधिकतर देशों द्वारा एकात्मक सरकारों के प्रतिमान को अपनाया जाना एकात्मक सरकार की उपयोगिता को ही सिद्ध करता है।

अध्याय-6
सरकार के रूप : संसदीय और अध्यक्षात्मक सरकार
(Forms of Government : Parliamentary and Presidential)

सरकार के अंगों - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के आपसी सम्बन्धों के आधार पर शासन प्रणालियों को दो भागों में बांटा जाता है, प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में तो न्यायपालिका को स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष बनाए रखने के प्रयास किए जाते हैं ताकि राजनीतिक सत्ता को वैधता प्राप्त होती रहे। इसलिए सरकार के दो अंगों कार्यपालिका और विधायिका के आपसी सम्बन्ध ही प्रायः सरकार का स्वरूप निश्चित करते हैं। जिस संविधानिक राज्य में कार्यपालिका किसी-न-किसी संस्था के प्रति अवश्य उत्तरदायी रहती है, वह शासन प्रणाली संसदीय शासन प्रणाली होती है। लेकिन सभी शासन प्रणालियों में ऐसा होना जरूरी नहीं है कि विधायिका व कार्यपालिका के आपसी सम्बन्ध अच्छे हों। इसलिए कई देशों में कार्यपालिका विधायिका की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन होता है और कार्यपालिका विधायिका की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन होता है और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, ऐसी व्यवस्था अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली कहलाती है। इस तरह कार्यपालिका और विधायिका के घनिष्ठ सम्बन्धो वाली सरकार संसदीय तथा प थक शक्तियों तथा अनुत्तरदायी सम्बन्धों वाली सरकार अध्यक्षात्मक सरकार कहलाती है। इंग्लैण्ड, भारत, आस्ट्रेलिया, जापान, डेनमार्क, फ्रांस, स्वीडन, कनाडा आदि देशों में तो संसदीय सरकार है, जबकि अमेरिका, अल्जीरिया, इन्डोनेशिया, बर्मा, पाकिस्तान तथा बंगलादेश आदि देशों में अध्यक्षात्मक सरकारे हैं, इनमें से ब्रिटेन संसदीय शासन प्रणाली तथा अमेरिका अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का सर्वोत्तम नमूना पेश करता है।

संसदीय सरकार : अर्थ और परिभाषा
(Parliamentary Govt : Meaning and Definition)

संसदीय सरकार को उत्तरदायी सरकार भी कहते हैं, इसमें कार्यपालक शक्तियां एक मन्त्रिमण्डल में निहित होती हैं, इसलिए मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार भी कहा जाता है। संसदीय सरकार शासन की वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) अपने कार्यों के लिए विधायिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। इसलिए इसे उत्तरदायी सरकार भी कहा जाता है। इसमें कार्यपालिका अपने पद पर उसी समय तक रह सकती है, जब तक उसे विधायिका (संसद) का बहुमत या विश्वास प्राप्त है। इस सरकार में मन्त्रिमण्डल का नेता प्रधानमन्त्री होता है और समस्त कार्यपालक शक्तियां वास्तव में उसी के हाथ में होती हैं। इसमें देश का मुखिया नाममात्र का होता है। इसमें देश का शासन नाममात्र के मुखिया के नाम पर मन्त्रीमण्डल द्वारा ही चलाया

जाता है। संसदीय को कुछ विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) गार्नर के अनुसार- "संसदीय शासन प्रणाली वह है जिसके अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) विधानमण्डल या उसके एक सदन (प्रायः अधिक लोकप्रिय सदन) के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति अन्तिम रूप से अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहती है, जबकि राज्य का नाममात्र का मुखिया अनुत्तरदायी होता है।"

(2) सी०एफ० स्ट्रांग के अनुसार- "संसदीय कार्यपालिका का सार यह है कि अन्तिम विश्लेषण में मन्त्रिमण्डल संसद की एक समिति है जिसमें लोकतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ लोकसभा की समिति बन जाने की प्रव त्ति निहित है।"

(3) कार्टर और हर्ज़ के अनुसार- "संसदीय शासन प्रणाली सरकार के कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अंगों के अन्तःपाशन (interlocing) पर आधारित शासन है।"

(4) बेजहॉट के अनुसार- "संसदीय सरकार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों के संयोग और घनिष्ठ सम्बन्धों पर आधारित सरकार है।"

संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएं

(Features of Parliamentary Govt.)

संसदीय शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) संसदीय सरकार में देश का मुखिया नाममात्र का होता है। उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है।

(2) संसदीय सरकार में नाममात्र और वास्तविक दो तरह की कार्यपालिका होती हैं। प्रधानमन्त्री वास्तविक कार्यपालक होता है, जबकि राष्ट्रपति या शासनाध्यक्ष नाममात्र का। ऐसी व्यवस्था सभी संसदीय शासन-प्रणाली वाले देशों में होती है। संसदीय सरकार में नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका में भेद किया जाता है। संविधान द्वारा देश के प्रधान को जो शक्तियां दी जाती हैं उनका वास्तविक प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रपति तो नाममात्र का मुखिया होता है, जबकि प्रधानमन्त्री वास्तविक कार्यपालिका है।

(3) संसदीय सरकार में कार्यपालिका तथा विधायिका में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य विधानमण्डल के भी सदस्य होते हैं और वे व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ये सभी विद्यार्थी कार्यों को करने में व्यवस्थापिता की मदद भी करते हैं। इस तरह मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका और व्यवस्थापिता को जोड़ने वाली प्रमुख कड़ी है।

(4) संसदीय सरकार में कार्यपालिका का चयन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है। वही व्यक्ति प्रधानमन्त्री बनता है, जिसे संसद में बहुमत प्राप्त हो।

(5) संसदीय शासन में राज्य का मुखिया सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति करता है। यद्यपि यह औपचारिकता मात्र ही होती है। संसद में बहुमत दल का व्यक्ति ही सरकार का अध्यक्ष बनता है।

(6) संसदीय सरकार में प्रधानमन्त्री ही सरकार की धुरी होता है। देश का शासन चलाने की पूर्ण जिम्मेदारी उसी की होती है।

(7) संसदीय सरकार में मन्त्रिमण्डल का गठन प्रधानमन्त्री द्वारा ही किया जाता है।

(8) संसदीय सरकार में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों कों संसद के किसी भी सदन का सदस्य होना

जरूरी है। यदि कोई व्यक्ति बिना सदन के सदस्य के रूप में मन्त्री बनता है तो उसे 6 महीने के अन्दर चुनाव लड़कर या मनोनयन द्वारा किसी भी सदन का सदस्य बनना पड़ता है।

(9) मन्त्रिमण्डल में सजातीयता का गुण पाया जाता है। संसदीय सरकार में सभी मन्त्री एक ही दल के बनते हैं, लेकिन भारत इसका अपवाद है। भारत में वर्तमान सरकार में कई राजनीतिक दलों के सदस्य मन्त्री पद पर हैं।

(10) संसदीय सरकार में मन्त्रिमण्डल एक सामूहिक संस्था होती है। सभी मन्त्री सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर प्रधानमन्त्री के नेत त्व में कार्य करते हैं।

(11) संसदीय सरकार का कार्यकाल अनिश्चित होता है। इसमें सरकार उसी समय तक अस्तित्व में रह सकती है, जब तक उसे संसद में बहुमत या विश्वास मत प्राप्त है।

(12) संसदीय सरकार में प्रधानमन्त्री संसद को संविधानिक मुखिया के साथ विचार-विमर्श करके विश्वास मत रहते भी भंग करवाने का अधिकार रखता है।

(13) संसदीय सरकार में मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही गोपनीय होती है।

(14) संसदीय सरकार चुनावों को बहुत महत्व देती है। इसमें विधानमण्डल का चुनाव निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है।

(15) संसदीय शासन प्रणाली में प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक मन्त्री होता है। वही विभागीय नीतियों की सफल्ता या असफलता के लिए उत्तरदायी होता है।

(16) संसदीय सरकार में संसद सर्वोच्च होती है। वही शक्ति का वास्तविक केन्द्र होती है।

(17) संसदीय सरकार में विपक्षी दल को सम्मानजनक स्थान प्राप्त होता है।

संसदीय सरकार के गुण

(Merits of Parliamentary Govt)

आज संसदीय शासन प्रणाली भारत, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया सहित अनेक देशों में प्रचलित है और यह बड़ी सफलता के साथ अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर रही है। इन देशों में इसका लोकप्रिय होना इसके महत्त्व को प्रतिपादित करता है। संसदीय शासन प्रणाली का गहन अवलोकन करने से इसके निम्नलिखित गुण द ष्टिगोचर होते हैं :-

(1) **उत्तरदायी सरकार (Responsible Gogernment)** :- संसदीय सरकार उत्तरदायी सरकार होती है, क्योंकि इसमें मन्त्रिमण्डल आने सारे कार्यों तथा नीतियों के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। वह अपनी शक्तियों का प्रयोग निधानपालिका की इच्छा के अनुसार ही करता है। इस सरकार में व्यवस्थापिका प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, स्थगन प्रस्तावों, ध्यानाकर्षण प्रस्तावों, काम रोको प्रस्ताव आदि के माध्यम से कार्यपालिका को उत्तरदायी बनाती है। विधानपालिका के सदस्य जन-प्रतिनिधि होने के कारण कार्यपालिका को उत्तरदायी बनाने के हर सम्भव प्रयास करते रहते हैं। इसी कारण संसदीय सरकार का प्रमुख गुण इसका उत्तरदायित्व है।

(2) **निरंकुशता का अभाव (Lack of despotism)** :- संसदीय सरकार में मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि मन्त्रिमण्डल कोई मनमानी करता है तो विधायिका उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे हटा देती है। मन्त्रिमण्डल को संसदीय प्रणाली में विरोधी दल के विचारों का भी ध्यान रखना पड़ता है। यदि वह कोई मनमानी करता है तो विरोधी दल उसकी आलोचना करके उसे जनता के कोप का भाजन बना देता है। भारत में विरोधी दल सरकार को निरंकुश बनने से रोकने में अहम्

भूमिका निभाता है। इसलिए संसदीय सरकार में निरंकुशता का अभाव पाया जाता है।

(3) **कार्यपालिका तथा विधायिका में पूर्ण सहयोग (Complete harmony between the Executive and Legislature) :-** संसदीय सरकार में सरकार के दो अंगों - विधायिका व कार्यपालिका में आपसी सहयोग पाया जाता है। इसमें मन्त्रिमण्डल के सदस्य विधानपालिका के भी सदस्य होते हैं। दोनों एक ही उद्देश्य से कार्य करते हैं। मन्त्रिमण्डल विधायिका की एक समिति की तरह कार्य करता है। वह उसका मार्गदर्शक, निरीक्षक और आशाओं का दीपक माना जाता है। इन दोनों के सहयोग के कारण ही अनेकों कानूनों का निर्माण होता है और शासन में दक्षता का गुण आता है। इस सहयोग व मतैक्य के कारण सत्ता में उत्तरदायित्व का गुण भी बना रहता है।

(4) **शीघ्र निर्णय (Quick Decisions)** :- संसदीय सरकार में शासन-शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित रहने के कारण शीघ्र निर्णय लेना आसान होता है। शीघ्र निर्णय लेना संकटकाल में बहुत लाभदायक होता है। शीघ्र निर्णय लेकर सरकार उन्हें शीघ्र ही लागू करके प्रत्येक समस्या से निपटने में सक्षम होने के कारण प्रशंसा की पात्र बन जाती है।

(5) **लचीली सरकार (Flexible Govt.)** :- संसदीय सरकार में कोई भी संकट आने पर उसे बदलना आसान होता है। कोई नई परिस्थिति पैदा होने पर इसमें शीघ्रता से निर्णय लिया जा सकता है। इसमें सरकार को बदलकर समस्या पर काबू पाया जा सकता है। द्वितीय वियव युद्ध के समय इंग्लैण्ड में चेम्बरलेन के असफल रहने के कारण उसके स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया गया था। इसी तरह 1991 में भारत में आरक्षण की नीति को लेकर हुए देशव्यापी हंगामें के कारण वी०पी० सिंह की जगह चन्द्रशेखर को प्रधानमन्त्री बनाया गया था। लचीलापन संसदीय सरकार का प्रमुख गुण है।

(6) **विरोधी दल का महत्व (Importance of Opposition Party)** :- संसदीय सरकार में आलोचना को बहुत महत्व दिया जाता है। इसमें विरोधी दल की रचनात्मक आलोचना को सत्तारूढ़ सरकार बहुत अधिक उपयोगी मानती है। इससे सरकार को अपनी कमियों का पता चल जाता है और भविष्य में उन दोषों की पुनराव त्ति पर अंकुश लग जाता है। इससे जनता व सरकार दोनों का ही फायदा होता है।

(7) **योग्य व्यक्तियों की सरकार (Govt. of Able men)** :- संसदीय शासन प्रणाली में जनता उसी दल को सत्तासीन करती है जो उसे अधिक योग्य लगते हैं। चुनावों के समय लोग लोकप्रिय नेताओं का ही चुनाव करते हैं। सरकार में शामिल होने से पहले शासक-वर्ग को जनता की कसौटी पर खरा उतरना पड़ता है। यदि कभी गलत व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल में स्थान प्राप्त हो जाए तो बाद में उसे हटा दिया जाता है। प्रत्येक नेता को शासन कार्यों में अपनी पूरी योग्यता दिखाने के अवसर प्राप्त होते हैं। इस तरह संसदीय सरकार योग्य व्यक्ति ही बनाते हैं और योग्य ही चलाते हैं।

(8) **वैकल्पिक शासन या सरकार का प्रावधान (Provision for an alternative Govt.)** :- संसदीय शासन प्रणाली में हमेशा उसी दल का शासन होता है जिसे संसद में बहुमत प्राप्त रहता है। सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध अविश्वास प्राप्त पास होने पर उसका स्थान विरोधी दल ले सकता है। यह सुविधा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में नहीं होती। इस व्यवस्थ से बार बार चुनावी खर्च से बचा जा सकता है और प्रशासन भी सुचारु ढंग से चलता है। जेनिंग्स ने कहा है-"विरोधी दल का नेता प्रधानमन्त्री का स्थान लेने वाला होता है। जनमत में केवल थोड़ा सा परिवर्तन हिज मैजेस्टी के विरोधी दल को सदन में बहुमत दिलवाकर उसे हिज मैजेस्टी की सरकार बना सकता है।" अतः संसदीय शासन प्रणाली में वैकल्पिक सरकार की महत्वपूर्ण व्यवस्था होती है।

(9) **राजनीतिक चेतना व शिक्षा** (Political Consciousness and Education) :- संसदीय सरकार में राजनीतिक दल लोगों को राजनीतिक रूप से शिक्षित करते रहते हैं। प्रत्येक दल चुनाव जीतकर शासन की बागडोर सम्भालने के चक्कर में जनता को अपने पक्ष में करने के लिए अपनी नीतियों का प्रचार तथा विरोधी दल की आलोचना करता है। इससे नागरिकों को राजनीति का ज्ञान प्राप्त होता रहता है और उनमें राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

(10) **जनमत की सरकार** (Govt. of Public Opinion) :- संसदीय सरकार जनमत की इच्छा का परिणाम होती है। इसलिए उसे जनमत का आदर करना पड़ता है। इसमें सरकार लोगों की भावनाओं का निरादर नहीं कर सकती। इसमें सत्तारूढ़ दल चुनावी वायदों को पूरा करने का हर प्रयास करता है। इसमें मन्त्रिमण्डल जनमत की इच्छा के अनुसार ही सरकार में रहता है। यदि कोई सरकार जनमत की अवहेलना करता है तो आगामी चुनावों में उसे जनता का कोप सहना पड़ता है। इसी भय के कारण संसदीय सरकार में शासक वर्ग जनमत का आदर करता रहता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संसदीय सरकार उत्तरदायी सरकार होती है और इसमें जनमत की इच्छा का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। इसमें सत्तारूढ़ दल अपने अन्तिम क्षणों तक लोकप्रिय बने रहने के प्रयास करता रहता है। कार्यपालिका तथा विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इस सरकार में आपातकाल में त्वरित निर्णय लेने तथा स्थिति से निपटने में सक्षमता इसका प्रमुख गण है। सभी वर्गों के हितों की पोषक होने के कारण संसदीय सरकार का महत्त्व निर्विवाद है।

संसदीय सरकार के दोष

(Demerits of Parliamentary Govt.)

यद्यपि संसदीय सरकार के अनेक लाभ हैं, लेकिन फिर भी यह दोषों से मुक्त नहीं है। इसके दोषों को देखकर इसके गुणों पर आंच आने लगती है। इसलिए इसके प्रमुख दोषों को जानना भी अपरिहार्य है। अनेक विद्वानों ने संसदीय सरकार के निम्नलिखित अवगुण बताए हैं :-

(1) संसदीय सरकर में प्रधानमन्त्री की शक्तियां असीमित होती हैं। उसके साथ मतभेद होने पर मन्त्रियों या जनप्रतिनिधियों को उसकी निरंकुशता का शिकार बनना पड़ता है। यह लोकतन्त्र के विपरीत है। अतः संसदीय सरकार मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही की जनक है। डॉयसी ने लिखा है कि संसदीय सरकार में कार्यपालिका विधायिका की तानाशाही का शिकार हो जाती है।

(2) संसदीय सरकार का कार्यकाल अनिश्चित होता है। यह अपने पद पर उसी समय तक रह सकती है जब तक उसे संसद में बहुमत प्राप्त है।

(3) कार्यपालिका और विधायिका के घनिष्ठ सम्बन्ध शक्ति-प थक्करण सिद्धान्त के महत्व को कम कर देते हैं। इससे शासन व्यवस्था के वे लाभ जनता तक नहीं पहुंच पाते जो इस सिद्धान्त के लागू होने से प्राप्त होते हैं।

(4) यह सरकार दलबन्दी को प्रोत्साहन देकर शासन व्यवस्था व समाज में संघर्ष व तनाव की स्थिति पैदा करती है।

(5) संसदीय सरकार अदक्ष व्यक्तियों की सरकार होती है। इसमें किसी नौसिखिए मन्त्री को किसी विभाग को सौंपकर पल्ला झाड़ लिया जाता है। इससे उत्तरदायी सरकार के कर्त्तव्य पूरे नहीं हो सकते।

(6) संसदीय सरकार के राजनीतिक कार्यपालिका प्रशासनिक अधिकारियों पर अधिक आश्रित होने के कारण प्रशासनिक भ्रष्टाचार व नौकरशाही की निरंकुशता को जन्म देती है।

(7) अनेक विद्वानों का यह भी मत है कि ऐसी सरकार संकटकाल के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है। संसदीय शासन की शक्तियां एक व्यक्ति के हाथ में न होने के कारण महत्वपूर्ण निर्णय लेना सम्भव नहीं है।

(8) इसमें विरोधी दल की भूमिका संसद की कार्यवाही के बाधक होती है। कई बार विरोधी दल के सदस्य जानबूझकर सरकार को नीचा दिखाने के लिए जनता में उसकी नीतियों का भ्रामक प्रचार करते हैं।

(9) इस सरकार में कार्यपालिका हमेशा ही विधायिका की चमचागिरी के चक्कर में लगी रहती है ताकि उसका पद न चला जाए। उसे अपने कार्यों को करने के लिए विधायिका का समर्थन जुटाने के चक्कर में अपना स्वाभिमान भी दाव पर लगाना पड़ता है। इसलिए संसदीय सरकार में कार्यपालिका अधिक दुर्बल होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संसदीय सरकार में कानून निर्माण का सारा बोझ मन्त्रिमण्डल पर आ जाता है औक्र इससे कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यों को सही ढंग से पूरा करने में असक्षम रहती है। कार्यपालिका की पराश्रिता राजनीतिक अस्थिरता का खतरा भी पैदा कर देती है। इसमें दलबन्दी को प्रोत्साहन मिलने के कारण संसद वाद-विवाद का अखाड़ा बनकर रह जाती है और जनहित के कार्यों पर सरकार का अधिक ध्यान नहीं रहता। मन्त्रियों के कम दक्ष होने तथा प्रशासन में नौकरशाही का महत्व अधिक बढ़ जाने के कारण जनता को नौकरशाही को निरंकुशता का शिकार होना पड़ता है। लेकिन आलोचकों के सभी तर्क अधिक सत्य नहीं हैं। कार्यपालिका और विधायिका का आपसी सहयोंग आज बहुत जरूरी है। संसदीय शासन प्रणाली में इन दोनों में पाया जाने वाला सहयोग अध्यक्षात्मक शासन की काफी कमियों को दूर कर देता है।

संसदीय सरकार की सफलता की शर्तें

(Conditions for the Success of Parliamentary Govt.)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसदीय शासन प्रणाली में गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं। यदि संसदीय शासन प्रणाली के दोषों को दूर कर दिया जाए तो इससे अच्छी सरकार कोई नहीं दे सकता। आज संसदीय शासन दलबन्दी का अखाड़ा बनकर रह गया है। इसमें शासन कार्यों के निष्पादन का उत्तरदायित्व तो कार्यपालिका का है, लेकिन शक्तियां विधायिका के पास अधिक हैं। मन्त्रिमण्डल को विधायिका के नियन्त्रण में ही कार्य करना पड़ता है। इस तरह की अनेक कमियां संसदीय शासन के द ष्टिगोचर होती है। इन कमियों को यदि दूर कर दिया जाए तो संसदीय शासन से अच्छा विकल्प कोई नहीं है। इन कमियों को दूर करके संसदीय शासन प्रणाली को सफलता का ताज पहनाया जा सेता है। कुछ विद्वानों ने संसदीय सरकार को सफलता के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :-

(1) संसदीय शसन प्रणाली में संसद को सर्वोच्च माना जाए और उसकी कार्यवाही में अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न करने से परहेज किया जाएं

(2) संसदीय शासन में कार्यपालिका के पास उत्तरदायित्वों का निवर्हन करने के लिए सम्पूर्ण शक्तियां होनी चाहिए। उसके विधायिका के निमन्त्रण से कुछ ढील दी जाए।

(3) संसदीय कार्यवाही में स्पीकर को निष्पक्ष व निर्णायक भूमिका निभानी चाहिए। राजनीतिक

तटस्थता ही संसदीय कार्यवाही को प्रभावी बना सकती है। स्पीकर को इसी तटस्थता का पालन करना चाहिए।

(4) संसदीय शासन प्रणाली की मर्यादा बनाए रखने के लिए समय पर ही चुनाव कराने चाहिए। चुनावों में पूरी पारदर्शिता बरतना भी संसदीय सरकार को विश्वासपात्र बनाता है।

(5) संसदीय शासन प्रणाली में विरोधी दल को अनावश्यक आलोचना से परहेज करना चाहिए।

(6) संसदीय शासन प्रणाली में प्रतियोगी दल व्यवस्था होनी चाहिए ताकि कड़े संघर्ष के बाद सत्तासीन हुआ जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि दलों को मुकाबला बराबरी का होना चाहिए।

(7) संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्राध्यक्ष को ध्वजमात्र बनकर ही कार्य करना चाहिए। उसे प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल के कार्यों में अनावश्यक हस्तोप से बचना चाहिए।

(8) सत्तारूढ़ दल को जनमत का सम्मान करते रहना चाहिए। उसे कभी भी जनभावनाओं के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त बातों का ध्यान रखकर चलने से संसदीय सरकार उन दोनों से मुक्त हो सकती है, जो उस पर लगाए जाते हैं। इससे संसदीय प्रणाली की जो काया पलट होगी, वह विश्व के उन देशों में भी स्थान प्राप्त करने की अधिकारी बन सकती हैं, जहां पर संसदीय व्यवस्था नहीं है।

अध्यक्षात्मक सरकार

(Presidential Government)

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के पथक्करण पर आधारित शासन प्रणाली है। इसमें कार्यपालिका और विधायिका में आपसी सम्बन्ध संसदीय शासन की तरह घनिष्ठ नहीं होते हैं। इसमें कार्यपालिका विधायिका के नियन्त्रण से मुक्त होती है और उसका कार्यकाल भी निश्चित होता है। उसे विधानमण्डल के समर्थन और सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसमें राष्ट्राध्यक्ष की स्थिति नाममात्र की न होकर वास्तविक होती है और वह प्रायः जनता द्वारा ही चुना जाता है। विधानमण्डल अविश्वास प्रस्ताव पास करके न तो राष्ट्रपति को हटा सकता है और न ही उसके द्वारा गठित मन्त्रिमण्डल को। इसमें मन्त्रिमण्डल के सदस्य न तो विधानपालिका के सदस्य होते हैं और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसमें राष्ट्रपति ही वास्तविक कार्यपालक होता है, प्रधानमन्त्री नहीं। इसमें शक्ति-पथक्करण पर आधारित कार्यपालिका की शक्तियां विधायिका की तरह ही स्वतन्त्र और औपचारिक होती हैं। यह व्यवस्था अमेरिका में है।

अध्यक्षात्मक सरकार का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Presidential Govt.)

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वह शासन प्रणाली है, जिसमें कार्यपालिका, विधायिका से पूर्ण रूप से पथक व स्वतन्त्र होती है और शासन की कार्यपालक शक्तियां शासनाध्यक्ष में ही निहित होती हैं और वह उन शक्तियों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग कर सकता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के पथक्करण पर आधारित ऐसी सरकार का गठन करती है जो विधायिका के हस्तक्षेप से मुक्त होकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करती है। कुछ विद्वानों नं इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) गैटिल के अनुसार-"अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका का अध्यक्ष या प्रधान अपने कार्यकाल में अपनी नीतियों और कार्यों के बारे में विधानमण्डल से पूर्ण रूप में स्वतन्त्र होता है।"

(2) गार्नर के अनुसार-"अध्यक्षात्मक सरकार वह है जिसमें कार्यपालिका या राज्य का अध्यक्ष तथा उसका मन्त्रिमण्डल संविधान की द ष्टि में विधायिका से अपनी अवधि के बारे में तथा नीतियों के बारे में स्वतन्त्र होते हैं। इसमें राष्ट्राध्यक्ष नाममात्र की कार्यपालिका के स्थान पर वास्तविक कार्यपालिका होता है और संविधान तथ कानून द्वारा प्रदत्त शक्तियों का स्वतन्त्र व वास्तविक प्रयोग करता है।"

(3) बेजहॉट के अनुसार-"अध्यक्षात्मक सरकार वह है जिसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियां एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली 'शक्तियों का प थक्करण' (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर आधारित शासन प्रणाली है, जिसमें कार्यपालिका विधायिका के नियन्त्रण से मुक्त रहकर संविधान प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करके शासन संचालन करती है। इसमें कार्यपालिका का अध्यक्ष एक ऐसा व्यक्ति होता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता।

अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं

(Features of Presidential Govt.)

अध्यक्षात्मक सरकार की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) इसमें शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त को अपनाया जाता है और कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्तियों का स्पष्ट संविधानिक विभाजन होता है।

(2) इसमें राष्ट्राध्यक्ष राज्य व सरकार का वास्तविक प्रधान होता है। संसदीय सरकार की तरह उसकी स्थिति नाममात्र की नहीं होती।

(3) इसमें मन्त्रीमण्उल या शासक को विधायिका के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त रहती है। उसका विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। उसका उत्तरदायित्व तो संविधान के प्रति ही रहता है।

(4) इसमें कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है। संविधान में ही कार्यकाल के बारे में स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता हे।

(5) इसमें नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें राज्य का अध्यक्ष सरकार का भी अध्यक्ष होता है।

(6) इसमें राष्ट्रपति विधामण्डल को भंग नहीं कर सकता, क्योंकि उसका कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है।

(7) इसमें मन्त्रीमण्डल जैसी संस्था का अभाव पाया जाता है। राष्ट्रपति सरकार चलाने के लिए अपने स्वामीभक्त सहयोगियों को नियुक्त कर लेता है। इसलिए यह कैबिनेट जैसी संस्था से मुक्त है।

(8) इसमें कार्यपालक शक्तियों के प्रयोग व उत्तरदायित्व का भार राष्ट्रपति या शासनाध्यक्ष पर ही होता है।

(9) इसमें विधानमण्डल सरकार के अन्य अंगों से सर्वोच्च माना जाता है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह महाभियोग द्वारा कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के न्यायधीशों को पद से हटा सकता है।

(10) इसमें कार्यपालिका जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहती है। इसी कारण वाटरगेट काण्ड में राष्ट्रपति निकसन ने अपना उत्तरदायित्व मानते हुए त्यागपत्र दे दिया था।

(11) इसमें न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त रहती है जिससे कार्यपालिका तथा विधायिका का गतिरोध दूर हो जाता है।

अध्यक्षात्मक सरकार के गुण

(Merits of Presidential Govt.)

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं :-

(1) **स्थायी सरकार** (Stable Government) :-अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में सरकार का कार्यकाल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर नहीं होता है। इसमें कार्यपालिका का अध्यक्ष निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। उसे विधायिका अविश्वास का प्रस्ताव पास करके हटा नहीं सकती। इससे सरकार की शासन सम्बन्धी नीतियों व कार्य संचालन में स्थायित्व बना रहता है और शासन में कुशलता का गुण आता है। इसमें स्थायी सरकार के लाभ जनता को प्राप्त होते रहते हैं।

(2) **नीति की एकता** (Continuity of Policy) :- अध्यक्षात्मक शासन में सरकार का कार्यकाल निश्चित होने के कारण एक ही नीति लम्बे समय तक चलती रहती है। कई बार अमेरिका में राष्ट्रपति ने लगातार कई कार्यकाल पूरे किए हैं। ऐसे में एक बार बनाई गई नीति लम्बे समय तक प्रभावी रह सकती है। फ्रांस में यह कार्यकाल 7 वर्ष होने के कारण नीति सम्बन्धी स्थायित्व कायम रखने में कोई असुविधा नहीं होती।

(3) **संकटकाल के लिए उपयुक्त** (Suitable in time of emergencey) :- अध्यक्षात्म्क सरकार में सारी कार्यकारी शक्तियां राष्ट्रपति या शासनाध्यक्ष में ही निहित रहती हैं। इसमें संकटकालीन परिस्थितियों में कोई भी निर्णय लेने से पहले विधानमण्डल की सहमति लेना आवश्यक नहीं है। इसलिए संकटकालीन परिस्थितियों में शीघ्रता से निर्णय लेकर तत्पर कार्यवाही की जा सकती है।

(4) **दलबन्दी का अभाव** (Lack of Partisan Conflict) :- इस शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों का प्रभाव सरकार बनने तक ही रहता है। संसदीय सरकार में तो विरोधी दल दलबन्दी करके सत्तारूढ़ सरकार के खिलाफ षड्यन्त्र रचते रहते हैं, परनतु अध्यक्षात्मक शासन में दलों की यह उग्रता समाप्त हो जाती है। इसमें विरोधी दल को पता होता है कि निश्चित अवधि से पहले कार्यपालिका को हटाया नहीं जा सकता। इसी कारण वे दलीय भावना त्यागकर शासन संचालन में पूरा सहयोग देते रहते हैं।

(5) **निरंकुशता का अभाव** (Lack of Despotism) :- अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के प थक्करण पर आधारित होने के कारण इसमें सरकार का कोई भी अंग इतनी शक्तियों का स्वामी नहीं होता है कि वह निरंकुश बन सके। इसमें विधायिका कानून बनाती है और कार्यपालिका उन्हें लागू करती है। कानून बनाने तथा लागू करने की शक्ति का विभाजन होने के कारण निरंकुशता का भय समापत हो जाता है।

(6) **प्रशासन में कुशलता** (Efficiency in Administration) :-अध्यक्षात्मक सरकार में राष्ट्रपति ही अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। प्रशासन का सारा भार उसी के कन्धों पर होता है और अपने कार्यों की सफलता या असफलता के लिए वही उत्तरदायी होता है। उसे न तो विधानमण्डल की बैठकों में भाग लेना होता है और न ही विधायिका को नियन्त्रण में रहना पड़ता है। वह अपना सारा समय शासन कार्यों मे ही लगाता है। वह प्रशासनिक अधिकारियों तथा अपने मन्त्रियों पर पूरा नियन्त्रण रखकर प्रशासन में कार्यकुशलता लाता है। कार्य विशेष में निपुण होने के कारण उसकी प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

(7) **योग्य व्यक्तियों की सरकार** (Government of able persons) :- अध्यक्षात्मक सरकार में राष्ट्रपति योग्य व्यक्तियों को ही प्रशासन व मन्त्रिमण्डल में स्थान देता है। संसदीय सरकार की तरह इसमें दल विशेष के मन्त्री नहीं होते, बल्कि किसी भी दल के योग्य व्यक्ति नेता का पद ग्रहण कर सकते हैं। राष्ट्रपति या राष्ट्राध्यक्ष शासन के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी होने के कारण योग्य व्यक्तियों को सरकार में शामिल करके निष्पक्षता व ईमानदारी से सरकार चलाने का प्रयास करता है ताकि जनता के प्रति जवाबदेह बना जा सके। इस प्रकार अध्यक्षात्मक सरकार योग्य व्यक्तियों की ही सरकार है।

(8) **नागरिकों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षक** (Guardian of Freedom and Rights of Citiszens) :- अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में शक्तियों के प थक्करण के कारण प्रत्येक अंग के अपने अपने कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। प्रत्येक अंग एक दूसरे पर निरोध व संतुलन की व्यवस्था कायम करके जनता के अधिकार और स्वतन्त्रताओं की रक्षा भी करता है। कानून बनाने तथा लागू करने की शक्तियां प थक होने के कारण न तो अल्पसंख्यकों को उत्पीड़न का भय होता है और न ही नागरिकों को अपनी स्वतन्त्रता व अधिकारों के नष्ट होने का।

(9) **अच्छे कानूनों का निर्माण** (Formation of good Laws) :-अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कानून निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका का ही होता है। उसे यह भी भय होता है कि यदि गलत कानून का निर्माण किया गया तो उसे न्यायपालिका द्वारा अवैध भी घोषित किया जा सकता है। अपने काम में दक्ष होने के कारण विधायिका प्रायः ठीक कानूनों का ही निर्माण करने के प्रयास करती है।

(10) **बहुदलीय प्रणाली के लिए उपयुक्त** (Suitable for a multi-party system) :- इस शासन प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि अध्यक्षात्मक सरकार उन देशों के लिए अधिक उपयोगी है, वहां पर अनेक राजनीतिक दल हैं और दलबन्दी को प्रोत्साहित करके वे आए दिन सरकार गिराने की फिराक में रहते हैं। अध्यक्षात्मक सरकार का कार्सकाल निश्चित होने के कारण तथा कार्यपालिका का विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व न होने के कारण बहुदलीय प्रणाली के दोषों से निपटने में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है।

अध्यक्षात्मक सरकार के दोष

(Demerits of Presidential Government)

यद्यपि अध्यक्षात्मक सरकार के अनेक फायदे हैं, लेकिन फिर भी कुछ विद्वानों ने इसे अनुत्तरदायी और निरंकुश सरकार कहकर इसकी आलोचना की है। उन्होंने अपने उत्तर के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं :-

(1) इसमें कार्यपालिका और विधायिका में सामंजस्य के अभाव में कई बार गतिरोध की स्थिति पैदा हो जाती है जिसे शासन में वांछित गतिशीलता और द ढ़ता का अभाव पैदा हो जाता है।

(2) इसमें कार्यवाहक शक्तियां राष्ट्रपति के पास होती हैं और उसका कार्यकाल भी निश्चित होता है। उसे यह पता होता है कि उसे समय पूर्व हटाया भी नहीं जा सकता, इसलिए वह निरंकुश बन सकता है।

(3) इसमें वैकल्पिक सरकार का कोई प्रावधान नहीं है। विशेष स्थिति में राज्याध्यक्ष को बदलना इसमें असम्भव है।

(4) अध्यक्षात्मक सरकार में शासन की शक्तियां एक ही व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित होती हैं। आधुनिक लोकतन्त्र में शक्तियों का केन्द्रीयकरण कभी मान्य नहीं हो सकता। अतः अयक्षात्मक सरकार में कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्रीयकरण लोकतन्त्र की आत्मा के विरुद्ध है।

(5) इस शासन प्रणाली में आलोचना का अभाव होने के कारण सरकार को अपनी कमियों को समझने व उनकी पुनराव त्ति रोकने का अवसर प्राप्त नहीं होता।

(6) अध्यक्षात्मक सरकार में राष्ट्रपति अपनी नीतियों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इसमें मन्त्री परिषद के सदस्य राष्ट्रपति के प्रति ही जबावदेह होते हैं। इससे उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का महत्त्व इस सरकार में कम हो जाता है।

(7) अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के प थक्करण पर आधारित होती है, लेकिन व्यवहार में शक्तियों का पूर्ण प थक्करण सम्भव नही है।

(8) इस शासन प्रणाली में लोचशीलता का गुण नहीं है। लोचशीलता के अभाव में संकटकाल के समय विशेष कानूनों का निर्माण करना इसमें सम्भव नहीं हो पाता। इससे संकटकाल का सामना करने में प्रायः असफलता ही हाथ लगती है।

(9) इसमें राजनीतिक दलों द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का अवसर नहीं मिलता है। राजनीतिक दल वास्तव में लोकतन्त्र की धुरी होते हैं। इनकी सजग प्रहरी की भूमिका से वंचित रहने पर न तो जनता ही जागरूक बन पाती है और न ही शासक वर्ग जन-इच्छा के अनुकूल चल पाता है।

(10) इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के प थक्करण ने न्यायपालिका को इन दोनों अंगों पर सर्वोच्च बना दिया है। कई बार सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का गलत प्रयोग करने से भी नहीं चूकता। इस तरह व्यवस्थापिका व कार्यपालिका से गतिरोध का परिणाम न्यायिक निरंकुशता के जन्म का कारण बन जाता है। इसी कारण आज न्यायपालिका को व्यवस्थापिका का तीसरा सदन कहा जाने लगा है।

(11) अध्यक्षात्मक सरकार में विधायिका व कार्यपालिका में गतिरोध होने के कारण अच्छे कानूनों का बन पाना मुश्किल होता है।

(12) अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में चुनावी खर्च बहुत अधिक होता है। क्योंकि इसमें उम्मीदवार को पता होता है कि यदि वह जीत गया तो वह शासन का भोग अपनी इच्छानुसार निश्चित समय तक बिना किसी के दबाव के करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में काफी अवगुण भी हैं। इसमें शासन की शक्तियां एक व्यक्ति के हाथों में होने के कारण निरंकुशता का खतरा उत्पन्न हो सकता है। लेकिन अमेरिका जैसे देश में यह शासन-प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। वास्तव में किसी भी शासन प्रणाली की सफलता देश की परिस्थितियों और नागरिकों के चरित्र पर ही निर्भर काती है। इसलिए शासन प्रणाली चाहे कोई भी हो, उसका देश-विशेष के लिए उपयोगी होना बहुत जरूरी है। अमेरिका में इस शासन प्रणाली से बढ़कर किसी दूसरी शासन प्रणाली का विकल्प नहीं हो सकता। प्रत्येक शासन प्रणाली की तरह इसके भी कुछ अवगुण हैं, लेकिन अमेरिका में इसके अवगुणों को इससे दूर रखने का प्रयास करके इसे अधिक उपयोगी बनाया गया है। अतः देश-काल व परिस्थितियों के अनुसार अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली भी उतनी ही उत्तम है, जितनी संसदीय शासन प्रणाली। यदि ब्रिटेन व भारत में संसदीय सरकार का प्रतिमान अपनाया गया है तो अमेरिका में अध्यक्षात्मक सरकार का। इसलिए परिस्थितियों के अनुसार शक्तियों का केन्द्रीयकरण व संसदीय शासन प्रणालियां देश विशेष के लिए अलग-अलग परिस्थितियों में बराबर महत्वपूर्ण हैं।

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक सरकार में तुलना

(Comparison between Parliamentary and Presidential Govts.)

आज विश्व के सभी देशों में शक्तियों के विभाजन के आधार पर जिस तरह सरकार के दो प्रतिमान

हैं, उसी प्रकार शक्ति के प्रयोग की द ष्टि तथा कार्यपालिका तथा विधायिका के पारस्परिक सम्बन्धों की द ष्टि से भी दो प्रतिमान संसदीय व अध्यक्षात्मक हैं। जहां भारत, कनाडा, ब्रिटेन, जापान, नेपाल जैसे देशों में संसदीय शासन प्रणाली है, वहीं अमेरिका, पेरु, चिल्ली, बर्मा, बंगलादेश, इन्डोनेशिया, अल्जीरिया तथा श्रीलंका आदि देशों में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली से अवश्य जुड़े हुए हैं। यह बताना तो कठिन है कि कौनसी शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है, लेकिन देश विशेष की परिस्थितियों से शासन-व्यवस्था का अनुकूलन करके अमुक शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ बताया जा सकता है, तुलनात्मक अध्ययन में ही यह स्पष्ट हो सकता है कि अमुक शासन प्रणाली अमुक देश में ही क्यों सफल रही ? दोनों शासन प्रणालियों के अपने-अपने गुण व दोष हैं। यदि दोनों शासन प्रणालियों के दोषों का निवारण कर दिया जाए तो उनको किसी देश के सन्दर्भ में लागू करने में कोई कठिनाई नहीं आएगी। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए दोनों में तुलना करना आवश्यक बन जाता है। यदि हम अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली व संसदीय प्रणाली में तुलना करें तो निम्नलिखित अन्तर द ष्टिगोचर होते हैं :-

(1) संसदीय शासन प्रणाली शक्तियों के सामंजस्य पर आधारित हैं, जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के प थक्करण पर आधारित है।

(2) संसदीय शासन प्रणाली में जनता को अधिक राजनीतिक शिक्षा मिलती है, जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कम मिलती है।

(3) संसदीय शासन प्रणाली दलबन्दी को बढ़ावा देती है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में दलबन्दी का अभाव होता है।

(4) संसदीय शासन-प्रणाली में विरोधी दल की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है, जबकि अध्यक्षात्मक मे कम।

(5) संसदीय शायन में राज्य या राष्ट्र का अध्यक्ष नाममात्र का होता है, जबकि अध्यक्षात्मक में वास्तविक।

(6) संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और विधायिका का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जबकि अध्यक्षात्मक में ये दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं।

(7) संसदीय सरकार का कार्यकाल अनिश्चित होता है, जबकि अध्यक्षात्मक का निश्चित होता है।

(8) संसदीय सरकार में मन्त्रीगण संसद के सदस्य होते हैं और उसकी कार्यवाही में भाग भी लेते हैं, जबकि अध्यक्षात्मक में वे संसद के न तो सदस्य होते हैं और न ही उसकी कार्यवाही में भाग लेते हैं।

(9) संसदीय सरकार में नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका में भेद किया जाता है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में ऐसा कोई भेद नहीं होता।

(10) संसदीय सरकार के विभिन्न अंगों में संघर्ष की संभावना अधिक रहती है, जबकि अध्यक्षात्मक में कम।

(11) संसदीय शासन प्रणाली में सरकार की निरंकुशता का भय नहीं होता है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में निरंकुशता का भय रहता है।

(12) संसदीय सरकार शांतिकाल में ठीक रहती है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार संकटकाल में अधिक उपयुक्त रहती है।

(13) संसदीय सरकार में मन्त्रीगण विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जबकि अध्यक्षात्मक में वे राष्ट्रपति के प्रति या राष्ट्राध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(14) संसदीय सरकार में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अधिक प्रभावी रहता है, जबकि

अध्यक्षात्मक में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धान्त प्रचलित होता है। इसमें शासन का पूरा भार राष्ट्राध्यक्ष व शासनात्मक के ही कन्धों पर रहता है।

(15) संसदीय सरकार में कार्यपालिका दुर्बल होती है, जबकि अध्यक्षात्मक में यह अधिक शक्तिशाली होती है।

(16) संसदीय सरकार अस्थिर होती है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार स्थिर होती है। भारत में संसदीय सरकार होने के कारण समय से पहले ही सरकार टूटने का भय रहता है, जबकि अमेरिका में अध्यक्षात्मक सरकार के सामने ऐसा कोई खतरा नहीं होता है।

(17) संसदीय शासन व्यवस्था लचीली होती है, जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में लचीलापन कम होता है।

(18) संसदीय सरकार में देश के शासन की बागडोर प्रधानमन्त्री के हाथ में होती है, जबकि अध्यक्षात्मक में यह राष्ट्रपति के हाथ में होती है।

कौन सी सरकार अधिक उपयुक्त है और क्यों : संसदीय या अध्यक्षात्मक ?

(Which government is more suitable and why : Parliamentary or Presidential ?)

उपरोक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों सरकारों के अपने-अपने कुछ गुण-दोष हैं। यह निश्चय करना एक कठिन काम है कि कौन-सी शासन प्रणाली सबसे अधिक उपयुक्त है या नहीं। यह तो देश-विशेष की परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। अमुक देश में किसी शासन प्रणाली की सफलता ही उसकी उपयोगिता का आधार होती है। उदाहरण के लिए भारत में संसदीय शासन प्रणाली अधिक उपयुक्त है तो अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली अधिक उपयुक्त है। यद्यपि इन देशों में भी दोनों तरह की शासन प्रणालियों की कुछ कमियां हैं। यदि उन कमियों को दूर कर दिया जाए तो वे वहीं पर भविष्य में भी अधिक उपयोगी रहेंगी। आज विश्व में प्रत्येक देश किसी न किसी रूप में इन दोनों शासन प्रणालियों से अवश्य जुड़ा है। यदि आंकड़ों के हिसाब से देखा जाए तो संसदीय सरकारें, अध्यक्षात्मक सरकारों की तुलना में आज विश्व में अधिक हैं। यद्यपि आज बदलती परिस्थितियों में सुरक्षा व आर्थिक विकास की द ष्टि से एक ऐसी सरकार की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है जो नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने के साथ-साथ उन्हें आर्थिक विकास के अवसर प्रदान करें। आज अधिकतर विद्वान संसदीय सरकार को अधिक उपयुक्त मानने लगे हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि संसदीय सरकार अध्यक्षात्मक सरकार का स्थान ले सके। अनेक विद्वानों ने संसदीय सरकार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं :-

(1) इसमें कार्यपालिका तथा विधायिका में आपसी सहयोग रहने के कारण अच्छे कानूनों का निर्माण होता है,

जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में न तो विधायिका अच्छे कानूनों का निर्माण करती है और न ही कार्यपालिका उसे अच्छे ढंग से लागू करती है। जब कार्यपालिका अलग दल की हो तथा विधायिका अलग दल की हो तो उनमें गतिरोध पैदा होने से कानून निर्माण ओर उसे लागू करने दोनों पर ही गलत प्रभाव पड़ सकता है।

(2) संसदीय सरकार अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रीय होती है। अविश्वास का प्रस्ताव पारित होने के भय से सरकार जनमत के अनुसार कार्य करती रहती है और निरंकुश बनने की कोई चेष्टा नहीं करती। जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में निश्चित कार्यकाल

का प्रावधान होने से सरकार को समय से पूर्व गिराना असम्भव होता है। इसलिए वह निरंकुश बन सकती है। इसमें शासन की शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होने के कारण यह कम लोकतन्त्रीय है।

(3) अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा संसदीय सरकार विदेशी मामलों में अधिक सफल रहती है, क्योंकि सरकार को विधानमण्डल में समर्थन प्राप्त होने के कारण गतिरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती।

(4) संसदीय सरकार में वैकल्पिक सरकार का प्रावधान होता है। यदि नेतुत्व जन आकांक्षा के विरुद्ध हो जाए तो बिना चुनाव कराए उसे बदलकर दूसरे व्यक्ति के हाथ में शासन की बागड़ोर दी जा सकती है। इस शासन का प्रमुख गुण यह है कि संसदीय सरकार को परिस्थितियों के अनुसार बदला जा सकता है। जब द्वितीय विश्व युद्ध के समय इंग्लैंड में प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन असफल रहा तो उसके स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया गया था। जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में ऐसा सम्भव नहीं है।

(5) संसदीय सरकार अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा जनमत के प्रति अधिक उत्तरदायी रहती है। इसमें सरकार चुनावों के समय जनता के साथ किए गए वायदों को निभाने के पूरे प्रयास करती है। विरोधी दल की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण इस सरकार में जनमत का पता लगाना आसान रहता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक सरकार में जनमत की कोई परवाह नहीं होती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संसदीय सरकार एक लोकतांत्रिक सरकार है। आज का युग प्रजातन्त्र का युग है। जन आकांक्षाओं पर खरा उतरने वाली सरकार संसदीय सरकार ही है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्यक्षात्मक सरकार महत्वहीन है। संकटकालीन परिस्थितियों में तो अध्यक्षात्मक सरकार के ही प्रतिमान को स्वीकार करें। जहां पर अध्यक्षात्मक सरकारें हैं, वहां पर संसदीय सरकार का प्रतिमान लागू नहीं हो सकता। इसलिए संसदीय व अध्यक्षात्मक दोनों सरकारों का ही सीमित महत्व है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं। कौनसी सरकार अधिक उपयुक्त है, यह तो देश-काल के अनुसार ही निर्धारित किया जा सकता है।

अध्याय-7
सरकार के अंग
(Organs of Government)

व्यवस्थापिका
(Legislature)

किसी देश या राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए सरकार की आवश्यकता पड़ती है। सरकार ही वह यन्त्र होता है जो राज्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों को अमली जामा पहनाता है। अपने उत्तरदायित्वों का वहन करने के लिए सरकार शासन कार्यों को अपने तीन अंगों में बाँटकर उन्हें पूरा करने का प्रबन्ध करती है। सरकार के तीन अंग - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका होते हैं। इन तीनों अंगों में व्यवस्थापिका ही सरकार का सर्वोच्च अंग है। व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य सरकार के लिए कानून या विधि-निर्माण का कार्य करना है। अध्यक्षात्मक सरकार में तो विधायिका इस कार्य को स्वतन्त्रतापूर्वक करती है, लेकिन संसदीय प्रजातन्त्र में यह कार्य कार्यपालिका के साथ मिलकर किया जाता है। लेकिन यह बात सबसे अधिक महत्व रखती है कि प्रत्येक शासन-व्यवस्था में कानून निर्माण का उत्तरदायित्व विधायिका के ही कन्धों पर होता है। लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ विधायिका का भी विकास हुआ है।

व्यवस्थापिका का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Legislature)

साधारण शब्दों में विधायिका या व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग है जो कानून निर्माण का कार्य करता है। इसे आमतौर पर संसद के नाम से जाना जाता है। संसद शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच शब्द 'Parler' जिसका शाब्दिक अर्थ है - बातचीत करना या बोलना तथा लेटिन शब्द 'parliamentum' से हुई है। संसद को अंग्रेजी में 'Parliament' कहा जाता है। लेटिन शब्द 'Parliamentum' का प्रयोग भी बातचीत के लिए ही होता रहा है। इस प्रकार संसद शब्द का प्रयोग व्यक्तियों की उस संस्था के लिए प्रयोग किया जाता है जो चर्चा या विचार-विमर्श के लिए एकत्रित हुए हों। आज सरकार के कार्यों के सन्दर्भ में संसद को व्यवस्थापिका या विधायिका का नाम दिया जाता है, जिसका सम्बन्ध ा कानून निर्माण से है। कुछ विद्वानों ने व्यवस्थापिका को परिभाषित करते हुए कहा है :-

(1) गिलक्राइस्ट के अनुसार - "विधानमण्डल सरकार की शक्ति का अधिक भाग है, जिसका सरकार के वित्त तथा कानून निर्माण दोनों पर अधिकार होता है।

(2) एलेन बाल के अनुसार - "विधायिका, कार्यपालिका का परामर्शदाता निकाय है।"

लेकिन आधुनिक समय में विधायिका कार्यपालिका का परामर्शदात्री निकाय न होकर एक विशेष प्रकार का संगठन है, जिसका शासन-व्यवस्था के संचालन में महत्वपूर्ण कार्य होता है। आधुनिक समय में "व्यवस्थापिका व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक संगठन है जो कानून बनाने के अधिकार से

युक्त होता है।" आधुनिक समय में व्यवस्थापिका की सही परिभाषा फाईनर ने दी है। उसका कहना है कि "विधायिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य जनमत या जनता की इच्छा को कानून निर्माण में लगाना और कार्यपालिका के कार्यों का निर्देशन, निरीक्षण एवं नियन्त्रण करना है।" अतः सार रूप में कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका सरकार का कानून निर्मात्री अंग है जो अध्यक्षात्मक सरकार में तो कार्यपालिका से स्वतन्त्र होता है, लेकिन संसदीय सरकार में कार्यपालिका पर नियन्त्रण भी रखता है। इस द ष्टि से उसके कार्य कानून निर्माण व कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना, दोनों हैं।

विधायिका या व्यवस्थापिका के कार्य व भूमिका

(Functions and Role of Legislature)

व्यवस्थापिका के कार्य व भूमिका अलग-अलग देशों में अलग-अलग हैं। व्यवस्थापिका के कार्यों का निष्पादन शासन प्रणाली की प्रकृति पर निर्भर करता है। जिन देशों में निरंकुश राजतन्त्र होता है, वहां यह पूर्ण रूप से राज्य के नियन्त्रण में रहकर एक सलाहकार समिति के रूप में कार्य करती है। संसदीय सरकार में विधायिका की स्थिति बहुत मजबूत रहती है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका के कार्य संविधान द्वारा मर्यादित होते हैं। फाईनर ने व्यवस्थापिका के कार्य - जनता को कानून निर्माण में लगाना और कार्यपालिका के कार्यों का निर्देशन व निरीक्षण करना बताए हैं। व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हो सकते हैं :-

(1) **विधायी या कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्य (Legislative Functions)** :- आधुनिक समय में आधारभूत संविधानिक कानूनों को छोड़कर शेष सभी तरह के कानून विधानमण्डल या व्यवस्थापिका द्वारा ही बनाए जाते हैं। जन इच्छा का प्रतिनिधि होने के नाते जनमत की मांगों व दबावों को कानून का रूप देना विधायिका का प्रमुख कर्त्तव्य बनता है। इसी कारण रिनाऊ ने लिखा है - "आधुनिक संसद एक प्रकार के वे कारखाने हैं जिनका कार्य कानून का निर्माण करना है। यहां जनमत के नाम के कच्चे माल को प्रस्तावों, नीतियों और कानूनों में बदला जाता है।" विधायिका समाज में शान्ति बनाए रखने तथा नागरिकों के विकास के लिए अनेक प्रकार के कानून बनाती है। देश की बदली हुई परिस्थितियों में पुराने कानूनों में परिवर्तन या उन्हें रद्द भी करती है। संसदीय सरकार में अधिकतर बिल मन्त्रियों के द्वारा विधानपालिका में पेश किए जाते हैं, क्योंकि मन्त्रीमण्डल का संसद में बहुमत होता है। अध्यक्षात्मक सरकार में मन्त्रियों की बजाय बिलों के बारे में केवल सन्देश राष्ट्रपति ही भेज सकता है। उन्हें स्वीकार करना या न करना विधायिका की मर्जी है। लेकिन विधायिका भी अपनी मर्जी से कानून बनाने को स्वतन्त्र नहीं है। उस पर कुछ संविधानिक प्रतिबन्ध भी हैं। वह संविधान को कानूनी सीमा में रहकर कानूनों का निर्माण कर सकती है। लेकिन स्थिति चाहे कुछ भी हो, कानून निर्माण का कार्य विधायिका को ही करना पड़ता है। इस कार्य में वह अपनी समितियों की सहायता लेती है। ब्रिटेन में तो संसदीय सर्वोच्चता होने के कारण कानून निर्माण पर पूरा अधिकार विधायिका का ही है। संघात्मक शासन प्रणाली वाले भारत जैसे देशों में व्यवस्थापिका को शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होने के कारण संसद राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर ही कानून बना पाती है। कानून बनने से पहले उस पर कार्यपालिका के अध्यक्ष के हस्ताक्षर करवाने भी जरूरी होते हैं। हालांकि कार्यपालिका अध्यक्ष उस पर पुर्नविचार करने के लिए बिल को विधायिका के पास लौटा सकता है, लेकिन अन्त में हस्ताक्षर करना उसकी मजबूरी सी बन गई है। कानून बनाने के इस काम में विधायिका को भी आज अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, लेकिन अन्त में वह कानून-निर्माण में सफलता प्राप्त कर ही लेती है।

(2) **कार्यपालिका पर नियन्त्रण** (Control over the Executive) :& कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना भी विधायिका का ही प्रमुख कार्य है। संसदीय शासन प्रणाली में यह नियन्त्रण प्रत्यक्ष रहता है, क्योंकि मन्त्रीमण्डल का चुनाव उसके द्वारा ही किया जाता है और यह उसके प्रति ही उत्तरदायी होता है। संसदीय शासन प्रणाली मे विधायिका द्वारा नियन्त्रण के अनेक साधनों - कार्यपालिका से प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछना, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, कटौती तथा निन्दा प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि का प्रयोग किया जाता है। इसमें व्यवस्थापिका धन की मांग को अस्वीकार करके या कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत नीति, प्रस्ताव या विधेयक को अस्वीकार करके भी नियन्त्रण रख सकती है। इंग्लैण्ड तथा भारत में यही व्यवस्था है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में शक्तियों का प थक्करण होने के कारण विधायिका द्वारा कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर पाना सम्भव नहीं है। इसलिए वह धन की मांग या आवश्यक व्यवस्थापन पारित न करके कार्पालिका को नियन्त्रित रखने का प्रयास करती है। राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों या सन्धियों का अनुमोदन रोककर भी वह नियन्त्रण की व्यवस्था कर सकती है। राष्ट्रपति पर महाभियोग के लिए जांच आयोग की नियुक्ति करके भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रकार शासन व्यवस्था चाहे कोई भी हो, उसमें व्यवस्थापिका का कम या अधिक नियन्त्रण कार्यपालिका पर अवश्य रहता है। भारत में यह नियन्त्रण प्रत्यक्ष व अधिक है, जबकि अमेरिका में अप्रत्यक्ष व कम है।

(3) **न्यायिक कार्य** (Judicial Functions) :- यद्यपि न्यायिक कार्य सम्पन्न करना न्यायपालिका का कार्य है, लेकिन आज अनेक देशों में व्यवस्थापिकाएं भी पूर्ण या अर्द्ध-न्यायिक कार्य करती हैं। इंग्लैण्ड में हाऊस ऑफ लार्डस जो संसद का उपरि सदन है, अपील का सर्वोच्च न्यायालय है। अमेरिका में राष्ट्रपति के खिलाफ लगाए गए महाभियोग के बारे में अन्तिम निर्णय देने के लिए सीनेट न्यायालय के रूप में बैठती है। भारत में राष्ट्रपति पर इसी तरह महाभियोग की सुनवाई व निर्णय की व्यवस्था राज्य सभा (उपरी सदन) करती है। स्वीटजरलैण्ड में राष्ट्रीय सभा को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण वह भी न्यायिक कार्य करने वाली व्यवस्थापिका कहलाती है। लेकिन भारत तथा अमेरिका में आज तक किसी राष्ट्रपति को महाभियोग का परिणाम नहीं भुगतना पड़ा है। अतः व्यवस्थापिका न्यायिक कार्य भी करती है।

(4) **वित्तीय कार्य** (Financial Functions) :- प्रत्येक देश में राष्ट्रीय वित्त को सही ढंग से खर्च करने के लिए सुव्यवस्था व्यवस्थापिकाएं ही करती हैं। वास्तव में धन ही किसी राजनीतिक व्यवस्था व समाज का आभार होता है। यदि इसका दुरुपयोग किया गया तो राजनीतिक व्यवस्था पर आने वाले संकटों से कोई नहीं बचा सकता। मेडिसन ने लिखा है - "जिसके पास वित्तीय शक्ति है, उसी के पास वास्तविक शक्तियां होती हैं।" प्रजातन्त्रीय देशों में वित्तीय शक्ति पर नियन्त्रण की व्यवस्था विधायिका के निम्न सदन (निर्वाचित सदन) को सौंपी गई है। उसकी स्वीकृति के बिना एक भी पैसा खर्च नहीं किया जा सकता। नए कर लगाना तथा अनावश्यक करों को समाप्त करना भी व्यवस्थापिका का ही कार्य है। वित्त विधेयक भी हमेशा निचले सदन में ही पेश किया जाता है। वह धन कटौती का प्रस्ताव पेश कर सकता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में वित्त विधेयक पूर्ण रूप से कार्यपालिका द्वारा ही तैयार कराकर विधायिका के पास भेजा जाता है, लेकिन प्रायः विधायिका उसमें से कुछ राशि काटकर उसे पास करती है। यद्धपि विधायिका की वित्तीय शक्तियों पर भी सभी देशों में अनेक प्रतिबन्ध ा हैं लेकिन अन्तिम रूप में किसी न किसी तरह व्यवस्थापिकाएं वित्तीय कार्यों का सम्पादन सफलता के साथ करने में कामयाब हो ही जाती है।

(5) **संविधान में संशोधन सम्बन्धी कार्य** (Constitution amending Functions) :- व्यवस्थापिका

को संविधान में संशोधन करने का भी अधिकार प्राप्त होता है। कुछ देशों में तो यह अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त है और कुछ में आंशिक। कुछ देशों में तो विधायिका साधारण बहुमत से संविधान में संशोधन कर देती है, लेकिन कुछ में विशेष प्रक्रिया के तहत ही संशोधन करना पड़ता है। भारत में यह कार्य संसद तीन तरह से कर सकती है - (1) संसद के साधारण बहुमत से (2) संसद के दो तिहाई बहुमत से (3) संसद के दो तिहाई बहुमत तथा आधे से अधिक राज्यों की स्वीकृति से। ब्रिटेन में यह कार्य साधारण बहुमत द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है। स्विटजरलैण्ड में संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव जनता के सामने जन-निर्णय के लिए पेश किए जाते हैं। वहां जनता को संविधान संशोधन का प्रस्ताव रखने का अधिकार है। संशोधन प्रस्ताव पर कैंटनो की स्वीकृति आवश्यक होती है। अमेरिका, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड आदि देशों में संसद को संधोधन का आंशिक ही अधिकार प्राप्त है, जबकि भारत तथा ब्रिटेन में उसे संशोधन करने का पूरा अधिकार प्राप्त है। संशोधन का यह अधिकार संसदीय देशों में व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता को सिद्ध करता है।

(6) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य** (Electrol Functions) :- संसार के सभी देशों में विधायिका को चुनाव सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते हैं। भारत में राष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के चुने हुए सदस्य तथा प्रान्तीय विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा मिलकर किया जाता है। स्विटजरलैण्ड में राष्ट्रीय सभा, मन्त्रीपरिषद्, न्यायधीशों तथा प्रधान सेनापति का चुनाव करती है। रूस में सुप्रीम सोवियत (संसद) ही कार्यपालिका के सदस्य तथा सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीशों का चुनाव करती है। इंग्लैण्ड तथा भारत में निम्न सदन स्पीकर का चुनाव करता है। चीन में संघीय राष्ट्रपति संसद के द्वारा ही चुना जाता है। अमेरिका में कांग्रेस निर्वाचनों, निर्वाचन विवरणों तथा सदस्यों की निर्वाचन सम्बन्धी योग्यताओं का निर्णय करने का अधिकार रखती है। जापान में डाइट (संसद) प्रधानमन्त्री का चुनाव करती है। इस तरह सभी देशों में व्यवस्थापिका निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती है।

(7) **विमर्शात्मक कार्य** (Deliberative Functions) :- कोई भी कानून तभी लोकप्रिय हो सकता है, जब वह व्यापक सूझ-बूझ व विचार-विमर्श से निर्मित हो। इसलिए व्यवस्थापिका अच्छे कानून का निर्माण करने के लिए व्यापक विचार-विमर्श करती है। व्यवस्थापिका अनेक हितों, दृष्टिकोणों और समुदायों का प्रतिनिधित्व करने वाला सभा स्थल है। इसमें सार्वजनिक विषयों, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के बारे में व्यापक विचार-विनिमय होता है। इसमें शासन सम्बन्धी सारी बातों पर आवश्यक विचार करके ही निर्णय किया जाता है। अपना कार्य सही ढंग से करके वास्तव में व्यवस्थापिका उचित व्यवस्थापन कार्य ही करती है। इस कार्य को करने में व्यवस्थापिका की समितियां उसका पूरा सहयोग करती है।

(8) **अन्य कार्य** (Other Functions) :- आज का युग कल्याणकारी राज्यों का युग है। संसदीय पद्धति के विकसित हो जाने से कानून बनाने तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का कार्य कार्यपालिका भी करने लगी है। लेकिन इससे व्यवस्थापिका का बोझ कम नहीं हुआ है। वह आज अनेक उत्तरदायित्वों से लदी हुई है। उसे उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त भी कार्य करने पड़ते हैं। लोकमत का निर्माण करने, जनमत को शिक्षित करने, जनता की शिकायत दूर करने, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर नजर रखने, प्रतिनिधित्व करने, हित-स्वरूपीकरण और हित-समूहीकरण करने, राजनीतिक समाजीकरण तथा पर्यवेक्षण व निगरानी सम्बन्धी कार्य भी आज विधायिका को ही करने पड़ते हैं। ये कार्य संसदीय देशों में तो व्यवस्थापिका के महत्वपूर्ण कार्य बन रहे हैं। इसी कारण फ्रेडिक ने लिखा है - "आधुनिक समय में एक प्रतिनिधि सभा का मूल कार्य कानून-निर्माण उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि आम जनता की राजनीतिक शिक्षा, प्रचार-कार्य तथा विभिन्न मतों, विचारों और मतभेदों का एकीकरण

है।" लेकिन व्यवस्थापिका की यह भूमिका लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं तक ही सिमटकर रह जाती है। अधिनायकवादी देशों में उसकी भूमिका सिकुड़ जाती है।

व्यवस्थापिका की भूमिका का मूल्यांकन

(Evaluation of the role of Legislature)

यद्यपि व्यवस्थापिकाएं प्रत्येक देश में पाई जाती हैं और कुछ या अधिक कार्यों का निष्पादन भी करती हैं, लेकिन आज उनकी भूमिका सिकुड़ रही है। अधिकतर देशों में तो उनके कार्यों का निष्पादन औपचारिकता मात्र रह गया है। आज संवैधानिक देशों में व्यवस्थापिकों की भूमिका विधि-निर्माण में कम हो रही है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लोकतन्त्रीय देशों में इसकी भूमिका महत्वहीन हो गई है। इन देशों में सरकारी और अन्य राजनीतिक कार्य इन्हीं के द्वारा पूरे किए जाते हैं। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में सरकार के कार्यों पर विधायिका का प्रभाव स्वतन्त्र व अधिक है। ब्रिटेन में संसदीय प्रणाली होने के कारण इनका प्रभाव द्विदलीय व्यवस्था के तहत कार्यपालिका जितना ही है, किन्तु भारत में व्यवस्थापिका का प्रभाव कम है। सोवियत संघ में एकदल के आधिपत्य के कारण यह भारत या अमरीका जितनी भी प्रभावी नहीं है। आज भारत में संसद की वह स्थिति नहीं है जो 26 जून 1975 से पहले थी, लेकिन ब्रिटेन की संसद आज भी आदर की संस्था है। इसका जो कुछ भी प्रभाव है, वह इस कारण है कि यह राजनीतिक सत्ता को वैधता प्रदान करती है। जनता को राजनीतिक शिक्षा देने तथा काण्डों का भाण्डाफोड़ करने में आज व्यवस्थापिका अपनी भूमिका बेखूबी निभा रही है। स्वेच्छाचारी देशों में भी व्यवस्थापिका के बिना शासकों का काम नहीं चल सकता। इण्डोनेशिया और पाकिस्तान में सैनिक शासन के बाद भी किसी न किसी रूप में व्यवस्थापिकाएं अवश्य हैं। बर्मा में जनरल बेविन आज भी इसके कारण ही शासन कर रहे हैं। नेपाल मे लोकतन्त्र का गला घोटने के बाद भी राष्ट्रीय पंचायत के रूप में व्यवस्थापिका आज भी मौजूद है। तानाशाही देशों में व्यवस्थाएं चाहे दिखावा मात्र ही क्यों न हो, हैं अवश्य। कुछ तानाशाही देशों में तो व्यवस्थापिकाएं बहुत महत्वपूर्ण हैं। यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो आज भी व्यवस्थापिका को ही काफी महत्व देते हैं। इसलिए तानाशाही देशों में व्यवस्थापिकाओं की भूमिका शासक वर्ग की सोच पर निर्भर करती है। इसी तरह सर्वसत्ताधिकारवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका का मुख्य नियामक, निर्देशक व नियन्त्रक साम्यवादी दल होता है। विकासशील देशों में संस्थागत आधारों के अभाव में व्यवस्थापिकाएं न तो सरकारी कार्यों का ठीक तरह से निष्पादन कर पा रही हैं और न ही राजनीतिक कार्यों का। इन देशों में व्यवस्थापिकाएं हंगामा स्थल बनकर रह गई हैं। इन देशों में व्यवस्थापिकाओं की भूमिकाओं को प्रभावी रखने के लिए अनुकूल संस्कृति का निर्माण व विकास नहीं हो पाया है। बहुदलीय प्रणाली तथा सांझा सरकार के प्रतिमान ने आज व्यवस्थापिका की भूमिका को धराशाही कर दिया है। लेकिन धीरे-धीरे विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाओं की भूमिका में सुधार होता नजर आ रहा है। अतः सार रूप में कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिकाओं की भूमिका राजनीतिक व्यवस्था तथा शासन-प्रणाली विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है।

व्यवस्थापिका का संगठन

(Structure of Legislature)

आधुनिक युग प्रतिनिधि लोकतन्त्र का युग है। इसमें कानून बनाने का पूरा उत्तरदायित्व जन-प्रतिनिधियों के संगठन व्यवस्थापिका का है। कई देशों में व्यवस्थापिका एक सदनीय है और कई में द्विसदनीय। लेकिन यह बात तो सत्य है कि किसी भी देश में विधानमण्डल का व्यवस्थापिका अवश्य पाई जाती है। इस बात का कोई सर्वसम्मत राय आज तक नहीं बन पाई

है कि व्यवस्थापिका का एक सदन हो या दो, जहां जे०एस० मिल, सर हैनरी मेन तथा लेकी जैसे विद्वान दो सदनीय विधायिका का समर्थन करते हैं, वहीं बेन्थम, अबेसियस तथा बैंजमन फ्रेंकलिन जैसे विद्वान एक सदनीय विधायिका का ही पक्ष लेते हैं। आज विश्व के आधे से अधिक देशों में एक सदनीय व्यवस्थापिकाएं हैं। जिन देशों में एक सदन है, उस देश की व्यवस्थापिका एक सदनीय व्यवस्थापिका तथा जहां व्यवस्थापिका के दो सदन हैं, उसे द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका की संज्ञा दी जाती है। जहां पर दो सदन है उनमें से एक को निम्न सदन तथा दूसरे को उपरि सदन कहा जाता है। भारत, इंग्लैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, श्रीलंका आदि में द्वि-सदनीय विधायिकाएं हैं, जबकि चीन, पाकिस्तान, रोडेशिया, तुर्की, पुर्तगाल आदि देशों में एक-सदनीय विधायकाएं हैं।

एक सदनीय व्यवस्थापिका

(Unicameral Legislature)

जिस देश में व्यवस्थापिका का एक सदन होता है उसे एक सदनीय व्यवस्थापिका कहा जाता है। यह पद्धति आज विश्व के अनेक देशों में प्रचलित है। यह पद्धति 18वीं तथा 19वीं सदी के दौरान अधिक लोकप्रिय रही और आज भी है। इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि लोकप्रिय सम्प्रभुता जनता में निवास करती है और उसका प्रतिनिधित्व केवल एक ही सदन द्वारा होना चाहिए। सीएज का कहना है कि "कानून लोगों की इच्छा का परिणाम है। लोग एक समय में एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएं नहीं रख सकते, इसलिए कानून निर्माण करने वाली सभा भी, जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है, अनिवार्यता एक ही होनी चाहिए।" बीन्जामिन फ्रैंकलीन ने भी एक सदन का ही समर्थन किया है। आज यूनान, यूगोस्लाविया, चीन, पाकिस्तान, तुर्की आदि देशों में एक-सदनीय व्यवस्थापिकाएं हैं।

एक सदनीय विधायिका के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of Unicameral Legislature)

आज अनेक देशों में एक सदनीय व्यवस्थाएं हैं। इसके समर्थक कहते हैं कि जनमत का प्रतिनिधित्व एक ही सदन कर सकता है, दो नहीं इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं :-

(1) एकसदनीय व्यवस्था सम्प्रभुता के सिद्धान्त की समर्थक है। इसके समर्थकों का कहना है कि सम्प्रुता की अभिव्यक्ति जनता की इच्छा में होती है जिसका प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका द्वारा ही होता है। यह सम्प्रभु की इच्छा अखण्ड या अविभाजित होती है। इसलिए इसका प्रतिनिधित्व एक सदन से ही होना चाहिए।

(2) एकसदनीय व्यवस्थापिका में उत्तरदायित्व सुनिश्चित रहता है। इसमें उत्तरदायित्व का दो सदनों या दो स्थानों पर विभाजन नहीं होता।

(3) यह सार्वजनिक हित के अनुकूल है। द्वितीय सदन तो धनवान वर्गों का पोषक है।

(4) इससे समय व धन दोनों की बचत होती है।

(5) इसमें दो सदनों में पाए जाने वाले गतिरोध की सम्भावना नहीं होती है।

(6) यह अच्छे व उपयोगी कानूनों का निर्माण करती है।

(7) यह सरल पद्धति है। इसके आधार पर विधायिका का संगठन आसानी से समझा जा सकता है।

एक सदनीय विधायिका के विपक्ष में तर्क

(Arguments against Unicameral Legislature)

एक सदनीय विधायिका के विपक्ष में द्वि-सदनीय विधायिका के समर्थक निम्नलिखित तर्क देते हैं : -

(1) एकसदनीय विधायिका के स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश बनने के आसार अधिक होते हैं, क्योंकि कानून-निर्माण की सारी शक्ति उसी में केन्द्रित होती है।

(2) एक सदनीय विधायिका जल्दबाजी में एकपक्षीय और तर्कहीन कानूनों का निर्माण करती है।

(3) एकसदनीय विधायिका में शक्तियों का केन्द्रीयकरण प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत है। इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

(4) आज के कल्याणकारी राज्यों के युग में व्यवस्थापिका के कार्य भी बढ़ गए हैं। एकसदनीय विधायिका द्वारा उन्हें पूरा करना सम्भव नहीं है।

(5) एक सदनीय विधायिका में सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता। इसलिए दूसरे सदन का होना आवश्यक है।

(6) एकसदनीय विधायिका में व्यवस्थापिका अपनी गलतियों का पुनरावलोकन नहीं कर सकती।

(7) एकसदनीय व्यवस्थापिका संघात्मक शासन-व्यवस्था के अनुपयुक्त रहती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकसदनीय विधायिका लोकतन्त्र की आस्था के विपरीत है। इसके अवगुणों के कारण आज द्विसदनीय विधायिका का प्रतिमान अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका

(Bicameral Legislature)

द्विसदनीय व्यवस्थापिका की परम्परा ब्रिटेन की देन है। सबसे पहले ब्रिटेन में संसद के दो सदन विकसित हुए थे। बाद में सभी प्रजातन्त्रीय देशों ने ब्रिटिश प्रतिमान का ही अनुसरण किया है और उनमें द्विसदनीय विधायिकाएं हैं। प्रत्येक देश में निम्न सदन जन साधारण का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन जनता के कुछ विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने के कारण निम्न सदन, उच्च सदन से अधिक शक्तिशाली भी होता है। लेकिन आज विश्व के अनेक देशों में द्विसदनीय विधायिका का परम्परा का ही निर्वहन हो रहा है। प थक सदन की रचना तो जनप्रतिनिधियों द्वारा ही होती है, जबकि उच्च सदन के रचना के बारे में अलग-अलग प्रावधान है। ब्रिटेन में यह वंशानुगत आधार पर होती है तो अमेरिका में निर्वाचन के आधार पर होती है। जापान, इटली और कनाडा में उच्च सदन के सदस्यों का मनोनयन होता है। भारत में निर्वाचन तथा मनोनयन के बीच की व्यवस्था द्वारा उच्च सदन (राज्य-सभा) की रचना होती है। आज अनेक देशों में विधायिका के दूसरे सदन की महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत, कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में द्विसदनीय विधायिकाएं हैं।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of Bicameral Legislature)

सर हैनरी मेन का कहना है कि व्यवस्थापिका का दूसरा सदन अवश्य होना चाहिए ताकि पहले सदन की निरंकुशता को रोका जा सके। लोकतन्त्र के चढ़ते ज्वार ने व्यवस्थापिका को सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र बना दिया है। नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने तथा व्यवस्थापिकाओं को

दलीय हितों का पोषक बनने से रोकने के लिए आज द्विसदनीय विधायिका का सिद्धान्त प्रबल हो गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथम सदन यदि अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो उसे दूसरे सदन द्वारा रोका जा सकता है, क्योंकि द्वितीय सदन के रूप में शक्ति को शक्ति का नियन्त्रक बनाया गया है। इसकी स्थापना का उद्देश्य ही पहले सदन की तानाशाही पर रोक लगाना है। द्विसदनीय विधायिका के समर्थक इसके पक्ष में निम्न तर्क देते हैं :-

(1) **दूसरा सदन पहले सदन की निरंकुशता पर रोक लगाता है (Second Chamber checks the despotism of the Lower House) :-** द्विसदनीय विधायिका के समर्थकों का कहना है कि जिस देश में विधानपालिका का एक ही सदन होता है, उसके निरंकुश बनने की सम्भावना अधिक रहती है। साधारणतया यह बात सत्य निकलती है कि शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करती है और निरंकुश शक्ति उसे पूर्ण भ्रष्ट कर देती है। व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के सदस्य यद्यपि जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं, लेकिन फिर भी उनके पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना तो रहती है। जिस दल का सदन में बहुमत होता है, वह अपनी मनमानी करके स्वेच्छाचारी कानूनों का निर्माण कर सकता है और अल्पसंख्यकों के हितों की अनदेखी कर सकता है। लीकाक ने कहा है कि एकसदनीय व्यवस्थापिका निरंकुश और अनुत्तरदायी होती है। इसी तरह लेकी ने भी सरकार के सभी रूपों में सर्वशक्तिसम्पन्न लोकतन्त्रीय सदन को बुरा बताया है। जे०एस०गिल ने लिखा है - "दूसरे सदन के अभाव में एक सदन निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी हो जाता है। अतः अविभाजित सत्ता के दूषित प्रभाव को रोकने के लिए दूसरा सदन आवश्यक है।" गैटेल ने भी लिखा है - "यदि कानून बनाने की सारी शक्ति एक सदन में ही केन्द्रित कर दी गई तो इस सदन के राज्य में सारी राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में लेने, भ्रष्टाचारी तथा अत्याचारों का भय अधिक हो जाएगा। इसलिए दूसरे सदन की स्थापना भी अनिवार्यता करनी ही चाहिए।" लार्ड एकटन ने ठीक ही कहा है-"स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरा सदन अति आवश्यक है।" जे०एस० मिल ने भी दूसरा सदन पहले सदन की निरंकुशता को रोकने के लिए आवश्यक माना है। स्टोरी ने भी कहा है-"व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का यही उपाय है कि उसके कार्यों का विभाजन कर दिया जाए। हित के विरुद्ध हित, इच्छा के विरुद्ध इच्छा का गठबन्ध या प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाए।" इसी तरह ब्राईस ने भी इसी बात पर जोर दिया है कि पहले सदन की निरंकुशता को रोकने के लिए दूसरा सदन आवश्यक है।

(2) **दूसरा सदन अविचारपूर्ण तथा जल्दबाजी में पास किए गए कानूनों को रोकता है (Second Chamber prevents hasty and ill considered Legislation)** :- पहले सदन द्वारा अविचारपूप्र तथा जल्दी में पास किए गए कानूनों को रोकने के लिए दूसरा सदन बहुत आवश्यक होता है। पहले सदन को जनता द्वारा निर्वाचित किया जाने के कारण, चुनाव के समय उसके सदस्यों ने जनता के साथ कुछ वायदे किए होते हैं, इसलिए चुनावों के बाद सरकार बनने पर उस सदन के नेता जोश में आकर गलत कानून बना देते हैं। ऐसे कानून जनता को थोड़े समय के लिए तो खुश कर देते हैं, लेकिन उनके परिणाम भयानक होते हैं। एक सदन के पास काम की अधिकता के कारण भी कानूनों को बिना पूर्ण सोच विचार के पास करने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। इसलिए अच्छे कानूनों का निर्माण करने के लिए तथा पहले सदन के द्वारा बनाए गए कानूनों पर विचार करने के लिए दूसरे सदन की महती आवश्यकता है। इससे कानून की गलतियां दूर हो जाती हैं और जो कानून बनता है, उसका प्रभाव अधिक स्थाई रहता है। सोच विचारकर बनाए गए कानून ही राजनीतिक समाज का आधार मजबूत कर सकते हैं। बलंशली ने दूसरे सदन का समर्थन करते हुए लिखा है-"चार आंखें दो आंखों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह देख सकती हैं, विशेषतया जब किसी विषय

पर विभिन्न द ष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो।" लेकी ने भी दूसरे सदन की आवश्यकता पर जोर दिया है। यह बात सही है कि दूसरे सदन के नियन्त्रण के बिना पहले सदन की न तो निरंकुशता को रोक पाना सम्भव है और न ही अच्छे कानूनों का निर्माण सम्भव है।

(3) **दूसरा सदन पहले सदन के समय की बचत करता है (Second Chamber saves the time of the Lower House) :-** आज का युग कल्याणकारी राज्यों का युग है। इसमें राज्यों के कार्यों में अपार व द्धि हो चुकी है। इससे विधानमण्डल के कार्य भी बहुत बढ़ गए हैं। एक सदन के पास कार्यों का बोझ इतना अधिक हो गया है कि वह उसे सम्भालने में परेशानी महसूस करने लगा है। इसके सदस्य बार बार बदलने के कारण विधायिका को शासन की जटिलता समझने का अवसर प्राप्त नहीं होता। विकासशील देशों में तो राजनीतिक अस्थिरता के कारण यह समस्या और भी अधिक गहरी है। इसलिए दूसरा सदन स्थाई सदन होने के कारण शासन की बारीकियों को समझने में सक्षम होता है और प्रथम सदन के कार्यभार को कम भी कर सकता है। दूसरे सदन में अधिक अनुभवी व योग्य व्यक्ति होते हैं, जिससे प्रशासनिक कार्यों में भी असुविधा रहती है। बिलों पर वाद-विवाद करके पहले सदन का समय बचाने में भी दूसरा सदन उपयोगी है। दूसरे सदन में जो बिल पेश किये जाते हैं, वे प्रायः कम महत्व के होते हैं। उन पर दूसरा सदन ही प्रायः विचार-विमर्श करके पहले सदन के कीमती समय को नष्ट होने से बचा लेता है और पहले सदन को आवश्यक बिलों पर व्यापक विचार-विमर्श करने का पर्याप्त समय मिल जाता है।

(4) **दूसरा सदन विशेष हितों और अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए आवश्यक है (Second Chamber is necessary for ensuring Representation to Interest groups and Minorities) :-** निम्न सदन में बहुमत का प्रतिनिधित्व होने के कारण प्रायः अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का पोषण करने वाला प्रतिनिधि वर्ग पीछे रह जाता है। शांति की स्थापना के लिए यह जरूरी होता है कि समाज के सभी वर्गों को शासन में भागीदार बनाया जाएं जनता द्वारा निर्वाचित होने के कारण कई बार पहले सदन में समाज के कुछ विशेष वर्गों या अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की अनदेखी हो जाती है। इसलिए उनके हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए दूसरे सदन की व्यवस्था जरूरी है। इसके अतिरिक्त देश में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो चुनाव लड़ना पसंद नहीं करते, परन्तु उनकी योग्यता की देश को आवश्यकता होती है। द्वितीय सदन में ऐसे ही योग्य, अनुभवी, कुशल व बुद्धिजीवियों को मनोनीत कर लिया जाता है। भारत में राष्ट्रपति को राज्यसभा या उच्च सदन में 12 ऐसे सदस्य मनोनीत करने का अधिकार है जिन्होंने साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास तथा समाजसेवा में उल्लेखनीय कार्य किया हो। इसी तरह ब्रिटेन में सम्राट या साम्राज्ञी को ऐसे ही योग्य व्यक्तियों को लार्ड सदन में मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त है।

(5) **दूसरा सदन स्थाई है (Second Chamber is stable)** :- द्वितीय सदन का कार्यकाल पहले सदन की तुलना में अधिक होता है। संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों, विशेषतौर पर विकासशील देशों में जहां सरकार अस्थिर होती है, वहां तो इसका महत्व स्थायित्व के कारण अधिक बढ़ जाता है। भारत तथा इंग्लैण्ड में प्रधानमन्त्री की सलाह से राष्ट्राध्यक्ष व शासनाध्यक्ष निम्न सदन को निर्धारित अवधि से पहले भी भंग कर सकता है। परन्तु भारत में राज्यसभा और इंग्लैंड में लार्ड सदन स्थाई सदन हैं। उन्हें किसी भी अवस्था में भंग करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। भारत व अमेरिकामें ऊपरी सदन की अवधि तो 6 वर्ष है, लेकिन निम्न सदन की 5 वर्ष है। भारत में अविश्वास प्रस्ताव पारित करके इस सदन को समय से पहले भी प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा भंग किया जा सकता है।

अधिक स्थाई होने के कारण स्थाई शासन के गुण इस सदन में ही होते हैं और जनता को इसके स्थायित्व व इसके सदस्यों की योग्यता का पूरा लाभ मिलने लगता है। यह स्थायित्व अच्छे शासन व अच्छे कानून दोनों के हित में है।

(6) **दूसरा सदन संघात्मक राज्यों के लिए अनिवार्य है (Second Chamber is essential in a Federal Form of Government) :-** जिन देशों में संघात्मक सरकार की स्थापना की गई है, वहां विधायिका का दूसरा सदन जरूरी है। पहले सदन (निम्न सदन) के सदस्यों का चुनाव तो आबादी के आधार पर होता है, जिससे अधिक आबादी वाले राज्यों को अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इससे कम आबादी वाले राज्यों को प्रतिनिधित्व की हानि होती है। बड़े-बड़े राज्य छोटे-छोटे राज्यों के विरुद्ध कानून पास करके उनके हितों को हानि पहुंचा सकते हैं। इसलिए उनके हितों की सुरक्षा के लिए उच्च सदन या द्वितीय सदन की स्थापना करना आवश्यक है। प्रो० गेटेल ने लिखा है-'"दो सदनों के रहने से विचार-विमर्श में सतर्कता एवं संतुलन और अधिक सावधानी से विश्लेषित एवं संग्रहित व्यवस्थापन की प्राप्ति होती है।" अमेरिका, भारत, स्विटरजरलैण्ड में सभी राज्यों को ऊपरी सदन में बराबर प्रतिनिधित्व दिया गया है ताकि सभी राज्यों के हितों को घोषित करके संघात्मक व्यवस्था को सुद ढ़ बनाया जा सके।

(7) **पहले सदन के कार्यों का पुनरावलोकन (Review of the functions of First Chamber)** :- दूसरा सदन पहले सदन द्वारा पारित किए गए कार्यों का पुनरावलोकन करने के लिए बहुत आवश्यक है। आजकल पहले सदन के पास कार्यभार की अधिकता के कारण सभी बिलों पर ध्यान देना आवश्यक है। व्यापक विचार-विमर्श की बजाय प्रायः जल्दबाजी में ही बिलों को पास कर दिया जाता है। इससे कानून त्रुटिपूर्ण बन जाता है। इसलिए व्यवस्थापिका में न्यायपालिका की तरह पुनरावलोकन का होना भी जरूरी है। इसलिए दूसरा सदन इसी कमी की पूर्ति कर सकता है। पर्याप्त समय होने के कारण यह योग्य व्यक्तियों के सदन के रूप में पहले सदन के बिलों पर व्यापक विचार-विमर्श करके कमियों को दूर करने में अहम भूमिका निभा सकता है। बलंशली ने ठीक ही कहा है कि एक से दो आंखे अधिक अच्छी होती हैं। इसलिए दूसरा सदन कानूनों ने पुनरावलोकन के लिए बहुत आवश्यक है।

(8) **द्विसदनीय व्यवस्थापिका कार्यपालिका की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है (Bicameral Legislature is essential for independence of Executive)** :- दो सदनीय विधायिका में दोनों सदन एक दूसरे पर नियन्त्रण करके कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। कार्यपालिका अपना कार्य तभी कुशलतापूर्वक कर सकती है, जब उसे कार्य करने की आजादी हो। कई बार कार्यपालिका को अपनी नीतियों का एक सदन में तो समर्थन प्राप्त नहीं होता, परन्तु दूसरे में प्राप्त हो जाता है। कार्यपालिका की एक सदन पर निर्भरता कम होने से वह अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकती है। भारत तथा अमेरिका जैसे देशों में कार्यपालिका के अध्यक्ष को संसद अभियोग द्वारा हटा सकती है। लेकिन दो सदनों की व्यवस्था में यह कार्य कठिन होता है। इसमें एक सदन तो आरोप लगाता है, जबकि दूसरा जांच करता है। एक सदन द्वारा लगाए गए गलत आरोपों का दूसरे सदन में निवारण हो जाता है। इससे कार्यपालिका निर्भय होकर उचित कार्यों के निष्पादन में लगी रह सकती है। इसलिए कार्यपालिका की स्वतन्त्रता के लिए दूसरे सदन का होना बहुत जरूरी है।

(9) **दूसरा सदन योग्य व्यक्तियों का सदन है (Second Chamber is the chamber of able persons)** :- दूसरा सदन पहले सदन की अपेक्षा योग्य व्यक्तियों का ही सदन है। भारत में निम्न सदन में अनपढ़ तथा अयोग्य व्यक्ति भी पहुंच जाते हैं, लेकिन दूसरे सदन (राज्य सभा) में सभी सदस्य योग्य व अनुभवी ही मिलते हैं। उनहें राष्ट्रपति उनकी योग्यता के कारण ही

मनोनीत करता है। उनके भाषण भी उच्च स्तर के होते हैं। इंग्लैण्ड में इस सदन में रिटायर न्यायधीश, प्रशासक, स्पीकर डॉक्टर आदि नियुक्त किए जाते हैं। उनके कार्य-व्यवहार का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उनके भाषण जनता को उच्च स्तर की राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने वाले होते हैं। इसलिए जनता को राजनीतिक व्यवस्था के लाभों से परिपूर्ण करने के लिए दूसरे सदन की महती जरूरत है।

(10) **ऐतिहासिक समर्थन (Historical Support)** :- द्वितीय सदन के समर्थकों का कहना है कि इतिहास के आधार पर भी दूसरे सदन की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। 1649 ई० में इंग्लैण्ड में क्रामवैल ने दूसरे सदन को समाप्त कर दिया था, लेकिन उसके महत्व को देखते हुए 1660 ई० में उसे दूसरा स्थापित करना पड़ा। आज भी वहां दो सदन हैं। अमेरिका में भी स्वतन्त्रता के समय एक ही सदन था, लेकिन बाद में दूसरे सदन की आवश्यकता महसूस होने पर इसकी भी स्थापना करनी पड़ी। आज संसार के अनेक देशों में व्यवस्थापिका के दो सदन पाये जाते हैं। यदि दूसरे सदन की कोई उपयोगिता नहीं होती तो उसे क्यों स्थापित रखा जाता। इसलिए ऐतिहासिक तथ्य भी द्विसदनीय विधायिका का ही समर्थन करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दूसरे सदन की आवश्यकता स्वतन्त्र, निष्पक्ष व अनुभवी सदन के रूप में है। चीन को छोड़कर आज बड़ी जनसंख्या वाले देशों में संसद के दो सदन ही पाए जाते हैं। सांस्कृतिक द ष्टि से विभिन्नता वाले समाजों में समान राजनीतिक प्रतिनिधित्व व उनके हितों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए दूसरा सदन महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। संघात्मक शासन प्रणालियों वाले देशों में आज दूसरा सदन समन्वयकारी भूमिका निभा रहा है। अतः निष्कर्ष रूप में द्वितीय सदन का होना आधुनिक राज्यों में बहुत ही अनिवार्य है।

द्विसदनीय विधायिका के विपक्ष में तर्क

(Arguments against Bicameral Legislature)

यद्यपि दूसरा सदन अनेक देशों में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है, लेकिन फिर भी उसके ऊपर कुछ आपेक्ष लगाए जाते हैं। इन आपेक्षों में कुछ दम भी दिखाई देता है। इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क पेश किए जाते हैं। :-

(1) दूसरा सदन समाज के दूसरे मत का अभिव्यक्तक होने के कारण समाज में विभाजन की प्रव त्ति को पैदा करता है।

(2) यह व्यवस्था सम्प्रभुता की धारणा के विरुद्ध है, क्योंकि सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति जनता की इच्छा में होती है। उस इच्छा का प्रतिनिधित्व करने में निम्न सदन ही पर्याप्त है। इसलिए उस इच्छा को बांटना अनुचित है।

(3) उपरि सदन व्यर्थ या शरारती दोनों हैं। यदि वह निम्न सदन के प्रत्येक बिल को पास कर देता है तो वह व्यर्थ है। यदि उसके रास्तें में बाधाएं खड़ी करता है तो वह शरारती है।

(4) निम्न सदन में कानून सोच-विचार के बाद ही पास होते हैं। द्विसदनीय विधायिका के समर्थकों का यह मानना गलत है कि एक सदन में कानून सही नहीं बन पाता। कानून बनने से पहले बिल के कई वाचन होते हैं और उचित प्रक्रिया से गुजरकर ही वह कानून का रूप लेता है।

(5) दूसरे सदन के समर्थकों का यह कथन भी गलत है कि यह पहले सदन की स्वेच्छाचारिता को रोकता है। दूसरा सदन अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाने के कारण निम्न सदन से कम शक्तिशाली होने के कारण निम्न सदन पर प्रभावी नियन्त्रण कैसे रख सकता है ? वह निम्न सदन द्वारा पास बिल पर देरी तो कर सकता है, उसे निरस्त नहीं कर सकता। भारत जैसे

देश में विधानमण्डल पर नियन्त्रण न्यायपालिका ही कर सकती है, दूसरा सदन नहीं।

(6) दूसरा सदन पूंजीपति वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए यह सर्वसाधारण के हितों के विरुद्ध है।

(7) दूसरा सदन संसद के द्वारा राष्ट्रीय धन को अपव्यय का साधन बन जाता है। लास्की का कहना सही है कि इससे राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।

(8) इससे व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में गतिरोध की संभावना बढ़ जाती है, क्योंकि दूसरा सदन रूढ़िवादियों और प्रतिक्रियावादियों का समूह होता है।

(9) संघात्मक शासन में दूसरा सदन आवश्यक नहीं है। इसमें अल्पसंख्यकों अथवा सघीभूत इकाईयों के अधिकारों की रक्षा दूसरे सदन की अपेक्षा वैधानिक संरक्षणों एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका के द्वारा ही हो सकती है, दूसरे सदन से नहीं।

(10) दूसरे सदन की संगठनात्मक व्यवस्था अनेक देशों में वंशानुगत है या प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत है। अतः दूसरा सदन अनावश्यक व अप्रजातन्त्रीय है।

अतः द्विसदनीय विधायिका के पक्ष और विपक्ष में दिए गए तर्कों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक राज्यों में दूसरे सदन को व्यर्थ ही माना जाता है। वैज्ञानिक फ्रैंकलिन ने तो यहां तक कह दिया है कि "व्यवस्थापिका जो दो सदनों में विभाजित है, एक ऐसी गाड़ी के समान है जिसे एक घोड़ा आगे खींच रहा है और दूसरा पीछे।" अबेसियस ने इसे व्यर्थ या शरारती सदन कहा है। लास्की का भी मत है कि संघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारन्टी नहीं है। आज अनेक देशों में दूसरा सदन राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार बन रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि दूसरा सदन उपयोगी नहीं है। ऐतिहासिक आधार पर इस बात का समर्थन किया जा सकता है कि जिन देशों में दूसरे सदन को समाप्त किया गया था, वहां इसे फिर से स्थापित करना पड़ा। इसकी स्थापना ही इसकी उपयोगिता की गारन्टी है। लीकाक ने तो यहां तक कहा है कि एक सदनीय प्रणाली तो कभी अधिक सफल नहीं रही, लेकिन दो सदनों वाली विधायिका सभी देशों में सफल रही है। इसलिए यह कहना सर्वथा गलत है कि दूसरा सदन अनुपयोगी है। अमेरिका में दूसरा सदन (सीनेट) संसार में शासन-व्यवस्था के लिए एक प्रबल उदाहरण है। भारत में भी राज्य सभा की दूसरे सदन के रूप में प्रभावी भूमिका है। जिन जिन देशों में लोकतन्त्रीय व्यवस्थाएं हैं, वहां पर दूसरे सदन की आवश्यकता अनुभव की जाती है। जब तक लोकतन्त्र रहेगा तब तक दूसरे सदन को मिटाना असम्भव है। सर्वसत्ताधिकारवादी तथा तानाशाही या एकात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों में तो द्विसदनीय विधायिका की दशा मरे हुए सांप की तरह है जो अपनी रक्षा ही नहीं कर सकता तो जनहितों का ख्याल कैसे रख पाएगा। अतः यह कहना अनुचित है कि आज विश्व की शासन प्रणालियों में दूसरे सदन के महत्व का ह्रास हो रहा है। लोकतन्त्रीय अवस्थाओं के प्रहरी के रूप में दूसरे सदन की आज भी महती आवश्यकता है।

वर्तमान समय की व्यवस्थापिका का ह्रास

(Decline of Legislature in present time)

यदि आज व्यस्थापिका के कार्यों और शक्तियों की आलोचनात्मक परीक्षा की जाए तो इनमें गिरावट की स्थिति द ष्टिगोचर होती है। सबसे पहले जेम्स ब्राइस का ध्यान इस ओर गया और उसने अपनी पुस्तक 'Modern Democracies' में विधायिका के ह्रास की बात की, लेकिन वह समस्या की तह तक पहुंचने में नाकाम रहा। उसके बाद के०सी० व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'Legislature' में विधायिका के ह्रास की चर्चा फिर से शुरु की। उसने इस पुस्तक में एक अध्याय 'विधायिकाओं के पतन' का

जोड़ा। उसने विधायिका के ह्रास का कारण कार्यपालिका की शक्तियों में व द्धि को बताया। रैम्से म्योर ने भी कार्यपालिका की मजबूत स्थिति का परिणाम बताया है। ला पालोम्बरा ने विधायिका के ह्रास का कारण उसकी प्रतिनिध्यात्मकता तथा कार्यपालिका की शक्ति को बढ़ने को माना है। राबर्ट सी० बोन इसे कार्यपालिका तथा विधायिका के सम्बन्धों में आए बदलाव को उत्तरदायी ठहराया है।

आज व्यवस्थापिकाओं के पतन की जो बात चर्चा में है, वह यह है कि आज संसदों का युग लद गया है, नौकरशाही की विजय हो रही है और कार्यपालिका या मन्त्रीमण्डल की तानाशाही स्थापित हो चुकी है। इस चर्चा पर व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'Legislature' में अनेक प्रश्न उठाए हैं। उसने लिखा है - क्या व्यवस्थापिकाओं की शक्ति में कमी आ गई है, क्या इनकी कार्यदक्षता नहीं रही; क्या इनके प्रति जनता की रुचि तथा सम्मान कम हुआ है; क्या विधायकों के व्यवहार में या व्यवस्थापिकाओं के शिष्टाचार में कमी आई है; क्या यह पतन अन्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के मुकाबले या कार्यपालिका के मुकाबले में हुआ है ? व्हीयर का कहना है कि यदि इन बातों को ध्यान में रखकर व्यवस्थापिका के पतन पर विचार किया जाए तो कोई सर्वमान्य हल नहीं निकाला जा सकता। व्यवस्थापिका के पतन को तो कार्यपालिका की शक्तियों में हुई व द्धि के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। आज कार्यपालिकाएं ऐसे कार्य करने लगी हैं जो पहले नहीं किए जाते थे। इसी तरह व्यवस्थापिकाएं भी पहले से अधिक कार्य करने लगी हैं। लेकिन कार्यपालिका के मुकाबले में वे काफी पिछड़ी हुई हैं। व्यवस्थापिकाओं के पिछड़ने या पतन की तरफ जाने के अनेक कारण हो सकते हैं :-

(1) **कार्यपालिका की शक्तियों में असीम बढ़ोतरी** **(Tremendous growth in the executive function)** :- व्यस्थापिका के ह्रास का कारण सबसे पहले कार्यपालिका की शक्तियों में हुई व द्धि में खोजा जा सकता है। व्हीयर ने कहा है कि दो विश्वयुद्धों के कारण विश्व में आए आर्थिक संकटों, राज्यों द्वारा समाजवादी या लोककल्याणकारी नीतियों को अपनाने ओर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के बराबर बना रहने से सरकार ने परिस्थितियों को देखते हुए अपनी कार्यकारी शक्तियों में व द्धि करनी शुरु कर दी। अब कार्यपालिका ऐसे कार्य करने लगी, जो पहले कोई नहीं करता था। इससे कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र पहले की तुलना में अधिक हो गया है। वैसे तो विधायिका के भी कार्य बढ़े हैं, लेकिन कार्यपालिका जितने नहीं। कार्यपालिका के मुकाबले विधायिका की शक्तियों का ह्रास ही हुआ है, विकास नहीं।

(2) **प्रदत व्यवस्थापन का विकास** **(Development of delegated legislation)** :- प्रदत व्यवस्थापन की व्यवस्था करके विधायिका ने स्वयं ही अपनी शक्तियों का ह्रास किया है। जो कानून विधायिका बनाती थी, वे आज कार्यपालिका द्वारा बनाए जाते हैं। वे कानून भी विधायी कानूनों की तरह ही मान्य होते हैं। इसलिए विधायिका ने कार्यपालिका के प्रति जो शक्ति-प्रत्यायोजन किया है, उससे विधायिका की कुछ शक्ति कार्यपालिका में जाने के कारण विधायिका की शक्तियों का ह्रास ही हुआ है।

(3) **संचार साधनों की भूमिका** **(Role of means of Communication)** :- आधुनिक युग में रेडियो, टी०वी०, इन्टरनेट जैसी व्यवस्थाओं ने संसद से बाहर भी वाद-विवाद के मंच को विकसित किया है। अब कार्यपालक इन साधनों की सहायता से जनता को अपनी बात कह सकता है और जनता की बात सुन भी सकता है। इससे जनसम्पर्क का महत्व बढ़ा है। आज संचार साधनों को जनमत का निर्माण करने में महत्वपूर्ण माना जाता है। आज संचार के साधन जनमत की सरकार के पक्ष या विपक्ष में तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इससे संसद की उपयोगिता में कमी आई है। संसद के प्रति जनता के मन में जो डर था, वह अब समाप्त हो गया है। अब लोग संसद के वाद-विवाद की बजाय कार्यपालक को

टी०वी० या रेडियो पर ही सुनना पसन्द करते हैं। इसलिए विधायिका का ह्रास होना स्वाभाविक ही है।

(4) **दबावगुटों व हित समूहों का विकास** (Development of pressure groups and Interest groups) :- आधुनिक समय में जनता की मांगों को सरकार तक पहुंचाने वाले अनेक गैर-सरकारी संगठन खड़े हो गए हैं। आज दबाव गुट व हित समूह जनता की शिकायतों को लेकर विधायिका की बजाय सीधे कार्यपालिका में ही पहुंच जाते हैं; इस निर्णय प्रक्रिया में कार्यपालिका को प्रत्यक्ष भूमिका होने के कारण विधायिका की प्रतिष्ठा को धक्का लगना स्वाभाविक ही है। इसमें विधायिका की शक्तियों के ह्रास की बात की जाए तो कोई अतिश्योक्ति भी नहीं होनी चाहिए।

(5) **विशेषज्ञ व परामर्शदात्री समितियों का विकास** (Development of Consultative and Advisory Committees) :- आज प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञों व सलाहकारों के रूप में समितियां मौजूद हैं। विधेयक के प्रारूप से लेकर उनके कानून बनने तक इन समितियों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्वयं विधायिका भी इन्हीं समितियों पर आश्रित है। यदि भूलवश कोई विधायक बिल के बारे में कोई जानकारी चाहने की चेष्टा करता है तो उसे समितियों का हवाला देकर हताश कर दिया जाता है। ऐसी अवस्था में व्यवस्थापिका के सामने ऐसे प्रस्तावों और विधेयकों पर अपना अनुमोदन करना ही पड़ता है। कई बार राष्ट्रहित का वास्ता देकर व्यवस्थापिका को सामान्य विषयों पर वाद-विवाद करने सें वंचित कर दिया जाता है। अतः कार्यपालिका के आगे विधायिका बौनी ही पड़ती है।

(6) **कार्यपालिका की विदेशी सम्बन्धों में सर्वोच्चता** (Supremacy of Exexutive in Foreign-Relations) :- आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बढ़ावा देने के लिए सारे प्रयास कार्यपालिकाएं ही करती हैं। आज कार्यपालिका ही विदेशी-सम्बन्धों के संचालन में अहम् भूमिका निभाती है। कार्यपालिका द्वारा किए गए समझौतों व सन्धियों का विधायिका को अनुमोदन करना ही पड़ता है। अतः विदेशी सम्बन्धों के मामलों में भी विधायिका कमजोर ही पड़ती है।

(7) **युद्ध और संकटकालीन परिस्थितियां** (War and Emergency Situations) :- युद्ध और संकटकाल में कार्यपालिका ही निर्णय लेने वाली प्रमुख संस्था होती है। लोकतन्त्रीय देशों में तो कार्यपालिका अध्यक्ष द्वारा ऐसी परिस्थितियों में लिए गए निर्णयों का विधानमण्डल द्वारा अनुमोदन करना ही पड़ता है। युद्ध व संकटकाल में आपात निर्णय लेना जरूरी होता है। ऐसे में संसद की बैठक बुलाकर विचार-विमर्श का समय नहीं होता। इसलिए राष्ट्राध्यक्ष सेनाओं का कार्यपालक होने के नाते सर्वे सर्वा होता है। आज परमाणु युग में राष्ट्राध्यक्षों को आपस में हॉट लाइन पर सम्पर्क बनाए रख्ना आवश्यक हो गया है। यद्यपि युद्ध के बारे में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार विधायिका के पास ही होता है लेकिन परिस्थितियों को देखते हुए यह निर्णय कार्यपालिका ही ले लेती है। 1965 व 1971 में भारत-पाक युद्ध के समय कार्यपालिका ने ही निर्णय लिया था। 1971 में युद्ध का संचालन भी स्वयं श्रीमती इन्दिरा गांधी ने ही किया था। वियतनाम युद्ध में भी अमेरिका के राष्ट्रपति ने कई बार कांग्रेस की अवहेलना की थी। अतः युद्ध और संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका ही विधायिका पर हावी हो जाती है। इससे विधायिका की शक्तियों के ह्रास की बात चलना स्वाभाविक ही है।

(8) **कल्याणकारी राज्यों का उदय** (The rise of Welfare States) :- आज का युग कल्याणकारी राज्यों का युग है। आज सरकार के कार्य सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान करने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि नागरिकों को सब तरह की सुविधाएं या विकास की परिस्थितियां पैदा करने के लिए भी हैं। इसमें कार्यपालिका के क्षेत्र का विकास हुआ है और

विधायिका की शक्तियों का ह्रास हुआ है।

(9) **अनुशासित राजनैतिक दलों का विकास** (Growth of disciplined Plitical Parties) :- एलेन बाल का यह कथन सही है कि आज अनुशासित राजनीतिक दलों के विकास तथा कार्यपालिका की शक्तियों में हुई व द्धि के कारण व्यवस्थापिका का ह्रास हुआ है। संसदीय व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका दल के समर्थन से व्यवस्थापिका की समस्त शक्तियों का प्रयोग ही नहीं करती, अपितु उसके नियन्त्रण से भी मुक्त रहती है। एक दल के बहुमत में तो व्यवस्थापिकाएं कार्यपालिकाओं की कठपुतलियां बनकर रह जाती हैं। शेपीरो ने रूसी जगत में सर्वोच्च सोवियत के लिए कहा था कि रूसी राजनीतिक पद्धति में विधायिका रबड की मुहर है।

(10) **न्यायिक पुनरावलोकन** (Judicial Review) :- न्यायपालिका की इस शक्ति ने विधायिका के कानूनों का संविधानिक औचित्य निर्धारित करने की शक्ति के रूप में विधायिका पर नियन्त्रण किया है। भारत तथा अमेरिका में संघीय न्यायपालिका के रूप में व्यवस्थापिका के ऐसे निर्णय अवैध घोषित करने का अधिकार न्यायिक पुनरावलोकन के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालयों को प्राप्त है। 1933 में आर्थिक मन्दी के दौरान अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति का प्रयोग करके कई आवश्यक कानूनों को भी रद्द कर दिया था। 1969 में भारत में भी सर्वोच्च न्यायालय ने बैंको के राष्ट्रीयकरण को अवैध घोषित किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति भी विधायिका की शक्तियों को मर्यादित करती है।

(11) **अन्य कारण** (Other Reasons) :- उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त भी विधायिका की शक्ति का ह्रास करने वाले कुछ अन्य कारण भी हैं जैसे - व्यवस्थापिका के सदस्य अनभिज्ञ या नौसीखिए होने के कारण कार्यपालिका के सदस्यों के आगे कमजोर पड़ते हैं। कार्यपालिका की तुलना में व्यवस्थापिका के पास साधनों का अभाव भी होता है। कार्यपालिका की तुलना में व्यवस्थापिका का बड़ा आकार होने के कारण उसके सदस्यों में आपसी एकता का अभाव भी पैदा हो जाता है। भारत में इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका के सत्र कम ही बार बुलाए जाते हैं, जबकि कार्यपालिका सदा क्रियाशील रहती है। हाल ही में किए गए दल-बदल कानून में संशोधन ने विधायिका की प्रभावशीलता में कमी ला दी है। अतः इन कारणों से भी विधायिका की शक्ति का ह्रास हुआ है और इसके लिए विधायिका काफी हद तक स्वयं दोषी है।

उपरोक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि व्यवस्थापिका का ह्रास हो रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि व्यवस्थापिका की म त्यु हो चुकी है। आज विधायिका जनता की शिकायतें अधिक से अधिक सुनने लगी हैं। विधानमण्डलों में आज जनहित की इतनी अधिक चर्चा होने लगी है कि कार्यपालिका का महत्व घटता नजर आने लगा है। आज राजनीतिक चेतना के बढ़ने के कारण कार्यपालिका को विधायिका द्वारा प्रश्न पूछे जाने का डर बना रहता है। आज जनता विधानमण्डलों की कार्यवाही को टी०वी० व रेडियो पर सुनने में रुचि लेने लगी है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास के कारण भी आज सरकार के कामकाज पर विधायिका द्वारा निगरानी रखना आवश्यक हो गया है। आज सार्वजनिक महत्व के विषयों पर विधायिका अपनी समितियों के माध्यम से नीति-निर्माण पर व्यापक विचार-विमर्श करती है। कानून बनने से पहले किसी बिल की व्यापक जाँच-पड़ताल करना आज विधायिका का लोकप्रिय कार्य हो गया है। इ सलिए विधायिका के अन्त या ह्रास की बात करना मूर्खता है। आर०बी०जैन ने कहा है-"यह निश्चित है कि दूरगामी प्रव त्ति विधायिकाओं की म त्यु या ह्रास की दिशा में नहीं है, जैसी पहले लेखकों की मान्यता रही है।" आज का युग व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मिलन का युग

है। इसमें कार्यपालिका की तुलना में विधायिका के ह्रास की बात करना निराधार है। विधायिका के ह्रास की बात विगत शताब्दी में तो ठीक हो सकती है, आज नहीं।

कार्यपालिका

(Executive)

कार्यपालिका सरकार की इच्छा या विधायिका के कानूनों को अमली जामा पहनाने वाला अंग है। इसे आमतौर पर सरकार का दूसरा तथा विधायिका का पूरक और समकक्षी अंग कहा जाता है। कार्यपालिका का जन्म शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त का प्रतिफल है। जैसे जैसे सरकार के कार्यों में व द्धि होती गई, वैसे वैसे सरकार द्वारा एक ही संस्था के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों का विभाजन सरकार व प्रशासन चलाने के लिए आवश्यक होता गया। इससे सरकार के तीन अंगों का जन्म हुआ। व्यवस्थापिका को तो कानून निर्माण का उत्तरदायित्व दिया गया, जबकि कार्यपालिका को उन कानूनों का क्रियान्वयन करने वाला अंग माना गया। इसलिए आज भी कार्यपालिका के लिए सरकार के नियम-क्रियान्वयन विभाग का प्रयोग किया जाता है। सरकार का यह अंग संगठन की द ष्टि से सभी देशों में समानता ही रखता है। संसदीय देशों में इसका विधायिका से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ा रहता है, जबकि अध्यक्षात्मक शासन वाले देशों में यह सम्बन्ध स्वतन्त्र व अप्रत्यक्ष हो जाता है। आज कार्यपालिका के अन्तर्गत प्रशासन को भी शामिल किया जाता है, क्योंकि राजनीतिक कार्यपालिका और प्रशासन के कार्य आपस में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और राजनीतिक इच्छा का वास्तविक संचालन अनेक देशों में प्रशासकीय अंगों द्वारा ही किया जाता है। इसलिए अनेक विद्वानों द्वारा कार्यपालिका को अलग पहचान देने के लिए राजनीतिक कार्यपालिका, शब्द का ही प्रयोग किया जाने लगा है। आज सभी देशों में सरकार का यह अंग सबसे महत्वपूर्ण अंग बन चुका है। इसके बिना सरकार पंगु है। इसके निर्माण या चुनाव के तरीके भी सभी देशों में अलग अलग हैं। इंग्लैण्ड में यह वंशानुगत आधार पर चुना जाता है तो जर्मनी, दक्षिण अमेरिका, चिल्ली, घाना आदि में इसको प्रत्यक्ष रूप से चुनाव प्रणाली के आधार पर अनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह निर्णायक मंडल द्वारा निर्वाचित किया जाता है तो भारत व स्विटजरलैंड में इसे व्यवस्थापक मण्डल द्वारा चुना जाता है। सभी देशों में इसका कार्यकाल भी निर्वाचन के तरीके की तरह अलग-अलग है। भारत में इसका कार्यकाल पांच वर्ष, स्विटजरलैंड में एक वर्ष, अमेरिका में चार वर्ष, फ्रांस में सात वर्ष तथा अर्जेन्टाइना में छः वर्ष है।

कार्यपालिका का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Executive)

साधारण अर्थ में कानूनों का क्रियान्वयन करने वाली संस्था कार्यपालिका कहलाती है। आज इसका अर्थ सीमित और व्यापक दोनों अर्थों में किया जाता है। आधुनिक राज्यों के कल्याणकारी स्वरूप ने कार्यपालिका के साथ नौकरशाही को भी मिला दिया है। सीमित अर्थ में तो राज्य के प्रधान तथा उसके मन्त्रीमण्डल को ही कार्यपालिका कहा जाता है। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत नीति को अमली जामा पहनाने वाले प्रशासकीय अंग भी शामिल हो जाते हैं। कार्यपालिका को कुछ विद्वानों ने सीमित और व्यापक दोनों अर्थों में निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) मेक्रिडीस के अनुसार - "राजनीतिक कार्यपालिका, राजनीतिक समाज के शासन के लिए औपचारिक उत्तरदायित्व निभाने वाली संस्थागत व्यवस्थाएं हैं।"

(2) गिलक्राइस्ट के अनुसार -"कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य में परिणत करती है। यह वह धुरी भी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन घूमता है।"

(3) लाल पालोम्बारा के अनुसार -"कार्यपालिका से आशय मुख्य कार्यपालक, विभागों के अध्यक्ष तथा सरकारी सोपान में उच्चतम स्तर के सार्वजनिक प्रशासकों से है। इसमें वे व्यक्ति, सिविल कर्मचारी तथा अन्य लोग जो मुख्य कार्यपालक की मदद के लिए भर्ती किए जाते हैं, शामिल होते हैं।"

(4) गार्नर के अनुसार- "व्यापक तथा सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेन्सियां आ जाती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा को, जिसे विधानमण्डल ने प्रकट कानून का रूप दे दिया है, कार्य रूप में परिणत करना है।"

इस प्रकार कार्यपालिका का अर्थ सीमित और व्यापक दोनों अर्थों में किया जाता है। आज कार्यपालिका तथा प्रशासन में अन्तर करने के लिए सरकार तथा राजनीतिक कार्यपालिका जैसे शब्दों का प्रचलन बढ़ गया है। आधुनिक अर्थों में कार्यपालिका के लिए राजनीति विज्ञान में सरकार तथा राजनीतिक कार्यपालिका जैसे शब्दों का प्रचलन आम बात है। अब कार्यपालिका के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को शामिल किया जाता है जो नीति निर्धारण, योजना-निर्माण, कानूनों का क्रियान्वयन तथा सैनिक व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों या विदेश नीति का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज प्रशासकीय अधिकारियों को कार्यपालिका से दूर रखा जाता है। यद्धपि व्यवहार में कार्यपालिका को प्रशासन से दूर करना कठिन कार्य है, लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर तो यह प्रयास किया ही जाता है। आम व्यक्ति की द ष्टि में तो प्रशासन ही कार्यपालिका है और कार्यपालिका ही प्रशासन है।

कार्यपालिका के प्रकार

(Types of Executive)

कार्यपालिका के प्रमुख रूप या प्रकार निम्नलिखित हैं :-

(I) **वास्तविक तथा नाममात्र की कार्यपालिका** (Real and Nominal Executive) :- प्राचीन समय में नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका में कोई अन्तर नहीं था। शासन की सारी शक्तियां राजा के पास होती थी और वही अकेला समस्त शक्तियों का प्रयोग करता था। लेकिन 1688 की शानदार क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल नाम की संस्था के जन्म के साथ ही कार्यपालिका के दो रूप उभर गएं शासन की वास्तविक शक्तियों मन्त्रिमण्डल की संस्था के हाथ में चली गई और नाममात्र की शक्तियां सम्राट के पास रह गई। नाममात्र की कार्यपालिका के लिए संविधानिक कार्यपालिका का भी प्रयोग किया जाता है। संसदीय शासन प्राली वाले सभी देशों में इस प्रकार की कार्यपालिकाएं हैं। भारत में राष्ट्रपति नाममात्रकी कार्यपालिका है और प्रधानमन्त्री वास्तविक। नाममात्र की कार्यपालिका वह कार्यपालिका होती है जिसमें शासन की शक्तियों का राष्ट्राध्यक्ष के नाम पर वास्तविक प्रयोग मन्त्रीमण्डल या प्रधानमन्त्री ही करता है, क्योंकि वही वास्तविक कार्यपालक होता है। राष्ट्राध्यक्ष तो रबड़ की मुहर या ध्वजमात्र होता है। उसे अपने अधिकारों और शक्तियों का स्वतन्त्र प्रयोग करने की अनुमति नहीं होती। भारत में राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी जो भी कार्य करता है, वह मन्त्रिमण्डल की सलाह से ही करता है। संसदीय शासन प्रणालियों में ही वास्तविक और नाममात्र की कार्यपालिका का अन्तर देखने को मिलता है, अध्यक्षात्मक सरकारों में नहीं। अध्यक्षात्मक सरकारों में तो राष्ट्राध्यक्ष ही वास्तविक कार्यपालक होता हे, वहां नाममात्र की कार्यपालिका का सर्वथा अभाव होता है। अपने कार्यों के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है।

(II) **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका** (Political and Permanent Executive) :- आज राज्यों के कार्यों में व द्धि हो जाने के कारण कार्यपालिका प्रशासन के साथ जुड़ गई है। आज कार्यपालिका के सभी कार्य प्रशासनिक अधिकारियों पर नौकरशाही द्वारा ही किए जाते हैं।

इससे प्रशासकीय और राजनीतिक कार्यपालिका का अन्तर मिट गया है। लेकिन राजनीति विज्ञान में इनका अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया जाता है। लोकतन्त्रीय देशों में तो सारे राजनीतिक निर्णय तथा सर्वोच्च प्रशासनिक निर्णय मुख्य कार्यपालक या मन्त्रीमण्डल द्वारा ही लिए जाते हैं। इसे राजनीतिक कार्यपालिका कहा जाता है। इसका स्वरूप अस्थायी होता है। निश्चित अवधि के बाद चुनावों के बाद नई कार्यपालिका अस्तित्व में आ जाती है। दूसरी तरफ प्रशासन के अधिकारी स्थायी रूप से अपने पद पर रिटायरमेन्ट की अवधि तक रहते हैं। उन्हें अपने पद पर रहने के लिए राजनीतिक समर्थन की आवश्यकता नहीं होती। इनका कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के निर्णयों को कार्यरूप देना है। यह कार्यपालिका स्थायी कार्यपालिका कहलाती है। इसका स्वरूप स्थायी है। आज के लोकतन्त्रीय देशों में ये दोनों कार्यपालिकाएं इस तरह से अंगीकार हो चुकी हैं कि इनमें अन्तर करना कठिन हो गया है। भारत में स्थायी व राजनीतिक कार्यपालिका का सुन्दर समन्वय है।

(III) **संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका** **(Parliamentary and Presidential Executive)** :- कार्यपालिका तथा विधायिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर दो तरह की कार्यपालिका होती है - संसदीय और अध्यक्षात्मक। संसदीय कार्यपालिका को मन्त्रीमण्डल तथा उत्तरदायी कार्यपालिका भी कहा जाता है। संसदीय कार्यपालिका के सदस्य संसद या विधायिका के सदस्यों में से चुने जाते हैं और वे अपने अस्तित्व के लिए विधायिका के निरन्तर विश्वास ओर समर्थन पर आश्रित होते हैं। वे अपने कार्यों के लिए सीधे ही संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार की कार्यपालिका में राष्ट्राध्यक्ष व सरकार के अध्यक्ष या शासनाध्यक्ष में अन्तर होता है। इसके अन्तर्गत राष्ट्राध्यक्ष नाममात्र की शक्तियों का स्वामी होता है तथा शासनाध्यक्ष (प्रधानमन्त्री) वास्तविक शक्तियों का स्वामी होता है। इसमें समस्त निर्णय सामूहिक स्तर पर मन्त्रीमण्डल द्वारा ही लिए जाते हैं और अपनी नीतियों के लिए वही उत्तरदायी रहता है। इसके अन्तर्गत राष्ट्राध्यक्ष का कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। उसकी स्थिति तो रबड़ की मुहर जैसी होती है। इस कार्यपालिका में राष्ट्राध्यक्ष शासनाध्यक्ष की अनुमति से कार्यपालिका को भंग कर सकता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में शासनाध्यक्ष व राष्ट्राध्यक्ष एक ही व्यक्ति होता है। उसे शासन की समस्त शक्तियां प्राप्त होती हैं। वह अपने कार्यकाल तथा नीतियों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। वह प्रतीकात्मक या नाममात्र का शासनाध्यक्ष न होकर वास्तविक कार्यपालक होता है। इस प्रकार की कार्यपालिका अमेरिका में है, जबकि संसदीय कार्यपालिका इंग्लैण्ड तथा भारत में है।

(IV) **एकल तथा बहुकार्यपालिका** **(Single and Plural Exuecutive)** :- राज्य की कार्यपालक शक्तियों के आधार पर कार्यपालिका, एकल व बहुसंख्यक दो प्रकार की होती है। जहां पर शासन की सारी शक्तियां एक ही व्यक्ति में निहित रहती हैं, वह एकल कार्यपालिका होती है। इसके विपरीत जब कार्यपालक शक्तियां अनेक व्यक्तियों या समूह के हाथों में होती हैं तो उसे बहुल या मंडल-कार्यपालिका के नाम से जाना जाता है। भारत, स्विटजरलैण्ड व ब्रिटेन में बहुकार्यपालिका हैं, जबकि अमेरिका में एकल कार्यपालिका है। एकल कार्यपालिका वहीं पर अस्तित्व में पाई जाती हैं जहां शक्तियों का प थक्करण सिद्धान्त को कठोरता से अपनाया गया हो। अमेरिका में शक्तियों के प थक्करण के कारण कार्यपालिका, विधायी नियन्त्रण से मुक्त है। वहां पा शासन की कार्यपालक, विधायी नियन्त्रण से मुक्त है। वहां पर शासन की कार्यपालक शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हैं। वहां पर संविधानिक मन्त्रीमण्डल की संस्था का अभाव है। राष्ट्रपति अपने उत्तरदायित्वों के निवर्हन के लिए कुछ व्यक्तियों की समिति या मन्त्रिमण्डल बना सकता है, लेकिन उनका कोई स्वतन्त्र व संविधानिक अस्तित्व

नहीं हो सकता। वे कार्यपालक शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही करते हैं। वास्तविक कार्यपालक के रूप में प्रशासन पर समस्त अधिकार उसी का होता है। इसके विपरीत बहुत कार्यपालिका में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त कार्य करता है। इसमें शासन की सारी शक्तियां मन्त्रिमण्डल नामक संविधानिक संस्था के पास होती हैं। इसके अन्तर्गत न तो शक्तियों का एकमात्र स्वामी होता है और न ही वह अपनी इच्छानुसार कार्यपालक शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। अमेरिका का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का उत्तम उदाहरण है तो भारत का मन्त्रीमण्डल बहुत कार्यपालिका का।

(V) **पैत क तथा चुनी हुई कार्यपालिका** (Hereditary and Elective) :- जिस देश में कार्यपालिका को पैत क आधार पर चुना जाता है, वह पैत क कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन में सम्राट का चुनाव पैत क आधार पर ही होता है। यह कार्यपालिका वंशानुगत होती है। इसमें जन इच्छा का अभाव पाया जाता है। इसके विपरीत जिन देशों में कार्यपालिका जनता या जन-प्रतिनिधियों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुनाव के आधार पर चुनी जाती है, उसे निर्वाचित या चुनी हुई कार्यपालिका कहा जाता है। भारत, अमेरिका, बंगलादेश, श्रीलंका, पीरु, चिल्ली आदि देशों में निर्वाचित कार्यपालिकाएं हैं।

कार्यपालिका के कार्य व भूमिका

(Functions and Role of Executive)

लोककल्याणकारी राज्यों का प्रादुर्भाव से सरकार के उत्तरदायित्वों में भी व द्धि हुई है। आज सरकार ऐसे कार्य करने लग गई है जो पहले किसी भी संस्था के द्वारा नहीं किए जाते थे। इन कार्यों की प्रकृति राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति, ढाँचे व राजनीतिक कार्यपालिका की स्वयं की प्रकृति पर निर्भर करती है। कार्यपालिका द्वारा निष्पादित किए जाने वाले र्का प्रत्येक देश में अलग अलग हैं। संविधानिक तौर पर तो कार्यपालिका का कार्य विधायिका द्वारा बनाए गए नियमों व कानूनों का क्रियान्वयन करना या उन्हें अमली जाना पहनाना है, लेकिन आज कार्यपालिका वास्तविक रूप में अनेक कार्य करती है। कार्यपालिका द्वारा निष्पादित किए जाने वाले प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :-

(1) **प्रशासकीय कार्य** (Administrative Functions) :- कार्यपालिका प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए सभी प्रशासनिक तथा नीति सम्बन्धी निर्णय लेती है। विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को अमली जामा पहनाने के लिए वह महत्वपूर्ण पदों पर कर्मचारियों व अधि ाकारियों की नियुक्ति करती है। प्रशासन को चलाने के लिए सभी आवश्यक विभागों की स्थापना भी कार्यपालिका ही करती है। सभी विभागों पर अपना नियन्त्रण; निर्देशन व निरीक्षण बनाए रखने की भी व्यवस्था कार्यपालिका ही करती है। संसदीय देशों में कार्यपालिका को अपने प्रशासकीय कार्य अधिक कुशलता से करने पड़ते हैं। इनमें मन्त्रीमंडल नामक संस्था के द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर प्रशासकीय कार्यों का निष्पादन होता है, जबकि अध्यक्षात्मक देशों में राष्ट्राध्यक्ष ही वास्तविक कार्यपालक होने के नाते समस्त प्रशासन का अधिकृत प्रशासक होता है। सभी महत्वपूर्ण विभागों में नियुक्तियों व प्रशासनिक अधिकारियों पर उसी का नियन्त्रण रहता है। देश के अन्दर प्रशासन पर कार्यपालिका का ही वास्तविक नियन्त्रण रहता है।

(2) **विदेश नीति का संचालन** (Conduct of Foreign Policy) :- आज का युग अन्तर्राष्ट्रीय अन्तनिर्भरता का युग है। दूसरे देशों से व्यापारिक तथा कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध बनाए रखना प्रत्येक राष्ट्र की मजबूरी है। परमाणु युद्ध का खतरा उत्पन्न होने के बाद तो विदेशी-सम्बन्ध ाों का महत्व और अधिक बढ़ गया है। ये कार्य अब कार्यपालिका के हाथों से ही सम्पन्न

किए जाते हैं। विदेशों में विदेश नीति के संचालन के लिए राजदूतों की नियुक्ति, विदेशी राजनयिकों का स्वागत, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों व सम्मेलनों में देश का प्रतिनिधित्व, विदेशी सम्बन्धों को सुसंगत बनाए रखने के लिए की जाने वाली सन्धियां व समझौते, सांस्कृतिक, शैक्षिक व व्यापारिक गतिविधियों का संचालन व नियन्त्रण आदि समस्त कार्य कार्यपालिका के ही कार्य हैं। राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने में कार्यपालिका का बहुत अधिक हाथ होता है। यद्यपि विदेश नीति के संचालन में विधायिका का भी कुछ न कुछ योगदान अवश्य होता है, लेकिन वह औपचारिकता तक ही सिमटकर रह जाता है। युद्धकाल में तो कूटनीतिक सम्बन्धों को गति देने के लिए सक्रिय कार्यपालिका की आवश्यकता अधिक अनुभव की जाती है। भारत में विदेश नीति के संचालन में राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अमेरिका में इस कार्य में राष्ट्रपति पूर्ण रूप से महत्वपूर्ण अधिकार रखता है।

(3) **व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य (Legislative Functions)** :- संसदीय देशों में व्यवस्थापन का कार्य कार्यपालिका के सहयोग से विधायिका द्वारा ही किया जाता है। अध्यक्षात्मक देशों में यह कार्य विधायिका द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जाता है। अध्यक्षात्मक व संसदीय सरकार में कानून को मूर्त रूप देने का कार्य कार्यपालिका ही करती है। कार्यपालिका प्रत्येक व्यवस्थापन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में ही निभाती है। यहां पर वह कानून का निर्माण और उसे लागू करना दोनों कार्यों को पूरा करने में सक्षम होती है। पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण व्यवस्थापन प्रक्रिया से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। संसद का अधिवेशन बुलाना, उसका सत्रावसान, स्थगन तथा विघटन कार्यपालिका ही करती है। कार्यपालिका ही विधेयक पेश करती है और उसे संसद से पारित भी कराती है। व्यवस्थापन कार्य में कार्यपालिका नीति-सम्बन्धी सूचनाएं व्यवस्थापिका की सलाह मानने को बाध्य नहीं होती लेकिन आजकल कई देशों में अध्यक्षात्मक सरकार के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों को कार्यपालिका कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य करती है। अपनी प्रदत व्यवस्थापन की शक्ति के अन्तर्गत कार्यपालिका को स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। विधायिका के अधिवेशन न चलने की स्थिति में कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी कर सकती है।

(4) **सैनिक कार्य (Military Functions)** :- युद्धकाल या शांतिकाल में देश की सैनिक शक्ति को संगठित रखना व संचालन करने का अधिकार भी कार्यपालिका के हाथों में ही होता है। राष्ट्रपति सेनाओं का वास्तविक कार्यपालक होता है। उसे सेनाओं के गठन, सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति, पदच्युति और युद्ध का नेत त्व करने का अधिकार प्राप्त होता है। वह राष्ट्रीय सम्मान या सुरक्षा के लिए युद्ध की घोषणा भी कर सकता है। संसदीय सरकार में तो उसे मन्त्रीमण्डल या विधायिका की अनुमति लेनी पड़ती है, लेकिन अध्यक्षात्मक सरकार में उसे स्वतन्त्र रूप से सैनिक कार्यों के संचालन का अधिकार होता है। युद्धकाल में कार्यपालिका देश के निवासियों को अनिवार्य सैनिक सेवा देने को बाध्य भी कर सकती है। अमेरिका में अफगानिस्तान और ईराक के विरुद्ध युद्ध की घोषणा अमेरिका के राष्ट्रपति ने ही की थी। सद्दाम को पकड़ने का निर्णय राष्ट्रपति बुश का ही स्वतन्त्र निर्णय था। इस तरह सैनिक कानून लागू करने और संकटकाल की घोषणा करने का भी अधिकार राष्ट्रपति या कार्यपालिका को ही है, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक। युद्धकाल में कार्यपालिका की शक्ति कई गुणा बढ़ जाती है। तानाशाही देशों में तो कार्यपालिका का सैनिक कार्यों पर सर्वाधिकार हो जाता है। शांतिकाल में भी देश की सेनाओं पर वास्तविक नियन्त्रण कार्यपालिका का ही होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष।

(5) **वित्तीय कार्य (Financial Functions)** :- आज देश के वित्त पर भी कार्यपालिका का कुछ

न कुछ नियन्त्रण अवश्य रहता है। आय-व्यय पर व्यवहारिक नियन्त्रण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका का ही होता है। सिद्धान्त रूप में तो यह कार्य विधायिका का है। संसदीय देशों में कार्यपालिका को विधानमण्डल में बहुमत प्राप्त होने के कारण नए टैक्स लगाने, टैक्स हटाने या घटाने के बिल प्रायः कार्यपालिका ही पेश करती है और उन्हें पास करा लेती है। राष्ट्रीय कोष की समुचित व्यवस्था के लिए कार्यपालिका के अन्तर्गत एक वित्त विभाग रहता है। कार्यपालिका प्रत्येक विभाग के वित्त पर नियन्त्रण भी रखती है। अध्यक्षात्मक सरकार में भी कार्यपालिका बजट तो पेश नहीं करती, लेकिन बजट को अपनी देख-रेख में ही तैयार कराती है। अमेरिका में बजट का निर्माण राष्ट्रपति की ही देखरेख में होता है। भारत में वित्तमन्त्री ही बजट पेश करता है। इस तरह कार्यपालिका कुछ वित्तीय कार्य भी करती है।

(6) **न्यायिक कार्य** (Judicial Functions) :- उच्चतम न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा ही की जाती है। कार्यपालिका के अध्यक्ष के पास अपराधी की सजा माफ करने या घटाने का पूरा अधिकार है। यद्यपि लोकतन्त्र में इस शक्ति को खतरे की निशानी समझा जाता है, लेकिन आज न्यायपालिका के अधिकार का भी कार्यपालिका द्वारा कुछ न कुछ प्रयोग अवश्य किया जाता है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई फांसी की सजा को भी राष्ट्रपति माफ कर सकता है या आजीवन कारावास में बदल सकता है। इससे न्यायपालिका की शक्ति का हास अवश्य होता है।

(7) **नीति-निर्माण करना** (Formulation of Policy) :- कार्यपालिका का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य नीति निर्धारण करना भी है। संसदीय सरकार में कार्यपालिका अपनी नीति निर्धारण करके संसद के सामने प्रस्तुत करती है। अध्यक्षात्मक सरकार में वह अपनी नीतियों की स्वतन्त्र निर्धारक होती है। कार्यपालिका ही देश की आन्तरिक व बाहरी नीति का निर्धारण करती है और उसी के आधार पर शासन चालती है। नीतियों को लागू करना भी कार्यपालिका का ही कार्य है।

(8) **संकटकालीन कार्य** (Emergency Functions) :- संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका की शक्तियां कई गुणा बढ़ जाती हैं। सैनिक संकट, विद्रोह, बाहरी आक्रमण, देश की सुरक्षा को खतरा या आर्थिक संकट के पैदा होने की स्थिति में कार्यपालिका अपनी संकटकालीन शक्तियों का प्रयोग कर सकती है। ऐसे समय में वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों का स्थगन भी कर सकती है और देश में आर्थिक आपातकाल की भी घोषणा कर सकती है। इन शक्तियों के कारण व्यवस्थापिका की शक्ति का हास होने लगा है।

(9) **राजनीतिक कार्य** (Political Functions) :- प्रत्येक देश में राजनीतिक कार्यपालिका कुछ न कुछ राजनीतिक कार्य भी अवश्य करती है। इनमें प्रतिनिधित्व, नेत त्व, विचार विमर्श व निर्णय, निरीक्षण व नियन्त्रण आदि कार्य शामिल हैं। राजनीतिक समाज में विभिन्न संस्थागत व्यवस्थाओं का संयोजन व एकीकरण करना भी कार्यपालिका ही करती है। विभिन्न हितों को प्रतिनिधित्व देना व उनमें सामंजस्य बिठाना भी कार्यपालिका का ही कार्य है। कार्यपालिका देश व समाज को नेत त्व देने का भी कार्य करती है। प्रदत व्यवस्थापन के अन्तर्गत निर्णय देना भी कार्यपालिका का ही कार्य है। कार्यपालिका की निर्णयकारी भूमिका के कारण आज उसकी शक्तियों में अप्रत्याशित व द्धि हो रही है।

(10) **आर्थिक कार्य** (Economic Functions) :- आज का युग कल्याणकारी राज्यों का युग है। आज सभी सरकारें लोकहित के कार्य करने को मजबूर है। इसी कारण में नियोजन द्वारा आर्थिक विकास की योजनाओं को सफल बनाने के प्रयास करती है। इस आर्थिक योजना पर कार्यपालिका का ही पूर्ण नियन्त्रण रहता है। देश को सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर

नियन्त्रण होने के कारण कार्यपालिका का महत्व भी बढ़ रहा है। व्यापार, वाणिज्य, कृषि, उद्योग जैसे विषयों पर कार्यपालिका का नियन्त्रण बढ़ा है। आय व व्यय पर नियन्त्रण रखने के साथ-साथ आर्थिक साधनों की उत्पादन व वितरण प्रणाली पर भी कार्यपालिका का ही नियन्त्रण रहता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में कार्यपालिका की शक्तियों का विस्तार जीवन के हर क्षेत्र तक है। राज्य के कल्याणकारी आदर्श, राष्ट्रीय सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व, वित्त-व्यवस्था, विधि निर्माण, सैनिक कार्यों का संचालन करना, प्रशासनिक व कूटनीतिक कार्य करना आदि के रूप में कार्यपालिका के उत्तरदायित्व बढ़े हैं। आज प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में विदेशी सम्बन्धों के संचालन से लेकर आर्थिक गतिविधियों के नियन्त्रण तक कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र का ही विस्तार है। आज कार्यपालिका को सही शासन का लाभ देने व आर्थिक विकास को गति देने में महत्वपूर्ण भूमिका है। आज कार्यपालिका के संविधानिक, संकटकालीन व राजनीतिक कार्यों के रूप में राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाए रखने में अभूतपूर्व भूमिका है। चेस्टर बनार्ड ने अपनी पुस्तक 'Functions of the Executive' में कार्यपालिका के कार्यों को बहुआयामी बताया है। उनके अन्तर्गत समस्त प्रकार के प्रशासकीय, वित्तीय, न्यायिक, कूटनीतिक, सैनिक, राजनीतिक व आर्थिक कार्य आ जाते हैं। सार रूप में देश में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना, लोककल्याण के आदर्श को प्राप्त करना तथा विदेशी नीति का सफल क्रियान्वयन ही कार्यपालिका का आदर्श है।

आधुनिक समय में कार्यपालिका की शक्तियों का विकास

(Growth of the Executive Powers in Modern Time)

व्यवस्थापिका की शक्तियों के ह्रास ने जिस नए आयाम को जन्म दिया है, वह कार्यपालिका की शक्तियों में व द्धि से सम्बन्ध रखता है। आज राजनीति विज्ञान में राजनीतिक कार्यपालिका की शक्ति से विकास की सर्वत्र चर्चा की जाती है। सभी देशों की शासन-व्यवस्थाओं में कार्यपालिका की शक्ति में होने वाली व द्धि ने राजनीतिक विश्लेषकों को चौंका दिया है। आज कार्यपालिका नीति-निर्माण का प्रमुख यन्त्र बन गई है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों तथा राज्यों के कल्याणकारी स्वरूप ने कार्यपालिका की ओर सरकार की शक्तियों को झुका दिया है। आज सर्वत्र कार्यपालिका की शक्तियों में होने वाली व द्धि के प्रमुख कारण निम्नलिखित माने जाते हैं :-

(1) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कुशल संचालन में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका की अपेक्षा अधिक सफल रही है। इसी कारण आज सभी देशों में कार्यपालिका को विदेश नीति के सफल संचालन की स्वतन्त्रता प्राप्त है। आज अन्तर्राष्ट्रीय समझौते व सन्धियां कार्यपालिका ही करने लगी है। भारत-पाक युद्ध पर शिमला समझौते भारत के कार्यपालक ने ही किया था।

(2) व्यवस्थापिका का अपनी शक्ति का कुछ भाग प्रदत-व्यवस्थापन के रूप में कार्यपालिका को दिया है। इस शक्ति का प्रयोग करके आज कार्यपालिका प्रभावी कानून बनाने लगी है। इससे विधायिका की शक्ति तो कम हुई है लेकिन कार्यपालिका की शक्ति बढ़ी है।

(3) आज संचार के साधनों के विकास ने जनता को सीधे कार्यपालिका से जोड़ दिया है। इससे कार्यपालिका का जनता के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ा है। अब कार्यपालिका जनता से आमने-सामने पेश हो रही है। कार्यपालिका की जनता के प्रति निकटता ने भी कार्यपालिका का सम्मान बढ़ाया है। आज कार्यपालिका ही राजनीतिक चेतना को बढ़ाने में जनता के साथ सहयोग करके भी व्यवस्थापिका से आगे निकल गई है।

(4) आज संसद तो निरर्थक वाद-विवाद का केन्द्र मानी जाने लगी है। संसद की बैठकों के दौरान

जो व्यवहार जनता के सामने आता है, वह सर्वविदित है। आज हमारे विधायक या सांसद असभ्य व्यवहार के पर्यायवाची बन चुके हैं। आज जनता एक व्यक्ति विशेष में ही अपनी रुचि दिखाने लगी है। जनता देश में एकता देखना चाहती है। ऐसा स्वप्न कार्यपालिका का अध्यक्ष ही पूरा कर सकता है। आज जनता को प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति के बारे में लोकप्रिय छवि उभरी है। भारत में वर्तमान कार्यपालिका में जनता का विश्वास बढ़ने का कारण प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी तथा राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का योग्य नेत त्व ही है। व्यवस्थापिकाओं में ऐसे नेत त्व की कमी होती जा रही है।

(5) व्यवस्थापिका के अधिवेशनों की तुलना में कार्यपालिका के अधिवेशन अधिक होते हैं। वह निरन्तर अधिवेशन में रहने वाली संस्था बनकर उभरी है। वह समाज की पहरेदार, राष्ट्र की रक्षक व प्रशासन की अधिष्ठात्री है। वह समाज हित में सरकार के दूसरे अंगों के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करने लगी है। उसकी इस सक्रियता से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है।

(6) आज सरकार की जटिल समस्याओं से निपटने में कार्यपालिका ही अपना उत्तरदायित्व निभाने में सक्षम है। आज शासन की नीतियों का सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध होने के कारण कार्यपालिका का जागरूक होना आवश्यक हो गया है। अपने उत्तरदायित्वों को निभाने तथा पेचिदा राजनीतिक परिस्थितियों से निपटने में सफल रहने के कारण कार्यपालिका के सम्मान में व द्धि हुई है।

(7) संविधान संशोधनों ने भी कार्यपालिका के शक्ति क्षेत्र में व द्धि की है।

(8) राजनीतिक व्यवस्था में बार बार आने वाले राजनीतिक व आर्थिक संकटों से निपटने के लिए कार्यपालिका के पास आपातकालीन शक्तियां रहती हैं। अपनी इन शक्तियों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करके भी कार्यपालिका ने अपनी शक्तियां बढ़ा ली हैं।

(9) कार्यपालिका विधायिका के कानून तथा न्यायालयों के निर्णय भी निष्पक्षता व ईमानदारी से लागू करती है। शासनतन्त्र की धुरी के रूप में वह सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को गति देने लगी है। इससे उसकी प्रतिष्ठा में व द्धि हो रही है।

(10) राष्ट्रीय संकट के समय कार्यपालिका को सब बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है और उसकी शक्तियां असीम हो जाती हैं। कारगिल युद्ध में भारत की कार्यपालिका को सारे देश की जनता व राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त था। भारत में कार्यपालिका को आपातकाल का सामना करने के लिए कुछ संविधानिक सुविधाएं भी दी हैं।

(11) राजनीतिक दल के माध्यम से भी व्यवस्थापिका की सारी शक्तियां कार्यपालिका में निहित हो जाती हैं। विधायिका में दल के बहुमत के कारण वह संसद में आनी बात मनवाने में सफल रहती है।

(12) आधुनिक समय में कार्यपालिका के अधिकारियों और संस्थाओं की संख्या में अभूतपूर्व व द्धि होने के कारण भी कार्यपालिका की कार्य-निष्पादन की व्यवस्था में सुधार आने के कारण ही कार्यपालिका का सम्मान बढ़ा है।

(13) कार्यपालिका की कार्यकुशलता व योग्यता के कारण भी उसका सम्मान बढ़ा है। कार्यपालिका में योग्य व अनुभवी व्यक्ति ही होते हैं, जबकि विधायिका में अपनढ़, असभ्य तथा अनुभवहीन व्यक्ति होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में होने वाले हर कार्य उनकी योग्यता व अनुभव का ही परिणाम होता हे। कानून निर्माण व नीति निर्माण में भी उनकी भूमिका होने के कारण व्यवस्थापिका की शक्ति सरक कर उसके पास आ गई है।

(14) लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने भी कार्यपालिका की भूमिका में व द्धि की है।

(15) कार्यपालिका द्वारा विधानपालिका के अधिवेशन न होने की स्थिति में अध्यादेश जारी किया

जाता है। अपने दलीय बहुमत के कारण वह बाद में उसे संसद से स्वीकृत भी करा लेती है। इससे भी कार्यपालिका की शक्ति बढ़ी है।

(16) आर्थिक नियोजनतन्त्र पर भी कार्यपालिका का एकाधिकार होने के कारण उसकी शासन में प्रभावशीलता बढ़ी है।

(17) कार्यपालकों के करिश्माई व्यक्तित्व ने भी कार्यपालिका का सम्मान बढ़ाया है। भारत में प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी, अमेरिका में राष्ट्रपति रुजवेल्ट, फ्रांस के राष्ट्रपति जनरल डिगाल, अफ्रीका में नेल्सन मंडेला, मिश्र के कर्नल नासीर अपने करिश्माई व्यक्तित्व के कारण ही लोकप्रिय कार्यपालक हुए हैं। उनके कारण ही कार्यपालिका की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।

(18) संसदीय देशों में कार्यपालिका को निम्न सदन को भंग करने की शक्ति भी प्राप्त है। भारत में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह पर निम्न सदन को भंग कर सकता है। इस अधिकार के कारण भी इन देशों में कार्यपालिका को महत्वपूर्ण शक्ति का स्वामी माना जाता है।

(19) स्वयं विधायिका की अक्षमता तथा असमर्थता भी इसकी शक्तियों में वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी है। विकासशील देशों में कार्यपालिका की असीमित शक्तियां व्यवस्थापिकाओं की कार्य-निष्पादन में असमर्थता का ही परिणाम है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बदलती परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय विकास की आवश्यकता ने कार्यपालिका को शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता महसूस करा दी। लोक कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कार्यपालिका का शक्तिशाली होना आवश्यक माना जाने के कारण कार्यपालिका के व्यावहारिक ढाँचे में अनेक परिवर्तन हुए हैं। अब कार्यपालिकाएं कानून लागू करने वाली औपचारिक संस्थाएं मात्र न रहकर राजनीतिक जीवन के हर क्षेत्र में अपना प्रभाव जमा चुकी हैं। आज कार्यपालिका का व्यवहारिक रूप बदल चुका है। स्वयं व्यवस्थापिका का कार्य-व्यवहार भी दोषपूर्ण होने के कारण कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। प्रशासनिक कार्यों की जटिलता तथा उनसे निबटने में सक्षम कार्यपालिका ही आज सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर चुकी है और भविष्य में भी उसकी शक्तियों व प्रतिष्ठा में वृद्धि होने की पूरी सम्भावना है।

न्यायपालिका

(Judiciary)

राजनीतिक शक्ति की स्वेच्छाचारिता से नागरिक स्वतन्त्रताओं व अधिकारों की रक्षा के लिए सभी लोकतन्त्रीय देशों में स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। यह सरकार का ऐसा अंग है जो विधायिका और कार्यपालिका को अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करने से रोकता है। न्यायपालिका किसी भी सभ्य समाज का आधार है। सभ्य समाज में प्रत्येक नागरिक और समाज यह आशा करता है कि उसके साथ कोई अन्याय न हो और उसका जीवन सुचारु ढंग से चलता रहे। इसके लिए वह स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की कामना रखता है। यह निष्पक्ष न्यायपालिका ही कानून का शासन स्थापित करके नागरिक स्वतन्त्रताओं व अधिकारों की रक्षा करती है और सम्पूर्ण सामाजिक व राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित भी रखती है। यह सरकार का तीसरा अंग होने के नाते शासन की कार्यकुशलता में वृद्धि करने का साधन भी है।

न्यायपालिका का अर्थ व परिभाषा

(Meaning and Definition of Judiciary)

साधारण अर्थ में न्यायपालिका सरकार का वह अंग है जिसका प्रमुख कार्य संविधान की व्याख्या करना तथा कानूनों को भंग करने वालों को दण्ड देना है। इस तरह कानूनों की व्याख्या करने व

उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। यह उन व्यक्तियो का समूह है जिन्हें न्याय करने का अधिकार प्राप्त है। यह राजनीतिक प्रक्रिया का एक ऐसा अंग भी है जो सरकार के हाथों में राजनीतिक शक्ति के अत्यधिक केन्द्रीकरण की रोकथाम और लोकतन्त्र की धांधलियों या बहुमत के निरंकुश शासन से नागरिकों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की सुरक्षा करती है। ब्राईस ने इसे राज्य के लिए एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि उसकी क्षमता से अधिक सरकार की उत्तमता की कसौटी माना है। कुछ विद्वानों ने न्यायपालिका को निम्न रूप में परिभाषित भी किया है ':-

(1) वाल्टन एच० हेमिल्टन के अनुसार- "न्यायिक प्रक्रिया न्यायधीशों के द्वारा मुकद्मों का निर्णय करने की मानसिक प्रविधि है।"

(2) लास्की के अनुसार-"न्यायपालिका अधिकारियों का ऐसा समूह है, जिसका कार्य, राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन की शिकायत, जो विभिन्न नागरिकों व राज्य के बीच एक दूसरे के खिलाफ होती है, का समाधान व फैसला करना है।"

(3) रॉले के अनुसार-"न्यायपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देना, अपराधियों को दण्ड देना तथा निर्बलों की अत्याचार से रक्षा करना है।"

(4) ब्राइस के अनुसार-"न्यायपालिका किसी सरकार की उत्तमता को जांचने की कसौटी है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्यायपालिका सरकार का ऐसा अंग है जो सरकार की निरंकुशता से नागरिकों को बचाता है, कानून की व्याख्या करता है और गलत कार्य करने वालों को दण्ड देता है। गार्नर ने इसे सभ्य समाज का मेरुदण्ड कहा है।

न्यायपालिका का संगठन

(Organisation of Judiciary)

प्रत्येक देश में एक सर्वोच्च न्यायालय तथा उसके अधीन अनेक राज्य व जिला न्यायालय होते हैं। इस त्रिस्तरीय व्यवस्था के बाद भी देश का सम्पूर्ण न्यायतन्त्र एकरूपता ही दिखाता है। न्यायपालिका संविधान को ही अपना आदर्श मानती है और उसके मूल्यों को बनाए रखने तथा प्राप्त करने में नागरिकों व सरकार को पूरा सहयोग देती है। दीवानी तथा फौजदारी अभियोगों के लिए अलग-अलग न्यायालय होते हैं। न्यायपालिका की संरचना पिरामिड की तरह होती है जो ऊपर सेनीचे की तरफ खुल जाती है। जैसे-जैसे प्रादेशिक स्तर के केन्द्रीय स्तर की तरफ कदम रखे जाते हैं, वैसे-वैसे यह संख्या कम होती जाती है। राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति में अन्तर आने पर न्यायपालिका की प्रकृति भी बदल जाती है। प्रत्येक देश में न्यायिक संगठन तो लगभग एक जैसा ही होता है, लेकिन राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति के अनुसार उनकी कार्यप्रणाली में अवश्य अन्तर आ जाता है। भारत में तो सामान्य न्यायालय ही हैं, लेकिन फ्रांस में प्रशासकीय व सामान्य दोनों प्रकार के न्यायालय हैं। भारत में लोक-न्यायालयों का नया रूप उभरा है। भारत तथा अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय पुनरावलोकन की शक्ति से युक्त है, जबकि अन्य देशों में इसका अभाव है। प्रत्येक देश में सैनिक न्यायालय भी हैं जो स्वतन्त्र क्षेत्राधिकार रखते हैं। आजकल भारत में त्वरित अदालतों की भी व्यवस्था की जा रही है ताकि नागरिकों को जल्दी न्याय प्राप्त हो सके। भारत में केन्द्र स्तर पर तो सर्वोच्च न्यायालय है जो सारे भारत के लिए है। प्रान्तों के अपने अलग-अलग न्यायालय हैं। प्रान्तों के अन्दर जिला स्तर पर भी जिला न्यायालयों की व्यवस्था की गई है। दीवानी और फौजदारी मुकद्मों के लिए अलग-अलग न्यायालय हैं। अमेरिका में भी न्यायपालिका की भारत की तरह ही त्रिस्तरीय व्यवस्था है।

न्यायधीशों की नियुक्ति एवं कार्यकाल

(Appointment and Tenure of Judges)

प्रत्येक देश में न्यायधीशों की नियुक्ति के तरीके व कार्यकाल भिन्न-भिन्न हैं। न्यायधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा, व्यवस्थापिका द्वारा व जनता द्वारा निर्वाचित करने पर जोर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत न्यायधीशों की योग्यता व सेवाकाल को ध्यान में रखा जाता है। भारत में यही पद्धति प्रचलित है। लेकिन इसमें प्रमुख दोष यह है कि इसमें राजनीतिक दलबन्दी का शिकार न्यायपालिका हो सकती है। अमेरिका में भी यही प्रणाली प्रचलित है। वहां यह न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है। अमेरिका के कुछ राज्यों में न्यायधीश विधानमण्डल द्वारा भी चुने जाते हैं। रूस में भी सुप्रीम सोवियत निम्न न्यायालयों को छोड़कर शेष सभी न्यायालयों में न्यायधीशों की नियुक्ति निश्चितकाल के लिये करती है। इस व्यवस्था में भी दलीय गुटबन्दी का दोष है। यह व्यवस्था भी कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की तरह ही है। स्विटजरलैंड में न्यायधीशों का चुनाव जनता द्वारा ही किया जाता है। आजकल भारत जैसे लोकतन्त्रीय देश में न्यायिक लोक सेवा से भी पदोन्नति या चयन द्वारा न्यायधीशों की नियुक्ति होने लगी है। यह प्रणाली नियुक्ति की सर्वोत्तम प्रणाली मानी जाती है। सभी देशों में न्यायधीशों का कार्यकाल लगभग 60 वर्ष के आसपास ही पाया जाता है। न्यायधीशों को समय से पहले हटाने के लिए महाभियोग की व्यवस्था भी अनेक देशों के संविधानों में की गई है। भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा कनाडा में न्यायधीशों का कार्यकाल उनके सदाचार व संविधानिक प्रावधानों पर निर्भर है।

न्यायपालिका के कार्य

(Functions of Judiciary)

न्यायपालिका किसी भी सरकार का प्रकाश स्तम्भ है। राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति ही इसके कार्यों की नियामक होती है। संघात्मक शासन-प्रणालियों में तो यह संतुलक का काम करती है। कानून व संविधान की व्याख्याकार होने के नाते यह नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों का सुरक्षा कवच मानी जाती है। लार्ड ब्राइस ने इसे अच्छे शासन की कसौटी कहा है। गार्नर ने भी कहा है कि यदि न्याय विभाग न हो तो सभ्य समाज का निर्माण नहीं हो सकता। न्यायपालिका आधुनिक सभ्य समाज का आधार स्तम्भ है। न्यायपालिका ही हमें सरकार की निरंकुशता से बचाती है। किसी भी देश में न्यायपालिका के निम्नलिखित कार्य हो सकते हैं :-

(1) **न्याय करना** (To judge) :- न्यायपालिका का प्रमुख कार्य न्याय करना है। जो व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन करता है, उसे कार्यपालिका द्वारा पकड़कर न्यायालयों के सामने पेश किया जाता है। न्यायपालिका फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकद्दमों में न्याय करती है। दीवानी झगड़े प्राय नागरिकों के बीच में होते हैं, जबकि फौजदारी मुकद्दमों में एक तरफ सरकार तथा दूसरी तरफ नागरिक होते हैं। गवाही के आधार पर न्यायपालिका सभी झगड़ों में कानून के अनुसार अपराधी को उचित दण्ड देती है और प्रभावित व्यक्ति के साथ न्याय करती है।

(2) **कानून की व्याख्या करना** (To interpret Laws) :- न्यायपालिका कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों की व्याख्या करती है। कई बार कानून अस्पष्ट व संविधान के विरूद्ध होते हैं। उनकी व्याख्या किए बिना उनको लागू करने का अर्थ होगा - मानव अधिकार व स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात। न्यायपालिका ही सर्वोच्च शक्ति की स्वामी होने के नाते ऐसे कानूनों की अन्तिम व्याख्याकार होती है। भारत तथा अमेरिका में न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि कोई कानून स्पष्ट न हो तो न्यायधीश अपनी बुद्धि, विवेक और

नैतिकता के आधार पर निर्णय दे। न्यायालयों द्वारा कानूनों के स्पष्टीकरण के लिए दी गई व्याख्याएं सामान्य कानूनों की तरह ही महत्वपूर्ण होती हैं। निर्णयमूलक कानून के रूप में ये कानून भी संविधान का अंग बन जाते हैं।

(3) **संविधान की रक्षा करना** (To protect the Constitution) :- संविधान की प्रमुख संरक्षक भी न्यायपालिका ही होती है। संविधान की मर्यादा और पवित्रता को बचाए रखने के लिए वह विधायिका तथा कार्यपालिका द्वारा निर्मित कानूनों को संविधान के विरुद्ध होने पर असंवैधानिक घोषित कर सकती है। भारत तथा अमेरिका में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त है। इसके तहत वह संविधान की निष्पक्षता व प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए असंवैधानिक निणयों को पलट देती है। अतः न्यायपालिका संविधान की रक्षक भी है।

(4) **नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा** (To protect the rights and liberties of citizens) :- प्रत्येक देश में न्यायपालिका ही नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षक मानी जाती है। न्यायपालिका इनकी रक्षा के लिए सरकार को निरंकुशता को रोकती है और किसी भी नागरिक या संस्था द्वारा मौलिक अधिकारों को हानि पहुंचाने के प्रयास में दण्डित करती है। इनकी सुरक्षा के लिए वह न्यायादेश भी जारी कर सकती है। यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों व स्वतन्त्रता को कोई हानि पहुंचती है तो वह न्यायपालिका की शरण ले सकता है। मौलिक अधिकारों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए न्यायपालिका कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को भी अवैध घोषित करने का अधिकार रखती है। अतः न्यायपालिका नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों का सुरक्षा कवच है।

(5) **संघ की संरक्षक** (Guardian of Federation) :- संघात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में केन्द्र व राज्यों में शक्तियों का विभाजन होने के कारण उनके शक्तियों के प्रयोग तथा व्याख्या को लेकर आपसी झगड़े होने की संभावना अधिक होती है। इन झगड़ों का निपटारा न्यायपालिका ही करती है। शक्ति विभाजन की उचित व्याख्या संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका ही करती है औ राज्य व केन्द्र को अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करने से रोकती है। इस तरी वह संघ की संरक्षक भी मानी जाती है। संघात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में जो न्यायपालिका की केन्द्र व राज्यों के विवादों को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका है।

(6) **सलाहकारी कार्य** (Advisory Functions) :- कई देशों में न्यायपालिका सरकार को परामर्श भी देती है। लेकिन न्यायपालिका की सलाह मानना या न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। इसके लिए न्यायपालिका सरकार को बाध्य नहीं कर सकती। इंग्लैण्ड में सलाहकारी भूमिका ने न्यायपालिका का अधिक सम्मान बढ़ाया है। भारत में भी राष्ट्रपति ने कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय की सलाह ली है। रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद पर केन्द्र सरकार ने कई बार सर्वोच्च न्यायालय की ही सलाह ली है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, पनामा आदि में भी न्यायपालिका की सलाह ली जाती है।

(7) **राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व व शांति कायम रखना** (Stability of Political System and to keep peace) :- राजनीतिक व्यवस्था में विघटनकारी ताकतों के विरुद्ध न्यायपालिका ही कड़ा रुख अपनाती है। जो व्यक्ति या संस्था राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व से छेड़छाड़ करता है, वह देशद्रोह का अपराधी माना जाता है। सरकार का तीसरा अंग होने के नाते राजनीतिक स्थायित्व को कायम रखने का प्रमुख उत्तरदायित्व न्यायपालिका का ही बनता है। न्यायपालिका ही सरकार के कार्यों को औचित्यता प्रदान करके सरकार

के प्रति जनता का विश्वास कायम रखती है। इसके लिए न्यायपालिका विधायिका व कार्यपालिका के कानूनों की जांच-परख करती रहती है। न्यायिक सक्रियतावाद के माध्यम से आज न्यायपालिका जनहित के कार्य भी करने लगी है। इससे राजनीतिक स्थायित्व में व द्धि होना स्वाभाविक ही है। राजनीतिक स्थायित्व के लिए देश में शांति कायम रखने में न्यायपालिका ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके लिए वह पुलिस व सेना तक की मदद लेती है। कानून का शासन लागू रखने के लिए न्यायपालिका अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड देती है। अतः राजनीतिक व्यवस्था में स्थायित्व तथा समाज में शान्ति कायम रखने में भी न्यायपालिका महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

(8) **प्रशासनिक कार्य (Administrative Functions)** :- न्यायपालिका को अपना प्रशासन चलाने के लिए अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग को भी आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए वह स्थानीय पदाधिकारियों और अधीनसि कर्मचारियों की नियुक्ति करती है जो प्रशासन में न्यायपालिका का सहयोग करते हैं और सभी आवश्यक कागजात व अभिलेख सुरक्षित रखते हैं ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें न्यायपालिका को उपलब्ध कराया जा सके।

(9) **अन्य कार्य (Other Functions)** :- उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त भी न्यायपालिका अनेक दूसरे महत्वपूर्ण कार्य भी करती है। सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रन्यासियों (Trustees) को नियुक्त करना, अल्पव्यस्कों के संरक्षकों को नियुक्त करना, वसीयतनामे तैयार करना, म तक व्यक्तियों की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना, नागरिक विवाह की अनुमतिदेना, विवाह विच्छेद की अनुमति देना, शस्त्र लाईसैंस जारी करना, निर्वाचन सम्बन्धी अपीलें सुनना, उच्च अधिकारियों को शपथ दिलवाना आदि कार्य भी न्यायपालिका द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि न्यायपालिका नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रता का रक्षक है। संविधान की व्याख्याकार होने के नाते वह सरकार के अन्य दो अंगों पर नियन्त्रण रखने का प्रभावी साधन भी है। न्यायिक पुनरावलोकन द्वारा न्यायपालिका ने जो शक्ति अर्जित की है, उससे उसका जनहितकारी स्वरूप उभरा है। आज न्यायिक सक्रियतावाद के द्वारा न्यायपालिका करोड़ों व्यक्तियों के दिल की धड़कन बन गई है। भारत में न्यायपालिका राजनीतिक शक्ति से त्रस्त लोगों के लिए प्रकाश पुंज का कार्य करती है। अनेक राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं पर सरकारें न्यायपालिका से ही सलाह करती हैं ताकि संविधान व कानून की मर्यादा का उल्लंघन न हो और देश में शांति कायम रहे। ब्राइस का यह कथन सर्वथा सही है कि न्यायपालिका ही शासन की उत्तमता जांचने की कसौटी है। आज न्यायपालिका को समाज में जो स्थान प्राप्त है, वह कार्यपालिका या विधायिका को नहीं। आज केवलमात्र जनता के लिए दुःख की घड़ी में न्याय प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका ही एकमात्र आशा की किरण है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

(Independence of Judiciary)

न्यायपालिका राजनीतिक प्रक्रिया का एक ऐसा अंग है जो सरकार या राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग से नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों को बचाता है। इसी कारण स्वयं न्यायपालिका का भी निष्पक्ष व स्वतन्त्र रहना आवश्यक है ताकि उसके कारण जनता को कोई कष्ट न हो और नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षा के काम में उसे कोई बाधा न आए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की सफलता का मूलाधार है। संघात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले देशों के साथ-साथ एकात्मक सरकारों या तानाशाही शासन व्यवस्था वाले राज्यों में भी न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बहुत आवश्यक है। हैमिल्टन ने लिखा है- "किसी भी देश का कानून कितना ही अच्छा क्यों न हो, एक स्वतन्त्रत और निष्पक्ष न्याय विभाग के बिना प्राणहीन है।" संघीय शासन

प्रणालियों में तो न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्व और भी अधिक होता है। केन्द्र व राज्यों के झगड़े निष्पक्ष व स्वतन्त्रत न्यायपालिका ही सही ढंग से सुलझा सकती है। गार्नर ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को आवश्यक बताते हुए लिखा है-"यदि न्यायधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो तो कार्यपालिका का समस्त ढांचा खोखला प्रतीत होगा और ऊँचे लक्ष्य की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।" इसी कारण राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व और देश में शांति कायम रखने के लिए न्यायपालिका का स्वतन्त्र व निष्पक्ष होना जरूरी है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ

(Meaning of the Independence of Judiciary)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य है कि न्यायधीश अपना निर्णय देते समय अपने विवेक से काम लें और बाहरी दबावों से मुक्त रहें, अर्थात् कार्यपालिका तथा विधायकिा के हस्तक्षेप से मुक्त रहें। सी०एफ० स्ट्रांग ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को परिभाषित करते हुए लिखा है-"न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि न्यायधीशों में भ्रष्टाचार नहीं होना चाहिए और उन पर विधानमण्डल तथा कार्यकारिणी का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए।" न्यायपालिका की स्वतन्त्रता ही न्यायिक निष्पक्षता का आधार है। इस प्रकार न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ - न्यायधीशों को कानूनों की व्याख्या करने में और न्याय प्रदान करने में अपने विवेक का निर्बाध प्रयोग करने, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के प्रभावों व शक्तियों से, राजनीतिक दलों व अन्य किसी प्रकार के राजनीतिक या गैर-राजनीतिक संगठन तथा समूह या व्यक्ति विशेष के प्रभाव से बचाना है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता स्थापित करने के तरीके

(Methods that establish the Independence of Judiciary)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए अनेक देशों में अलग-अलग साधन अपनाए जाते हैं। आज लोकतन्त्रीय देशों में विशेष तौर पर कुछ ऐसे तरीके अपनाए गए हैं कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता या तो स्थापित हो चुकी है या स्थापित होने की दिशा में अग्रसर हैं। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निम्न बातों पर निर्भर है :-

(1) **न्यायधीशों की नियुक्ति के तरीके (Mode of Appointment of Judge)** :- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता इस बात पर भी निर्भर करती है कि न्यायधीशों की नियुक्ति किस आधार पर की जाती है। आज प्रायः इसके लिए चार तरीके प्रचलित हैं - (i) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति (ii) विधायिका द्वारा चुनाव (iii) जनता द्वारा चुनाव (iv) न्यायियक लोक सेवा आयोग द्वारा परीक्षा प्रणाली के माध्यम से नियुक्ति। इन तरीकों में कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा नियुक्ति करने से न्यायधीश राजनीतिक रूप से तटस्थ नहीं रह सकते। जनता द्वारा नियुक्ति करने से भी कई बार चालाक राजनीतिक भी जनता को झांसा देकर न्यायपालिका में पहुंच सकते हैं। भारत में न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति योग्यता के आधार पर ही करता है। लेकिन न्यायधीशों की नियुक्ति यदि योग्यता के आधार पर न्यायिक लोक सेवा आयोग के माध्यम से की जाए तो न्यायधीशों के स्वतन्त्र व निष्पक्ष रहने के आसार सबसे अधिक हो सकते हैं। भारत में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति मुख्य न्यायधीश की सलाह से ही वरिष्ठता व योग्यता के आधार पर करता है। उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति भी वह मुख्य न्यायधीश की सलाह से ही करता है। इस तरह न्यायधीशों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर मुख्य कार्यपालक या न्यायिक लोक सेवा आयोग द्वारा करने से ही न्यायपालिका स्वतन्त्र रह सकती है।

(2) **न्यायधीशों की कार्यकाल** (The Judicial Tenure) :- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता न्यायधीशों के सेवाकाल पर भी निर्भर करती है। छोटा सेवा काल न्यायधीशों को लालच के गर्त में धकेल सकता है। इसलिए उनकी सेवा अवधि लम्बी होनी चाहिए। लम्बे सेवाकाल में न्यायधीशों को अपने कार्य का अनुभव भी हो जाता है और उन्हें नौकरी की सुरक्षा की गारन्टी भी मिल जाती है तथा उनके भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख होने के आसार कम हो जाते हैं। इसी कारण भारत में न्यायधीशों को नौकरशाहों की तरह स्थायी आधार पर निश्चित समय के लिए लम्बे काल तक नियुक्त किया जाता है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश 65 वर्ष तक उच्च न्यायालय के न्यायधीश 62 वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं। इंग्लैण्ड में कदाचार से बचे रहने पर जीवन पर्यन्त वे अपने पद पर बने रहते हैं।

(3) **न्यायधीशों की पदच्युति** (Removal of Judges) :- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता न्यायधीशों को पद से हटाने की व्यवस्था पर भी निर्भर करती है। भारत, अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में न्यायधीशों को दुराचार का महाभियोग लगाकर ही हटाया जा सकता है। यह प्रक्रिया इतनी कठिन है कि सामान्य परिस्थितियों में इसका प्रयोग करना असम्भव है। इस कठिन प्रक्रिया के कारण वहां पर न्यायपालिका की स्वतन्त्रता मजबूत हुई है। भारत में न्यायधीशों को तभी हटाया जा सकता है, जब संसद के दोनों सदन कदाचार का अभियोग पास करके राष्ट्रपति को लिखित रूप में न्यायधीश को हटाने की मांग करें।

(4) **न्यायिक व्यवहार** (Judicial Conduct) :- जिस देश में न्यायधीश निष्पक्ष, योग्य, विद्वान, सद्‌चरित्र और गुणदान है, वहां पर न्यायपालिका की स्वतंत्रता की स्थापना आसानी से हो सकती है। निष्पक्ष न्यायिक व्यवहार ही न्यायपालिका के आधार को मजबूत बना सकता है। जिस देश में न्यायिक व्यवहार जनता का उत्पीड़क व वर्ग विशेष के हितों का पोषक हो, उससे निष्पक्षता व स्वतन्त्रता की आशा करना बेकार है।

(5) **न्यायधीशों का वेतन व अन्य सुविधाएं** (Salaries and other facilities of Judges) :- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायधीशों को पद की गरिमा के अनुसार जीवन यापन करने के लिए अच्छे वेतन व भत्ते मिले। भारत में न्यायधीशों को अच्छा वेतन, भत्ते व सुविधाएं इसी कारण दी जाती हैं ताकि वे निष्पक्ष व स्वतन्त्र ढंग से अपना कार्य करते रहें। रिटायरमैंट के बाद उन्हें पैंशन भी दी जाती है और उनको वकालत करने पर भी प्रतिबन्ध है।

(6) **न्यायपालिका का कार्यपालिका तथा विधायिका से प थक्करण** (Separation of Judiciary from Executive and Legislature) :- न्यायपालिका को स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए उसे कार्यपालिका तथा विधायिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखना भी जरूरी है। साथ में राजनीतिक शक्ति का विभाजन भी बहुत आवश्यक है। यदि सारी शासन शक्ति एक व्यक्ति या संस्था के हाथों में होगी तो न्याय की हत्या होगी, क्योंकि समसत शक्तियों का स्वामी होने के नाते कोई भी व्यक्ति या संस्था पथभ्रष्ट हो सकती है। इसी कारण अमेरिका में शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त अपनाकर न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा विधायिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया है। भारत में भी न्यायपालिका कई तरह से स्वतन्त्र ही है। उस पर कार्यपालिका तथा विधायिका का कोई नियन्त्रण नहीं है।

(7) **न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति** (Power of Judicial Review) :- न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए उसके पास न्यायिक समीक्षा की शक्ति भी होनी चाहिए। भारत तथा अमेरिका को अपनी इसी शक्ति के कारण न्यायपालिका कार्यपालिका तथा विधायिका

के संविधान विघटित कानूनों को जो नागरिक स्वतन्त्रताओं का हनन करते हैं, अवैध घोषित कर सकती है। न्यायपालिका ने अपनी इस शक्ति का कई बार प्रयोग किया है। इसी कारण आज न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धान्त कायम हो चुका है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए न्यायधीशों की नियुक्ति के तरीके पारदर्शी व योग्यता प्रणाली पर आधारित होने चाहिए। उनका कार्यकाल लम्बा हो और उन्हें अच्छा वेतन व सुविधाएं प्रदान की जाएं। उसे निष्पक्ष बनाए रखने के लिए कार्यपालिका तथा विधायिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाए। उनको हटाने का तरीका इतना जटिल हो कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर कोई आंच न आ सके। लेकिन ये सब बातें लोकतन्त्र में ही सम्भव हैं, तानाशाही देशों में नहीं। आज शासन का एक अंग होने के नाते न्यायपालिका को स्वतन्त्र व प थक अस्तित्व प्रदान करने पर अनेक विद्वान आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि राजनीतिक प्रक्रिया से अलग रखकर न्यायपालिका से लाभ की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन यह बात तो सत्य है कि आज के बदलते परिवेश में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पहले से अधिक जरूरी है। आज राजनीतिक शक्ति का फैलाव राजनीतिक समाज की जड़ों तक है, जिसका सीधा प्रभाव आम जनता पर पड़ता है। इसलिए राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए तथा आम नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए न्यायपालिका का स्वतन्त्र व निष्पक्ष होना बहुत आवश्यक है। आज राजनीतिक शक्ति से त्रस्त लोगों के लिए न्यायपालिका ही एकमात्र आशा की किरण है। न्यायपालिका को स्वतन्त्रता-विहीन करने का तात्पर्य होगा - समाज में अराजकता व अशान्ति।

विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में अन्तर्सम्बन्ध

(Inter-relationship among Legislature, Executive and Judiciary)

आज का युग कल्याणकारी सरकारों का युग है। आज आर्थिक विकास व राजनीतिक स्थायित्व का प्रश्न विकासशील देशों को कचोट रहा है। ऐसी अवस्था में शक्ति प थक्करण का सिद्धान्त लागू करके सरकार के तीनों अंगों को एक दूसरे का विरोधी बनाना प्रासंगिक नहीं है। व्यवहार में कार्यपालिका और विधायिका की पारस्परिक निर्भरता को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। आज यह कहना बिल्कुल गलत है कि सरकार का कौन सा अंग अधिक महत्वपूर्ण है ? इसी कारण राबर्ट सी०. बोन ने संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थाओं में कार्यपालिका तथा विधायिका के सहमिलन की बात पर जोर दिया है। लेकिन अनेक विद्वान इस बात पर भी जोर देने लगे हैं कि व्यवस्थापिका के कार्यों का ह्रास हुआ है और कार्यपालिका की शक्तियां बढ़ी हैं। यदि कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो कार्यपालिका को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यवस्थापिकाएं भी आज नई नई भूमिकाएं अदा कर रही हैं। आज कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिकाएं कार्य करने लगी हैं जो पहले उनके द्वारा नहीं किए जाते थे। उनके शक्ति संतुलन की बात करने की बजाय उनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाए रखने के लिए किए जाने वाले कार्यों पर चर्चा करना अधिक प्रासंगिक होगा। आज मुख्य विवाद कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका के बीच न होकर राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग को लेकर है। कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका राजनीतिक शक्ति के रूप में जन इच्छा को अमली जामा पहनाने वाली संस्थाएं हैं। कार्यपालिका तो विधायिका की इच्छा का संचालन करती हैं और विधायिका, कार्यपालिका को अपनी इच्छा बताती है। संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में तो इन दोनों में पारस्परिक निर्भरता बहुत अधिक होती है। इसमें कार्यपालिका विधानमण्डल की कृपा पर ही कार्य करती है। यदि उसके खिलाफ संसद में अविश्वास का मत प्रापत हो जाए तो उसे त्यागपत्र देना पड़ सकता है।

लेकिन यदि संसदीय सरकार में प्रधानमन्त्री वास्तविक कार्यपालक के रूप में सरकार को विचार करने के लिए नाममात्र के कार्यपालक राष्ट्रपति को प्रार्थना करे तो कार्यपालिका के साथ-साथ विधायिका भी भंग हो जाती है। इसलिए संसदीय देशों में कार्यपालिका तथा विधायिका में आपस में गहरा सम्बन्ध होता है। यहां पर नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका में भेद होने के कारण कार्यपालिका तथा विधायिका का आपस में पड़ने वाले प्रभाव का पता लगाना कठिन होता है। अध्यक्षात्मक देशों में शक्तियों के पथक्करण के कारण कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्र भूमिकाओं का पता लगाना आसान होता है। सर्वसत्ताधिकारवादी देशों में तो ये तीनों अंग आपस में इस तरह गुंथे होते हैं कि उनको अलग-अलग पहचानना कठिन होता है। उनमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण ही सरकार के तीनों अंगों के सम्बन्धों का निर्धारक होता है। संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में न्यायपालिका को शेष दोनों अंगों से कुछ पथक सा अस्तित्व प्रदान किया जाता है ताकि विधायिका और कार्यपालिका में शक्ति के प्रयोग को लेकर होने वाले टकराव को रोका जा सके। वास्तव में कार्यपालिका और विधायिका तो जन इच्छा को अमली रूप देती है और न्यायपालिका इस कार्य में उनकी मदद करती है। आज प्रदत व्यवस्थापन की व्यवस्था न तो कार्यपालिका तथा विधायिका को काफी निकट ला दिया है और न्यायिक शक्ति ने उनके कार्यों को औचित्यपूर्ण बनाने में सहयोग दिया है। आज समस्या विधायिका और कार्यपालिका के बीच टकराव की न होकर नौकरशाही के बढ़ते प्रभाव की है, जिससे कार्यपालिका व विधायिका दोनों चिन्तित हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो प्रजातन्त्र में सर्वोच्च शक्ति व्यवस्थापिका में ही निहित रहती हैं। विधि-निर्माण के साथ-साथ विधानपालिका, कार्यपालिका पर नियन्त्रण भी रखती है। वह प्रश्नों, वाद-विवाद, मन्त्रिमण्डलीय नीति की आलोचना, नीति को अस्वीकृत करने, कटौती प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि विधियों से कार्यपालिका पर अपना दबाव बनाने का प्रयास करती रहती है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में भी व्यवस्थापिका शक्ति पथक्करण के बावजूद भी कार्यपालिका पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास करती है। इनके लिए वह अनुमानित बजट को स्वीकृति देती है; नीति पर भी व्यापक वाद-विवाद के बार स्वीकृति देती है; राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों पर जांच आयोग नियुक्त कर सकती है; विभागीय कार्यों सम्बन्धी मांगों पर विस्त त स्वीकृति देती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कार्यपालिका, विधायिका के हाथ की कठपुतली है। आज दलीय व्यवस्था के कारण स्थिति काफी पलट गई है। जब तक मन्त्रिमण्डल का संसद में बहुमत है तब तक संसद मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण करने की नहीं सोच सकती। दलीय बहुमत कार्यपालिका को स्वामी बना देता है। वह अपने दलीय बहुमत के कारण ही अपनी नीति और कार्यों पर संसदीय स्वीकृति प्राप्त करने में सफल रहती है। सरकार का दलीय बहुमत विरोधी दल की इच्छा को भी धूल में मिला देता है। संसदीय व्यवस्था में संसद के अधिवेशनों के समय, उसमें किए जाने वाले कार्यों, उसका अवसान व विघटन सभी कार्य मन्त्रीमण्डल (कार्यपालिका) ही निश्चित करता है। इस प्रणाली में यदि संसद को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व नष्ट करने की छूट है तो मन्त्रिमण्डल को भी वह अधिकार है कि वह निम्न सदन को भंग कराकर नए चुनाव करा सकता है। इसलिए विधायिका और कार्यपालिका पारस्परिक सामंजस्य बनाए रखने का ही प्रयास करते हैं। इसी तरह वित्तीय क्षेत्र में भी वास्तविक शक्ति कार्यपालिका के पास ही है। मन्त्रीमण्डल ही बजट तैयार करवाता है, उसे पारित करवाता है और लागू करता है तथा समस्त आर्थिक नियोजन पर अपना नियन्त्रण रखता है। वित्त पर संसदीय नियंत्रण तो नाममात्र का है। संसद तो केवल वित्त विधेयक की आलोचना ही कर सकती है, न कोई नया कर लगा सकती है और न ही खर्चे की सीमा में वद्धि कर सकती है। इस प्रकार कार्यपालिका विधायिका से भारी पड़ती है। अध्यक्षात्मक देशों में कार्यपालिका और विधायिका की पथक शक्तियां होने के बावजूद भी दोनों का आपस में सम्बन्ध बना रहता है।

विधायिका और कार्यपालिका के बाद न्यायपालिका की बारी आती है। न्यायपालिका इन दोनों से सर्वोच्च व स्वतन्त्र मानी जाती है। न्यायपालिका को भारत तथा अमेरिका की शासन प्रणालियों में यह अधिकार है कि वह कार्यपालिका तथा विधायिका के असंविधानिक निर्णयों व कानूनों को अवैध घोषित कर दे। इस न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति द्वारा न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा विधायिका पर अपना नियन्त्रण कायम रखने में सफल रहती है। न्यायपालिका मौलिक अधिकारों तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा करके, अपराधिक तत्वों पर रोक लगाकर, कानूनों की व्याख्या करके कार्यपालिका तथा विधायिका दोनों के काम को आसान बना देती है। कई बार महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सरकार न्यायपालिका से परामर्श भी लेती है। इसी तरह न्यायपालिका कार्यपालिका तथा विधायिका के अतिक्रमण से नागरिकों की रक्षा भी करती है। लेकिन कई बार संसदीय शासन प्रणाली में संसद की सर्वोच्चता के कारण विधायिकाएं तथाा कार्यपालिकाएं न्यायिक निर्णयों को पलट देती हैं और संविधान में संशोधन का नया अध्याय जोड़ देती है। इससे न्यायिक सर्वोच्चता व स्वतन्त्रता में कमी आती है। लेकिन ऐसा सदा नहीं होता। संसद न्यायधीशों के वेतन व भत्ते भी निर्धारित करती है। आवश्यकता पड़ने पर उन सुविधाओं में कटौती भी कर सकती है। इस तरह न्यायपालिका और अन्य दोनों अंगों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सरकार के प्रमुख अंग हैं। इनके आपसी सहयोग के बिना कोई भी सरकार अपने उद्देश्यों में कामयाब नहीं हो सकती। इन अंगों के पारस्परिक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध ही सरकार को सफलता दिला सकते हैं। इसी आवश्यकता को महसूस करते हुए आज कार्यपालिका तथा विधायिका में सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करने के तरीकों पर विचार किया जाने लगा है। संसदीय सरकारों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह लोकतन्त्र के समानता व सहयोग के आदर्श पर चले और न्यायपालिका के आदेशों व निर्णयों का सम्मान करे।

अध्याय-8
राजनीतिक विकास
(Political Development)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न जटिल राजनीतिक व्यवहार की परिस्थितियों तथा नवोदित एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों की राजनीतिक भूमिका ने राजनीतिक विश्लेषकों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि अब परम्परागत राजनीतिक व्यवहार के सिद्धान्तों द्वारा राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन न कर सकने की दशा में क्या किया जाए। इस दुविधा से निकलने के लिए उन्होंने नए-नए द ष्टिकोणों तथा अवधारणाओं का विकास करना शुरु किया। विश्व स्तर पर व्यापक अध्ययनों को प्रोत्साहित किया जाने लगा और नई-नई अवधारणाओं का जन्म हुआ। नवोदित राष्ट्रों की संस्थागत प्रक्रियाओं, स्थिति, लक्ष्यों तथा गतिविधियों को समझने के लिए अस्तित्व में आई नई अवधारणाओं में से एक अवधारणा 'राजनीतिक विकास' की भी है। इस अवधारणा का प्रयोग 1960 के दशक में हुआ। इस अवधारणा ने तुलनात्मक राजनीति को विश्वजनीय आधार प्रदान किया और राजनीतिक संस्थाओं व संरचनाओं को सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवेश में रखकर जांचा-परखा जाने लगा। इस अवधारणा के आगमन से राजनीति विज्ञान में त तीय विश्व या विकासशील देशों में तुलनात्मक अध्ययन जोर पकड़ने लगा और कोलमैन, रिगिन्स, फीथ, पाई, वीनर, एप्टर, ऑमण्ड, शिल्स, रोस्टो, टर्नर, लिप्सेट, स्मूतसर, हंटिगटन, लॉसवैल, पारसन्स आदि विद्वानों ने भारत, घाना, नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, बर्मा आदि विकासशील व नवोदित त तीय देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया। इस अवधारणा के विकास ने राजनीतिक विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन व विश्लेषण को नई दिशा दी।

राजनीतिक विकास का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Development)

राजनीतिक विकास की अवधारणा एक जटिल अवधारणा है। इसका कोई सर्वमान्य व सामान्य अर्थ निकालना असम्भव है। राजनीतिक विकास को साधारण तौर पर विकास की अवधारणा से सम्बन्धित करके यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि राजनीति के क्षेत्र में आगे बढ़ना ही राजनीतिक विकास है। इस अर्थ में यह प्रगति का सूचक है। इसे राजनीतिक परिवर्तन भी कहा जाता है। राजनीतिक विकास की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से दी है। रुपर्ट व एमर्सन इसे आर्थिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में लेते हैं। कुछ विचारक इसे औद्योगिक समाजों की राजनीति से जोड़ते हैं। अधिकतर राजनीतिक विद्वान इसका सम्बन्ध आधुनिकीकरण से बताते हैं। कुछ इसका अर्थ राष्ट्र राज्य तो कुछ प्रशासनिक एवं कानूनी विकास से जोड़ते हैं। प्रजातन्त्रवादी विचारक इसे लोकतन्त्र का पर्याय तथा यथास्थितिवादी विचारक इसे स्थायित्व तथा सुव्यवस्थित परिवर्तनों का नाम देते हैं। कुछ विद्वान इसे एक प्रव त्ति और एक दिशा के रूप में देखते हैं तो कुछ इसे शक्ति व संघटन के रूप में। वास्तव में विकास को सामाजिक परिवर्तन से जोड़कर ही राजनीतिक विकास को समझने पर अधिकांश विद्वान जोर देने लगे हैं। यह राजनीतिक विकास का एक व्यापक

द ष्टिकोण समझा जाता है। इस द ष्टिकोण से राजनीतिक विकास राजनीति विज्ञान की एक गत्यात्मक अवधारणा है। इस अवधारणा का सबसे पहले व्यवस्थित व वैज्ञानिक विश्लेषण लूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में किया है। उसने राजनीतिक विकास को परिभाषित करते हुए लिखा है-"राजनीतिक विकास, संस्कृति का विसरण (Diffusion) और जीवन के पुराने प्रतिमानों को नई मांगों के अनुकूल बनाने, उन्हें उनके साथ मिलाने या उनके साथ तालमेल बैठाना है।" लूशियन पाई ने अपनी इस अवधारणा को समानता, क्षमता तथा विभेदीकरण की तीन मूलभूत संकल्पनाओं पर संकेन्द्रित किया है। अन्य विद्वानों द्वारा राजनीतिक विकास के बारे में निम्नलिखित परिभाषाएं दी गई हैं :-

(1) ऑमण्ड व पॉवेल के अनुसार, "राजनीतिक विकास राजनीतिक संरचनाओं का अभिव द्ध विभेदीकरण व विशेषीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति का बढ़ा हुआ लौकिकीकरण है।"

(2) एलफ्रड डायमेण्ट के अनुसार-"राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था के नए प्रकार के लक्ष्यों को निरन्तर सफल रूप में प्राप्त करने की क्षमता बनी रहती है।"

(3) मैकेंजी के अनुसार-"राजनीतिक विकास समाज में उच्चस्तरीय अनुकूलन के प्रति अनुकूल होने की क्षमता है।"

(4) एस०एन० इजेनसटेड के अनुसार-"राजनीतिक विकास के अन्तर्गत एक राजनीतिक व्यवस्था की विभिन्न परिवर्तनशील राजनीतिक मांगों और संगठनों को आत्मसात् करने की योग्यता शामिल है। इसके अन्तर्गत उन नवीन और परिवर्तनशील समस्याओं को हल करने का वह कौशल भी शामिल है जिन्हें राजनीतिक व्यवस्था जन्म देती है या जिन्हें इसे बाह्य स्त्रोतों से आत्मसात् करना पड़ता है।"

(5) जॉन टी० डोर्सी के अनुसार-"राजनीतिक विकास उन शक्ति संरचनाओं और प्रक्रियाओं में परिवर्तन की तरफ संकेत करता है जो सामाजिक-व्यवस्था के शक्ति-रूपान्तरण-स्तरों में परिवर्तन के सहभागी होते हैं, चाहे ये स्थानान्तरण स्तर मुख्य रूप से अपने ही राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक अभिव्यक्ति में या इनके विविध युग्मों में परिवर्तित होते हैं।"

(6) जाग्वाराइब के अनुसार-"राजनीतिक विकास एक प्रक्रिया के रूप में राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक संस्थाकरण का जोड़ है।"

(7) लियोनार्ड बाइण्डर के अनुसार-"राजनीतिक विकास राजनीति की शैली एवं प्रकार में परिवर्तन है।"

(8) विलियम एव० चैम्बर्स के अनुसार,-"राजनीतिक विकास को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की ओर बढ़ना माना जा सकता है जिसमें कि उन समस्याओं के संचालन की क्षमता हो, जिनका उसे सामना करना पड़ता है। यह विकास संरचनाओं के विभेदन एवं कार्यों को विशिष्टता उत्पन्न कर व्यवस्था को उत्तरोत्तर केन्द्रीकृत तथा स्वयं को बनाए रखने की क्षमता प्रदान करता है।

राजनीतिक विकास की व्याख्या

(Explanation of Political Development)

राजनीतिक विकास के अर्थ की तरह राजनीतिक विद्वानों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएं की हैं। रुपर्ट एसमैन, लिपसेट, कोलमैन तथा कर्टराइट ने इसे आर्थिक विकास की राजनीतिक पूर्व शर्त के रूप में मान्यता दी है। रोस्टोव ने इसे औद्योगिक समाजों की राजनीति के समान माना है। डेविड ऐप्टर ने इसे राजनीतिक आधुनिकीकरण का नाम दिया है। बाइण्डर ने इसे राष्ट्र राज्य से सम्बन्धित माना

है। एफ० डब्ल्यू रिग्स ने इसे प्रशासनिक और कानूनी विकास के रूप में व्यक्त किया है। डॉयच और कार्ल्स ने इसे जनसंचार और सहभागिता का नाम दिया है। ऑमण्ड-पॉवेल ने इसे प्रजातन्त्र का नाम दिया है। यथास्थितिवादी विचारकों ने स्थायित्व व सुव्यवस्थित परिवर्तनों को राजनीतिक विकास का पर्याय माना है। राबर्ट डॉहल ने इसे सामाजिक परिवर्तन का रूप माना है। पाई ने राजनीतिक विकास में तीन अवधारणाओं - समानता, क्षमता तथा विशेषीकरण को शामिल माना है। ऑमण्ड तथा पावेल ने विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति में बढ़ते लौकिकीकरण को भी राजनीतिक विकास का नाम दिया है। आइजन्सटैड ने इसे परिवर्तनों को लगातार आत्मसात् करने की क्षमता का संस्थात्मक प्रबन्ध माना है। हैगन के अनुसार राजनीतिक विकास नई संरचनाओं एवं प्रतिमानों की ऐसी रचना है जो राजव्यवस्था को अपनी आधारभूत समस्याओं का सामना करने के योग्य बनाती है। राजनी कोठारी, होल्ट, टर्नर आदि विचारकों ने राजनीतिक विकास को अनेक कारकों व कारणों का परिणाम ही नहीं मानते बल्कि इसे स्वयं अन्य परिवर्तनों का कारण भी मानते हैं। इस तरह अनेक विचारकों ने राजनीतिक विकास की अपने अपने तरीकों से व्याख्या की है, जिनमें से पाई, ऑमण्ड-पावेल तथा हंटिगटन की व्याख्याएं अधिक तर्कसंगत हैं।

राजनीतिक विकास की प्रकृति

(Nature of Political Development)

उपरोक्त परिभाषाओं व व्याख्या के आधार पर पता चलता है कि राजनीतिक विकास की प्रकृति भी काफी जटिल व विवादास्पद है। इसकी प्रकृति के बारे में विद्वानों ने काफी मतभेद है। इसी कारण इसके बारे में एकमार्गीय, बहुमार्गीय तथा द्वन्द्वात्मक द ष्टिकोणों का विकास किया है। फिंकल तथा गेबल के अनुसार राजनीतिक विकास ऐसे प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था लक्ष्यों और मांगों के नए प्रकारों की लगातार और सफलतापूर्वक पूर्ति करने की क्षमता बढ़ाती है तथा नए प्रकार के संगठन बना लेती है। साधारण रूप में राजनीतिक विकास को लोचपूर्ण ढंग से नई मांगों, लक्ष्यों तथा संगठनों को सफलतापूर्वक बनाए रखने वाली प्रक्रिया कहा जा सकता है। विकासशील देशों में इनके तीन लक्षण - समानता, क्षमता तथा विभिन्नीकरण एवं एकीकरण होते हैं। ऑमण्ड एवं पॉवेल ने व्यक्तिकार्य-विभिन्नीकरण, उप-व्यवस्थाओं की स्वायत्तता तथा लौकिकीकरण को राजनीतिक विकास की धारणा में स्थान दिया है। उप-व्यवस्थाओं की स्वायत्तता राजनीतिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण, कार्यकुशलता तथा क्षमता व द्धि का गुण ला देती है। राजनीतिक विकास की समस्त प्रक्रिया समाज में अधिक समररसता, सहभागिता, समानता, प्रतिनिधिपूर्णता, औचित्यपूर्णता तथा उपयोगिता का भाव पैदा करने वाली होती है। लूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में राजनीतिक विकास को एक बहु आयामी धारणा बताया है। उसने राजनीतिक विकास को विस्तार से समझाते हुए उसकी संकल्पनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस व्याख्या के अनुसार राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास की राजनीति, पूर्व-शर्त, औद्योगिक समाजों की विशेष राजनीति, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राष्ट्र-राज्य का संचालक, प्रशासकीय एवं कानूनी विकास, जनसंचारण एवं सहभागिता, लोकतन्त्र का निर्माणकर्ता, स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन, शक्ति संचारक तथा सामाजिक परिवर्तन की बहु-दिशायुक्त प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। पाई ने अपनी इस व्याख्या में राजनीतिक विकास की प्रकृति का निर्धारण करने वाले तीन तत्वों - समानता, समता तथा विभेदीकरण को भी शामिल किया है। इसी तरह अन्य विद्वानों ने भी अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत करके राजनीतिक विकास की प्रकृति पर प्रकाश डाला है जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक विकास की प्रकृति के बारे में एकमार्गी तथा बहुमार्गी विचारधारा का जन्म हुआ है।

एकमार्गी विचारधारा रखने वाले विचारकों का मानना है कि सभी राष्ट्र विकास के मार्ग से होते हुए

आगे बढ़ रहे हैं, इसी कारण राजनीतिक विकास का केवल एक ही मार्ग है। विकास का यह मार्ग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में है और राष्ट्र विकास की कामना करने वाले देशों के सामने विकसित देशों का आदर्श है। इस आदर्श को प्राप्त करने में तथा समझने में कोई परेशानी नहीं है। यदि राजनीतिक विकास के संकेतकों का सुनश्चिय करके राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं की गत्यात्मकता को समझा जा सकता है और राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करके तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा रखने वाले विचारकों का मानना है कि राजनीतिक विकास को प्रकृति बहुमार्गी है। उनका कहना है कि विकास की दिशा बहुआयामी होती है, इसी कारण राजनीतिक विकास की दिशा भी बहुआयामी होती है। बहुमार्गी विचारकों का मानना है कि राजनीतिक विकास सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में भी उसी तरह ही प्रभावित रहता है, जिस तरह विकास रहता है। इसी कारण राजनीतिक विकास की अवस्था सभी देशों में भिन्नता रखती है। साम्यवादी तथा विकासशील देशों में राजनीतिक विकास की सर्वथा अलग-अलग दिशाएं हैं। ऐसा ही विकसित व साम्यवादी देशों में है। विकासशील देशों में भी राजनीतिक विकास की अनेक दिशाएं हैं। भारत तथा पाकिस्तान के राजनीतिक विकास के मार्ग व चरणों में जमीन-आसमान का अन्तर है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक विकास का मार्ग व प्रकृति सभी देशों में एक समान नहीं है। इसी कारण बहुमार्गीय विचारधारा राजनीतिक विकास की प्रकृति के बारे में सर्वथा सही व तर्कसंगत द ष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास की प्रकृति गत्यात्मक, संकल्पनात्मक तथा विकासात्मक है। इसमें सतत् रचनाधार्मिता का भाव निहित है। यह वह प्रक्रिया है जो राजनीतिक व्यवस्था को अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में गतिशील बनाती है और लोचशील तरीके से उसमें मांगों, लक्ष्यों तथा संगठनों को बनाए रखती है। राजनीतिक विकास समाज में आमूल परिवर्तन करके समाज व व्यवस्था में एकरसता, सहभागिता, प्रतिनिधिपूर्णता तथा उपयोगिता का भाव लाता है। अतः राजनीतिक विकास की दिशा बहुमार्गी है।

राजनीतिक विकास की लूशियन पाई द्वारा व्यवस्था

(Explanation of Political Development by Lucian Pye)

लूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में राजनीतिक विकास की विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है।। उसने राजनीतिक विकास की व्याख्या दस तरह से की है। ये व्याख्याएं निम्न तरह से हैं :-

(1) **आर्थिक विकास की राजनीतिक पूर्व शर्त के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as the Political Pre-requisite of Economic Development) :-** लूशियन पाई, याल ए० बारान, बेंजामिन हिगिन्स आदि का मानना है कि राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियां आर्थिक विकास की प्रेरक या बाधक दोनों हो सकती हैं। इस द ष्टि से विचार किया जाए तो राजनीतिक विकास अधिक विकास की पूर्व शर्त बन जाता है। इस शर्त के रूप में राजनीतिक विकास ही ऐसी स्थिति है जो आर्थिक विकास में निर्णायक भूमिका अदा करती है। इसलिए राजनीतिक विकास तथा आर्थिक विकास में गहरा सम्बन्ध माना जाता है। अतः आर्थिक विकास के लिए राजनीतिक विकास पर ही ध्यान देना चाहिए।

लेकिन इस परिभाषा या व्याख्या के आधार पर आर्थिक विकास का मार्ग निश्चित करना अव्यवहारिक है, क्योंकि इस व्याख्या में कई दोष उजागर होते हैं। स्वयं लूशियन पाई भी इस व्याख्या को संतोषजनक नहीं मानता है, क्योंकि विकासशील देशों तथा विकसित देशों में आर्थिक विकास तथा राजनीतिक विकास की दिशाएं सर्वथा एक दूसरे के विपरीत हैं। विकासशील देशों में राजनीतिक विकास की तुलना में काफी धीरे-धीरे परिवर्तन हुए हैं और

कई देशों में तो राजनीतिक विकास के बावजूद भी आर्थिक विकास की सम्भावनाएं निकट भविष्य में नजर नहीं आती। आज अधिकतर देश राजनीतिक विकास में ही अधिक रुचि ले रहे हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास का एकमात्र निर्णायक तत्व मानना सर्वथा सही नहीं है।

(2) **औद्योगिक समाजों की विशिष्ट राजनीति के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as the Politics Typical of Industrial Societies) :-** रास्टोन जैसे समाज सिद्धान्तशास्त्री राजनीतिक विकास का सम्बन्ध औद्योगिकीकरण से जोड़ते हैं। उनकी द ष्टि में औद्योगिक जीवन कम या अधिक रूप में ऐसे सामान्य प्रकार के राजनीतिक जीवन को प्रकट करता है जिसे कोई भी समाज प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है, चाहे वह औद्योगिकृत हो या नहीं। लेकिन कुछ विद्वानों का मानना है कि यह राजनीतिक विकास के आर्थिक विकास की पूर्व राजनीतिक शर्त के सिवाय कुछ नहीं है। साथ में इस व्याख्या पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि यह व्याख्या राजनीति को साधन मात्र बनाकर साध्यों से दूर कर देती है, क्योंकि इसमें मुख्य जोर लक्ष्यों पर न होकर कार्यक्रमों पर रहता है।

(3) **राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as Political Modernization) :-** कोलमैन, कार्ल डयूश, लिप्सटे जैसे समाज सिद्धान्तशास्त्री इस बात पर बल देते हैं कि राजनीतिक विकास का अभिप्राय विकसित पश्चिमी और आध ानुनिकीकरण की तरफ जा चुके देशों के अध्ययन से है। इसमें उन विकासशील देशों का अध्ययन भी शामिल है जो आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। इस द ष्टि से राजनीतिक विकास आधुनिकीकरण का पर्याय बन जाता है। जिन देशों में लोकतन्त्र है, जनता देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेती है, प्रतिनिधियों द्वारा सार्वभौमिक नियमों का निर्माण किया जाता है, योग्यता प्रणाली को महत्व दिया जाता है तथा जहां स्वतन्त्र संस्थाओं को अधिक महत्व दिया जाता है, वहीं आधुनिकीकरण पाया जाता है। ऐसी परिस्थितियां तो उदारवादी पश्चिमी लोकतन्त्र में ही पाई जाती हैं। इसलिए राजनीतिक विकास आध ुनिकीकरण की द ष्टि से पश्चिमी लोकतन्त्र का ही अध्ययन है। लेकिन इस बात में कठिनाई यह है कि इस द ष्टिकोण द्वारा पश्चिमी ओर आधुनिक शब्द में भेद कर पाना असम्भव है। साथ में विकासशील देशों में गहरी परम्परागत व्यवस्थाएं हैं जिनका आधुनिकीकरण के नाम पर बलिदान नहीं किया जा सकता। इसलिए आधुनिकीकरण को पश्चिमी लोकतन्त्र से जोड़ने का तात्पर्य होगा विकासशील लोकतन्त्र में होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा करना।

(4) **राष्ट्र-राज्य के व्यवहार के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as the operation of Nation-State) :-** सिल्बर्ट, शील्स तथा मैककोर्ड जैसे समाज-सिद्धान्तशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास का सम्बन्ध राष्ट्र-राज्य की क्रियाशीलता से जोड़ा है। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया है कि राजनीतिक विकास में राजनीतिक जीवन का संगठन और राजनीतिक कार्यों की सम्पन्नता उन मानदण्डों के अनुसार होती है जो कि एक राष्ट्र-राज्य के लिए आवश्यक है। इसी कारण राजनीतिक विकास को राष्ट्रवाद की राजनीति भी कहा जाता है। इस द ष्टिकोण के अनुसार यह माना जाता है कि इतिहास में झांका जाए तो यह तथ्य उभरता है कि ऐतिहासिक रूप में राजनीतिक व्यवस्था के अलग-अलग रूप रहे हैं और सभी देशों में इसका रूप एक दूसरे से सर्वथा अलग ही रहा; लेकिन राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ ही राजनीति में कुछ नवीन तथ्य व मांगें उभरी और राजनीतिक संस्थाओं ने इन मांगों के अनुसार ही कार्य करना शुरु कर दिया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास को राष्ट्र-राज्य की धारणा के साथ ही समझा जा सकता है। लेकिन राजनीतिक विकास के बारे में यह कहा जाता है कि इसके लिए राष्ट्रवाद आवश्यक है, पर्याप्त नहीं। इसके लिए यह

धारणा अधिक तर्कसंगत हो सकती है कि राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्र-निर्माण से होना चाहिए, राष्ट्रवाद से नहीं।

(5) **प्रशासकीय व कानूनी विकास के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as an Administrative and Legal Development) :-** इस व्याख्या के प्रतिपादक मैक्स वेबर, पारसन्स, हैंडरसन और जोसफ ला पालोम्वरा हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास का समाज की कानूनी तथा प्रशासनिक व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए विकास की प्रक्रिया के लिए प्रभावपूर्ण नौकरशाही की स्थापना जरूरी है। इसके लिए यह जरूरी है कि शासन-प्रणाली का संचालन इस प्रकार किया जाए कि उससे कानूनी तथा प्रशासकीय विकास को प्रोत्साहन मिल सके। इसके लिए तकनीकी ज्ञान व कुशल प्रबन्धन की प्रशासनिक संस्थाओं का होना जरूरी है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था अपने साध्यों को उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक वह सार्वजनिक मामलों का प्रभावशाली तरीके से निष्पादन नहीं करती हो। लेकिन इस व्यवस्था में यह दोष है कि इसमें आवश्यकता से अधिक जोर प्रशासन पर दिया गया है। इससे नागरिक शिक्षा, प्रशिक्षण और सक्रिय सहभागिता जैसे तथ्यों का उल्लंघन हो जाता है। वास्तव में ये तथ्य ही राजनीतिक विकास के महत्वपूर्ण पहलू हैं।

(6) **सार्वजनिक गतिशीलता एवं सहभागिता के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as Mass Mobilization and Participation) :-** होजलिट्ज, आरसनस्टाइट तथा एमर्सन जैसे समाज सिद्धान्तशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था का मूल्यांकन इस आधार पर करना चाहिए कि वह अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग किस स्तर या मात्रा में करती है। उनका कहना है कि विस्तारित सार्वजनिक सहभागिता की दिशा में राजनीतिक द ष्टि से जागरूक नागरिकों और लोगों का व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण होता है। मताधिकार का विस्तार सार्वजनिक सहभागिता के माध्यम से निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का विस्तारित रूप माना जाता है। इस द ष्टि से राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक चेतना की उग्रता से लिया जा सकता है। लेकिन इसका दोष यह है कि विकासशील देशों में राजनीतिक चेतना का निर्माण करने वाली उपयुक्त परिस्थितियों का अभाव पाया जाता है, इस स्थिति में राजनीतिक विकास का अर्थ सार्वजनिक गतिशीलता व सहभागिता से लेना नहीं हो सकता। यदि इस द ष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाए तो लोकप्रिय भावनाएं जन्म लेकर समाज की स्थिति को क्षीण कर देंगी और समाज में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा।

(7) **लोकतन्त्र के निर्माण के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as the Building of Democracy) :-** इस द ष्टिकोण के प्रतिपादक का पालोम्बारा और जे० रोनाल्ड पिनोक हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास के लोकतन्त्र के निर्माण और जनता में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के मूल्यों को स्थापित करने के साथ गहरा सम्बन्ध है। लेकिन इस विचारधारा के आलोचकों का कहना है कि राजनीतिक विकास साम्यवादी, निरंकुश तथा प्रजातन्त्र सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में होता है। इसलिए राजनीतिक विकास की बुनियादी शर्त लोकतन्त्र के निर्माण को स्वीकार करना असंगत है। लोकतन्त्र और विकास समानार्थी न होकर एक दूसरे के विपरीत विचारधाराएं हैं। अतः इनमें मेल करना अप्रसांगिक व भ्रान्तिपूर्ण है।

(8) **स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as stability and Orderly Change) :-** इस विचार के प्रतिपादक कार्ल डयूश तथा रिग्स हैं। उनका मानना है कि स्थायित्व का औचित्यपूर्ण ढंग से विकास

की अवधारणा से सम्बन्ध है, क्योंकि आर्थिक अथवा सामाजिक प्रगति का कोई भी रूप ऐसे वातावरण पर निर्भर करता है जिसमें अनिश्चितता कम हो तथा सुरक्षा की भावना हो। लेकिन जो स्थायित्व यथास्थिति का समर्थक हो, उसके विकास नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन या प्रगति की दिशा में उन्मुख स्थायित्व ही विकास हो सकता है। स्थायित्व का सम्बन्ध आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति से ही हो सकता है। लेकिन इस विचार में प्रमुख दोष या सीमा यह है कि जिस समाज में राजनीतिक प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तनों को विवेकपूर्ण तथा उद्देश्यपूर्ण ढंग से नियन्त्रित कर सकती है, वहीं पर ही राजनीतिक विकास की प्रक्रिया सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः परिवर्तन और स्थिरता को एक साथ मिलाकर ही आर्थिक तथा राजनीतिक विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

(9) **राजनीतिक विकास गतिशीलता और शक्ति का रूप है (Political Development as Mobility and Power) :-** इस विचारधारा के प्रतिपादक कोलमैन, ऑमण्ड और पारसन्स हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास की संकल्पना का मूल्यांकन उस निरपेक्ष सत्ता के स्तर अथवा अंश के आधार पर किया जा सकता है जिसे कोई व्यवस्था चलाने योगय है। इस विचार के अनुसार कुछ समाजों में नीति-निर्माता काफी कमजोर होते हैं और कुछ के काफी शक्तिशाली। राजनीतिक विकास का लाभ शक्तिशाली नीति-निर्माताओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विकास को सत्तावादी रूप दे दिया जाए। इसका तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि सरकार में समाज के स्त्रोतों तथा संसाधनों पर दावा करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। इसके लिए सरकार को औचित्यपूर्ण सत्ता व जनसमर्थन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। लोकतन्त्रीय देशों में यह कार्य आसानी से हो जाता है। इन देशों में शासन व्यवस्था की गतिशीलता और शक्ति व सत्ता का वैध रूप ही राजनीतिक विकास माना जाता है। लेकिन इस विचार का प्रमुख दोष यह है कि यह विचार लोकतन्त्रीय शासन-प्रणालियों पर ही लागू होता है, सर्वाधिकारवादी तथा निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं पर नहीं।

(10) **सामाजिक परिवर्तन की बहुआयामी प्रक्रिया के एक पहलू के रूप में राजनीतिक विकास (Political Development as one Aspect of Multi-dimensional Process of Social Change) :-** इस विचार के प्रतिपादक मैक्स एफ० मिलिकान, एल० एम० बलैकमर तथा लर्नर हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास को विकास की प्रक्रिया व रूपों से अलग करके देखना गलत है। यद्यपि कुछ सीमा तक तो राजनीतिक विकास शेष समाज से स्वतन्त्र हो सकता है, लेकिन जीवंत राजनीतिक विकास सामाजिक परिवर्तन की बहुआयामी प्रक्रिया का एक आवश्यक पहलू है। विकास पर सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसी कारण वह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहता है। लूशियन पाई ने इसी विचार की प्रशंसा की है। अतः राजनीतिक विकास का एक बहुआयामी स्थिति है। उसे समाज की राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था में से एक के साथ बांधना अप्रासंगिक है।

उपरोक्त व्याख्याओं के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है। इसका सम्बन्ध राष्ट्रीय आत्मसम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी प्रतिष्ठा से हो सकता है। यह आर्थिक विकास की पूर्व राजनीतिक शर्त, औद्योगिक समाज की राजनीति, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राष्ट्र-राज्य, प्रशासनिक व विधिक विकास, सार्वजनिक गतिशीलता एवं सहभागिता, लोकतन्त्र का निर्माण, स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन, किसी भी रूप में हो सकता है। इसलिए इसकी कोई निश्चित व सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है।

राजनीतिक विकास की विशेषताएं

(Features of Political Development)

लूशियन पाई, ऑमण्ड, हंटिंगटन आदि विचारकों द्वारा राजनीतिक विकास की बहुआयामी प्रक्रिया व परिभाषाओं का विश्लेषण करके निम्नलिखित विशेषताएं बताई गई हैं :-

(क) लूशियन पाई द्वारा बताई गई विशेषताएं :- लूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में विभिन्न लेखकों द्वारा राजनीतिक विकास की व्याख्याओं के सन्दर्भ में तीन विशेषताएं बताई हैं। ये विशेषताएं हैं :-

(I) **समता** (Equity)

(II) **क्षमता** (Capacity)

(III) **विभेदीकरण** (Differentiation)

(I) समता या समानता का अर्थ है कि देश के अधिक से अधिक नागरिक देश की राजनीति में सक्रिय सहगामी हों। यह योगदान प्रजातन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी संगठन दोनों रूपों में हो सकता है, किन्तु जनसाधारण के लिए राज्य द्वारा बनाये गये कानून समानता का गुण रखने वाले होने चाहिए। राजनीतिक पदों पर की जाने वाली भर्ती भी समानता के सिद्धान्त के अनुकूल ही हो। इसका सीधा सम्बन्ध इस बात से है कि सरकार का रूप लोकप्रिय ही बना रहे। राजनीतिक विकास के इस लक्षण को निम्नलिखित तरह से समझा जा सकता है :-

(1) समान राजनीतिक अवसर व सहभागिता।

(2) सार्वभौमिक कानून।

(3) राजनीतिक भर्ती में पारदर्शिता।

(4) सहयोगी जनसमूह।

(5) भेदभाव रहित कानून व जन सहभागिता।

उपरोक्त लक्षणों वाला समाज ही समानता का पोषक हो सकता है और समानता आधुनिक युग में राजनीतिक विकास की प्रमुख विशेषता है। समानता से विभिन्न राजनीतिक व्यवस्था कभी भी राजनीतिक विकास के आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकती।

(II) क्षमता का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था की निर्गत संरचना से है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था क्षमता का जितना अधिक स्तर रखती है, वह राजनीतिक विकास के मार्ग पर आगे भी उतनी तेजी से बढ़ती है। क्षमता का अर्थ इस बात से है कि कोई भी राज्य या सरकार आवश्यक कार्यों को निष्पादित करने की कितनी क्षमता या सामर्थ्य रखती है अर्थात् उसमें प्रशासकीय कार्यकुशलता से भी होता है। इसका अन्य अर्थ प्रशासन में विवेकपूर्ण धर्म निरपेक्ष द ष्टिकोण उत्पन्न करने तथा विवादों का तर्कपूर्ण आधार पर समुचित समाधान करने से भी माना जाता है। जब राजनीतिक समाज क्षमता के गुण ये युक्त हो जाता है तो वहां राजनीतिक विकास की उपस्थिति का बोध होता है।

(III) विभेदीकरण का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं में पाया जाने वाले विशेषीकरण व भूमिका विभेदीकरण से होता है। विभेदीकरण का अर्थ राजनीतिक व्यवस्था का टुकड़ों में बंट जाना न होकर एकीकरण पर आधारित विशेषीकरण से होता है। जिस राजनीतिक समाज में अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग राजनीतिक संरचनाएं होती हैं और उनके कार्य व शक्तियों का भी स्पष्ट विभाजन होता है तथा कार्यों में सुनिश्चितता का गुण होता है, वह राजनीतिक विकास की अवस्था को प्राप्त कर चुका होता है।

इन तीनों लक्षणों को पाई ने राजनीतिक विकास का 'विकास-संलक्षण' माना है। इनमें से समानता का सम्बन्ध राजनीतिक संस्कृति और उन भावनाओं से जुड़ जाता है जिनसे राजनीतिक व्यवस्था की औचित्यपूर्णता में व द्धि होती है। क्षमता का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था की शासकीय संरचनाओं और संस्थाओं से है तथा विभेदीकरण का गैर-आधिकारिक संरचनाओं और समस्त समाज की सामान्य प्रक्रियाओं से होता है। ये तीनों लक्षण या संकल्पनाएं आपस में मिलकर राजनीतिक विकास की प्रक्रिया को गति देती है। राजनीतिक विकास की अवधारणा समता, क्षमता तथा विभेदीकरण के इर्द-गिर्द ही घूमती रहती हैं।

(ख) ऑमण्ड तथा पॉवेल द्वारा बताई गई राजनीतिक विकास की विशेषताएं :- ऑमण्ड तथा पॉवेल ने भी अपनी पुस्तक 'Comparative Politics - A Developmental approach' में राजनीतिक विकास पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने राजनीतिक विकास की तीन विशेषताएं - भूमिका विभेदीकरण, उपव्यवस्था, स्वायत्तता तथा लौकिकीकरण हैं।

(I) **भूमिका विभेदीकरण (Role of Specialization) :-** इसमें से भूमिका विभेदीकरण पाई द्वारा बताई गई विशेषता की तरह ही है। लेकिन पाई ने तो राजनीतिक विकास के संरचनात्मक विभेदीकरण की बात की है, इसके विपरीत ऑमण्ड - पॉवेल भूमिका विभेदीकरण पर अधिक जोर देते हैं। उनका कहना है कि कई देशों में संरचनाओं का विभेदीकरण तो कर दिया जाता है किन्तु व्यवहार में एक ही संरचना सरकार के सभी कार्यों को कर देती है। साम्यवादी देशों में व्यवहार में ऐसा ही होता है। इसी तरह विकासशील देशों में होता है। कार्यपालिका व्यवस्थापन के कार्य भी करती है। भारत में भी आंशिक रूप से यह सत्य है कि कार्यपालिका प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था के तहत विधायिका के कार्य भी करती है। इसलिए जिस देश में संरचनात्मक विभेदीकरण के साथ-साथ भूमिका विभेदीकरण होता है अर्थात् सरकार के विभिन्न अंग अपने-अपने कार्यों को ही करते हैं, वहां पर ही राजनीतिक विकास की उपस्थिति मानी जानी चाहिए। जहां भूमिका विभेदीकरण होगा, वहीं पर संरचनाएं विशेषीकरण के आधार पर कार्य करेंगी और संरचनात्मक विभेदीकरण, भूमिका विभेदीकरण तथा विशेषीकरण साथ मिलकर राजनीतिक विकास की विशेषता बन जायेंगे।

(II) **उप-व्यवस्था स्वायत्तता (Sub-System Autonomy) :-** यह विशेषता राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के साथ जुड़ी हुई है। इसे पाई की क्षमता की विशेषता भी माना जाता है। उप-व्यवस्था स्चायत्तता का अर्थ है - राजनीतिक व्यवस्थाओं को उप-व्यवस्थाओं में बांटना तथा उन्हें कार्य करने की शक्ति प्रदान करना। ऑमण्ड का मानना है कि उप-व्यवस्थाओं की स्वायत्तता ही राजनीतिक व्यवस्था में भूमिका विभेदीकरण का गुण लाकर उसकी क्षमता में व द्धि कर सकती है। उप-व्यवस्था का स्पष्ट संकेत विकेन्द्रीकरण की तरफ होता है। इसमें जनता की मांगें सीधे केन्द्र के पास जाने की बजाय उप-व्यवस्थाओं के पास चली जाती है, जहां उन पर उप-व्यवस्थाएं ही निर्णय लेती हैं। इससे राजनीीतिक व्यवस्था का क्षमता स्तर बढ़ता है।

(III) **लौकिकीकरण (Secularization) :-** ऑमण्ड तथा पॉवेल के अनुसार लौकीकिकरण का सम्बन्ध संस्कृति से ही है। इसे पाई की समानता से भी सम्बन्धित माना जाता है, क्योंकि समानता का सम्बन्भ औचित्यपूर्ण तथा व्यवस्था में प्रतिनिष्ठा रखने वाली राजनीतिक संस्कृति तथा भावनाओं से है इसलिए समाज में लौकिकीकरण तभी हो सकता है जब उसमें समानता का गुण हो। परम्परागत से दूर हटकर धर्म निरपेक्षता की तरफ बढ़ने वाला समाज लौकिकीकरण वाली समाज कहलाता है। इसके लिए उसमें समानता का भाव रहना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। इस तरह लौकिकीकरण का अर्थ समाज की धर्मनिरपेक्षता के प्रति बढ़ती अभिव ति से ही लिया जाता है। अतः लौकिकीमरण के गुण से युक्त राजनीतिक समाज

ही राजनीतिक विकास की अवस्था पर पहुंचा होता है।

ऑमण्ड तथा पॉवेल का यह मानना है कि उपरोक्त तीनों लक्षण एक दूसरे के साथ इस हद तक जुड़े हुए हैं कि एक में परिवर्तन दूसरे में भी परिवर्तन लाने वाला सिद्ध होता है। राजनीतिक विकास की उपस्थिति उसी राजनीतिक व्यवस्था में देखी जा सकती है, जिसमें ये तीनों लक्षण हों।

उपरोक्त विचारों का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि ऑमण्ड-पॉवेल तथा पाई ने राजनीतिक विकास के कुछ लक्षण या विशेषताएं बताई हैं, उनको आधार मानकर ही हम राजनीतिक विकास के होने या न होने का पता लगा सकते हैं। राजनीतिक विकास के ये लक्षण विकसित पश्चिमी लोकतन्त्र में तो विद्यमान हैं, लेकिन विकासशील देशों में इनसे पूर्ण विकास व प्राप्ति का मार्ग सरल नहीं है। स्वयं इन देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएं अस्थिरता के दौर से गुजर रही हैं, ऐसे में राजनीतिक विकास की कल्पना करना बेकार है। यद्यपि जाग्वाराईब ने भी अपनी पुस्तक 'Political Development' में राजनीतिक विकास के कुछ विशेषताएं बताई हैं, लेकिन उनका पाई व ऑमण्ड से ज्यादा महत्व नहीं है। राजनीतिक विकास के प्रामाणिक व्याख्याकार होने के नाते पाई व ऑमण्ड की व्याख्याएं ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः समानता, क्षमता, विभेदीकरण व विशेषीकरण तथा लौकिकीकरण से युक्त राजनीतिक व्यवस्थाएं ही राजनीतिक द ष्टि से विकसित मानी जा सकती हैं। इन्हीं लक्षणों के आधार पर इसे सामान्य विकास से अलग किया जा सकता है।

राजनीतिक विकास के स्तर

(Stages of Political Development)

राजनीतिक विकास की प्रक्रिया बहुआयामी है। उसे समझने के लिए राजनीतिक विद्वानों ने राजनीतिक विकास की अवस्थाओं पर व्यापक द ष्टि डाली है। सबसे पहले रोस्टोव ने अपना सुझाव दिया कि राजनीतिक विकास को भी आर्थिक विकास की तरह ही अवस्थाएं या स्तर हों। उसके बाद हण्टिंगटन, आइजेन्सटाइड,, ऑमण्ड, आरगेन्सकी, पाई, शील्स, एप्टर, होल्ट एवं टर्नर आदि विद्वानों ने राजनीतिक विकास को व्यापक द ष्टिकोण से समझते हुए इसकी अवस्थाओं पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया। जाग्वाराइव ने भी अपनी पुस्तक 'Political Development : A Global Theory and A Latin American Case Study' में राजनीतिक विकास की अवस्थाओं पर प्रकाश डाला। राजनीतिक विकास के विभिन्न स्तरों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है :-

(1) ऑमण्ड के विचार :-

आमण्ड ने राजनीतिक विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। उसके अनुसार राजनीतिक विकास के ये स्तर निम्नलिखित हैं :-

(i) **राज्य निर्माण का स्तर :-** (क) केन्द्रीय सत्ता का निर्माण (ख) इस सत्ता का राजनीति में प्रवेश (ग) विभिन्न समूहों का केन्द्रीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र में एकीकरण होना।

(ii) **राष्ट्र निर्माण का स्तर** :- अर्थात् लोगों की राष्ट्र के प्रति भक्ति व निष्ठा उत्पन्न होना ताकि निवेशों के समर्थन बढ़ जाएं।

(iii) **सहभागिता का स्तर :-** अर्थात् व्यक्ति एवं समूहों को राजनीतिक प्रक्रिया में व्यापक रूप से भागीदार होना।

(iv) **वितरण का स्तर :-** अर्थात् सामाजिक जीवन के लिए राजनीतिक व्यवस्था के लाभों की विभिन्न विधियों द्वारा आम जनता तक पहुंच।

ऑमण्ड का विचार है कि जिन समाजों में राजनीतिक विकास अपने अन्तिम स्तर पर है वे विकास को प्राप्त कर चुके देश हैं। इसके विपरीत जो देश इन चारों स्तरों में से किसी भी स्तर पर हैं तो

वे विकासशील देश ही हो सकते हैं। विकास के अन्तिम स्तर को प्राप्त करने के लिए विकासशील देशों को इसी अनुक्रम पर कायम रहना पड़ेगा। यदि इस अनुक्रम को तोड़ने का प्रयास किया गया तो विकासशील देश कभी भी इस स्तर को प्राप्त नहीं कर सकेंगे जो विकसित देशों ने किया है।

(2) केनेथ आर्गेन्सकी के विचार :-

आर्गेन्सकी ने अपनी पुस्तक 'Stages of Political Development' में राजनीतिक विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। उसने राजनीतिक विकास को परिभाषित करने के बाद राजनीतिक विकास के चार स्तर निम्न प्रकार से बताए हैं :-

(i) **राजनीतिक एकीकरण :-** यह शक्ति का राज्य के हाथ में केन्द्रीयकरण का द्योतक है। इस अवस्था में राष्ट्रीय सरकारें, अपनी जनसंख्या पर प्रभावशाली राजनीतिक एवं प्रशासनिक नियन्त्रण स्थापित करती हैं। इसके बिना औद्योगिकरण के द्वारा आर्थिक विकास को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस चरण में राज्य का स्थायित्व निश्चित रहता है। इसमें केन्द्रीय सत्ता का निर्माण होता है जिसमें राज्य के चारों तत्व - जनसंख्या, निश्चित भूभाग, सरकार तथा सम्प्रभुत्ता अस्तित्व में रहते हैं। यह अवस्था औद्योगिक क्रान्ति से पहले तक विद्यमान थी। औद्योगिक क्रान्ति के उद्घोष ने इस अवस्था का विकास करके उसे अगली अवस्था तक पहुंचा दिया।

(ii) **औद्योगिकरण :-** इस अवस्था में औद्योगिकरण ही राजनीतिक विकास के स्तर तक राजनीतिक व्यवस्था को पहुंचाता है। इस अवस्था में बहुत बड़ी सामाजिक कीमत पर पूंजी संचय करके औद्योगिकरण लाया जाता है, क्योंकि किसी भी देश में इसके बिना आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। इस अवस्था में नए वर्ग निर्मित होते हैं और सहभागिता का विस्तार तथा राष्ट्रीय एकीकरण में व द्धि होती है। लेकिन इस अवस्था में केन्द्र तथा परिधि के बीच सत्ता के प्रवेशन (Penetration) की समस्या उत्पन्न हो जाती है चाहे वह स्टालिनवादी अथवा फासीवादी पदचिन्हों पर चलकर हो। इसके तीन विकल्प - (क) मध्यवर्गीय बुर्जुआ (ख) स्टालिनवादी या साम्यवादी (ग) समन्वयवादी या फासीवादी हो सकते हैं।

(iii) **राष्ट्रीय लोक कल्याण :-** यह अवस्था पूंजीवाद को उलट देने वाली प्रक्रिया से सम्बन्धित होती है। इसमें जनता को पूंजी के शोषण से मुक्त रखकर उसके कल्याण को ही प्राथमिकता दी जाती है ताकि शासन में जन-सहभागिता का स्तर भी बढ़ सके ओर जनता के सार्वजनिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

(iv) **सम द्धि की अवस्था :-** यह अवस्था वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की व द्धि के कारण उत्पादन की बहुलता का द्योतक है। यह राजनीतिक विकास की जटिल अवस्था है। इसमें उत्पादक रोजगार कम हो जाता है, किन्तु श्रमिक संघों की शक्ति बढ़ने लगती है। इसमें आर्थिक विकास की बजाय राजनीतिक विकास पर अधिक जोर दिया जाता है। इसमें जनता की सुख-सुविधाओं की कोई कमी नहीं रहती। इस अवस्था में समाज का रूप लोकतांत्रिक भी हो सकता है और समाजवादी भी।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आर्गेन्सकी ने राजनीतिक विकास की अवस्थाओं को राष्ट्रीय विकास से सम्बन्धित माना है। उसकी राजनीतिक विकास के स्तरों की व्यवस्था आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है। लेकिन इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि इसमें सारे समाज के राष्ट्रीय विकास के साथ राजनीतिक विकास व उसकी अवस्थाओं को समझने का प्रयास किया गया है जबकि वास्तव में राजनीतिक विकास व उसके स्तरों का सम्बन्ध विकास के विभिन्न पहलुओं से होता है।

(3) सैमुअल पी० हंटिगटन के विचार :-

हंटिंगटन के अनुसार राजनीतक विकास की तीन अवस्थाएं या स्तर होते हैं। उसने अपने निबन्ध 'Political Development and Political Decay' में राजनीतिक विकास की तीन अवस्थाएं बताई हैं : -

(i) **केन्द्रीयकरण :-** इसमें अनेक सत्ताओं के स्थान पर एक केन्द्रीय सत्ता का निर्माण हो जाता है।

(ii) **विभेदीकरण :-** इस अवस्था में राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों में व द्धि हो जाने के कारण राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं का विभेदीकरण या विभिन्नीकरण हो जाता है। इससे राजनीतिक व्यवस्था विविध कार्यों को आसानी से कर लेती है।

(iii) **अभिव द्ध सहभागिता :-** इस स्तर पर समाज के विभिन्न सामाजिक समूह, उप-समूह, व्यक्ति आदि सत्ता में सक्रिय सहभागिता निभाने लग जाते हैं।

हंटिंगटन का मानना है कि ये तीनों अवस्थाएं क्रमबद्ध रूप से आनी चाहिए अन्यथा विकास की प्रक्रिया असम्भव हो जाएगी। इनमें किसी भी प्रकार का उलट-फेर राजनीतिक विकास के स्थान पर राजनीतिक पतन ही ला सकता है। आधुनिक विकासशील देशों में इसी उलट-फेर के कारण राजनीतिक अस्थिरता बनी हुई है। इस स्थिति से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि जन-परियोजना की गति धीमी कर दी जाए ताकि परिसर से व्यक्तियों का केन्द्रीय सत्ता तक पहुंचना पूर्ण रूप से आत्मसात्तता के अनुसार ही हो। इसका दूसरा विकल्प यह भी है कि इस विषम स्थिति से बचने के लिए संस्थाओं के निर्माण की प्रक्रिया तेज कर दी जाए ताकि जन-परियोजना को आत्मसात् करने की राजनीतिक क्षमता में अधिक क्षमता हो जाए। इस तरह हंटिंगटन की यह अवधारणा प्राचीन तथा आधुनिक दोनों युगों का समान रूप से लागू हो सकती है।

(4) आइजेन्सटाइड के विचार :-

आइजेन्सटाइड ने राजनीतिक विकास को आधुनिकीकरण के साथ जोड़ते हुए यह विचार दिया है कि राजनीतिक विकास के दो स्तर हैं - (i) सीमित आधुनिकीकरण (ii) व्यापक या जन-आधुनिकीकरण। आइजेन्सटाइड का कहना है कि 18वीं और 19वीं सदी में सीमित आधुनिकीकरण था, जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों को नीति-निर्माण की प्रक्रिया तक लाया गया तथा कुछ औद्योगिक विकास किया गया। बीसवीं सदी में आम जनता को नीति-निर्माण के किलों में प्रवेश कराया गया तथा विज्ञान और तकनीक का विकास किया गया। इस तरह आइजेन्सटाइड ने राजनीतिक विकास की और राजनीतिक आधुनिकीकरण को एक-सा मानकर राजनीतिक विकास की व्याख्या की और उसके दो स्तर बताए।

(5) जाग्थसराइब के विचार :-

जाग्वाराइब ने अपनी पुस्तक 'Political Development : A General Theory and A Latin American Case Study' में राजनीतिक विकास की विस्तार से व्याख्या की और राजनीतिक विकास के दो पक्ष निर्धारित के दो पक्ष - (i) यथार्थवादी तथा (ii) प्रकार्यात्मक हैं। यथार्थवादी पक्ष में मानव-शक्ति के सामूहिक स्वरूप तथा उसके उपयोग की तथा प्रकार्यात्मक पक्ष में व्यवस्था के नवीन स्वरूप-निर्माण को देखा है। उसने यथार्थवादी पक्ष के आधार पर राजनीतिक विकास के तीन स्तर - (क) समाजीकरण (ख) मशीनीकरण तथा (ग) सामाजिक संगठन बताए हैं। प्रथम स्तर तो समाज पर राजनीतिक नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है जिसमें राजनीतिक एकीकरण के साथ-साथ अतिरिक्त समाजीय विस्तार तथा अन्तरसमाजीय विविधीकरण होता है। मशीनीकरण से औद्योगिकीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार तथा राष्ट्रीय विविधीकरण का बोध होता है। सामाजिक संगठन के अन्तर्गत

सामान्य प्रकार का संगठन, अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा पुनर्मानवीकरण होता है। प्रकार्यवादी या प्रकार्यात्मक पक्ष में राजनीतिक विकास के चार स्तर - (क) प्रारूप निर्माण (ख) राज्य-निर्माण (ग) राष्ट्र-निर्माण तथा (घ) मतैक्य निर्माण होते हैं। इनका महत्व सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की द ष्टि से माना जाता है।

(6) लूशियन पाई के विचार :-

पाई ने भी अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में इंग्लैण्ड के विकास का राजनीतिक विश्लेषण करते समय राजनीतिक व्यवस्था के 6 संकटों की पहचान की। इन संकटों को राजनीतिक विकास की अवस्थाओं के साथ भी जोड़ा जा सकता है। ये अवस्थाएं हैं :- (i) अभिज्ञान या पहचान (ii) औचित्यपूर्णता (iii) प्रवेशन (iv) सहभागिता (v) एकीकरण (vi) वितरण। ये अवस्थाएं आर्गेन्सकी के विचारों के काफी समीप हैं। लेकिन इस विश्लेषण का प्रमुख दोष यह है कि यह विकसित देशों के सम्पर्क में तो सही है, परन्तु विकासशील देशों में इसका निश्चित क्रम सम्भव नहीं है।

(7) एडवर्ड शिल्स तथा कॉस्ट्स्की के विचार :-

एडवर्ड शिल्स ने अपनी पुस्तक 'Political Development in the Nerw State' में राजनीतिक विकास का विश्लेषण करके राजनीतिक व्यवस्थाओं का पांच वर्गों - (i) राजनीतिक प्रजातन्त्र (ii) अभिभावक प्रजातन्त्र (iii) आधुनिकीकरणशील अल्पतन्त्र (iv) सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र तथा (v) परम्परागत कुलीनतन्त्र में बांटा है। इसी तरह जॉन कॉस्ट्स्की ने भी अपनी पुस्तक 'Political Change in Underdeveloped Countries; Nationalism and Communism' में राजनीतिक विकास को पांच वर्गों में बांटा है। उसके अनुसार ये वर्ग - (i) परम्परागत कुलीनतन्त्रात्मक अधिकारवादी अवस्था (ii) राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों के प्रभुत्व की संक्रान्तिकालीन अवस्था (iii) कुलीनतन्त्रों की सर्वाधि ाकारवादी अवस्था (iv) बुद्धिजीवियों की सर्वाधिकारवादी अवस्था तथा (v) प्रजातन्त्रीय अवस्था है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास के स्तरों पर अनेक राजनीतिक विद्वानों ने अलग-अलग विचार दिए हैं। इनमें से आर्गेन्सकी द्वारा राजनीतिक विकास की अवस्थाओं पर दिया गया विवेच्य अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ता है। उसने राजनीतिक विकास के स्तरों को यथार्थवादी आधार पर समझने का प्रयास किया है, जबकि अन्य विद्वानों ने यह कार्य प्रकार्यात्मक आधार पर किया है। राजनीतिक विकास की अवस्थाओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यथार्थवादी तथा प्रकार्यात्मक पहलुओं को साथ मिलाकर चलना आवश्यक माना जाता है। इसी कारण जाग्वाराइब का द ष्टिकोण अधिक तर्कसंगत माना जा सकता है, क्योंकि यह राजनीतिक विकास के यथार्थवादी तथा प्रकार्यात्मक दोनों पहलुओं को साथ लेकर चलता है।

राजनीतिक विकास की समस्याएं

(Problems of Political Development)

राजनीतिक विकास एक बहुआयामी तथा सतत् प्रक्रिया है। राजनीतिक विकास की प्रक्रिया कुछ बाह्य तथा कुछ आन्तरिक दबावों से घिरी रहती है। यह उस पर्यावरण से ज्यादा प्रभावित होती है, जिससे यह घिरी रहती है। रिग्स ने अपनी पुस्तक 'The Ecology of Development' में राजनीतिक विकास की मात्रा तथा विकासशील राज-व्यवस्थाओं पर पड़ने वाले विकासात्मक प्रभाव को मापा। उसने निष्कर्ष निकाला कि पर्यावरण से अनुकूलन बनाए रखने की समस्या राजनीतिक व्यवस्था के लिए सबसे बड़ी चुनौती होती है। इसलिए प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को विकास के पथ पर बढ़ते हुए अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसी कारण विकास का कार्य सहज कार्य नहीं है। प्रायः राजनीतिक विकास के मार्ग में अनेक बाधाएं आती हैं। विकसित

देशों में सघन औद्योगिकरण, तकनीकी का समाजशास्त्र एवं जटिल आर्थिक संरचना, उपभोक्तावादी संस्कृति एवं अन्तःराष्ट्र सम्बन्धों में व्यापारिक वर्चस्व की प्रतिस्पर्धा के कारण ही समस्याएं जन्म लेती हैं, जबकि विकासशील देशों में राजनीतिक विकास के प्रारूप चयन की समस्या, राजनीतिक स्थायित्व की समस्या, राजनीतिक विकास के अभिकरण-राजनीतिक दल, हित समूह और दबाव समूहों के समुचित रूप से संगठित और विकसित होने की समस्या, जनसंख्या विस्फोट की समस्या, आतंकवादी राजनीति की समस्या तथा शासक-शासित सम्बन्धों की दुरुहता के रूप में ये समस्याएं होती हैं। ये समस्याएं विकसित और विकासशील देशों में सामान्यतया अलग-अलग तरह की ही रहती हैं।

लूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Political Development' में राजनीतिक विकास की निम्नलिखित समस्याएं बताई हैं :-

(1) राज-व्यवस्था के साथ तादातम्य।

(2) औचित्यपूर्णता की समस्या।

(3) राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्वेषण या सभी क्षेत्रों में पहुंच की समस्या।

(4) सहभागिता की समस्या।

(5) समेकन या एकीकरण की समस्या।

(6) वितरण की समस्या।

तादात्म्य की समस्या का सम्बन्ध लोगों का अपनी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास से है। जब नागरिक राष्ट्र प्रेम की भावना से दूर हटते जाते हैं तो संकीर्ण स्वार्थमयी प्रव त्ति के कारण इस संकट का जन्म होता है। औचित्यपूर्णता की समस्या राजनीतिक उत्तरदायित्व तथा सत्ता के प्राधिकार के बीच सहमति के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। अन्तवेषण या प्रवेशन की समस्या समाज के भीतर सरकार द्वारा पहुंचने ओर उसकी बुनियादी नीतियों को प्रभावित करने की समस्या की ओर संकेत करती है। सहभागिता का संकट लोगों की राजनीतिक नीति-निर्माण को प्रभावित करने की जनता की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखता है। एकीकरण की समस्या राजनीतिक व्यवस्था की मांगों के सामूहिकरण की दोषपूर्ण व्यवस्था का परिणाम होती है। वितरण की समस्या का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था में लाभों की जनता तक पहुंच में कमी का परिणाम होती है। ये संकट एक साथ भी आ सकते हैं और अलग-अलग रूप में भी। यदि इन समस्याओं का समुचित समाधान न किया जाए तो ये राजनीतिक विकास को राजनीतिक पतन की तरफ धकेल देते हैं। इसी कारण इन समस्याओं के समाधान पर सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं अवश्य ध्यान देती हैं। तादात्म्य की समस्या से निजात पाने के लिए सभी सरकारें अपने नागरिकों को देशभक्ति का पाठ सिखाती हैं। चुनावों के माध्यम से सरकारें औचित्यपूर्णता प्राप्त करने पर बल देती हैं और नौकरशाही को सीमित अधिकार देती हैं ताकि जनता को कोई असुविधाजनक अनुभूति न हो। प्रवेशन के लिए सभी सरकारें लोगों की भलाई के लिए कल्याणकारी योजनाएं लागू करती हैं। सहभागिता की समस्या से बचने के लिए लोगों को अधिक से अधिक राजनीतिक क्षेत्रों में प्रवेश कराया जाता है। राजनीतिक दलों व हित समूहों को इस कार्य में भूमिका अदा करने की छूट दी जाती है। एकीकरण की समस्या का समाधान भी दबाव समूह तथा राजनीतिक दलों द्वारा मांगों का समूहीकरण करके कर दिया जाता है। वितरण की समस्या से निपटने के लिए सभी सरकारें राजनीतिक लाभों की जनता तक तथा जनता में समान पहुंच सुनिश्चित करती हैं। इसके लिए कमजोर वर्गों को कुछ विशेष लाभ भी दिए जाते हैं। इस तरह सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं राजनीतिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए सचेत रहकर प्रयास करती हैं।

लूशियन पाई की तरह ऑमण्ड ने भी राजनीतिक विकास की अवधारणा का व्यापक विश्लेषण करने

के बाद राजनीतिक विकास की चार समस्याएं बताई हैं। उसका कहना है कि प्रत्येक राज-व्यवस्था को इन समस्याओं से अवश्य निपटना पड़ता है। ये समस्याएं हैं :-

(1) राज्य-निर्माण की समस्या।

(2) राष्ट्र-निर्माण की समस्या।

(3) सहभागिता की समस्या।

(4) वितरण की समस्या।

ऑमण्ड का कहना है कि राज्य-निर्माण की समस्या तब उत्पन्न होती है जब राजनीतिक व्यवस्था अपने क्षेत्र के भीतर और बाहर तक प्रवेश न करने तथा उनका एकीकरण करने से जूझती है। राष्ट्र-निर्माण की समस्या निष्ठा के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। सहभागिता की समस्या समाज के विभिन्न समूहों, वर्गों आदि की शासन की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में भाग लेने सम्बन्धी मांगों के कारण उत्पन्न होती है। वितरण की समस्या लोक कल्याण की मांग से सम्बन्ध रखती हैं। यह घरेलू समाज के दबाव का परिणाम होती हैं। ऑमण्ड का मानना है इस समस्याओं का सम्बन्ध ा विकास की क्रमिक अवस्थाओं से होता है। विकसित देशों में राजनीतिक विकास का यही क्रम रहा है। विकासशील देशों को भी अपने राजनीतिक विकास के लिए इसी क्रम पर चलना आवश्यक है, अन्यथा वहां पर कभी भी राजनीतिक विकास नहीं हो सकता।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास की समस्याओं का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था का सामना करने वाली समस्याओं की प्रकृति, व्यवस्था के संसाधन, विदेशी सामाजिक व्यवस्थाओं का राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव, राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यात्मक प्रतिमान अभिजन वर्ग की अनुक्रिया आदि बातों से होता है। जब तक इन तत्वों की समुचित व्यवस्था को नहीं समझा जाएगा, तब तक राजनीतिक विकास की समस्याओं को न तो समझा जा सकता है और न ही उनका समाधान निकाला जा सकता है। राजनीतिक विकास की समस्याएं सीमा रहित होती हैं। ये आन्तरिक और बाह्य दोनों हो सकती हैं। ये राजनीतिक या उत्तराधिकार, सही विकास मार्ग के चयन, विकास के लिए साधन प्राप्ति, महाशक्तियों के हस्तक्षेप, सामाजिक दबाव, आर्थिक विवशता एवं अस्थिरता से सम्बन्धित हो सकती है। कई बार अधिकारीतन्त्र की लापरवाही के कारण भी इनका जन्म हो सकता है। यह बात तो सत्य है कि राजनीतिक विकास की समस्याएं विकासशील देशों में विकसित देशों से कुछ भिन्न तरह की है। सार रूप में कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास की प्रमुख समस्याएं - राष्ट्र निर्माण की समस्या, राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता में व द्धि की समस्या, समानता लाने की समस्या, असहभागिता में व द्धि करने की समस्या, वैयता या औचित्यपूर्णता प्राप्त करने की समस्या, आधुनिकीकरण की समस्या आदि रूप में हो सकती है।

राजनीतिक विकास की अवधारणा का मूल्यांकन

(Evaluation of the Concept of Political Development)

राजनीतिक विकास की अवधारणा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवोदित एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं को समझने में महत्वपूर्ण मानी जाने लगी, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इन नवोदित देशों में राजनीति विकास की दिशा को समझने में इस अवधारणा ने काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस अवधारणा के आगमन से राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में मदद मिली और राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करना आसान हो गया। शिल्स द्वारा राजनीतिक विकास के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं को पांच भागों में बांटना इस अवधारणा का यह महत्व प्रतिपादित करता है। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी आधार

प्राप्त हुआ और राजनीतिक विकास की भूमिका विभेदीकरण, लौकिकीकरण तथा उप-व्यवस्था स्वायत्तता के तत्वों द्वारा मापा जाने लगा। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में सामान्यीकरण की प्रक्रिया को बला मिला। लेकिन इतना होने के बावजूद भी कुछ राजनीतिक विद्वान इस अवधारणा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह अवधारणा राजनीतिक पतन के बारे में कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं देती और इसमें सिद्धान्त निर्माण जैसी कोई बात नहीं है। यह राजनीतिक आधुनिकीकरण को अपने समान बताकर भ्रामकता उत्पन्न करती है, इसी कारण इस पर अस्पष्टता का लेबल लग गया है। साथ में एक बात और ध्यान देने योगय यह है कि विचारकों में राजनीतिक विकास की अवधारणा और लक्षणों को लेकर मतभेद हैं। पाई और ऑमण्ड द्वारा राजनीतिक विकास के लक्षण भी आपस में समानता का भाव नहीं रखते। चाहे हम राजनीतिक विकास की अवधारणा की कितनी भी आलोचना कर लें, फिर भी उसका महत्व कुछ न कुछ तो अवश्य है। सार रूप में कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस अवधारणा को जन्म से महत्वपूर्ण राजनीतिक व्यवहार की समस्याओं को समझने में मदद मिली है और इसने राष्ट्रवाद को पनपने तथा लोकतन्त्र को मजबूत आधार प्रदान किया है। अतः राजनीतिक विकास की अवधारणा राजनीतिक विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी आधार प्रदान करती है और एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।

अध्याय-9

राजनीतिक आधुनिकीकरण

(Political Modernization)

राजनीतिक आधुनिकीकरण राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा एक नई अवधारणा है। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले इस अवधारणा का कोई अस्तित्व नहीं था। युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए अनेक द ष्टिकोणों व अवधारणाओं का जन्म हुआ। उन अवधारणाओं में से एक अवधारणा राजनीतिक आधुनिकीकरण की संकल्पना पर आधारित है और उसका एक भाग है। यह अवधारणा राजनीतिक विकास व पाश्चात्यकरण से बिल्कुल भिन्न है। राजनीति विज्ञान में राजनीतिक आधुनिकीकरण की अपनी विशेष पहचान है। शक्तियों का केन्द्रीयकरण, राज्य का अधिकाधिक समाज में प्रवेश, सत्ता का स्थानान्तरण, बढ़ती जनसहभागिता और नौकरशाही का व्यापक आधार इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं तथा अभिजन वर्ग और सरकार राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रमुख अभिकरण हैं।

राजनतिक आधुनिकीकरण का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Political Modernization)

राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा आधुनिकीकरण की अवधारणा पर आधारित है। आध ुनिकीकरण की धारणा को समझकर ही राजनीतिक आधुनिकीकरण को समझा जा सकता है। आधुनिकीकरण की धारणा एक बहुत व्यापक और विशाल धारणा है। इसका सम्बन्ध जीवन के हर क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों से है। यह राजनीतिक व्यवस्था, उत्पादन प्रणाली, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र सभी से सम्बन्धित है। विकासशील देशों के सन्दर्भ में यह सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया का नाम है। यह प्राचनी से नवीनता की ओर समाज का प्रस्थान है। यह एक बहुमुखी प्रक्रिया है जो आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में द ष्टिगोचर होती है। पर्यावरण एवं प्रकृति पर बढ़ता हुआ नियन्त्रण, तकनीकी विकास, औद्योगिकरण, शहरीकरण, बढ़ती जनसहभागिता, बढ़ती राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय, संचार साधनों का विकास, सामाजिक गतिशीलता, समानता के सिद्धान्त का विकास तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति निष्ठा आदि आधुनिकीकरण की प्रमुख विशेषताएं हैं। लरनर ने विवेकपूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया को ही आधुनिकीकरण का नाम दिया है। स्मैलर ने किसी राज्य की आर्थिक उन्नति को ही आधुनिकीकरण माना है। हटिंगटन के अनुसार-"आधुनिकीकरण एक बहुदलीय प्रक्रिया है जो मानव की गतिविधियों व विचारों के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन से सम्बन्धित है।" कलोडवेल्च के अनुसार- "आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है जो साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर आधारित होती है और जिसका उद्देश्य आधुनिक समाज की स्थापना कहा जा सकता है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। जिसका सम्बन्ध जीवन के सभी क्षेत्रों में होने वाले विकास से है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकीकरण का एक पक्ष

है जिसका सम्बन्ध आधुनिकीकरण के राजनीतिक पक्ष से है। कौलमैन के अनुसार, "आधुनिकीकरण राजनीतिक पक्ष संक्रान्तिकालीन समाजों की राजव्यवस्था में होने वाले संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का समुच्चय है। इस प्रक्रिया में राजव्यवस्था, उसकी उप-व्यवस्थाएं, राजनीतिक संरचनाएं, राजसंस्कृति, उनकी प्रक्रियाएं आदि शामिल होती हैं।" मोर्स ने इसे विकास तथा क्रान्ति के बीच चलने वाली प्रक्रिया बताया है। साधारण रूप में तो समाज में सामाजिक संचालन और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप हुए राजनीतिक परिवर्तनों को राजनीतिक आधुनिकीकरण का नाम दे दिया जाता है। कार्ल डॅयूश ने राजनीतिक आधुनिकीकरण का अर्थ सहभागिता या गतिशीलता से लिया है। जेम्स एस० कोलमैन के अनुसार-"राजनीतिक आधुनिकीकरण ऐसे संस्थागत ढांचे का विकास है जो पर्याप्त लचीला और इतना शक्तिशाली हो कि उसमें उठने वाली मांगों का मुकाबला किया जा सके।" राजनीतिक द ष्टि से आधुनिक समाज वही हो सकता है जिसमें व्यक्ति का अभिज्ञान राजनीतिक विकास और इसके विभिन्न पक्षों से होने लगता है। अतः राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक विकास से अधिक व्यापक अवधारणा है और यह पाश्चात्यीकरण से अलग अवधारणा है, क्योंकि यह पाश्चात्यीकरण के विचरित मूल्य युक्त व उद्देश्य युक्त परिवर्तन पर आधारित है।

राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएं

(Features of Political Modernization)

राजनीतिक आधुनिकीकरण के अर्थ व परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि विशेष लक्षणों वाली राजनीतिक व्यवस्था को ही राजनीतिक द ष्टि से आधुनिकीकृत कहा जा सकता है। लुसियन पाई ने राजनीतिक कार्यों का विविधीकरण तथा विशेषीकरण, समानता, राजनीतिक प्रक्रिया का लौकिकीकरण तथा परिवर्तन की क्षमता से युक्त राजनीतिक व्यवस्था को आधुनिक माना है। आइजेन्स्टेड ने भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की अलग विशेषताएं बताई हैं। उसकी द ष्टि में राजनीतिक व्यक्ति, कार्यों और संस्थाओं में उच्च मात्रा का विभिन्नीकरण तथा केन्द्रीयकृत एवं एकीकृत शासन व्यवस्था की विकास, केन्द्रीय प्रशासनिक एवं राजनीतिक संगठनों की गतिविधियों का विस्तार तथा उनकी सभी सामाजिक क्षेत्रों में क्रमिक व्याप्ति,समाज की अन्तर्निहित शक्ति का अधिकाधिक समूहों तथा व्यस्क नागरिकों में फैलाव आदि राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएं हो सकती हैं। कार्ल डयूश तथा ऑमण्ड-पॉवेल ने भी राज्य की लौकिक सत्ता की व द्धि तथा शक्ति का बढ़ता केन्द्रीयकरण, संरचनात्मक विभेदीकरयण, बढ़ती जनसहकारिता, नवीन सामाजिक संघटन, कार्यों का विशेषीकरण, अभिजन वर्ग की उपस्थिति, समान सहभागिता, हित समूहों व राजतनीतिक दलों के माध्यम से राजनीतिक मांगों का हित स्वरूपण को राजनीतिक आधुनिकीकरण विशेषताएं बताया है। इसी तरह राबर्ट ई० वार्ड तथा डी०ए० रस्तोव ने भी अत्यधिक विभेदीकृत शासकीय संगठन, शासकीय संरचनाओं में एकीकरण व सामंजस्य, धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया, व्यक्ति की अति विस्त त निष्ठा, राजनीति में जनसाधारण की सक्रिय सहभागिता, समानता का सिद्धान्त तथा समता व योगयताओं के आधार पर भूमिकाओं का वितरण को राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएं माना है। इन सभी विद्वानों की बात को ध्यान में रखकर राजनीतिक आधुनिकीकरण की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं :-

(1) **शक्तियों का केन्द्रीयकरण :-** राजनीतिक आधुनिकीकरीण की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें मानव जीवन की गतिविधियों से सम्बन्धित सारी शक्तियां एक राज्य या व्यवस्था में केन्द्रित होने लग जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था ही अधिकाधिक शक्तियों को नियामक व नियन्त्रक बनने लग जाती हैं। इसका प्रमुख कारण तकनीकी विकास, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बदलाव, संचार साधनों में विकास तथा प्रतिरक्षा की आवश्यकता का बढ़ना है। इसमें व्यक्ति के जीवन का राजनीतिक पक्ष सर्वोपरिता की तरफ

बढ़ना स्वाभाविक ही है। ऐसी परिस्थितियां आधुनिकीकरण के सर्वथा अनुकूल होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीयकरण की कोई व्यवस्था नहीं रहती। इसमें तो राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के रहते हुए भी राजनीतिक शक्ति ही महत्वपूर्ण और अन्य समस्त प्रकार की आर्थिक व सामाजिक शक्तियों की नियामक व संचालक बनी रहती है।

(2) **समाज में राज्य की अधिकाधिक पहुंच :-** आधुनिक युग पुलिस राज्यों का न होकर कल्याणकारी राज्यों का है। यातायात व संचार के साधनों ने राज्य की सकारात्मक भूमिका में व द्धि की है। आज सरकार जनकल्याण में अधिक रुचि लेने लगी है। आज सरकार का कार्य जनता से लेना ही नहीं है, बल्कि उसे कुछ देना भी है। जब सरकार की जनता तक पहुंच व द्धिपरक होती है, तभी आधुनिकीकरण की स्थिति मानी जाती है। लोक कल्याण को बढ़ावा देने वाली सरकारें ही राजनीतिक आधुनिकीकरण का प्रतिबिम्ब है। आज यह माना जाने लगा है कि आज का राज्य या सरकार की पहुंच जनता तक सम्भव भी है और जरूरी भी है। लोक-कल्याणकारी राज्यों के विचार ने आज सरकारों के कार्यों को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि उसका समाज में प्रवेशन होने लगा है। आज सरकार व राज्य वहीं कार्य करते हैं जो जनता मांग करती है। आज की सरकारें जन-सरकारें हैं और वे जन-इच्छा की ही प्रतिनिधि मानी जाती हैं। संचार के साधनों के विकास के परिणामस्वरूप सरकार की गतिविधियों के क्षेत्र का विस्तार हुआ है। इसी कारण सरकार व राज्य समाज में अपनी इतनी अधिक पहुंच बनाने में कामयाब हो चुके हैं कि मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक व आर्थिक जीवन भी राजनीतिक शक्ति व सत्ता द्वारा संचालित होने लगा है। यह आधुनिकीकरण की प्रमुख निशानी है।

(3) **केन्द्र और परिसर के बीच बढ़ती हुई अन्तःक्रिया :-** आधुनिक राजनीतिक समाजों में केन्द्र और परिसर की अन्तःक्रिया बहुत बढ़ने लगती है। इस बढ़ती हुई अन्तःक्रिया का अर्थ यह है कि राजनीतिक शक्ति के विभिन्न केन्द्र आपस में इतने अधिक अन्तःक्रियाशील हो जाते हैं कि दोनों स्तर के केन्द्र निरन्तर सम्प्रेषण के माध्यमों से जुड़ जाते हैं। अगर इसको हम राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रथम लक्षण 'राज्य में शक्ति का केन्द्रीयकरण' से सम्बन्धित करके देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण दो तरफा चलने वाली प्रक्रिया है। यहां पर केन्द्र का अर्थ तो राजनीतिक व्यवस्था से है और परिसर का अर्थ समाज से है। केन्द्र तथा परिसर अथवा राजनीतिक व्यवस्था तथा समाज से है। केन्द्र तथा परिसर अथवा राजनीतिक व्यवस्था तथा समाज में इस अन्तःक्रिया या पारस्परिता को बढ़ाने के राजनीतिक दलों, हित समूहों तथा नौकरशाही का बहुत अधिक योगदान रहता है। इस बढ़ती हुई पारस्परिकता वाला समाज व राजनीतिक व्यवस्था आधुनिकीकरण की निशानी है।

(4) **सत्ता का स्थानान्तरण :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवस्था में सत्ता के परम्परागत स्रोत निर्बल होने लगते हैं और उनका स्थान नए स्रोत लेने लगते हैं। इसके अन्तर्गत प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सत्ताओं का स्थान राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता द्वारा ले लिया जाता है। प्राचीन समाज में राजनीतिक सत्ता के स्रोत राजा महाराजा, कबीलों के मुखिया, धार्मिक नेता व पारिवारिक समूह थे और वे ही जनता की आस्था का केन्द्र थे, लेकिन सभी नवोदित राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के बाद से स्रोत निर्बल होने लगे और उनके स्थान पर नई राजनीतिक सत्ता के प्रति हो गई, क्योंकि इसका स्वरूप अधिक से अधिक कल्याणकारी दिखाई देने लगा। हंटिगटन ने लिखा है-"आधुयनिक राजनीतिक समाज में धार्मिक, परम्परागत, पारिवारिक व जातीय सत्ताओं की जगह एक लौकिकीकृत और राष्ट्रीय रजानीतिक सत्ता के द्वारा ले लिया जाता है।" अतः सत्ता का स्थानान्तरण भी आधुनिकीकरण की महत्वपूर्ण विशेषता है।

(5) **राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवस्था में राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण एवं विशेषीकरण भी होना आवश्यक माना जाता है। विकासशील देशों में विभिन्नीकरण की समस्या तो नहीं है, लेकिन विशेषीकरण की समस्या जरूरी है। इसी कारण विकासशील देश संक्रमकालीन दौर से गुजर रहे हैं। वे निरन्तर आधुनिक समाज की तरफ बढ़ने को प्रयासरत् हैं। आज सरकार का स्वरूप कल्याणकारी होने के कारण सरकारों के कार्यों में आई जटिलता के लिए विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण का होना अपरिहार्य माना जाने लगा है। संस्थाओं के विभेदीकरण व विशेषीकरण के बिना सरकारों द्वारा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना कठिन काम है। विभेदीकरण और विशेषीकरण का साथ साथ होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना इनका राजनीतिक व्यवस्था में अस्तित्वान होना। भारत जैसे देशों में विशेषीकरण व विभिन्नीकरण के टूटे हुए मेल के कारण ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अधर में लटकी हुई है। अतः राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए राजनीतिक संस्थाओं का विभिन्नीकरण व विशेषीकरण एक साथ होना आवश्यक है।

(6) **बढ़ती राजनीतिक जनसहभागिता :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण का पता इस बात से भी लगाया जा सकता है कि जनता को राजनीतिक संस्थाओं में सहभागिता के अवसर कहां तक प्राप्त हैं। सर्वसाधारण की राजनीतिक सहभागिता के बिना आधुनिकीकरण की बात करना निरर्थक है। विकासशील देशों में जनसहभागिता के अवसर तो जनता को प्राप्त होते ही रहते हैं; लेकिन जनता प्रायः इस काम में उदासीनता ही दिखाती है। लोग राजनीति के प्रति इस सीमा तक लगाव नहीं रखते, जितना आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है। जन-परियोजन के बिना राजनीतक आधुनिकीकरण का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाएं लाभों का वितरण समाज के निचले स्तर तक पहुंचाने का लक्ष्य रखती है, लेकिन जन-सहभागिता के अभाव में वे लक्ष्य धरे के धरे रह जाते हैं। कुछ देशों में लोगों की राजनीति के प्रति उदासीनता इस सीमा तक पहुंच जाती है कि उससे राजनीतिक व्यवस्था को पतन की तरफ धकेला जाने लगता है। भारत में मताधिकार की व्यवस्था द्वारा जनसहभागिता का होना आवश्यक है जो अपने उत्तरदायित्वों को समझते हुए राजनीतिक व्यवस्था के विकास में योगदान दे। विकासशील देशों में रहने वाले राजनीतिक अस्थायित्व का यही कारण है कि जनता राजनीतिक रूप से जागरूक नही है। यदि समाज का बुद्धिजीवी वर्ग राजनीति के प्रति उदासीन रहेगा तो निष्क्रिय जनसहभागिता राजनीतिक व्यवस्था को पतन के गर्त में धकेलने वाली हो सकती है। इसलिए राजनीतिक आधुनिकीकरण लाने व राजनीतिक व्यवस्था को विघटन से बचाने के लिए जनता की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति प्रबुद्ध निष्ठा का होना अनिवार्य है। प्रबुद्ध जनसहभागिता के बिना राजनीतिक आधुनिकीकरण सम्भव नहीं है।

(7) **जनता का राजनीतिक व्यवस्था से निर्बाध लगाव :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लगाव का होना जरूरी है। जिन देशों में जनता अपने राष्ट्रीय फर्ज के प्रति उदासीन हैं, वहां पर कभी आधुनिकीकरण नहीं आ सकता। राष्ट्रीय अभिज्ञान और राष्ट्रीयता के अभाव में राजनीतिक व्यवस्था का विकास कभी नहीं हो सकता। राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अपनापन लाकर ही राजनीतिक व्यवस्था का विकास सम्भव है। इसके लिए व्यक्तियों की सोच को बदलना जरूरी है। इसके बिना व्यक्ति की राजनीतिक व्यवस्था के बिना न तो निष्ठा आ सकती है और न ही राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है। जब राजनीतिक व्यवस्था में सभी वर्गों के लोग राष्ट्रीय अभिज्ञान व राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत होकर चलते हैं तो उससे एक ऐसी बाध्यकारी धारा प्रवाहित होने लगती

है कि राजनीतिक व्यवस्था स्वतः ही आधुनिकीकरण की तरफ बढ़ने लगती है।

(8) **व्यापक स्तर पर आधारित नौकरशाही :-** आधुनिकीकरण के लिए राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही का व्यापक स्तर होना भी जरूरी है। आज राजनीतिक व्यवस्था में सरकारों के कार्यों में इतनी अधिक व द्धि होती जा रही है कि सीमित आधार वाली नौकरशाही द्वारा उन्हें पूरा करना असम्भव है। नए दायित्वों को सरकार के पास आ जाने से अनेक देशों में अधिक से अधिक लोकसेवकों की भर्ती की जाने लगी है। इसके लिए समाज के सभी वर्गों के हितों का ध्यान रखा जाता है ताकि इसका आधार व्यापक बना रहे। लेकिन भारत जैसे देशों में नौकरशाही का आधार उस स्तर तक नहीं पहुंचा पाया है जो आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है। आज भारत में नौकरशाही की निरंकुशता, बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, दो तिहाई नौकरशाहों का ऊपर के तबके से होना इसकी व्यापक आधार में बाधा दर्शाता है। अतः नौकरशाही का व्यापक आधार ही आधुनिकीकरण की प्रमुख पहचान है।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की कुछ अन्य विशेषताएं हो सकती हैं। धर्म-निरपेक्ष द ष्टिकोण, समानता का सिद्धान्त आदि को भी राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक माना जाता है। जिस समाज में राजनीतिक निर्णय तर्क-वितर्क के आधार पर लिए जाते हैं और धर्म के प्रति निरपेक्ष द ष्टिकोण अपनाया जाता है, वह राजनीतिक समाज सदैव ही आधुनिक समाज माना जाता है। इसी तरह कानून के सामने समानता, नागरिक स्वतन्त्रताएं व समानता का अधिकार वाली राजनीतिक व्यवस्था भी आधुनिक ही होती है।

राजनीतिक आधुनिकीकरण की उपरोक्त सभी विशेषताओं को तीन विशेषताओं में समेटा जा सकता है - (i) बुद्धिसंगत या तर्कपूर्ण सत्ता (ii) विभेदीकृत राजनीतिक संरचनाएं तथा (iii) राजनीतिक सहभागिता।

राजनीतिक आधुनिकीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व

(Factors influencing Political Modernization)

राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें अनेक अभिकरणों, माध्यमों व बलों का योगदान निहित है। इन सभी की सूची बनाना कठिन है, क्योंकि से तत्व प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में अलग-अलग भूमिका अदा करते हैं। इनका सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक पक्षों से भी होता है। एक जैसी शासन प्रणाली होने के बावजूद भी राजनीतिक व्यवस्था दो अलग-अलग देशों में अलग-अलग दिशा में राजनीतिक आधुनिकीकरण की तरफ भी जा सकती है। इसके लिए राजनीतिक आधुनिकीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व ही उत्तरदायी हैं। ये तत्व निम्नलिखित हैं :-

(1) **राजनीतिक संरचनाएं :-** राजनीतिक संरचनाएं भी राजनीतिक आधुनिकीकरण को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। जिन राजनीतिक संरचनाओं का स्वरूप परम्परावादी होता है, वहां राजनीतिक आधुनिकीकरण की गति धीमी रहती है। नेपाल में परम्परागत राजनीतिक संरचनाओं के कारण ही वहां पर राजनीतिक आधुनिकीकरण की गति धीमी है। इसके विपरीत भारत में राजनीतिक संरचनाओं की नवीन प्रकृति आधुनिकीकरण की दिशा में राजनीतिक व्यवस्था को ले जा रही है। भूटान तथा मध्यपूर्व के देशों में पाया जाने वाला राजनीतिक संरचनाओं का परम्परागत रूप आज भी राजनीतिक आधुनिकीकरण में बाधक है। इसलिए कहा जा सकता है कि जो राजनीतिक व्यवस्था परम्परागत राजनीतिक संरचनाओं और बन्धनों से जकड़ी हो, वहां पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया देर से आती है। अमेरिका की रजानीतिक व्यवस्था में इसका अभाव होने के कारण वहां तीव्रता से राजनीतिक आधुनिकीकरण हुआ है।

(2) **राजनीतिक संस्कृति :-** राजनीतिक संस्कृति भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की मात्रा को निर्धारित करती है। पराधीन अड़ियल प्रकार की संस्कृति राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक समाजीकरण का मार्ग रोककर उसे आधुनिकता की तरफ जाने से रोकती है। राजनीतिक आधुनिकीकरण पर दीर्घकालीन प्रभाव राजनीतिक संस्कृति का ही पड़ता है। परम्परागत संस्कृति वाले देशों में राजनीतिक आधुनिकीकरण का मार्ग अधिक कठिन होता है, क्योंकि जनता परम्परागत नेत त्व व संरचनाओं से चिपकी रहती है। भारत में स्वतन्त्रता के समय 'हिन्दू कोड बिल' की कुछ व्यवस्थाओं को इस कारण वापिस लेना पड़ा, क्योंकि जनता उनके पक्ष में नहीं थी। ऐसा पराधीन व परम्परागत राजनीतिक संस्कृति के कारण ही हुआ। इसलिए राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप भी राजनीतिक आधुनिकीकरण का महत्वपूर्ण नियामक माना जाता है।

(3) **ऐंतिहासिक काल-नियति :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण ऐतिहासिक काल-नियति के सन्दर्भ में ही सम्भव हो सकता है। किसी भी राजनीतिक परिवर्तन को इतिहास की काल-नियति से अलग करके देखना असम्भव है। किसी भी कार्य को करने के लिए उचित समय होता है। उस समय के विपरीत किया गया कार्य राजनीतिक-व्यवस्था के पतन का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए यदि भारत को स्वतन्त्रता 1857 में मिल जाती तो संविधान निर्माता और उनका द ष्टिकोण बिल्कुल अलग होता जो 1947 में था। यदि भारत का संविधान 1940 के स्थान पर 1980 में बनाया जाता तो भी परिस्थितियां अलग होने के कारण संविधान का स्वरूप अलग ही होता। इसी तरह पंचायती राज अधि ानियम 1992 की बजाय 1948 में बनाया होता तो उसका रूप अलग ही होता। इसलिए राष्ट्रीय इतिहास और विश्व इतिहास की धाराओं का समय-सन्दर्भ राजनीतिक संस्थाओं को आधुनिक बनाने के प्रयास में बाधक व सहायक दोनों ही हैं। इतिहास की धारा से प्रतिकूल जाकर कोई भी परिवर्तन असम्भव है। साम्राज्यवाद का नष्ट होना उसकी ऐतिहासिक अप्रासांगिकता ही थी। अतः ऐतिहासिक काल-नियति भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की निर्धारक हैं।

(4) **राजनीतिक नेत त्व :-** राजनीतिक नेत त्व की प्रकृति भी राजनीतिक आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित या अवरोधित करने वाली दोनों होती हैं। राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रव त्ति राजनीतिक नेत त्व में अभिमुखीकरण पर आधारित है। यदि किसी देश के राजनेता राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए प्रयासरत् हैं तो वहां पर राजनीतिक आधुनिकीकरण को आने से रोका नहीं जा सकता। बंगला देश में राष्ट्रपति शेख मुजीबुर्रहमान ने राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध तथा संसदीय शासन प्रणाली के स्थान पर अध्यक्षात्मक शासन प्रण्णाली को अपनाकर अपने आधुनिकीकरण के पक्ष में विचारों का ही परिचय दिया था। पाकिस्तान में 1962 में मोहम्मद अय्यूबखां द्वारा सैनिक शक्ति के आधार पर सत्ता हथिया लेना और फिर नया संविधान लागू करके चुनाव कराना राजनीतिक आधुनिकीकरण का ही प्रयास कहा जा सकता है। चीन में माओत्से-तुंग द्वारा सांस्कृतिक क्रान्ति को सफल बनाना राजनीतिक आधुनिकीकरण का ही प्रयास था। इसी तरह रूस में लेनिन द्वारा साम्यवादी शासन स्थापित करना राजनीतिक आधुनिकीकरण का ही प्रयास था। इसके विपरीत आज भी एशिया व अफ्रीका में ऐसे देश हैं, जहां राजनीतिक नेत त्व की उदासीनता के कारण ही राजनीतिक आधुनिकीकरण का मार्ग अवरोधित हो रहा है। आज पाकिस्तान में तानाशाही शासक परवेज मुशर्रफ द्वारा सत्ता पर अपना कब्जा बनाए रखना राजनीतिक आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधा है। इस प्रकार की तानाशाही व्यवस्ताएं कई देशों में हैं। इराक व अफगानिस्तान से सैनिक सत्ता को

उखाड़कर नए शासन की स्थापना का ध्येय वहां पर राजनीतिक आधुनिकीकरण लाना ही हो सकता है।

(5) **राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति :-** राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की निर्धारक होती है। लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था वाली राजनीतिक व्यवस्था हमेशा ही राजनीतिक आधुनिकीकरण की तरफ बढ़ाने के प्रयास करती है। इसके विपरीदत सर्वाधिकारवादी या निरंकुश राजनीतिक व्यवस्था का प्रयास हमेशा ही राजनीतिक आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधा पहुंचाना होता है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था में तो निवेश या निर्गत सामाजिक व्यवस्था से ही आते-जाते हैं। इसी कारण जनता व सरकार का निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। इन व्यवस्थाओं में बढ़ती जन-सहभागिता भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की तरफ से जाने वाली होती है। इसके विपरीत सर्वाधिकारवादी व निरंकुश शासन व्यवस्थाएं राजनीतिक आधुनिकीकरण के मार्ग में बाध ा ही समझी जानी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक संरचनाओं की प्रकृति, राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप, ऐतिहासिक काल-नियति, राजनीतिक नेत त्व की प्रकृति तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रमुख नियामक हैं। विकासशील देशों में परम्परागत राजनीतिक संस्कृति व राजनीतिक नेत त्व की उदासीनता के कारण राजनीतिक आधुनिकीकरण का मार्ग बाधित हो रहा है। आज विश्व में अनेक सर्वाधिकारवादी प्रकृति की राजनीतिक व्यवस्थाएं विद्यमान हैं जो राजनीतिक आधुनिकीकरण के भविष्य को अन्धकारमय बना रही है। जब तक विश्व से तानाशाही शासन व्यवस्थाओं को उखाड़कर उन्हें जनप्रिय व्यवस्था में नहीं बदला जा सकता, तब तक राजनीतिक आधुनिकीकरण का विश्वव्यापी रूप हमारे सामने नहीं आ सकता।

राजनीतिक आधुनिकीकरण के अभिकरण

(Agencies of Political Modernization)

राजनीतिक आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें अनेक अभिकरणों की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। इस प्रक्रिया में निम्नलिखित अभिकरण ही अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं :-

(1) **अभिजन वर्ग :-** किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में अभिजनों की सक्रिय भूमिका रहती है। समाज की भौतिक परिस्थितियों, परम्परागत मूल्यों तथा मान्यताओं को नए राजनीतिक परिवेश व आकांक्षाओं के सन्दर्भ मे समाज का अभिजन वर्ग ही उन्हें राजनीतिक आधुनिकीकरण की दिशा में प्रव त्त करता है। अभिजन वर्ग समाज की परम्परागत मान्यताओं को आधुनिकता के रंग में रंगने का प्रयास करता है। विकासशील देशों में इस वर्ग ने पश्चिम की राजनीतिक संरचनाओं को अपनाकर अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने अपनी बौद्धिकता और स जनशीलता के बल पर राजनीतिक आधुनिकीकरण के नये आयाम स्थापित किए हैं। सत्ता के वास्तविक धारक होने के कारण इस वर्ग की ही भूमिका राजनीतिक आधुनिक के अनुकूल रही है। राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्यों, गन्तव्यों और साध्यों के विकल्प इसी वर्ग द्वारा सुझाए जाते हैं ताकि राजनीतिक शक्ति को संरचनात्मक स्वरूप दिया जा सके। अभिजनवर्ग ही बदलती सामाजिक आवश्यकताओं को पहचानकर उनका राजनीतिक व्यवस्था में अनुसरण करके राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है। जिन देशों में अभिजन वर्ग ने सामाजिक परिवर्तन के प्रति अरुचि दिखाई है,

वहां की राजनीतिक व्यवस्थाओं का पतन हुआ है। इसी कारण अभिजन वर्ग को राजनीतिक व्यवस्था की जीवन शक्ति भी कहा जाता है। इस वर्ग की राजनीतिक व्यवस्था में भूमिका नकारात्मक व सकारात्मक दोनों हो सकती हैं। अतः राजनीतिक आधुनिकीकरण को गति देने वाला प्रमुख अभिकरण अभिजन वर्ग ही है।

(2) **सरकार** :- सरकारों की भी राजनीतिक आधुनिकता के अभिकरण के रूप में विशेष भूमिका है। राजनीतिक व्यवस्था के सभी कार्यों की शुरुआत सरकारों के द्वारा ही होती है। आधुनिक युग में सरकारों का स्वरूप राजनीतिक आधुनिकीकरण लाने में अधिक सक्षम है, क्योंकि सरकारों के पास बाध्यकारी शक्ति होती है। सरकार की इस शक्ति के कारण राजनीतिक आधुनिकीकरण के सभी कार्य प्राथमिकता प्राप्त कर सकते हैं। सरकारें ही आधुनिकीकरण की प्रव त्तियों को पहल व प्रश्रय देती हैं और उनका नेत त्व करती हैं। सरकारें ही आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक क्षेत्रों में प्रगति के द्वार खोलकर राजनीतिक आधुनिकीकरण की प ष्ठभूमि तैयार करती है। राजनीतिक सहभागिता के नए आयाम सरकारों की इच्छा के ही प्रतिफल हैं। प्रतिनिधि संस्थाओं में जनता की बढ़ती भागीदारी आज राजनीतिक शक्ति की इच्छा का ही परिणाम है। आधुनिक सरकारों ही कल्याणकारी कार्यों को शुरु करके राजनीतिक आधुनिकीकरण की दिशा निर्धारित करती है। अतः शासन प्रणाली या सरकारें भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रमुख अभिकरण हैं।

(3) **राजनीतिक दल :-** राजनीतिक आधुनिकीकरण के अभिकरण के रूप में राजनीतिक दलों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल ऐसे अनेक कार्य करते हैं जिससे राजनीतिक आधुनिकीकरण को बढ़ावा मिलता है। राजनीतिक व्यवस्था का कुशल संचालन राजनीतिक दलों की भूमिका पर ही निर्भर करता है। नियम-निर्माण, प्रयोग एवे अधिनिर्णय में राजनीतिक दल अपनी सकारात्मक भूमिका अदा करते हैं। सर्वाधिकारवादी देशों में तो साम्यवादी दल ही राजनीतिक आधुनिकीकरण का नियामक होता है। राष्ट्रीय हित के अनुकूल विचारधारा विकसित करने तथा जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में राजनीतिक दलों का ही महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यही राजनीतिक चेतना जनसहभागिता में व द्धि करके लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है।

(4) **विचारधारा** :- किसी भी राजनीतिक समाज को एकता के सूत्र में बांधने के लिए विचारधारा महत्वपूर्ण कार्य करती है। विचारधारा को अमली जामा पहचाने का कार्य राजनीतिक दल व हित समूह करते हैं। विचारधारा के आधार पर सामाजिक परिर्तन की प्रक्रिया को दिशा देने और प्राथमिकताओं का निर्धारण किया जाता है। राजनीतिक दलों के माध्यम से विचारधारा राजनीतिक आधुनिकीकरण का अभिकरण बन जाती है। इससे व्यक्तियों की अभिव त्तियों में आसानी से परिवर्तन किया लाया जा सकता है। राष्ट्रीय अभिज्ञान, राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक सहभागिता व राष्ट्रीय हित के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने में विचारधारा का विशेष योगदान होता है। इस वैचारिक परिवर्तन को बुद्धिजीवी वर्ग ही विशेष दिशा प्रदान करता है ओर उसे राजनीतिक व्यवस्था में स्थान दिलाता है। बुद्धिजीवी वर्ग की चेतना का प्रतिफल राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक दलों के माध्यम से राजनीतिक आधुनिकीकरण का महत्वपूर्ण अभिकरण बन जाती है।

(5) **संचार साधन :-** आधुनिक समय में जनसंचार के साधन जनता को राजनीतिक गतिविधियों से परिचित कराके उनको राजनीतिक समाजीकरण की तरफ मोड़ते हैं। राजनीतिक समाजीकरण की अवस्था में पहुंचकर जनता राजनीतिक आधुनिकीकरण की गतिविधियों की आवश्यकता समझने लगती है और राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति मिलती है।

(6) **वैज्ञानिक एवं शैक्षिक विकास :-** आधुनिक युग में हुई वैज्ञानिक प्रगति व शैक्षिक विकास ने भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तेज किया है। तकनीकी विकास का परिणाम संचार साधन आज राजनीतिक व्यवस्था में रचनात्मक परिवर्तन और नूतन प्रव त्तियों के वाहक बन गए हैं। इनसे मनुष्य एक दूसरे के काफी निकट आ गया है, जहां राजनीतिक घटनाओं की जानकारी से बच पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। इस तकनीकी व शैक्षिक विकास ने व्यक्तियों के चिन्तन को बदलकर राजनीतिक आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण में राजनीतिक दलों, विचारधारा, सरकार, अभिजन वर्ग, शैक्षिक संस्थाओं तथा जनसंचार के साधनों का विशेष योगदान है। आज सरकारों का बदलता स्वरूप राजनीतिक आधुनिकीकरण के नए आयाम स्थापित कर रहा है। आज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में कुछ बाधाएं अवश्य हैं, जिसके कारण ये अभिकरण राजनीतिक आधुनिकीकरण को घोषित दिशा में ले जोन में सफल नहीं हो रहे हैं। ऐसी समस्याएं अविकसित व विकासशील देशों में ही अधिक हैं। अमेरिका स्थित अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र की रिपोर्ट में कहा गया है-"परिवर्तन के विस्तार एवं प्रगति के सम्बन्ध में अस्पष्टता, भूतकालीन परम्परावादी प्रभाव, परम्परावादी तत्वों द्वारा आधुनिकीकरण के लिए राजनीतिक प्रतिरोध, आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त पूंजी का अभाव व सामाजिक संघर्ष राजनीतिक आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधाएं हैं।" यदि आधुनिकीकरण के मार्ग में आने वाली इन बाधाओं का निराकरण कर दिया जाए तो राजनीतिक आधुनिकीकरण के सभी अभिकरण अनुकूल दिशा में काम करने लगेंगे और राजनीतिक आधुनिकीकरण का भविष्य उज्ज्वल हो जाएगा।

राजनीतिक आधुनिकीकरण पर एडवर्ड शिल्स के विचार

(Adward Shill's views on Political Modernization)

एडवर्ड शिल्स को राजनीतिक आधुनिकीकरण प्रमाणित व्याख्याकार माना जाता है। शिल्स ने अपनी पुस्तक 'Political Modernization' में आधुनिकीकरण की व्याख्या करते हुए राष्ट्रों के पांच प्रतिमान विकसित किए हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार ही राजनीतिक आधुनिकीकरण को सही ढंग से समझा जा सकता है। शिल्स के अनुसार राजनीतिक आधुनिकीकरण के अनुसार राष्ट्रों के पांच प्रतिमान निम्नलिखित हैं :-

(I) राजनीतिक लोकतन्त्र (Political Democracy)

(II) नाममात्री या अधिष्ठात लोकतन्त्र (Tutelary Democracy)

(III) आधुनिकीकरणशील वर्गतन्त्र (Modernizing Oligarchy)

(IV) सर्वाधिकारी वर्गतन्त्र (Totalitarian Oligarchy)

(V) परम्परागत वर्गतन्त्र (Traditional Oligarchy)

(I) राजनीतिक लोकतन्त्र (Political Democracy) :- यह प्रतिमान राजनीतिक व्यवस्था के सर्वोत्तम रूप का प्रतिनिधि है जिसकी तरफ आधुनिकीकरणशील राष्ट्र उन्मुख है। इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में पाई जाती है। शिल्स ने इसे प्रतिनिधितात्मक संस्थाओं और सार्वजनिक स्वतन्त्रता के माध्यम से नागरिक शासन के रूप में परिभाषित किया है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) सार्वभौम व्यस्क मताधिकार।

(2) राजनीतिक दलों की अनिवार्यता।

(3) सत्ता का कानूनी रूप।

(4) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता।

(5) लोकतांत्रिक आत्मनियन्त्रण व संविधानिक सरकार।

(6) प्रशिक्षित व संगठित लोक सेवाएं।

(7) कानून का शासन

(8) लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति वचनबद्धता।

उपरोक्त सभी लक्षणों वाली राजनीतिक व्यवस्था ही राजनीतिक लोकतन्त्र के प्रतिमान पर खरी उतरती है।

(II) नाममात्री या अधिष्ठात लोकतन्त्र (Tutelary Democracy) :- इसे संरक्षक लोकतन्त्र भी कहा जाता है। यह राजनीतिक व्यवस्था का दूसरा श्रेष्ठ रूप है। यह राजनीतिक लोकतन्त्र से इस बात में भिन्न है कि इसमें राजनीतिक लोकतन्त्र की संरचनात्मक व्यवस्थाएं व्यवहारिक रूप में सक्रिय नहीं रहती। इसमें वास्तविक सत्ता कार्यपालिका के हाथ में होती है। यह व्यवस्था उन देशों का अनुकरण करने की कोशिश करती है जहां राजनीतिक लोकतन्त्र है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) कार्यपालिका की श्रेष्ठता।

(2) विधायिका पर कार्यपालिका का नियन्त्रण।

(3) विरोध की व्याख्या।

(4) सक्षम व वफादार नौकरशाही।

(5) कानून का शासन।

ये विशेषताएं इस व्यवस्था में नाममात्र की ही रहती हैं। व्यवहार में तो नागरिक स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। प्रैस की स्वतन्त्रता पर रोक लगा दी जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था राजनीतिक प्रजातन्त्र की परिस्थितियों के अभाव में ही अपनाई जाती है।

(III) आधुनिकीकरणशली वर्गतन्त्र (Modernizing Oligarchy) :- यह व्यवस्था पूर्ण रूप से अलोकतांत्रिक होती है। इसकी स्थापना नागरिक और असैनिक दोनों ही क्षेत्रों में हो सकती है। इसमें सरकार सैनिक शक्ति पर ही टिकी हेाती है और सदा विरोध और विद्रोह का भय बना रहता है। यह परम्परागत वर्गतन्त्र से अधिक है। इस राजनीतिक व्यवस्था की बागडोर या तो असैनिकों के हाथों में हो सकती है जिनका सैनिकों पर नियन्त्रण है या उच्च सैनिक अधिकारियों के हाथों में हो सकती है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था को औचित्यपूर्ण बनाए रखने के लिए सैनिक शासक और गैर सैनिक जनता का भी सहयोग ले सकते हैं। इसकी प्रमुखत विशेषताएं निम्नलिखित होती हैं :-

(1) इसमें संसद नाममात्र की संस्था होती है।

(2) इसमें विरोधी पक्ष को अवैध माना जाता है।

(3) निष्पक्ष व स्वतन्त्र चुनावों का अभाव होता है।

(4) सार्वजनिक संचार के साधनों पर नियन्त्रण रहता है।

(5) नौकरशाही की स्थिति अधिक मजबूत रहती है।

(6) कानून के शासन व निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका का अभाव होता है।

(IV) सर्वाधिकारी वर्गतन्त्र (Totalitarian Oligarchy) :- इसका सम्बन्ध फासीवाद तथा नाजीवाद जैसी शासन-व्यवस्थाओं से होता है। चीन की साम्यवादी व्यवस्था इसका उदाहरण है। यह

व्यवस्था तानाशाही शासन की सूचक है। इसमें मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं होता। यह एक दलीय शासन व्यवस्था का प्रतिफल है। इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं :-

(1) वर्ग व जाति जैसी विशेषता के आधार पर सत्ता का किसी वर्ग विशेष में केन्द्रित होना।

(2) अनुशासित व सुसंगठित अभिजन वर्ग।

(3) साम्यवादीदल की सर्वोच्चता।

(4) विधि के शासन, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका तथा विरोधी दल का अभाव।

(5) साम्यवादी विचारधारा का विकास।

(6) संसदीय संस्थाओं का प्रदर्शनात्मक उद्देश्य।

(V) परम्परागत वर्गतन्त्र (Traditional Oligarchy) :- यह व्यवस्था परम्परागत धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित शक्तिशाली राजतन्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित होती है। इसके अन्तर्गत शासक वर्ग वंशानुगत आधार पर नियुक्त किया जाता है। इसमें कोई विधायिका नहीं होती। शासक वर्ग ही कानून का निर्माता होता है। इसमें जनसेवा का कोई महत्व नहीं होता है। सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था सामन्तवाद पर आधारित होती है। इस शासन में जन-सहभागिता का अभाव पाया जाता है। इस व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होती हैं :-

(1) इसमें शासक वर्ग राजनीतिक सत्ता का प्रयोग स्वयं द्वारा चुने हुए सलाहकारों की मदद से करता है।

(2) इसमें नौकरशाही न के बराबर होती है।

(3) इसमें शासक अपने शासन को चलाने के लिए सीमित व कुशल सेना व पुलिस की व्यवस्था करता है।

(4) यह व्यवस्था सामन्तवादी होती है। क्षेत्रीय स्तर पर छोटे छोटे शासक होते हैं।

(5) इसमें विरोधी पक्ष का अभाव होता है।

(6) इसमें जनमत का निर्माण करने वाली संस्थाएं नहीं होती।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि एडवर्ड शिल्स ने जिन पांच प्रतिमानों का जिक्र किया है, उससे पता चलता है कि आज सभी व्यवस्थाएं किसी न किसी तरह एडवर्ड शिल्स के वर्गीकरण के अन्तर्गत आ जाती है। यद्यपि ऐसा वर्गीकरण एप्टर व कार्टसीकी ने भी किया है, लेकिन शिल्स का वर्गीकरण ही अधिक प्रामाणिक है। इस वर्गीकरण के तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में नया अध्याय जोड़ा है। इससे तुलनात्मक अध्ययन अधिक वैज्ञानिक बन गया है। इसलिए शिल्स के राजनीतिक आधुनिकीकरण के विचार को अधिक यथार्थवादी व वैज्ञानिक माना जाता है।

राजनीतिक आधुनिकीकरण व राजनीतिक विकास में अन्तर

(Difference between Political Modernization and Political Development)

कुछ विद्वानों का मानना है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा आधुनिकीकरण की अवधारणा की अपेक्षा संकुचित है। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही एक भाग है। उसका क्षेत्र केवल राजनीतिक है। राजनीतिक विकास एक लक्ष्योन्मुख प्रक्रिया है जिसे अपना गन्तव्य या लक्ष्य ज्ञात है, जबकि आधुनिकीकरण विभिन्न दिशाओं में लाया जाने वाला व्यापक परिवर्तन है तथा एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। लेकिन राजनीतिक आधुनिकीकरण धारणा राजनीतिक विकास के अधिक निकट है। राजनीतिक आधुनिकीकरण की धारणा भी आधुनिकीकरण से निकट का सम्बन्ध रखती है। इसलिए राजनीनितक विकास तथा राजनीतिक

आधुनिकीकरण दोनों का सम्बन्ध आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में राजनीतिक विकास एक आश्रित चर बनकर रह जाता है। लेकिन कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि राजनीतिक विकास आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। इसी कारण आधुनिकीकरण को एक समाजशास्त्रीय विचारधारा माना जाता है तथा राजनीतिक विकास को राजनीतिक विचारधारा माना जाता है। आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तनों की सम्पूर्ण व्यवस्था का विश्लेषण है। राजनीतिक विकास केवल राजनीतिक सरंचनाओं एवं प्रक्रियाओं पर पड़ने वाले तीव्र सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों से सम्बन्ध रखता है। वह केवल उन राजनीतिक संरचनाओं और शक्तियों में रुचि रखता है जो विकासात्मक परिवर्तनों का कार्यान्वित करने में अहम् भूमिका अदा करते हैं। राजनीतिक आधुनिकीकरण भी इन्हीं पक्षों में रुचि लेता है, लेकिन सामान्य आधुनिकीकरण का एक भाग बनकर। यद्यपि राजनीतिक विकास की समाजशास्त्रीय धारणा राजनीतिक आधुनिकीकरण से मिलता हे, लेकिन उसकी वैज्ञानिक धारणा उससे काफी भिन्न है। यह राजनीति, राजनेताओं व राजनीतिक संस्थाओं को स्वतन्त्र स्थान प्रदान करती है। तुलनात्मक द ष्टि से राजनीतिक आधुनिकीकरण विकास से अधिक व्यापकतर अवधारणा मानी जाती है। इस द ष्टि से राजनीतिक विकास अधिक प्रगतिशील, गत्यात्मक एवं संकल्पनात्मक धारणा है।

हंटिगटन के अनुसार राजनीतिक विकास और आधुनिकीकरण में अन्तर है। उसकी द ष्टि में राजनीतिक विकास आधुनिकीकरण लाने वाली प्रक्रियाओं और संरचनाओं से सम्बन्ध रखता है। जाम्वाराइब ने भी राजनीतिक विकास और राजनीतिक विकास की अवधारणा राजनीतिक आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक ओर सर्वग्राही है, जबकि हंटिगटन के अनुसार राजनीतिक विकास की अवधारणा आधुनिकीकरण से तो भिन्न है, लेकिन राजनीतिक आधुनिकीकरण से सम्बन्ध रखती है। जाग्वाराइब ने लिखा है-"राजनीतिक विकास एक प्रक्रिया के रूप में राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक संस्थाकरण का योग है। जाग्वाराइब के बाद आईजेन्सटाड ने भी राजनीतिक विकास को अधिक व्यापक अवधारणा माना है। लेकिन वे राजनीतिक आधुनिकीकरण को अधिक व्यापक अवधारणा मानने को तैयार नहीं हैं। ऑमण्ड तथा ल्यूशियन पाई ने भी राजनीतिक विकास के लक्ष्य व उपलक्षण बताकर इसे आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक धारणा माना है। आइजेन्सटाड के अनुसार प्रकार्यात्मक द ष्टि से राजनीतिक आधुनिकीकरण के तीन लक्षण हैं - (क) विभेदीकृत राजनीतिक संस्थाएं (ख) केन्द्र सरकार की गतिविधियों का विस्तार तथा (ग) परम्परागत अभिजनों का शक्तिहीन होना। जाग्वाराइब का कहना है कि राजनीतिक विकास में राजनीतिक आधुनिकीकरण के अलावा भी संस्थाओं और संरचनाओं का संस्थाकरण हो जाता है। उसका कहना है कि इसमें भूमिका विभेदीकरण, उपव्यवस्था स्वायत्तता और लौकिकीकरण के लक्षण भी होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण से आगे निकल जाता है। राजनीतिक विकास में जो विभेदीकरण होता है वह भिन्न व व्यापक आधार लिए रहता है। पाई ने भी राजनीतिक विकास के लक्षण समानता, क्षमता और विभेदीकरण को बताकर इसे राजनीतिक आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक बना दिया है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास तथा राजनीतिक आधुनिकीकरण में से किसे व्यापक अवधारणा माना जाए, यह विवाद का विषय है। जहां जाग्वाराइब व ऑमण्ड राजनीतिक विकास की व्यापक अवधारणा बना देते हैं, वहीं पाई के विचारों के आधार पर राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा सीमित अवधारणा बनकर रह जाती है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस बात का खण्डन भी किया है कि राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण से व्यापक अवधारणा नहीं हो सकती। उनका कहना है कि यदि राजनीतिक विकास का अर्थ केवल पाई द्वारा बताए गए लक्षणों - समानता, क्षमता व विभेदीकरण को ही मान लिया जाए तो यह काफी सीमित अवधारणा बनकर रह जाती है। लेकिन इस वाद-विवाद में न पड़कर उपरोक्त विवेचन के

आधार पर राजनीतिक विकास व राजनीतिक आधुनिकीकरण में स्पष्ट तौर पर दिखाई देने वाले अन्तर को ही देखना चाहिए। यद्यपि दोनों अवधारणाएं आपस में कुछ साम्य भी रखती हैं, क्योंकि दोनों ही नवीन अवधारणाएं हैं जिनका जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ है। दोनों ही अवधारणाएं आधुनिकीकरण से सम्बन्ध रखती हैं, लेकिन फिर भी दोनों में निम्नलिखित अन्तर द ष्टिगोचर होते हैं :-

(1) राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा एक संकुचित व सीमित अवधारणा है, जबकि राजनीतिक विकास की अवधारणा राजनीतिक आधुनिकीकरण से व्यापक है।

(2) राजनीतिक विकास की प्रक्रिया उल्टनीय हो सकती हैं, जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सदैव सीधी होती है और यह कभी उल्टनीय नहीं हो सकती।

(3) राजनीतिक विकास की अवस्थाएं सुनिश्चित होती हैं, जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण में क्रम और प्रतिमान ही होते हैं, सुनिश्चित अवस्थाएं नहीं।

(4) राजनीतिक विकास में होने वाले विकास पतन भी हो सकते हैं, लेकिन आधुनिकीकरण तो आधुनिककीकरण ही रहता है।

(5) राजनीतिक विकास तो कभी-कभी स्थैतिक भी हो सकता है, लेकिन राजनीतिक आध ुनिकीकरण कभी स्थैतिक नहीं होता।

(6) राजनीतिक विकास, विकास प्रक्रिया से स्वतन्त्र होता है, जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से स्वतन्त्र न होकर उसका एक महत्वपूर्ण भाग होता है।

(7) राजनीतिक विकास, राजनीतिक प्रक्रियाओं और राजनीति का संस्थापन है, जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण का सम्बन्ध अधिकतर राजनीतिक संरचनाओं से ही रहता है, संस्थाओं से नहीं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण बुद्धिसंगदतता, विभिन्नीकरण, सहभाग तथा सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित है, जबकि राजनीतिक विकास राज व्यवस्था के औपचारिक स्वरूप व क्षमता पर अधिक जोर देता है। राजनीतिक आधुनिकीकरण में मुख्यतः औद्योगिकरया के द्वारा सामाजिक परिवर्तन शामिल किया जाता है, जबकि राजनीतिक विकास का आधार संस्थाकरण ही होता है, जिसके कारण राज-व्यवस्थाएं जनता की मांगों को पूरा करती है, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक संस्थापन का योग है। जहां राजनीतिक विकास की धारणा विकसित व व्यापक है, वहीं राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा सीमित है। जहां विकास की प्रक्रिया से राजनीतिक विकास स्वायत्त होता है, वहीं राजनीतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकीकरण चिपका रहता है। अतः निःसन्देह ही राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा से अधिक व्यापक है।

अध्याय-10
राजनीतिक संस्कृति
(Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में बिल्कुल नई संकल्पना है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक विश्लेषकों ने यह पता लगाने का प्रयास किया कि समान राजनीतिक संरचनात्मक ढांचे वाली राजनीतिक व्यवस्था में अन्तर क्यों आ जाता है तथा राजनीतिक विकास की दिशाएं भी अलग-अलग क्यों हो जाती है। इसके लिए राजनीतिक विश्लेषकों ने भारत, फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन, पाकिस्तान,घाना, मिश्र आदि विकसित व विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन शुरु किया और अन्त में चौंकाने वाले निष्कर्ष निकाले। राजनीतिक विश्लषकों ने राज-व्यवस्थाओं का जिस निष्ठा व गहराई के साथ अवलोकन किया, उसी के कारण यह तथ्य उभरकर हमारे सामने आया कि राजनीतिक विकास की विभिन्न दिशाओं में जाने का कारण इन देशों की राजनीतिक विकास की विभिन्न दिशाओं में जाने का कारण इन देशों की राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप है। पराधीन राजनीतिक संस्कृति के कारण विकासशील देशों का राजनीतिक विकास राजनीतिक व्यवस्था के मार्ग में बाधा बन रहा है, जबकि विकसित व सहभागी राजनीतिक संस्कृति विकसित देशों में राजनीतिक विकास को राजनीतिक व्यवस्था के विकास के अनुकूल बना रही है। इस प्रकार धीरे धीरे राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा राजनीति विज्ञान की लोकप्रिय अवधारण बन गई और राजनीतिक विकास के समाजवैज्ञानिक पहलुओं का आधार भी। इसी कारण लुसियन पाई ने लिखा है-"प्रत्येक विशिष्ट समाज में एक सीमित और स्पष्ट राजनीतिक संस्कृति होती है जो राजनीतिक प्रक्रिया को अर्थ, स्वरूप और ढांचा प्रदान करती है।" कुछ ही समय में राजनीति विज्ञान में पारसन्स, मैनहीन, सिडनी बर्मा, लुसियन पाई, ऑमण्ड, बीर, उलम आदि विद्वानों ने राजनीतिक संस्कृति को राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक विश्लेषण का मेरुदण्ड बना दिया। आज राजनीतिक संस्कृति ही एकमात्र ऐसी अवधारणा है जो राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन का विकसित द ष्टिकोण प्रस्तुत करने में सक्षम है।

राजनीतिक संस्कृति का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा, संस्कृति के विचार पर आधारित है। संस्कृति में किसी देश के लोगों के व्यवहार, मान्यताएं, विश्वास, घ णा, स्वामिभक्ति, साहित्य, परम्पराएं, कला-कौशल, सामाजिक मूल्य, नैतिकता आदि बातें शामिल होती हैं। ग्राहम वालास के अनुसार-"संस्कृति विचारों, मूल्यों और उद्देश्यों का समूह है।" इसी तरह राजनीतिक विद्वानों ने राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक समाज के मूल्यों, विचारों व आदर्शों का समूह कहा है। इस अवधारणा को सबसे पहले ऑमण्ड ने 1956 में प्रयुक्त किया था। सामान्य तौर पर राजनीतिक संस्कृति किसी राज्य के अन्दर बसने वाले लोगों की उन सामूहिक अन्तर्भावनाओं का नाम है जिन्हें राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिक्रियाओं के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसे विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने ढंग से निम्न तरह से परिभाषित किया है :-

(1) लूशियन पाई के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति उन अभिव तियों, विश्वासों तथा मनोभावों का सेट या समुच्चय है, जो राजनीतिक प्रक्रिया को अर्थ व सुव्यवस्था प्रदान करता है। वह राजव्यवस्था के व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली अन्तर्निहित पूर्वधारणाओं तथा नियमों की भी व्याख्या करता है।"

(2) ऑमण्ड व पॉवेल के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति किसी भी राजनीतिक प्रणाली के सदस्यों में राजनीति के प्रति व्यक्तियों के व्यवहारों तथा अभिमुखीकरण की पद्धति है।"

(3) फाईनर के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति मुख्यतः शासकों, राजनीतिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं की वैधता से सम्बन्धित है।"

(4) ए०आर० बाल के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति उन अभिव तियों और विश्वासों, भावनाओं और समाज के मूल्यों से मिलकर बनती है जिनका सम्बन्ध राजनीतिक पद्धति तथा राजनीतिक प्रश्नों से रहता है।"

(5) पारसन्स के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति का सम्बन्ध राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति किया गया अनुकूलन है।"

(6) राय मैक्रीडस के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एक मानव-समूह के द्वारा स्वीकृत सामान्य लक्ष्यों और सामान्य नियमों से होता है।"

(7) सिडनी वर्बा के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति में अनुभववादी विश्वासों, अभिव्यकतात्मक प्रतीकों और मूल्यों की वह व्यवस्था शामिल है जो उस दशा को परिभाषित करती है जिसमें राजनीतिक क्रिया सम्पन्न होती है।"

(8) नेटल के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति का अर्थ राज्यसत्ता से सम्बन्धित ज्ञान मूल्यांकन और संचारण के प्रतिमान या प्रतिमानों से है।"

(9) डेविज व लेविस के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति किसी निर्दिष्ट समाज के अन्दर राजनीतिक कार्यों के प्रति अभिमुखीकरण की पद्धति है।"

(10) रोवे के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति व्यक्तिगत मूल्यों, विश्वासों तथा संवेगात्मक अभिव तियों का प्रतिमान है।"

(11) रोज एवं डोगन के अनुसार-"राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा ऐसे मूल्यों, विश्वासों और मनोभावों को संक्षेप में व्यक्त करने की सुविधाजनक रीति है, जो राजनीतिक जीवन को अर्थ प्रदान करती है।"

(12) बीयर व उलम के अनुसार-"समाज की सामान्य संस्कृति के कई पहलुओं का सम्बन्ध इस बात से होता है कि सरकार किस प्रकार चलाई जानी चाहिए और इसे क्या करने की कोशिश करनी चाहिए। संस्कृति के इस क्षेत्र को हम राजनीतिक संस्कृति कहते हैं।"

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों की अभिव ति व रुचि है जो राजनीतिक विश्वास की भावना पर आधारित है।

राजनीतिक संस्कृति के संघटक

(Components of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक समाज के लोगों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अभिरुचियों, मूल्यों व राजनीतिक समाज के लोगों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अभिरुचियों, मूल्यों व विश्वासों पर आधारित है। राजनीतिक संस्कृति में आत्मपरकता का गुण होने के कारण यह

व्यक्तिगत अभिविकास या अनुकूलन का हिस्सा होती है। यह अनुकूलन ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा मूल्यात्मक होता है। ज्ञानात्मक अनुकूल का सम्बन्ध लोगों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जानकारी से, भावनात्मक अनुकूलन का सम्बन्ध लोगों के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों व निर्णयों से होता है। इस अनुकूलन की द ष्टि से राजनीतिक व्यवस्था के तीन घटक होते हैं-मूल्य, विश्वास और संवेदनात्मक अभिव त्तियां। प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्कृति का निर्माण इन्हीं घटकों से होता है। इन घटकों की अनुक्रिया ही किसी राजनीतिक व्यवस्था को सामान्य या विशिष्टता की तरह ले जाती है। इसी कारण राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति का नियामक कहा जाता है। राजनीतिक संस्कृति के घटकों का मूल्यांकन करके ही राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति का भी निर्धारण किया जा सकता है। ये घटक निम्नलिखित हैं :-

(1) **मूल्य अभिव त्तियां (Value Preferences) :-** प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक बातों में रुचि रखने वाले सदस्य व्यवस्था के मूल्यों से अवश्य प्रभावित होते हैं। ये अभिव तियां राजनीतिक समाज के सार्वजनिक लक्ष्यों से सम्बन्धित विश्वास व आस्थाएं होती हैं। प्रत्येक राजनीतिक समाज में कुछ राजनीतिक मूल्य होते हैं, जैसे एक निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन होने चाहिए; जनता का विश्वास खो देने पर सरकार को अपना पद छोड़ देना चाहिए, किसी व्यक्ति को कानून के बाहर कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिए। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोगों की रुचि इन मूल्यों में समान हो। किसी की रुचि तो सामाजिक न्याय व समानता में हो सकती है, किसी की रुचि राजनीतिक स्थिरता में हो सकती है तथा किसी की कानून के शासन में हो सकती है। इसलिए राजनीति संस्कृति के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली या व्यवहार में भिन्नता का कारण मूल्य अभिरुचियों में पाया जाने वाला अन्तर है। जब जनता तथा शासक वर्ग की मूल्य अभिव तियां असमान हो जाती हैं तो राजनीतिक व्यवस्था पर संकट के बादल छा जाते हैं।

(2) **विश्वास अभिव तियां (Belief Preferences) :-** जनता की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास की अभिव तियां राजनीतिक मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। इसके अन्तर्गत वे अभिरुथ्चयां हैं कि लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास की मात्रा तथा प्रकृति क्या है। किसी व्यक्ति को वोट डालने में विश्वास हो सकताहै तथा किसी का नहीं। इस विश्वास के आधार पर ही शासक व शासित बने पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इसी विश्वास में अन्तर आ जाने पर राजनीतिक संस्कृतियों में मात्रात्मक अन्तर आ जाता है और जनता का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास का स्वरूप भी बदल जाता है। इसी से राजनीतिक व्यवस्था का संचालन प्रभावित होता है। अतः राजनीतिक विश्वास ही राजनीतिक संस्कृति के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था का नियामक व संचालन बना रहता है।

(3) **संवेदनात्मक अभिव तियां (Sentimental Preferences) :-** इसका सम्बन्ध लोगों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मनोव तियों या मनोभावों से होता है। किसी व्यक्ति को तो अपने देश या व्यवस्था पर गर्व हो सेता है तो किसी को घ णा भी हो सकती है। किसी देश में दबाव समूहों को हेय द ष्टि से देखा जाता है तो किसी देश में उसका सम्मान किया जाता है। 1971 में भारत-पाक विभाजन भी संवेदनात्मक मनोव ति का परिणाम था। ब्रिटेन में लोगों का संसदीय शासन प्रणाली में विश्वास है और वे उसको सम्मान की द ष्टि से देखते हैं, जबकि भारत में संसदीय शासन प्रणाली के प्रति लोगों का द ष्टिकोण अधिक अच्छा नहीं है। इसका प्रमुख कारण संवेदनात्मक अभिव तियों में पाया जाने वाला अन्तर ही है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति संस्कृति के घटकों में पाया जाने वाला अन्तर राजनीतिक संस्कृति में मात्रात्मक भेद पैदा करता है और यही भेद आगे चलकर राजनीतिक व्यवहार की भिन्नता के रूप में प्रकट होता है।

राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति व विशेषेताएं

(Nature and Features of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति एक विकासशील व गत्यात्मक अवधारणा है। इसकी प्रकृति परिवर्तनशील तथा विकासोन्मुखी होती है। इसका निर्माण ऐतिहासिक विकास की प ष्ठभूमि में होता है। राजनीतिक व्यवहार और राजनीतिक संस्कृति का आपस में गहरा सम्बन्ध है। इससे व्यक्ति और समूह के राजनीतिक आचरण का बोध होता है। यह प्रगतिशील और समन्वयकारी होने के कारण रुढ़िवादी समाज की सांस्कृतिक विरासत होती है। यह राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले दबाव समूह व राजनीतिक दलों की गतिविधियों से भी काफी प्रभावित होती रहती है। इसके ऊपर कुछ आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक संस्कृति में समयानुसार परिवर्तन, संशोधन, सुधार एवं विकास होता रहता है। राजनीतिक संस्कृति का विशेष स्वभाव इसकी गतिशीलता है, जड़ता नहीं। एक राजनीतिक संस्कृति कई उप-संस्कृतियों को भी समेटे रखती है। इसे राजनीतिक एकता के प्रतीक के रूप में भी देखा जाता है। इसके अनेक रूप होते हैं और यह राजनीतिक व्यवहार को अंगीकार करने में सक्षम होती है। राजनीतिक संस्कृति की इस प्रकृति को इसकी विशेषताओं में भी देखा जा सकता है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) राजनीतिक संस्कृति एक व्यक्तिपरक धारणा है, क्योंकि इसमें लोगों के विचारों विश्वासों व मूल्यों का अध्ययन किया जाता है।

(2) राजनीतिक संस्कृति एक व्यापक धारणा है, क्योंकि यह राजनीतिक व्यवहार के अनेक तत्वों को अपने में समेटे रहती है।

(3) राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का ही एक अंश होती है, क्योंकि इसमें लोगों के राजनीतिक मूल्य व विश्वास ही शामिल होते हैं।

(4) राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में अलग-अलग होता है, क्योंकि राजनीतिक संस्कृति के घटकों को प्रत्येक देश में अन्तर पाया जाता है।

(5) राजनीतिक संस्कृति एक अमूर्त नैतिक अवधारणा है।

(6) राजनीतिक संस्कृति एक गत्यात्मक व परिवर्तनशील अवधारणा है।

(7) राजनीतिक संस्कृति व राजनीतिक विकास में गहरा सम्बन्ध होता है।

(8) राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक समाजीकरण व आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को भी प्रभावित करती है। अड़ियल प्रकार की राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक आधुनिकीकरण, समाजीकरण व विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देती है।

(9) भूगोल, परम्पराएं, इतिहास, आदर्श, जीवन मूल्य, जलवायु, सामाजिक तथा आर्थिक तत्व, राष्ट्रीय प्रतीक आदि तत्व राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में योगदान देते हैं।

(10) राजनीतिक संस्कृति जन-सामान्य के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती है।

राजनीतिक संस्कृति के प्रकार

(Types of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति में पाई जाने वाली मात्रात्मक विशेषताएं अपने अनेक रूपों का परिचय स्वयं ही दे देती हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लगाव, विश्वास व मूल्य अलग अलग ढंग का होता है। कहीं पर लोग राजनीतिक व्यवस्था के प्रति गहरा लगाव रखते हैं और राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय सहभागिता रखते हैं तो कहीं पर इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। राजनीतिक समाज के सदस्यों की राजनीतिक सहभागिता ही प्रायः राजनीतिक

संस्कृति की प्रतीक का निर्धारण करती है। निरन्तरता या सातत्य की द ष्टि से राजनीतिक संस्कृति परम्परागत व आधुनिक दो प्रकार की हो सकती है। जहां परम्पर व आधुनिकता में संघर्ष चलता रहता है वहां पर राजनीतिक संस्कृति का नवीन रूप भी अस्तित्व में आ जाता है जिसे मिश्रित संस्कृति कहा जा सकता है। विचारवादियों की द ष्टि में राजनीतिक संस्कृति-प्रजातन्त्रीय, साम्यवादी, समाजवादी व एकतन्त्रवादी हो सकती है। भौगोलिक आध ार पर यह पर्वतीय, मैदानी, सामुद्रिक, आकाशीय तथा ध्रुवीय हो सकती है। विश्व में पूंजीवादी, सर्वहारा, काली, पीली या श्वेत संस्कृतियों का भी इतिहास में वर्णन मिलता है। एकरूपता की द ष्टि से इसे संकुचित, प्रजाभावी तथा सहभागी संस्कृति में बांटा जाता है। इस विभाजन का आधार लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अभिमुखीकरण माना जाता है। एस०ई०फाइनर ने राज-संस्कृति को प्रौढ़, विकसित, निम्न तथा पूर्व-फ्रांसीसी क्रान्ति सम-न्यूनतम स्तरीय चार भागों में बांटा है। ऑमण्ड ने भी राजव्यवस्थओं में जनसहभागिता के संदर्भ में इसे तीन भागों में बांटा है। उसने आगे राजनीतिक संस्कृति के तीन अन्य प्रकार भी बताए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक संस्कृति विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार की होती है। राजनीतिक संस्कृति के प्रमुख रूप निम्नलिखित हो सकते हैं :-

(1) **संख्या व शक्ति के आधार पर :-** इस आधार पर राजनीतिक संस्कृति के दो भेद माने जाते हैं :-

(i) **अभिजनात्मक संस्कृति (Elitist culture) :-** यह संस्कृति इस मान्यता का परिणाम है कि प्रत्येक शासन में गिने चुले लोग ही सत्ता के वास्तविक धारक होते हैं और उनका राजनीतिक व्यवस्था तथा लोगों की जीवन शैली पर व्यापक प्रभाव होता है। भारत में नेहरू व गांधी जी ने जिस संस्कृति को जन्म दिया वह अभिजनात्मक होते हुए भी उससे अधिक थी। यह संस्कृति समाज में विशिष्ट वर्ग के हितों की पोषक होने के साथ-साथ जनसामान्य के प्रति अपना द ष्टिकोण ईमानदारी को बनाए रखती है।

(ii) **जनसंस्कृति (Mass-Culture) :-** यह संस्कृति लोकतन्त्रीय अवस्थाओं को समेटे हुए है। यह जन-आस्था एवं रचनात्मक व त्तियों की द्योतक है। इसमें राजनीतिक प्रक्रिया में जनसाधारण की उपेक्षा नहीं की जा सकती और प्रत्येक स्तर पर जनता की भावनाओं की ख्याल रख जाता है। विकसित देशों में यह अभिन्न संस्कृति के साथ ही मिलकर चलती है। विकासशील देशों में इस प्रकार की संस्कृति का अधिक प्रचलन बढ़ रहा है।

(2) **निरन्तरता व सातत्व की द ष्टि से :-** इस आधार पर राजनीतिक संस्कृति को तीन भागों में बांटा जा सकता है:-

(i) परम्परागत राजनीतिक संस्कृति (Traditional Political Culture)

(ii) आधुनिक राजनीतिक संस्कृति (Modern Political Culture) :-

(iii) मिश्रित राजनीतिक संस्कृति (Mixed Political Culture)

परम्परावादी संस्कृति का सम्बन्ध जनसामान्य से होता है, जबकि आधुनिक राजनीतिक संस्कृति का सम्बन्ध विशिष्ट वर्गीय शासकों से होता है। ब्रिटेन तथा भारत में मिश्रित संस्कृति पाई जाती है। क्योंकि यहां परम्परा व आधुनिकता का सुन्दर मिश्रण है। ब्रिटेन में कुलीनतन्त्रीय राजनीतिक ढांचे का तादात्म्य ऐसे सामाजिक व आर्थिक ढांचे के साथ किया गया है कि उसमें विशिष्ट वर्ग व जनसाधारण दोनों के हितों का पोषण हो जाता है। विकासशील देशों में इसी प्रकार की संस्कृति है। सर्वाधिकारवादी देशों में विशिष्ट वर्गीय हितों की पोषक आधुनिक व परम्परावादी दोनों संस्कृतियां ही पाई जाती हैं। ऑमण्ड-कोलमैन का मानना है कि सभी राजनीतिक समाजों में राजनीतिक संस्कृति का मिश्रित रूप ही पाया जाता है।

(3) **राजनीतिक सहभागिता के आधार पर :-** इस आधार पर वर्गीकरण करने वाले प्रमुख विद्वान ऑमण्ड व वर्बा हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में जनता सहभागिता चाहती है। लेकिन सभी व्यवस्थाओं में पूर्ण व सक्रिय राजनीतिक सहभागिता का होना आवश्यक नहीं है। इसलिए इस आधार पर कि जनसहभागिता का स्तर क्या है। लोग राजनीति के प्रति उदासीन हैं या सक्रिय, राजनीतिक संस्कृति को शुद्ध रूप में तीन भागों में बंट जाता है :-

(i) **संकीर्ण-राजनीतिक संस्कृति (Parochial Political Culture) :-** इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति कम विकसित तथा परम्परागत राजनीतिक समाजों में पाई जाती है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि इन समाजों में कम विशेषीकरण के कारण सभी भूमिकाएं शासक-वर्ग द्वारा ही अदा की जाती हैं। इसमें जनता राजनीति के प्रति प्रायः उदासीन ही रहती है। राजनीतिक नेता ही धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक भूमिकाओं का एक साथ निर्वहन करते हैं। इसमें जनता की तरफ से राजनीति के प्रति कोई मांग या निवेश नहीं होता और न ही निर्गतों की तरफ उसका ध्यान रहता है।

(ii) **पराधीन-राजनीतिक संस्कृति (Subject-Political Culture) :-** इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का जन्म उन समाजों में होता है, जहां जनता राजनीति के प्रति अर्कमण्य रहती है और वह शासकीय आदेशों को विवशतावश चुपचाप सहन करती है और उनका पालन करती रहती है। यह राजनीतिक संस्कृति आश्रित उपनिवेशों में ही विद्यमान थीं। इस प्रकार की संस्कृति में जनता निवेशों से तो दूर रहती है, लेकिन निर्गतों पर ध्यान रखती है। इस संस्कृति में लोगों का राजनीतिक अभिमुखीकरण व्यवस्था से लेने के स्तर पर ही सक्रिय होता है। सार रूप में इसमें जनता की राजनीतिक सक्रियता प्रायः सीमित प्रकृति की होती है। कई बार इस प्रकार की संस्कृति निर्गतों के परिणामों के रूप में महान् आन्दोलनों की जनक भी बन जाती है। इस संस्कृति को प्रजामूलक संस्कृति भी कहा जाता है।

(iii) **सहभागी-राजनीतिक संस्कृति (Participant-Political Culture) :-** इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति उन समाजों में पाई जाती है, जहां जनता को राजनीतिक सहकारिता के पूरे अवसर प्रदान किए जाते हैं। इस संस्कृति में जनता निदेशों व निर्गतों पर समान नजर रखती है। इस प्रकार की संस्कृति विकसित देशों में पाई जाती है। इसमें लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लगाव व विश्वास उच्च स्तर का बना रहता है। इसमें जनता अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनी रहती है। इसे प्रजातन्त्रीय राजनीतिक संस्कृति भी कहा जाता है।

उपरोक्त शुद्ध रूपों के अतिरिक्त भी मिश्रित रूप में ऑमण्ड व वर्बा ने राजनीतिक संस्कृति को तीन भागों में बांटा है :-

(i) संकीर्ण-पराधीन राजनीतिक संस्कृति।

(ii) पराधीन-सहभागी राजनीतिक संस्कृति।

(iii) संकीर्ण सहभागी राजनीतिक संस्कृति।

(i) **संकीर्ण-पराधीन राजनीतिक संस्कृति (Parochial - Subject Political Culture :-** यह संस्कृति मिश्रित प्रकृति की होती है। इसमें दोनों प्रकार की राजनीतिक संस्कृतियों की विशेषता पाई जाती है। इसमें दोनों प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं। कुछ व्यक्ति तो राजनीति के प्रति लगाव रखते हैं और कुछ दूर रहते हैं।

(ii) **पराधीन-सहभागी राजनीतिक संस्कृति (Subject-Participant Political Culture)**

:- यह संस्कृति पराधीन राजनीतिक संस्कृति तथा सहभागी राजनीतिक संस्कृति के गुणों से परिपूर्ण रहती है। यह संस्कृति उन समाजों में पाई जाती है जहां लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लगाव होता है। इसमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो केवल निवेशों और निर्गतों के प्रति ही रुचि रखते हैं। इस संस्कृति का उदय राजनीतिक व्यवस्था में जनसहभागिता की व द्धि की शुरुआत के साथ हुआ।

(iii) **संकीर्ण-सहभागी राजनीतिक संस्कृति (Parochial Participant Political Culture) :-** इस प्रकार की संस्कृति में शासक वर्ग ही जनता को प्रभावित नहीं करता बल्कि जनता भी शासकीय नीतियों को प्रभावित करती है। इसमें जन इच्छा का पूरा सम्मान किया जाता है। यह संस्कृति संकीर्ण व सहभागी राजनीतिक संस्कृति दोनों की विशेषताएं समेटे रहती हैं।

(4) **गुणात्मक स्वरूप के आधार पर :-** एस०ई० फाइनर ने अपनी पुस्तक 'The Man on Horxe Back' में राजनीतिक संस्कृति के चार प्रकार बताये हैं :-

(i) प्रौढ या परिपक्व राजनीतिक संस्कृति।

(ii) विकसित राजनीतिक संस्कृति।

(iii) निम्न राजनीतिक संस्कृति।

(iv) पूर्व-फ्रांसीसी क्रान्ति-सम अल्पस्तरीय राजनीतिक संस्कृति

(i) **प्रौढ़ राजनीतिक संस्कृति (Mature Political Culture) :-** यह संस्कृति ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा नीदरलैण्ड में पाई जाती है। इसमें राजनीतिक सर्वसम्मति व संगठन की मात्रा बहुत ऊँची होती है। इसमें सैनिक शक्ति का प्रयोग करने से परहेज किया जाता है। इसके अन्तर्गत शासन की सर्वोच्च सत्ता पर नागरिक सरकार का ही अधिकार रहता है। यह संस्कृति राजनीतिक स्थिरता वाले देशों में भी पाई जाती है।

(ii) **विकसित राजनीतिक संस्कृति (Developed Political Culture) :-** यह संस्कृति मिस्त्र, अल्जीरिया और क्यूबा जैसे देशों में पाई जाती है। इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक स्थिरता के साथ-साथ सैनिक खतरों से भी भयभीत रहती है। ऐसे परिवेश में आम जनता को शक्ति का भय दिखाकर शान्त कराने का प्रयास किया जाता है, लेकिन क्रान्ति या तख्ता पलट की संभावनाएं सदा ही बनी रहती हैं। इसमें नागरिक सरकार पर संकट के बादल मंडराते रहते हैं।

(iii) **निम्न राजनीतिक संस्कृति (Low Political Culture) :-** यह सस्कृति उन राजनीतिक समाजों में पाई जाती है, जहां लोकमत सशक्त नहीं होता। इसी कारण इसमें जन-विरोध की भावना का अभाव पाया जाता है। इसकी संस्कृति वाले देशों में राजनीतिक संस्थाएं बहुत ही कमजोर स्थिति में रहती है। इसमें जनता सुशासन की कामना तो रखती है, लेकिन उनका यह स्वप्न पूरा नहीं होता। इस व्यवस्था में लोकतन्त्रीय आस्थाओं पर सैनिक तानाशाही का शिकंजा कसा रहता है। जनाधार के बंटे होने के कारण यह संस्कृति वियतनाम, सीरिया, बर्मा, इन्डोनेशिया, पाकिस्तान आदि देशों में पाई जाती है।

(iv) **पूर्व-फ्रांसीसी क्रांति-सम अल्पस्तरीय राजनीतिक संस्कृति (Like Pre-French Revolution, Minimal Political Culture) :-** यह संस्कृति उन देशों में पाई जाती है, जहां सरकार जनता के विचारों की मनमानी अवहेलना कर सकती है। फ्रांसीसी क्रांति से पहले फ्रांस में यह संस्कृति विद्यमान थी। आज इस संस्कृति के लिए कोई स्थान नहीं है।

(5) **शासन-व्यवस्था जनित संवेगों के आधार :-** इस आधार पर ऑमण्ड ने राष्ट्रों की राजनीतिक व्यवस्था, भौगोलिक प्रणाली, विकासशील प्रव ति आदि के आधार पर राजनीतिक संस्कृति को चार भागों में बांटा है :-

(i) आंग्ल-अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था।

(ii) महाद्वीपीय यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था।

(iii) अपश्चिमी एवं आंशिक रूप से पूर्व-औद्योगिक राजनीतिक व्यवस्था।

(iv) सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्था।

(i) **आंग्ल-अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था (Anglo-American Political Culture) :-** यह संस्कृति ब्रिटेन और अमेरिका में पाई जाती है। इसमें राजनीतिक साध्यों व साधनों पर आम सहमति पाई जाती है। इसमें आदिकालीन व वर्तमान धर्म-निरपेक्ष मान्यताओं का सुन्दर मेल होता है। इस संस्कृति से सम्बन्धित देशों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, अधिकार व सुरक्षा को विशेष म्ळत्व दिया जाता है। इसमें समाज का स्वरूप बहुलवादी होता है। इसमें सत्तावादी शासन की सम्भावनाएं कम होती हैं और यहां पर भूमिकाओं का स्थायित्व भी रहता है। इसमें विशेषीकरण तथा विभेदीकरण का गुण भी पाया जाता है।

(ii) **महाद्वीपीय-यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था (Continental European Political Culture) :-** यह राजनीतिक संस्कृति फ्रांस, इटली, स्वीडन, नार्वे, जर्मनी आदि कम विकसित पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशों में पाई जाती है। इस राजनीतिक संस्कृति में न तो जनता अपने नेताओं के प्रति पूर्ण आश्वस्त होती है और न ही नेतागण अपने लोगों पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। इस प्रकार की संस्कृति में जनता की बजाय राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों की भूमिका अधिक रहती है। इस प्रकार की संस्कृति कई उप-संस्कृतियों को भी जन्म देती है।

(iii) **अपश्चिमी एवं आंशिक रूप से पूर्व-औद्योगिक राजनीतिक व्यवस्था (Non-Western or Partially Pre-Industrial Political System) :-** इस प्रकार की व्यवस्था में शासन प्रणाली पर एक ही दल का प्रभुत्व रहने के कारण राजनीतिक संस्कृति की एकता परिलक्षित होती है। इसमें शक्ति के आधार पर सत्ता व शासन को औचित्यपूर्ण बनाए रखा जाता है। इसमें नौकरशाही का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसमें जन-सहभागिता के नाम पर जनता के साथ धोखा किया जाता है। इसमें अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार की संस्कृति चीन व अन्य साम्यवादी देशों में पाई जाती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि विभिन्न आधारों पर राजनीतिक संस्कृति अनेक प्रकार की होती है। उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त भी कुछ विद्वानों द्वारा राजनीतिक संस्कृति के कुछ अन्य रूप भी बताए हैं। उन्होंने पंथ-निरपेक्ष, नागरिक, सैद्धान्तिक, समरूप, खण्डित आदि राजनीतिक संस्कृतियों का भी वर्णन किया है। लेकिन ये रूप भी उपरोक्त विवरण के अन्तर्गत ही घुलकर रह जाते हैं। इनके प थक विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात तो सत्य है कि प्रत्येक देश किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक संस्कृति से जुड़ा हुआ है। आज सभी देशों में राजनीतिक संस्कृति के साथ-साथ उपराजनीतिक संस्कृतियां भी उभर रहीं हैं। अतः ऑमण्ड-कोलमैन का कथन सही है कि आज विश्व में राज-व्यवस्थाओं में राजनीतिक संस्कृति का मिश्रित रूप ही पाया जाता है।

नागरिक संस्कृति की अवधारणा

(Concept of Civic Culture)

आज का युग लोकतन्त्रीय-कल्याणकारी राज्यों का युग है। लोकतन्त्र का उदारवादी स्वरूप आधुनिक लोकतन्त्र की प्रमुख विशेषता एवं सच्चाई है, जिससे बचने का जोखिम किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को खतरे में डाल सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि जनता की शासन-प्रक्रिया में अधिक से अधिक भागीदारी सुनिश्चित हो। आज जनसंचार के साधनों तथा

बदलते विश्व परिवेश ने सभी देशों को इस बात के प्रति आगाह कर दिया है कि वे नागरिक संस्कृति से उदासीदन न रहें। आंग्ल-अमेरिकी व्यवस्था में कुछ सीमा तक नागरिक संस्कृति का ही प्रतिबिम्ब है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जन-कल्याण, सुरक्षा आदि तत्व नागरिक संस्कृति के निर्माण का आधार हैं। इस प्रकार की संस्कृति साध्यों और साधनों में मतैक्य स्थापित कर सकती है। जिन देशों में नागरिक अपने अधिकार व कर्तव्यों के प्रति जागरूक हैं, वहां इस प्रकार की संस्कृति का निर्माण आसानी से हो सकता है। इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति में भागीदारी और सहनशीलता का स्तर काफी ऊँचा होता है। इसमें निर्णयकारी संरचनाएं ही निर्णयों की प्रभावकारिता के लिए उत्तरदायी होती है। इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति न तो शासक वर्ग को मनमानी करने की अनुमति देती है और न ही उस मनमानी को सहन किया जा सकता है। इस प्रकार की संस्कृति ब्रिटेन तथा अमेरिका में विकसित हो चुकी है और आज विश्व के अन्य देशों में भी इसके विकसित होने की आवश्यकता है।

नागरिक संस्कृति का अर्थ

(Meaning of Civic Culture)

साधारण अर्थों में उदारवादी लोकतन्त्र की स्थापना करने वाली राजनीतिक संस्कृति को नागरिक संस्कृति कहा जाता है। इस प्रकार की संस्कृति में संकुचित, पराधीन तथा सहभागी सभी राजनीतिक संस्कृतियों के लक्षण पाए जाते हैं। इसलिए इन तीनों के लक्षणों से युक्त संस्कृति ही नागरिक संस्कृति कहलाती है। ऑमण्ड तथा सिडनी वर्बा ने नागरिक संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है-"उदार लोकतन्त्र को संभालने में उपयुक्त एवं लोकतन्त्रीय आस्थाओं को रखने व लोकतन्त्रीय मूल्यों का दिग्दर्शन कराने व उन्हें महता प्रदान करने वाली संस्कृति नागरिक संस्कृति कहलाती है।"

नागरिक संस्कृति की व्याख्या

(Explanation of Civic Culture)

अनेक विद्वानों ने नागरिक संस्कृति पर अपना-अपना द ष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि आज तेजी से परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं समाज में आवश्यकता इस बात की है कि एक आदर्श नागरिक संस्कृति का निर्माण किया जाए। उनका मानना है कि नागरिक संस्कृति शासन की क्षमता एवं राजनीतिक प्रक्रिया में नागरिकों की सहभागिता के बीच सामंजस्य स्थापित करके ही निर्मित की जा सकती है। इसकी स्थापना से नागरिकों में अधिकार व कर्तव्य बोध का ज्ञान होने के कारण उनकी राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति उदासीनता व सक्रियता में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। इसलिए इसकी स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को जनहित के मामलों में अधिक जागरूकता व सक्रियता बनाए रखनी चाहिए ताकि शासक वर्ग की निरंकुशता पर रोक लगाई जा सके व जनहित के प्रति राजनीतिक नेत त्व को उत्तरदायित्व से युक्त बनाया जा सके। यद्यपि इसके निर्माण में कुछ बाधाओं का उत्पन्न होना भी स्वभाविक ही है। लेकिन लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था में लोगों की समर्थ कार्य भावना और राष्ट्रीय निष्ठा के कारण इस पर काफी सीमा तक काबू पाया जा सकता है। इसके लोकतन्त्र में मतैक्य और मतभेद के बीच संतुलन पैदा किया जा सकता है, क्योंकि लोकतन्त्र में ऐसा सामंजस्य व संतुलन थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य पाया जाता है। इसकी स्थापना के लिए केवल इतना ही जरूरी है कि नागरिक समुदाय के राजनीतिक विचार और मूल्य, राजनीतिक समानता और सहभागिता के सिद्धान्तों के अनुकूल ही हों। जनसहमति पर आधारित सरकार द्वारा जनहित में कार्य करके शासक और शासित में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के ध्येय के द्वारा इस कार्य को आसान बनाया जा सकता है। इसकी स्थापना के साथ ही नागरिक शासन का जन्म होगा और सभी लोग नागरिक शासन

में सहभागिता के उत्तरदायित्व का निर्वहन करेंगे और तानाशाही या बलात राज्य की बलात परिवर्तन द्वारा स्थिति क्षीण हो जाएगी तथा एक आदर्श नागरिक समाज की स्थापना होगी जो अपने पूर्ववर्ती समाजों से व्यापक आधार लिए हुए होगा जिसमें सभी की इच्छाओं का सम्मान किया जाएगा।

राजनीतिक संस्कृति के निर्धारिक तत्व

(Determinants of Political Culture)

प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्कृति अलग प्रकार की होती है। इसका प्रमुख कारण इसके निर्धारक तत्वों में मिलने वाला अन्तर होता है। राजनीतिक संस्कृति का सामान्य संस्कृति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी कारण सामान्य संस्कृति के निर्धारक तत्व राजनीतिक संस्कृति को भी प्रभावित करते हैं। ये निर्धारक तत्व ही राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति के नियामक होते हैं। ये तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं :-

(1) **इतिहास** (History) :- किसी भी राजनीतिक संस्कृति की जड़ें इतिहास के अन्दर गड़ी होती हैं। राजनीतिक व्यवस्था और संस्कृति अतीत से अपना राता कभी नहीं तोड़ सकती। साम्यवादी क्रान्तियां भी रूस और चीन में अतीत के अनुभवों को भुला नहीं सकी है। ब्रिटेन में अतीत व आधुनिकता का सुन्दर मेल है। वहां पर कुलीनतन्त्रीय आस्थाओं का लोकतन्त्रीय आस्थाएं के साथ हो सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऑमण्ड-कोलमैन ने सभी राजनीतिक संस्कृतियों के मिश्रित होने की बात कही है, उसके पीछे मूल कारण राजनीतिक संस्कृतियों का परम्पराओं से जुड़ा रहना है। फ्रांस में 1789 की क्रान्ति के बाद अतीत से छुटकारा पाने का जो खतरा उठाया गया था, उसने 1958 तक फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था को अस्थिर बनाए रखा। आज भारत की राजनीतिक संस्कृति पर 1857 की क्रान्ति तथा आगामी स्वतन्त्रता आन्दोलन व भारत-पाक विभाजन की घटनाओं का प्रभाव है। 1689 के बिल आफ राईटस तथा 1865 के ग ह युद्ध का ब्रिटेन और अमेरिका की राजसंस्कृति पर प्रभाव पड़ा है। इसी कारण कहा जाता है कि इतिहास जड़ है और राजनीति उसका फल। भारत, चीन तथा श्रीलंका की स्वाधीनता के समय में कम अन्तर होने के बाद भी इन देशों की राजनीतिक संस्कृतियों में काफी अन्तर है। इसका प्रमुख कारण ऐतिहासिक घटनाओं में पाया जाने वाला अन्तर ही है।

(2) **भूगोल** (Geography) :- भौगोलिक स्थिति भी किसी देश की राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित करता है। राष्ट्र के अस्तित्व के लिए विभिन्नताओं में एकता का होना अनिवार्य होता है। भौगोलिक द ष्टि से सुरक्षित व विकसित राष्ट्र छोटे-मोटे उत्पातों को आसानी से झेल लेते हैं। एक द्वीप होने के कारण ब्रिटेन आज तक विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रहा है। पश्चिमी जर्मनी भी भौगोलिक द ष्टि से रूस तथा अमेरिका के बीच स्थित होने के कारण दोनों के अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धनों के निर्देशन के कारण एक संघीय गणतन्त्र बना रहा। यदि इस स्थिति में कोई भी परिवर्तन किया जाता तो उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरे में डाल सकता था। 1947 के बाद भारत व पाक की भौगोलिक दूरी ने भी दोनों देशों में अलग प्रकार की राज-संस्कृतियों को जन्म दिया। भौगोलिक द ष्टि से सुरक्षित व सम्पन्न देशों की राजनीतिक संस्कृति अधिक उन्नत व विकासोन्मुखी रही है। नेपाल व भूटान की विशेष भौगोलिक स्थिति ने आज उन्हें विशिष्ट प्रकार की राजनीतिक संस्कृति दी है जो भारत व चीन से सर्वथा भिन्न है।

(3) **सामाजिक तथा आर्थिक विकास** (Social and Economic Development) :- राजनीतिक संस्कृति का विकास भी सामाजिक व आर्थिक विकास के सापेक्ष होता है। जिस देश में

सामाजिक समरसता या एकता का गुण पाया जाता है, वहां की राजनीतिक संस्कृति भी प्रवाहमान व सहज होती है। वहां पर राजनीतिक अस्थिरता आना असम्भव होता है। इसी तरह आर्थिक विकास के पर्याप्त अवसर भी राजनीतिक व्यवस्था को सशक्त बनाकर राजनीतिक संस्कृति से अलग प्रकार की बनती है। इसी तरह औद्योगिक समाज में संचार साधनों के विकास तथा शैक्षिक स्तर में व द्धि से गुटों व समूहों की नीति-निर्माण में सहभागिता बढ़ जाती है, जबकि कृषक समाज या ग्रामीण समाज राजनीति अभिमुखीकरण से दूर रहने के कारण अलग तरह की राजनीतिक संस्कृति को जन्म देता है। सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं वाला समाज उप-संस्कृतियों को जन्मदेकर राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्कृति दोनों के लिए संकट पैदा करता है।

(4) **विचारधाराएं (Ideologies) :-** राजनीतिक विचारधाराएं भी राजनीतिक संस्कृति को निर्धारित करने वाली होती हैं। विकासशील देशों में तो विचारधाराओं के अनुकूल राजनीतिक संस्कृति का निर्माण किया जाने लगा है। भारत में गांधी व नेहरु की विचारधारा का भी उतना ही प्रभाव है जितना सुभाष व तिलक की विचारधारा का। इसी कारण भारत की राजनीतिक संस्कृति में मिश्रितपन पाया जाता है। जर्मनी मं नाजीवादी, चीन में साम्यवादी, इटली में फासीवादी, अमेरिका तथा ब्रिटेन में उदारवादी विचारधाराओं का वहां की राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है। इटली व जर्मनी में आज भी राजनीतिक संस्कृति में फासीवादी व नाजीवादी तत्व परिलक्षित होते हैं। अतः विचारधारा भी राजनीतिक संस्कृति की प्रमुख निर्धारक हैं।

(5) **सामान्य संस्कृति (General Culture) :-** राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति पर ही आध ाारित होती है। सामान्य संस्कृति राजनीतिक संस्कृति का प्रमुख नियामक तत्व माना जाता है। राजनीतिक संस्कृति को सामान्य संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता। सामान्य संस्कृति को ही राजनीतिक संस्कृति का मौलिक तथा स्थाई आधार माना जाता है। विकासशील देशों में पैदा होने वाली राजनीतिक अस्थिरता का प्रमुख कारण राजनीतिक संस्कृति का सामान्य संस्कृति से अलगाव है। विकासशील देशों की राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति के लौकिकीकरण से दूर रहने के कारण ही विकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों की राजनीतिक जागरूकता बढ़ाता है और राजनीतिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करता है।

(6) **राष्ट्रीय प्रतीक (National Symbols) :-** जिस देश में लोगों का राष्ट्रीय प्रतीकों - राष्ट्रीय गान व गीत, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय त्यौहार, राष्ट्रीय स्मारक, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय विरासत आदि के प्रति गहरा लगाव होगा, वहां की राजनीतिक संस्कृति भी उच्च-स्तरीय होगी। इससे राजनीतिक संस्कृति में एकता का गुण पैदा होगा जो राजनीतिक स्थिरता में सहायक होगा। इसके विपरीत जिस देश में राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान नहीं होगा, वहां की राजनीतिक संस्कृति निम्न कोटि की ही रहेगी। जापान, जर्मनी, चीन, अमेरिका तथा ब्रिटेन में राष्ट्रीय प्रतीकों के सम्मान के कारण ही वहां की राजनीतिक संस्कृति उन्नत किस्म की है। भारत में राष्ट्रीय प्रतीकों का अपेक्षित सम्मान न होने के कारण राजनीतिक संस्कृति का उतना विकास नहीं हो सका है जितना होना चाहिए था।

(7) **धर्म (Religion) :-** जिस देश की राजनीति में धर्म का अधिक प्रभाव होता है, वहां की राजनीतिक संस्कृति में भी सहिष्णुता का गुण आ जाता है। वैटिकन सिटी, नेपाल व इस्लामिक देशों में धर्म का अधिक प्रभाव होने के कारण उसका राजनीतिक व राजनीतिक संस्कृति दोनों पर अधिक प्रभाव है। भारत में भी अहिंसा जैसे गुणों का राजनीतिक संस्कृति में प्रकटीकरण है।

(8) **राजनीतिक स्थिरता** (Political Stability) :- राजनीतिक स्थिरता के परिवेश में ही उन्नत प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का निर्माण हो सकता है। विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही यहां पर राजनीतिक संस्कृति अधिक उच्च कोटि की नहीं बन पाई है। राजनीतिक स्थिरता ही किसी राजनीतिक व्यवस्था व राजनीतिक संस्कृति दोनों को नई पहचान देती है। ऐप्टर का कहना है कि राजनीतिक संस्कृति में उच्च समरूपता राजनीतिक स्थायित्प के कारण ही होती है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक संस्कृति के आधार को मजबूत बनाने वाले तथा राजनीतिक संस्कृति का निर्माण व निर्धारण करने वाले तत्व इतिहास, भूगोल, सामाजिक, आर्थिक विकास, धर्म, राजनीतिक स्थिरता, राष्ट्रीय प्रतीक, विचारधाराएं आदि हैं। इसमें लोगों की अभिव तियों का भी विशेष स्थान होता है। लोगों का सक्रिय राजनीतिक अभिमुखीकरण ही राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्कृति दोनों को नया रूप देता है। सामान्य संस्कृति से अलग होकर राजनीतिक संस्कृति का वांछित विकास नहीं हो सकता। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक संस्कृति के अनेक निर्धारक तत्व हैं जो राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति का निर्धारण करते हैं।

राजनीतिक संस्कृति के आयाम

(Dimensions of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप बहुआयामी होता है। इसकी स्वयं की गतिशील प्रकृति तथा इसके निर्धारक तत्वों के प्रभाव से इसमें सतत् परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की अल ग ही राजनीतिक संस्कृति होती है। सिडनी वर्बा का मानना है कि राजनीतिक संस्कृति के आयाम राजनीतिक व्यवस्था के चारों ओर घूमते हैं। ये आयाम प्रमुख रूप से चार हैं :-

(1) **राष्ट्रीय पहचान या अभिज्ञान** (National Identity) :- राष्ट्रीय अभिज्ञान एक ऐसा विश्वास है जो राजनीतिक व्यवस्था को एकता के सूत्र में बांधता है। यह ऐसा धागा है जो राजनीतिक संस्कृति के विभिन्न तत्वों को आपस में एक माला की तरह पिरोए रखता है। इसका अर्थ लोगों के विश्वासों से इस बात से है कि जिस सीमा तक वे स्वयं को राष्ट्र-राज्य का अंग मानते हैं। राष्ट्रीय अभिज्ञान, राजनीतिक संस्कृति का प्रमुख आयाम होता है। इसी से राजनीतिक व्यवहार में विशिष्टता का गुण आता है। यह अभिजन वर्ग की गतिविधियों की वैधता का आधार है। यह व्यक्ति का राष्ट्र के साथ तादात्म्य की भावना का विकास करके राष्ट्रीय निर्माण में एक निर्णायक भूमिका निभाता है। राष्ट्रीयता की भावना का होना राजनीतिक संस्कृति को सजीव तथा सक्रिय बनाता है। लेकिन संचार साधनों से दूर समाज में अभिजन वर्ग व बुद्धिजीवियों की समाज को परिवर्तित करने की इच्छा के अभाव में राष्ट्रीय एकता का अभाव राजनीतिक व्यवस्था के लिए कोई खतरा नहीं हो सकता। विकासशील देशों में राष्ट्रीय अभिज्ञान में पाई जाने वाली कमी यहां पर राजनीतिक अस्थिरता का खतरा पैदा कर रही है। यद्यपि राष्ट्रीय एकात्मय अपने पूर्ण रूप में कभी नहीं पहुंच सकता है, लेकिन समाज के विभिन्न हितों व मतों में भिन्नता होते हुए भी यह आवश्यक माना जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था के अधिकांश सदस्य संकीर्णता से ऊपर अवश्य उठें। इस तादात्मकता के महत्वपूर्ण व दूरगामी परिणाम निकलते हैं। इसके अभाव में राजनीतिक संस्कृति की एकता व राजनीतिक स्थायित्व दोनों को खतरा उत्पन्न हो जाता है और विभिन्न उप-संस्कृतियों का जन्म होने लगता है तथा समाज में अस्थिरता की स्थिति पैदा हो जाती है। अतः जब तक लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का जन्म नहीं होगा और उनमें तादात्म्य की भावना जन्म नहीं लेगी, तब तक राष्ट्र व राजनीतिक संस्कृति को विशेष पहचान मिलना असम्भव है।

(2) **साथी नागरिकों के साथ ऐकमेकता या तादात्म्य** (Identification with Fellow Citizens) :- राजनीतिक संस्कृति का यह आयाम समाज में पारस्परिक विश्वास की भावना जाग त करता है। इससे समाज में विघटनकारी प्रव त्तियों पर अंकुश लगाता है। राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्र के निर्माणकारी तत्वों में राष्ट्रीय तादात्म्य तभी सम्भव है जब नागरिकों में व्यक्तिगत स्तर पर ऐकमऐकता हो। राष्ट्रीय हित के मामलों में यह एकता देखने को मिलती है, क्योंकि इस समय लोग संकीण स्वार्थों से ऊपर उठकर काम करने लगते हैं। यह तादात्म्य इस बात पर आधारित है कि राजनीतिक व्यवस्था के लोग एक दूसरे के प्रति तथा राजनीतिक नेत त्व के प्रति कैसा विश्वास व विचार रखते हैं। यदि नागरिकों में आपस में विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता की भावना है तो राजनीतिक संस्कृति का विखण्डन नहीं होगा। नागरिकों की एकरूपता राष्ट्र की एकता को मजबूत करती है। लेकिन यह तादात्म्य स्वैच्छिक होना चाहिए। सर्वाधिकारवादी देशों की तरह लादा हुआ नहीं। इस तादात्म्य के कारण समाज में विषमताओं के रहते हुए भी राजनीतिक सक्रियता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिस राजनीतिक व्यवस्था में लोगों का नेताओं पर से विश्वास उठ जाता है और शासक तथा शासितों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो लोकतन्त्रीय आस्थाओं का पतन होना शुरु हो जाता है। विकासशील देशों में ऊपर से लादी गई एकरूपता भी लोकतन्त्रीय आस्थाओं की रक्षा नहीं कर सकी, जबकि ब्रिटेन तथा अमेरिका में ये लोकतन्त्रीय आस्थाएं तेजी से अपने पैर जमा रही हैं। अतः लोगों का राजनीतिक व्यवस्था, नेत त्व तथा आपस में विश्वास रहना जरूरी है ताकि शासन में एकरूपता का गुण बनाए रखा जा सके और राजनीतिक व्यवस्था व संस्कृति को पतन से बचाया जा सके।

(3) **शासन निर्गतों के प्रति विश्वास** (Belief Towards Government Outputs) :- सरकार के प्रति लोगों के विचारों का निर्माण इस बात पर निर्भर है कि सरकार लोगों के लिए क्या करती है। हर व्यक्ति सरकार से जनहित के कार्यों की अपेक्षा रखता है। इसलिए सरकार के कार्य ऐसे होने चाहिए कि जनता की आस्था सरकार में बढ़े और राजनीतिक सहभागिता व सक्रियता के स्तर में भी व द्धि हो। जनता को यह लगना चाहिए के शासन के निर्गत सम्पूर्ण समाज के हितों की पोषक हैं, वर्ग-विशेष के हितों के नहीं। इसलिए सरकार के व्यवस्थापन, कार्यपालन तथा न्यायकारी कार्य जन आकांक्षाओं के अनुकूल ही होने चाहिए। शासन-निर्गतों के प्रति विश्वास ही प्रथम दोनों आयामों को ठोसता प्रदान करता है। लोगों का सरकार के कार्यों के प्रति विश्वास ही राजनीतिक संस्कृति को दरार से बचाता है और राष्ट्रीय एकता में व द्धि करता है।

(4) **निर्णय प्रक्रिया में विश्वास** (Faith in Process of Decision Making) :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय प्रक्रिया में गिने चुने लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। लोकतन्त्रीय देशों में तो ये निर्णयकर्ता जनता द्वारा ही भेजे जाते हैं और जनता के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। इसलिए सरकार की निर्णय-प्रक्रिया बहुमत के साथ-साथ अल्पसंख्यक वर्ग के हितों के अनुकूल भी होनी चाहिए क्योंकि वह तो सारे समाज के लिए ही होती है। सर्वाधिकारवादी देशों में अनिच्छापूर्वक लोगों द्वारा राजनीतिक निर्णयों को स्वीकार करने के कारण वहां की राजनीतिक संस्कृति क्षरणशील होती है। इसलिीए निर्णय प्रक्रिया में जनता की सहभागिता को बढ़ाकर या बनाए रखना ही राजनीतिक संस्कृति को स्थायित्व व गतिशीाता प्रदान की जा सकती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास ही राजनीतिक संस्कृति को विशिष्ठता प्रदान करता है। इसलिए प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था को अपने नागरिकों से ऐसा विश्वास चाहती है जो उसका तथा उसकी संस्कृति

का विकास करने वाला हो। लोकतन्त्रीय सरकारों का तो यह विश्वास ही मेरुदण्ड है। विकासशील देशों में जनता का शासक-वर्ग के प्रति घटता विश्वास ही राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे रहा है।

राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा का महत्व

(Importance of the Concept of Political Culture)

आधुनिक समय में राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा राजनीति-विज्ञान की महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है। राजनीतिक संस्कृति के आगमन से राजनीतिक समाजीकरण व राजनीतिक विकास की दिशा व गति का ज्ञान होने लगा है। इसके आगमन से तुलनात्मक अध्ययन में गति आई है। इसने राजनीति-विज्ञान का विषय क्षेत्र भी महान बना दिया है। इससे राजनीतिक व्यवहार को समझना सरल हो गया है। इसके आगमन से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं का अध्ययन करना आसान हुआ है। इसने राजनीति विज्ञान को औपचारिक संस्थाओं के जटिल अध्ययनों से मुक्ति दिलाई है। अब राजनीतिक व्यवहार को राजनीतिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं एवं प्रकार्यों को उनकी अभिव त्तियों के सन्दर्भ में ही समझा जाने लगा है। लूशियन पाई ने लिखा है-"हर विशिष्ट समाज में एक सीमित और सुस्पष्ट राजनीतिक संस्कृति होती है जो राजनीतिक प्रक्रिया को अर्थ, भविष्यवाणी और ढांचा प्रदान करती है।" राजनीतिक विकास का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने भी राजनीतिक संस्कृति के अध्ययन को ही प्राथमिकता देना शुरु कर दिया है। राजनीतिक संस्कृति के अध्ययन ने राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकताओं को पहचान कर तुलनात्मक अध्ययन की नई दिशा दी है। अब राजनीतिक व्यवहार के गत्यात्मक तत्वों की पहचान आसान हो गई है और उनको सामान्यीकरण के निकट ले जाना सरल हो गया है। मैक्स वेबर, मैनहाम, पाई ऑमण्ड, वर्बा, लर्नर, मोर्टन, रजनी कोठारी आदि विद्वानों ने राजनीतिक संस्कृति पर आनुभाविक अध्ययन करके जो उपयोगी निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे इस अवधारणा का महत्व काफी बढ़ गया है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न राजनीतिक व्यवहार की पेचिदगियों को समझने में जितनी सहायम यह अवधारणा हुई है, उतनी अन्य कोई नहीं। अतः राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण व उपयोगी अवधारणा है।

अध्याय-11
राजनीतिक समाजीकरण
(Political Socialization)

विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अवलोकन करने से जो महत्वपूर्ण बात हमारे सामने आती है, वह राजनीतिक व्यवहार की विभिन्नता है। इसका प्रमुख कारण राजनीतिक संस्कृतियों में पाए जाने वाले अन्तर को माना जाता है। राजनीतिक संस्कृति की विभिन्नता के कारण ही भारत और ब्रिटेन में संसदीय व्यवस्थाओं का कार्य-व्यवहार आपस में काफी प्रतिकूल है। राजनीतिक संस्कृति का सम्बन्ध राजनीतिक समाज के लोगों के राजनीतिक व्यवस्था के प्रति पाए जाने वाले विचारों व धारणाओं से होता है। इन विचारों और धारणाओं में पाया जाने वाला अन्तर ही विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विचार और धारणाओं में अन्तर का प्रमुख कारण राजनीतिक व्यवहार में अन्तर ला देते हैं। लोगों की राजनीतिक संस्कृति या अमुक राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विचार और धारणाओं में अन्तर का प्रमुख कारण राजनीतिक समाजीकरण ही है, क्योंकि यह राजनीतिक संस्कृति व राजनीतिक व्यवस्था दोनों का नियामक होता है। राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप बनाने में राजनीतिक समाजीकरण का ही विशेष योगदान होता है। राजनीतिक समाजीकरण ही राजनीतिक विकास व राजनीतिक आधुनिकीकरण का भी महत्वपूर्ण उपकरण है। मनुष्य को राजनीतिक मानव बनाने में इसकी भूमिका सबसे बढ़कर है। इसी कारण राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा राजनीति विज्ञान की एक अति महत्वपूर्ण अवधारण बन गई है।

राजनीतिक समाजीकरण का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Socialization)

राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा समाजीकरण पर आधारित है। समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो मनुष्य को बाल्यकाल से अन्तिम क्षणों तक जीवन के सभी क्षेत्रों का ज्ञान उपलब्ध कराती रहती है। यह एक सतत् प्रक्रिया है। इसका सर्वप्रथम अभिकर्ता परिवार है। मनुष्य जैसे जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे उसके समाजीकरण का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। संसार में ऐसी कोई औपचारिक संस्था नहीं है, जहां समाजीकरण की विशेष शिक्षा दी जाती हो। मनुष्य परिस्थितियों से सीखता है। यमनुष्य का समाज के कार्यों के प्रति रुझान बहुमुखी प्रकृति का होता है, इसी कारण समाजीकरण की प्रक्रिया भी बहुमुखी है। समाजीकरण को परिभाषित करते हुए जॉनसन ने लिखा है-"समाजीकरण एक प्रशिक्षण है जो प्रशिक्षार्थी को समाज में उसकी भूमिका निभाना सिखाता है।" गिलिन और गिलिन ने कहा है-"समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह के स्तरों के अनुसार समूह की गतिविधियों के अनुकूल उसकी परम्पराओं का पालन करके और स्वयं सामाजिक अवस्थाओं की अनुकूल करके, समूह के क्रियाशील सदस्य के रूप में विकसित होता है।" इस तरह समाजीकरण एक सतत् व विस्त त प्रक्रिया है। राजनीतिक समाजीकरण तो उसका एक विशेष भाग है। इसका प्रचलन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बढ़ा है। राजनीतिक समाजीकरण के बारे में अनेक विद्वानों ने अलग अलग परिभाषाएं दी हैं जो इसके अर्थ व प्रकृति दोनों को स्पष्ट करती

हैं।

राजनीतिक समाजीकरण को एक प्रक्रिया तथा संकल्पना दोनों अर्थों में प्रयोग किया जाता है। राजनीति के बारे में लोगों को अभिव तियों, विचारों और आस्थाओं के निर्माण की प्रक्रिया राजनीतिक समाजीकरण कहलाती है। एक प्रक्रिया के रूप में यह लोगों का राजनीति सम्बन्धी रुझान बनाने की प्रक्रिया है। एक संकल्पना के रूप में यह व्यक्ति के राजनीति सम्बन्धी मूल्यों, विश्वासों, अभिव तियों व विचारों का ताना-बाना है। एक संकल्पना व प्रक्रिया के रूप में विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक समाजीकरण की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं :-

(1) ऑमण्ड व पॉवेल के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक-संस्कृतियों का अनुरक्षण और उनका परिवर्तन किया जाता है तथा लोगों को राजनीति में दीक्षित करने के लिए उनके विचारों का निर्माण किया जाता है।"

(2) एलेन आर० बाल के अनुसार-"राजनीतिक व्यवस्था के बारे में लोगों का द ष्टिकोण और विश्वास की स्थापना तथा विकास राजनीतिक समाजीकरण कहलाता है।"

(3) डेनिस कावानाग के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति राजनीति के प्रति आकर्षित होता है और उसे सीखता एवं विकसित करता है।"

(4) पीटर एच०मर्कल के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा व्यवहार प्रतिमान और राजनीतिक अभिव त्तियां प्राप्त करना है।"

(5) ऑस्टीन रेने के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण, समाजीकरण का वह भाग है जो आम आदमी का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति द ष्टिकोण विकसित करता है।"

(6) राबर्टस के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक लक्ष्यों के प्रति अभिव ति सीखता है। समाज विश्वासों और स्तरों को नई पीढ़ी को देता है।"

(7) रुश व अल्थॉफ के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त करता है जो राजनीतिक ज्ञान और राजनीतिक घटनाओं के विषय में उसके सम्बन्धों को सुनिश्चित करती है।"

(8) रॉबर्ट लेवाइन के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण व्यक्ति की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता के लिए मूल्यों, आदतों और प्रेरणा का साधन है।"

(9) एरिक रो के अनुसार-"राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक राजनीतिक संस्कृति के मूल्य, विश्वास और भावनाएं आने वाली पीढ़ियों तक पहुंचाए जाते हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृतियों को बनाए रखा जाता है और उनमें परिवर्तन भी किया जाता है। यह सीखने की वह प्रक्रिया है जिससे लोगों के राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों और भावनाओं का निर्माण होता है। एक संकल्पना के रूप में यह लोगों के राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, अभिव तियों व विचारों का समुच्चय है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रकृति

(Nature of Political Socialization)

राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक संस्कृति से जुड़ी हुई प्रक्रिया है जो सतत् रूप में चलती रहती है। यह प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। यह राजनीतिकरण, राजनीतिक सहभागिता व राजनीतिक भर्ती से अधिक व्यापक संकल्पना भी है। इसमें व्यक्ति की राजनीतिक अभिव तियों, विश्वासों व मान्यताओं का अभिमुखीकरण शामिल है। इससे ये मान्यताएं मूल्य व विश्वास दूरी पीढ़ी तक भी जाते हैं। इससे व्यक्ति का राजनीतिक समाज

के प्रति अनुकूल द ष्टिकोण बनता है और उसका समाज, राष्ट्र और शासक वर्ग के प्रति निष्ठा का भाव भी विकसित होता है। राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सामान्यतया आकस्मिक रूप में कार्य करती है। यह इतने शांत और सौम्य रूप में संचालित होती है कि लोगों को इसकी खबर भी नहीं होती। इसके अन्तर्गत वे औपचारिक एवं अनौपचारिक राजनीतिक प्रशिक्षण भी शामिल होते हैं जो राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसा विचार भी है जो राजनीतिक स्थायित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने की भी अपेक्षा रखता है। इसका उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का प्रशिक्षण और विकास करना है जिससे वे राजनीतिक समाज के अच्छे सदस्य बन सकें। राजनीतिक समाजीकरण व्यक्तियों के मन में मूल्यों, मानकों और अभिविन्यासों का विकास करता है, जिससे उनमें राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास की भावना पैदा हो सके और वे अपने अच्छे कार्यों द्वारा अपने उत्तराधिकारियों पर अमिट छाप छोड़ सके। राजनीतिक समाजीकरण ही वह कड़ी है जो समाज और राजनीतिक व्यवस्था को जोड़ती है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया उस समय से शुरु हो जाती है, जब बच्चा अपने चारों ओर के व्यापक पर्यावरण के बारे में जानने लगता है। इसी अवस्था में 'बच्चों में' समाजीकरण का गुण प्रवेश कर जाता है जो आगे चलकर परिवार, स्कूल, स्वैच्छिक समूह, मित्र-मण्डली, राजनीतिक संरचनाओं आदि के द्वारा पूर्ण विकसित हो जाता है। इससे समाजीकरण का प्रकट व अप्रकट रूप उभरने लगता है। जब व्यक्ति के राजनीति के प्रति अभिव तियां जाग त की जाती हैं तो प्रकट रूप उभरता है। जैसे राजनीतिक दलों द्वारा व्यक्ति को अपने चुनावी कार्यक्रमों में आकर्षित करना व अपने कार्यक्रमों की जानकारी दोनों का कार्य दिया जाता है तो यह प्रकट समाजीकरण होता है। लेकिन जब जनसम्पर्क के साधनों, मित्र मंडलियों, स्कूलों आदि से स्वतः ही बनने लगती है और व्यक्ति को इसका पता बाद में लगता है तो यह अप्रकट राजनीतिक समाजीकरण होता है। अप्रकट समाजीकरण से स त्ताधारकों का जन्म लेना कठिन होता है। राजनीतिक समाजीकरण का प्रकट रूप ही सत्ताधारकों का जन्मदाता है। इससे छल-योजन व जोड़-तोड़ द्वारा लोगों में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मूल्य, विश्वास व मान्यताएं पैदा की जाती हैं। यह समाजीकरण ही सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के पुनःनिर्माण का आधार होता है। प्रकट राजनीतिक समाजीकरण शासन-तन्त्र द्वारा निर्देशित होता है। साम्यवादी देशों में इसका बहुत महत्व है। वहां पर सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों का विश्वास बनाए रखने के लिए शासक वर्ग कई तरह की जोड़-तोड़ करते रहते हैं। राज्य निर्देशित शिक्षा प्रणाली इसका प्रमुख साधन होती है। संचार व जनसम्पर्क के साधनों का खुलकर प्रयोग किया जाता है। लेनिन ने जार की तानाशाही को उखाड़ने के लिए इसी प्रकार के समाजीकरण का प्रयोग किया था। चीन में माओ की सांस्कृतिक क्रान्ति इसी कारण सफल हुई थी। इसके विपरीत राजनीतिक समाजीकरण का अप्रकट रूप व्यक्ति में स्वतः ही समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से प्रवेश कर जाता है। इस द ष्टि से राजनीतिक समाजीकरण जीवन भर चलने वाली शाश्वत् प्रक्रिया होती है। इससे व्यक्ति के राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विचार व मूल्य अधिक स्थाई होते हैं। इसमें जोड़-तोड़ या छल-योंजन का अभाव रहता है। स्थायित्व की द ष्टि से राजनीतिक समाजीकरण का यह रूप प्रकट रूप से अधिक महत्व का होता है। इस समाजीकरण के तत्व व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग बन जाते हैं और आजीवन उसका पीछा नहीं छोड़ते। इसके विपरीत प्रकट राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक व्यवस्था के लिए लाभकारी व हानिकारक दोनों हो सकता है।

राजनीतिक समाजीकरण की विशेषताएं

(Features of Political Socialization)

राजनीतिक समाजीकरण के अर्थ एवं प्रकृति को समझ लेने के बाद इसकी निम्नलिखित विशेषताएं द ष्टिगोचर होती हैं :-

(1) राजनीतिक समाजीकरण एक जीवन भर चलने वाली सतत् प्रक्रिया है।

(2) यह एक सार्वभौम प्रक्रिया भी है, क्योंकि यह सभी राजनीतिक समाजों में चलती रहती है।

(3) इसका राजनीतिक संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि राजनीतिक संस्कृति का अनुरक्षण व अगली पीढ़ी को राजनीतिक संस्कृति से परिचित कराने का कार्य राजनीतिक समाजीकरण द्वारा ही होता है।

(4) यह प्रकट तथा अप्रकट दोनों रूपों में होता है।

(5) इसकी प्रक्रिया औपचारिक भी हो सकती है और अनौपचारिक भी।

(6) यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है।

(7) इसका राजनीतिक परिवर्तन से भी गहरा रिश्ता है। यह राजनीतिक परिवर्तन के बाद भी जारी रहता है।

(8) यह सीखने की प्रक्रिया है, जिसका पर्यावरण से गहरा सम्बन्ध है।

(9) यह राजनीतिकरण, राजनीतिक सहभागिता व भर्ती से अधिक व्यापक संकल्पना है।

(10) यह समाजीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग है।

(11) यह धीरे-धीरे होने वाली प्रक्रिया है।

(12) यह समाज और व्यवस्था को जोड़ने वाली कड़ी है।

(13) राजनीतिक समाजीकरण की प्रथम इकाई परिवार है।

(14) राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण का आधार होता है।

(15) राजनीतिक समाजीकरण सत्ताधारकों का जन्मदाता है।

राजनीतिक समाजीकरण के प्रकार

(Types of Political Socialization)

राजनीतिक समाजीकरण के निम्नलिखित रूप हैं :-

(I) प्रकट या प्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण

(Manifest Political Socialization) :-

जब व्यक्ति प्रत्यक्ष साधनों द्वारा राजनीतिक मूल्यों, संस्कृति, विचारों व झुकाव को ग्रहण करता है तो उसे प्रकट या प्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण कहा जाता है। जब राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी जानकारी, अभिमुखीकरण और मूल्यों का जान-बूझकर स्पष्ट रूप से सम्प्रेषण या संचरण होता है तो प्रकट राजनीतिक समाजीकरण का जन्म होता है। इस प्रकार के राजनीतिक समाजीकरण में शैक्षिक संस्थाओं को माध्यम बनाकर राजनीतिक समाज अपने उद्देश्य पूरा करना चाहता है। चीन में माओ की विशुद्ध राजनीतिक शिक्षा का पाठ पढ़ाने का यही उद्देश्य है। इसी तरह रूस में भी लम्बे समय तक लेनिन और मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों को स्कूली व कॉलेज स्तर की शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाए रखा गया। इन सभी का उद्देश्य प्रकट राजनीतिक समाजीकरण से ही जुड़ा हुआ है। इन देशों में साम्यवादी दल ही प्रारम्भ से साम्यवादी शिक्षा प्रणाली का नियन्त्रक रहा है और उसने ही लोगों के राजनीतिक समाजीकरण की अहम् भूमिका अदा की है। इसमें जोड़-तोड़ व छल-योजन की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यह समाजीकरण अधिक स्थायी नहीं होता है। शासन-व्यवस्था में आई थोड़ी सी सुस्ती राजनीतिक व्यवस्था को गर्त में धकेल सकती है, जैसा रूस में हुआ। हाल ही में 2003 में ईराक में सद्दाम हुसैन के प्रायोजित राजनीतिक समाजीकरण का जो हर्ष हुआ है, वह सर्वविदित है।

(II) अप्रकट या अप्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण

(Latent Political Socialization)

जब राजनीतिक अभिमुखीकरणों, प्रतिमानों और सत्ता सम्बन्धों के प्रति मनुष्य की अभिव तियों का निर्माण स्वतः ही होता है, तो उसे अप्रकट या अप्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण कहा जाता है। यह समाजीकरण स्वतः ही होता जाता है। इसमें प्रायोजित कार्यक्रमों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अप्रकट राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया समाजीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ चलती रहती है। यह जीवन-भर चलने वाली प्रक्रिया या कार्यक्रम है। यह धीरे-धीरे चलता रहता है और इसके परिणाम अधिक स्थाई व दूरगामी होते हैं। यह छल योजन या जोड़-तोड़ से दूर रहने के कारण राजनीतिक संस्कृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता है। इस प्रकार का समाजीकरण स्वैच्छिक संस्थाओं, राजनीकि संस्थागत संरचनाओं, समुदायों आदि के द्वारा स्वतः ही होता रहता है।

(III) पुरातन राजनीतिक समाजीकरण

(Primitive Political Socialization)

यह समाजीकरण रूढ़िवादी राजनीतिक समाजों में पाया जाता है जो राजनीतिक जाग ति व चेतना से हीन है। इसमें लोगों का रूढ़िवादी मूल्यों, विश्वासों व परम्पराओं से गहरा लगाव होता है। इसमें राजनीतिक सत्ता में शीघ्रता से बदलाव नहीं होता। परम्परावादी होने के कारण इसमें व्यक्ति विशेष के पास ही राजनीतिक सत्ता रहती है और वही राजनीतिक सत्ता व शक्ति का नियामक बना रहता है। इसमें सामाजिक परिवर्तन व राजनीतिक आधुनिकीकरण को विद्रोह माना जाता है। यह केवल कबाइली समाजों में ही पाया जाता है।

(IV) आधुनिक राजनीतिक समाजीकरण

(Modern Political Socialization)

यह समाजीकरण सभ्य व उन्नत राजनीतिक समाजों में पाया जाता है। इसमें व्यक्ति को बाल्यकाल से ही राजनीतिक व्यक्ति बनाने के प्रयास किए जाते हैं। इसमें व्यक्ति को राजनीतिक समस्याओं और राजनीतिक संस्थागत संरचनाओं का ज्ञान शुरु से कराया जाता है। ताकि वह परिपक्व होकर राजनीतिक सत्ताधारक बन सके। इस प्रक्रिया में पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन, समाचार-पत्रों आदि जनसम्पर्क के साधनों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इससे व्यक्ति में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मूल्य व विश्वासों में व द्धि होती है और उसकी राजनीतिक चेतना व लगाव इस कद्र तक बढ़ जाता है कि वह राजनीतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग बन जाता है।

इसके अतिरिक्त भी राजनीतिक समाजीकरण के कई अन्य रूप भी हो सकते हैं, जैसे-औपचारिक व अनौपचारिक, निरन्तर व बाधित, समरूप व भिन्न। लेकिन इनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उपरोक्त वर्गीकरण से ही सम्बन्धित रहता है। यह अवश्य सत्य है कि प्रत्येक राजनीतिक समाज किसी न किसी रूप में राजनीतिक समाजीकरण की व्यवस्था को समेटे हुए है।

राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण

(Agencies of Political Socialization)

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक राजनीतिक समाज में चलती रहती है। इसको गतिशील बनाए रखने में अनेक तत्वों का योगदान होता है। ये तत्व सभी राजनीतिक समाजों

में समान प्रकृति के नहीं होते। राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया के चलने का कोई निश्चित समय नहीं होता। एलेन बाल ने कहा है कि "राजनीतिक समाजीकरण ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो बाल्यकाल के प्रभावग्रस्त योग्य वर्षों तक सीमित हो, बल्कि यह तो सारे व्यस्क जीवन के दौरान चलती रहती है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस लम्बी प्रक्रिया में व्यक्ति पर अनेक कारकों का प्रभाव भी अवश्य पड़ेगा। इसी से व्यक्ति के राजनीतिक समाजीकरण का मार्ग प्रशस्त होगा। एस०पी० वर्मा ने लिखा है-"राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, स्कूल, चर्च, समान लोगों के समूह, जनसम्पर्क के साधन और जन-सम्बन्धों की अहम् भूमिका होती है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक समाजीकरण के अनेक अभिकरण या साधन होते हैं। यह जरूरी नहीं है कि इन सभी साधनों का व्यक्ति पर समान प्रभाव पड़ता हो। व्यक्ति की आयु, ज्ञान, पारिवारिक वातावरण, अभिरुचि आदि का भी इस प्रक्रिया से गहरा सम्बन्ध रहता है। इसी कारण व्यक्तियों की राजनीतिक भूमिकाओं में भी अन्तर पाया जाता है। लेकिन यह बात तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कुछ अभिकरण अवश्य हैं जो व्यक्ति को राजनीतिक मानव बनाते हैं। ये अभिकरण निम्नलिखित हैं :-

(1) **परिवार** (Familiy) :- परिवार व्यक्ति की प्रथम पाठशाला है। व्यक्ति परिवार से ही अनेक सामाजिक सद्‌गुणों के साथ-साथ राजनीतिक विचारधारा भी ग्रहण करता है। परिवार का बाल्यकाल में व्यक्ति पर सर्वाधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। परिवार ही समाजीकरण व राजनीतिक समाजीकरण का महत्वपूर्ण अभिकरण है। इस अभिकरण की व्यक्ति के राजनीतिक समाजीकरण में भूमिका परिवार विशेष की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लगाव पर निर्भर करती है। आज परिवार की राजनीतिक समाजीकरण में पहले की अपेक्षा भूमिका में व द्धि हुई है। लेकिन मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में कुछ भागों में आज भी गांव राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया से पूरी तरह नहीं जुड़ पाए हैं। जहां आर्थिक विकास की समस्या है, वहां भी राजनीतिक समाजीकरण में परिवार या ग्रामीण समाज का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहता। लेकिन आज भारत में बहुत कम ही ऐसे क्षेत्र हैं जहां राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया न पहुंची हो। आज प्रत्येक गांव में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों ने व्यक्ति को राजनीतिक भूमिका अदा करने पर मजबूर कर दिया है। आज गांवों में ऐसा परिवार मुश्किल से मिलेगा जो राजनीति से दूर हो। आज हर समय खाली वक्त में प्रत्येक परिवार में राजनीतिक बातों पर खुलकर विचार-विमर्श होता है। इसका प्रभाव बच्चे पर भी अवश्य पड़ता है। बच्चा भी धीरे ध ीरे राजनीतिक बातों में रुचि लेने लगता है। जब गांवों में पंचायतों के चुनाव होते हैं तो प्रत्येक बच्चा भी राजनीतिक क्रियाएं करते हुए देखा जा सकता है। यही हाल शहरी स्वशासन की संस्थाओं के चुनावों में होता है। परिवार में बढ़ती राजनीतिक चेतना बालक के मानस-पटल पर भी अवश्य प्रभाव डाली है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो परिवार राजनीतिक द ष्टि से अधिक सामाजिक है, वह अपने बच्चों को भी राजनीतिक मानव बनाने में प्रेरणा के तौर पर कार्य करता है। परिवार में सीखे गए सद्‌गुण ही व्यक्ति के राजनीतिक जीवन में बहुत काम आते हैं। अतः परिवार राजनीतिक समाजीकरण का प्रमुख व प्रथम अभिकरण है।

(2) **शिक्षण संस्थाएं** (Educational Institutions) :- शिक्षा राजनीतिक व्यवहार का महत्वपूर्ण चर है। बच्चे को राजनीतिक समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में स्कूल व कॉलेज स्तर की शिक्षा का भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान होता है। बच्चा स्कूली स्तर से ही अपने देश की राजनीतिक घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने लगता है और कॉलेज स्तर तक पहुंचते-पहुंचते उसका राजनीति के प्रति लगाव अधिक हो जाता है। इस स्तर पर

आकर वह स्वयं ही विद्यार्थी संघ के चुनावों में अभिरुचि लेने लगता है और नेत त्व की प्रक्रिया में अहम् भूमिका अदा करने की सोचने लगता है। यह शिक्षण प्रक्रिया ही है जो व्यक्ति को सम्पूर्ण राजनीतिक मानव बना देती है। आज शैक्षिक पाठ्यक्रम में राजनीकि संरचनाओं, इतिहास, शासन तन्त्र, कानून, संविधान, भौतिक अधिकार व स्वतन्त्रताओं आदि को शामिल किया जाता है ताकि बच्चे का राजनीतिक घटनाओं व व्यवस्थाओं से परिचय हो सके। चीन और रूस में शिक्षण संस्थाएं ही राजनीतिक समाजीकरण का सबसे प्रबल साधन है। राजनीति शास्त्र का विषय आज प्रत्येक देश में पढ़ाया जाता है। इससे नागरिकों में देश व राजनीति के प्रति ज्ञान बढ़ता है जो कई बार प्रकट रूप ले लेता है। छात्र संघ के चुनाव राजनीतिक समाजीकरण का प्रकट रूप ही है। अतः शिक्षण संस्थाएं भी राजनीतिक समाजीकरण का महत्वपूर्ण साधन है।

(3) **मित्र-मण्डली** (Friends Circle) :- प्रत्येक देश में शिक्षण संस्थाओं के दौरान ही बच्चों के हमजोली या लंगोटिए समूह बन जाते हैं जो बाद में खुलकर विचार विमर्श करते हैं व गप्पे हांकते हैं। ये समूह अनौपचारिक होते हैं। इन समूहों में बच्चा विचार-विमर्श की गई बात को आत्मसात् कर लेता है। अध्यापक द्वारा बताई गई बातों तथा समाचार-पत्रों से प्राप्त राजनीतिक घटनाओं की जानकारी पर ये हमजोली समूह खुलकर चर्चा करते हैं। चुनावों के समय ये हमजोली समूह कुछ-न-कुछ राजनीतिक गतिविधियां अवश्य करते हैं। चुनावी प्रचार में जुटे लोगों की बातें सुनना, पर्चे पढ़ना व नारे लगाना इन्हें बहुत अच्छा लगता है। जब ये व्यस्क हो जाते हैं तो इनका गठजोड़ और अधिक मजबूत हो जाता है। ये इस बात पर निर्णय करने लग जाते हैं कि कौनसी पार्टी ठीक है या कौनसा नेता ठीक है। पढ़े-लिखे बच्चों में अनपढ़ों की अपेक्षा अधिक राजनीतिक चेतना रहती है। ये स्वेच्छिक समूह उम्र के साथ-साथ बनते बिगड़ते रहते हैं, लेकिन इनका अस्तित्व अवश्य रहता है। परिपक्व आयु में बनने वाले स्वेच्छिक समूह व्यक्ति का अधिक राजनीतिक समाजीकरण करते हैं और यह राजनीति समाजीकरण स्थायी प्रकृति का होता है।

(4) **दबाव व हित समूह** (Pressure and Interest Groups) :- आज प्रत्येक लोकतन्त्रीय देश में दबाव या हित समूह अवश्य पाए जाते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होने के कारण इनका राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ये समूह सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं के रूप में भी हो सकते हैं। आज विश्व में कृषकों, मजदूरों, सरकारी कर्मचारियों, व्यापारियों, विद्यार्थियों, स्त्रियों आदि के अनेकों संगठन हैं जो राजनीतिक गतिविधियां करके व्यक्ति का राजनीतिक समाजीकरण करते हैं। राजनीतिक दल के साथ लगकर राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए ये हमेशा जोड़-तोड़ करते रहते हैं। जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए ये तरह-तरह के तरीके प्रयोग में लाते हैं। ये अपने क्रिया-कलापों द्वारा राजनीतिक समाजीकरण में अहम् भूमिका निभाते हैं। कई बार तो ये राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देते हैं और राजनीतिक स्तर पर किए जाने वाले नीति-निर्माण को भी प्रभावित करते हैं। इनकी गतिविधियां ही राजनीतिक समाजीकरण का अभिकरण है।

(5) **राजनीतिक दल** (Political Parties) :- आज प्रत्येक देश में राजनीतिक दल विद्यमान है। चुनावी राजनीति को अमली जामा पहनाने में राजनीतिक दलों की ही महत्वपूर्ण भूमिका है। आज हर व्यक्ति का राजनीतिकरण करने का प्रयास राजनीतिक दल ही करते हैं। केन्द्र से लेकर ग्रामीण इकाई तक राजनीतिक दलों का जो जाल फैला हुआ है, उसने व्यक्ति का राजनीतिकरण कर दिया है। आज ग्रामीण संस्थाओं के चुनाव भी राजनीतिक दलों के गुप्त मार्गदर्शन में सम्पन्न होने लगे हैं। अब कोई भी व्यक्ति राजनीतिक दलों के प्रभाव से बच सकता। राजनतिक दल ही सत्ताधारकों के जन्मदाता हैं। राजनीतिक दल अपनी विशेष

राजनीतिक विचारधारा रखते हैं जिसको क्रियारूप देकर वे राजनीतिक समाज का समाजीकरण करते हैं। दलों के वार्षिक अधिवेशन, चुनावी घोषणापत्र राजनीतिक समाजीकरण्या की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। राजनीतिक दल ही जनता को राजनीति की तरफ आकर्षित करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा चलाए जाने वाले सदस्याता अभियान राजनीतिक समाजीकरण का महत्वपूर्ण अंग हैं। राजनीतिक दलों की गतिविधियों के कारण ही आज प्रत्येक व्यस्क व्यक्ति राजनीति के रंग में रंग चुका है। अतः राजनीतिक दल भी राजनीतिक समाजीकरण का प्रबल आधार है।

(6) **जनसम्पर्क के साधन** (Means of Public Relations) :- आज जनसम्पर्क के साधनों ने भी व्यक्ति का राजनीतिक समाजीकरण कर दिया है। समाचार पत्र, रेडियो, टी०वी०, पत्र-पत्रिकाओं से मिलने वाली राजनीतिक घटनाओं की जानकारी व्यक्ति को काफी प्रभावित करती है। इसी से उसके राजनीतिक विचार बनते व बिगड़ते हैं। आज सभी शासन-व्यवस्थाएं जनसम्पर्क के साधनों का प्रयोग करके अपने नागरिकों का राजनीतिक अभिमुखीकरण करने लगी है। आज हम जो कुछ रेडियो पर सुनते हैं, टी०वी० पर देखते हैं और समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, वह हमारे राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। साम्यवादी देशों में तो जनसम्पर्क के साधन ही सरकार के पास राजनीतिक अभिमुखीकरण का प्रबल साधन हैं। आज विकासशील व विकसित देशों में भी जन-सम्पर्क के साधन ही समाजीकरण में अहम् भूमिका निभा रहे हैं।

(7) **राजनीतिक व्यवस्था** (Political System) :- आज राजनीतिक व्यवस्था की संस्थागत संस्थाएं भी राजनीतिक समाजीकरण का प्रबल साधन बन गई हैं। सरकार द्वारा किए गए कार्यों को नागरिकों की पसंद या ना पसंद से जोड़कर इसका पता लगाया जाता है। साम्यवादी सरकारें जनसम्पर्क के साधनों तथा शिक्षण संस्थाओं का प्रयोग करके शासन-तन्त्र के इच्छित मूल्यों को नागरिकों में संप्रेषित करती है और नागरिकों की अभिव तियों, मान्यताओं और आस्थाओं को राजनीतिक समाजीकरण की तरफ मोड़ने के हर प्रयास करती हैं। लोकतन्त्र के अन्तर्गत भी सरकारें अपनी भूमिका निष्पादन के द्वारा लोगों को राजनीतिक सीख देती रहती है। राजनीतिक-व्यवस्था का भी राजनीतिक समाजीकरण से गहरा सम्बन्ध होता है। चीन व सोवियत संघ में लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए स्वैच्छिक युवा वर्गों ओर संगठनों को आर्थिक मदद भी की जाती रही है। कई बार तो धर्म तक को भी आड़ लेकर लोगों को राजनीतिक व्यवस्था से जोड़े रखने के प्रयास किए जाते रहे हैं।

(8) **आजीविका के साधन** (Means of Livelihood) :- आज प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक क्रियाओं से किसी न किसी रूप में उलझा हुआ है। विभिन्न सरकारी व गैर-सरकारी आर्थिक कार्यों में लगे हुए लोग अपने हितों के लिए संगठन व संघ बनाकर राजनीतिक गतिविधियां संचालित करते रहते हैं। इस सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया का सहारा लेकर प्रत्येक संगठन अपने उद्देश्यों को भी प्राप्त कर लेता है और इससे उसके सदस्यों का राजनीतिक समाजीकरण भी हो जाता है। संघ के दौरान रहकर सीखने वाली हड़ताल, बन्ध, तोड़फोड़, प्रदर्शन आदि गतिविधियां व्यक्ति के राजनीतिक स्वभाव का प्रमुख अंग बन जाती है जो आगे चलकर राजनीतिक जीवन के किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य प्रकट होने लगती हैं। पावेल ने लिखा है-"नौकरी और इसके इर्द-गिर्द औपचारिक व अनौपचारिक संगठन-क्लब, मजदूर संघ आदि राजनीतिक सूचना और विश्वास तथा मूल्यों से स्पष्ट रूप से संचार सम्बन्धी माध्यम है जो व्यक्ति का राजनीतिकरण करते हैं।"

(9) **राष्ट्रीय प्रतीक** (National Symbols) :- राष्ट्रीय प्रतीक भी राजनीतिक समाजीकरण का प्रमुख साधन होते हैं। गणतन्त्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस, मई दिवस, आम चुनाव, राज्याभिषेक,

गाँधी जयन्ती, राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय गान व गीत, मार्क्स व लेनिन की जयन्तियां आदि के कारण भी लोगों में राजनीतिक अभिमुखीकरण होता है। इनका बच्चों से लेकर व्यस्क व्यक्ति तक कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इससे लोगों को देश-विदेश की राजनीतिक बातों का पता लगता है और उनके राजनीतिक विचार विकसित होने लगते हैं जो उनको राजनीतिक समाजीकरण की तरफ ले जाते हैं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि व्यक्ति के राजनीतिक समाजीकरण में परिवार, शिक्षा, मित्र-समूह, जनसम्पर्क के साधन, दबाव समूह, राजनीतिक दल, साहित्य, विभिन्न समुदाय आदि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। साम्यवादी देशों में तो लोगों का राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अभिमुखीकरण करने के लिए स्वयं सरकार द्वारा जनसम्पर्क साधनों व शिक्षण संस्थाओं का खुलकर प्रयोग किया जाता है। इसलिए राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया इन देशों में वह लक्ष्य अस्थाई रूप में ही पूरे कर पाती है। इसके विपरीत लोकतन्त्रीय देशों में समाजीकरण की प्रक्रिया सहज व स्वतः होने के कारण अधिक स्थाई परिणाम देने वाली होती है। इस तरह प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति में पाए जाने वाले अन्तर के कारण वहां पर राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया भी दूसरे देशों से भिन्न हो जाती है। विकासशील देशों में तो धर्म की संस्थाएं भी आज राजनीतिक समाजीकरण का सशक्त माध्यम बनती जा रही हैं। आज धर्म के नाम पर राजनीतिक अभिमुखीकरण करना एक आम बात हो गई है। आर्थिक साधनों के अभाव में कई बार राजनीतिक समाजीकरण के साधन संयुक्त रूप से कार्य नहीं कर पाने के कारण अपने लक्ष्य में पिछड़ जाते हैं। विकासशील देशों में यही समस्या है। विकासशील देशों में राजनीतिक समाजीकरण के कुछ साधन या अभिकरण तो कागजों की शोभा बनकर रह गये हैं। भारत में स्कूली शिक्षा से सभी बच्चों को 2010 तक जोड़ना इस बात का सूचक है कि आने वाले समय में भारतीय समाज में राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया में अवश्य तेजी आएगी जो राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक शुभ संकेत होगी। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति, राजनीतिक समाज के मूल्य व अभिमुखीकरण, जनसम्पर्क के साधनों की व्यवस्था, आर्थिक विकास की प्रकृति, राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप आदि नियामक राजनीतिक समाजीकरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इनका घटता बढ़ता प्रभाव ही राजनीतिक समाजीकरण की मात्रा को निर्धारित करता है।

राजनीतिक समाजीकरण व राजनीतिक व्यवस्था में सम्बन्ध

(Relationship between Political Socialization and Political System)

राजनीतिक समाजीकरण तथा राजनीतिक व्यवस्था में गहरा सम्बन्ध है। राजनीतिक समाजीकरण ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का राजनीतिक व्यवहार भी निश्चित होता है और राजनीतिक व्यवस्था का भी। आज राजनीतिक आधुनिकीकण और विकास का सबसे प्रबल आधार राजनीतिक समाजीकरण ही है। यह राजनीतिक व्यवस्था को स्थिरता व कुशलता प्रदान करने का भी कार्य करता है। यह राजनीतिक व्यवस्था में भर्ती, सहभागिता आदि का नियामक होता है। राजनीतिक समाजीकरण व्यक्तियों के मन में मूल्यों, मानकों और अभिव तियों का विकास करता है जिससे उनके मन में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति गहरा लगाव पैदा होता है। यह सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसके अभाव में न तो राजनीतिक व्यवहार में स्थायित्व आ सकता है और न ही राजनीतिक व्यवस्था में। बाल्यकाल में व्यक्ति को राजनीतिक व्यवहार को जो ज्ञान कराया जाता है, उसका राजनीतिक समाजीकरण से ही गहरा रिश्ता होता है। राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरणों द्वारा किया गया राजनीतिक अभिमुखीकरण ही राजनीतिक चेतना का आधार होता है। यही चेतना राजनीतिक व्यवस्था के विकास के लिए रीढ़ की हड्डी का कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्था में उठने वाली मांगों व दबावों का नियामक

भी राजनीतिक समाजीकरण ही होता है। यही राजनीतिक समाज में व्यक्तियों की राजनीतिक सहभागिता या सक्रियता की मात्रा का निर्धारक भी होता है। राजनीतिक सहभागिता राजनीतिक समाजीकरण से सापेक्ष सम्बन्ध रखती है। राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जो विश्वास व धारणाएं बनती बिगड़ती हैं, उनके पीछे राजनीतिक समाजीकरण का ही हाथ होता है। राजनीतिक समाजीकरण ही राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मूल्यों और निष्ठा के पनपने का आधार है। यही वह साधन है जो व्यक्ति को राजनीतिक मानव बनाता है। इसी के कारण व्यक्ति अपनी अभिरुचि राजनीतिक समाज के प्रति रखने लगता है और निदेशक की भूमिका निभाने को भी तत्पर हो जाता है। राजनीतिक व्यवस्था में मांगों की तीव्रता, मात्रा व प्रकृति का निर्धारक भी राजनीतिक समाजीकरण ही करता है। आज व्यक्ति का प्रत्येक कार्य-व्यवहार राजनीति से प्रभावित होने के कारण राजनीतिक समाजीकरण का ऋणी हो गया है। व्यक्ति को राजनीतिक मानव बनाने के लिए राजनीतिक भर्ती व सहभागिता का नियमन राजनीतिक समाजीकरण ही करता है। राजनीतिक व्यवस्था के पुनःनिर्माण हेतु राजनीतिक संस्कृति को शक्तियुक्त बनाने का कार्य भी राजनीतिक समाजीकरण ही करता है अर्थात् राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल बनाने का कार्य भी राजनीतिक समाजीकरण ही करता है। राजनीतिक व्यवस्था के पुनः निर्माण में राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरणों की ही मदद ली जाती है ताकि बिना बाधा के राजनीतिक व्यवस्था गतिशील बनी रहे।

जिस तरह राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करता है, उसी तरह राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को भी निश्चित करती है। राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति राजनीतिक समाजीकरण की मात्रा निर्धारित करती है। जो राज-व्यवस्था जितनी स्थायी होगी, उतनी ही राजनीतिक समाजीकरण के मुख्य अभिकर्ताओं को विशिष्ट बना देगी। लोकतन्त्र में खुलापन रहने के कारण राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण उतने ही अधिक स्वतन्त्र ढंग से कार्य करते हैं, जबकि सर्वाधिकारवादी या निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं में राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति ही समाजीकरण की नियामक बन जाती हे। ऐसी व्यवस्थाओं में राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरणों को राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षाओं के अनुभव ही सक्रिय होना पड़ता है। सर्वाधिकारवादी समाज राजनीतिक समाजीकरण पर विशेष ढंग से जोर देता है। लेनिन ने लिखा है-"शिक्षण संस्थाओं और युवकों के प्रशिक्षण को क्रांतिकारी ढंग से नए सिरे से ढालने पर ही हम सुनिश्चित कर पाएंगे कि युवा पीढ़ी के प्रयासों के परिणामस्वरूप समाज की पुनःर्रचना होगी जो परम्परागत समाज से भिन्न होगी।" इस प्रकार राजनीतिक समाजीकरण के साधनों को आरोपित करने के प्रयास के कारण ही सर्वसत्ताधिकारी राज-व्यवस्था लोकतन्त्रीय राज-व्यवस्था से भिन्न है। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था भी राजनीतिक समाजीकरण की नियामक होती है।

राजनीतिक समाजीकरण व राजनीतिक संस्कृति में सम्बन्ध

(Relationship between Political Socialization and Political Culture)

राजनीतिक समाजीकरण व राजनीतिक संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। राजनीतिक समाजीकरण के माध्यम से ही राजनीतिक संस्कृति बाल्यकाल से युवावस्था तक चलती रहती है। राजनीतिक समाजीकरण ही राजनीतिक संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचता है। इससे राजनीतिक संस्कृति में गतिशीलता के साथ-साथ सजीवता भी बनी रहती है। ऑमण्ड और वर्बा ने लिखा है-"राजनीतिक समाजीकरण ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृतियों को बनाए रखा जाता है या परिवर्तन किया जाता है।" राजनीतिक समाजीकरण ही राजनीतिक संस्कृति का नियामक होता है। राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण ही व्यक्ति को राजनीतिक संस्कृति में दीक्षित करते हैं। राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति को विशेष पहचान देता है।

उससे ही राजनीतिक संस्कृति को तत्व और अन्तर्वस्तु प्राप्त होती है और राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता में निर्णायक भूमिका निभाने में समर्थ हो पाती है। राजनीतिक विकास की तरफ उन्मुख सभी नवोदित राष्ट्र अपने अनुकूल राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया पर बहुत जोर देते हैं। वे संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति को सहभागी राजनीतिक संस्कृति के विकास में राजनीतिक समाजीकरण ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह राष्ट्र के प्रति निष्ठा तथा विशिष्ट मूल्यों को पनपाने में मदद करता है और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लोगों का लगाव भी बढ़ाता है। यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। इस प्रक्रिया को गति देने में राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण-परिवार, शिक्षण संस्थाएं, स्वैच्छिक समूह, सरकार, राजनीतिक दल व जनसम्पर्क के साधन अहम् भूमिका निभाते हैं।

इसी तरह राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति भी राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करके राजनीतिक समाजीकरण को कुछ न कुछ प्रभावित करने की चेष्टा करती है। राजनीतिक संस्कृति ही राजनीतिक प्रक्रिया को अर्थ व ढांचा प्रदान करती है। राजनीतिक व्यवस्था का ढांचा ही समाजीकरण की मात्रा को निश्चित करता है। पराधीन संस्कृति वाले समाजों में समाजीकरण की प्रक्रिया अधिक सक्रिय नहीं हो पाती है, जबकि विकसित संस्कृति वाले देशों में समाजीकरण को विशेष महत्व दिया जाता है। इसी कारण राजनीतिक संस्कृति का पराधीन रूप सर्वाधिकारवादी देशों में राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया पर नियन्त्रण बनाये रखने में सफल रहता है। राजनीतिक संस्कृति लोगों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मनोव ति व रुचि का प्रतिमान होने के कारण राजनीतिक समाजीकरण की दिशा निर्धारित भी करती है। प्रत्येक राजनीतिक समाज अपनी राजनीतिक संस्कृति के अनुरूप ही राजनीतिक समाजीकरण का नियमन करता है। राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक समाजीकरण के आपसी सम्बन्ध ही राजनीतिक व्यवस्था को नया अर्थ देते हैं। अड़ियल प्रकार की संस्कृति राजनीतिक समाजीकरण के साथ साथ राजनीतिक व्यवस्था को भी गतिहीन बना देती है।

राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणा का मूल्यांकन

(Evaluation of the concept of Political Socialization)

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता हैं कि राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया राजनीति विज्ञान की नई संकल्पना है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उजागर हुई है। यह राजनीतिक विकास व आधुनिकीकरण को गति देती है और राजनीतिक संस्कृति का अनुरक्षण करती है। व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति के अनुरूप बनाकर यह राजनीतिक व्यवस्था में स्थायित्व व कार्यकुशलता का गुण भी पैदा करता है। राजनीतिक भर्ती व सहभागिता को क्रियान्वित करके राजनीतिक समाजीकरण ही राजनीतिक विकास व आधुनिकीकरण के लक्ष्य को पूरा करता हैं मनुष्य को राजनीतिक मानव बनाने में राजनीतिक समाजीकरण जो भूमिका अदा करता है, वह कार्य अन्य किसी व्यवस्था द्वारा सम्भव नहीं है। एक सतत् प्रक्रिया के रूप में यह राजनीतिक व्यवहार व राजनीतिक व्यवस्था दोनों का नियामक होता है। इसका राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण व राजनीतिक व्यवहार से गहरा सम्बन्ध रहता है। अपने विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से यह नियामक बना रहता है। अतः राजनीतिक समाजीकरण की संकल्पना राजनीतिक विज्ञान में काफी महत्व रखती है। इसके आगमन से राजनीति विज्ञान को नई दिशा मिली है।

अध्याय-12
राजनीतिक संचार
(Political Communication)

संचार साधनों के विकास ने मनुष्य को न केवल सामाजिक बल्कि राजनीतिक मानव भी बना दिया है। संचार साधनों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही राजनीति विज्ञान में राजनीतिक संचार की संकल्पना का विकास किया गया है। आज राजनीतिक संचार राजनीति विज्ञान की वह महत्वपूर्ण अवधारणा बन चुका है जिसके बिना किसी राजनीतिक व्यवस्था के सम्पूर्ण ताने-बाने को समझना कठिन है। व्यक्ति का राजनीतिकरण केवल राजनीतिक संचार की व्यवस्था द्वारा ही किया जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक व्यवस्था में इस अवधारणा का महत्व अधिक हो गया है। राजनीतिक संचार ने राजनीतिक व्यवस्था को नई दिशा दी है। व्यक्ति की बढ़ती राजनीतिक सहभागिता व सक्रियता राजनीतिक संचार के महत्व को प्रतिपादित करती है। राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों और निर्गतों को जोड़ने वाली कड़ी राजनीतिक संचार ही है। आज राजनीतिक संचार के बिना कोई भी संगठन तथा राजनीतिक व्यवस्था अपने उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में सफल नहीं हो सकती। लोकतन्त्रीय शासन प्रणालियों में राजनीतिक संचार का जो महत्व है, वह सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी है। राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था के एक भाग से दूसरे भाग को जोड़कर राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाता है। इसी कारण आज राजनीतिक संचार को राजनीतिक व्यवस्था की रक्तधारा कहा जाने लगा है।

राजनीतिक संचार का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Communication)

राजनीतिक संचार की अवधारणा 'संचार' की अवधारणा पर आधारित है। संचार को समझे बिना राजनीतिक संचार को समझना कठिन है। संचार को परिभाषित करने का व्यवस्थित प्रयास सर्वप्रथम नोबर्ट वीनर ने किया है। उसके अनुसार-"संचार एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक सूचनाओं का आदान-प्रदान है।" उसने आगे कहा है-"कि जीवन में पर्यावरण से जानकारी को ग्रहण करना, उस जानकारी का पर्यावरण के साथ तालमेल बैठाने में प्रयोग करना और बाहरी पर्यावरणों के साथ प्रभावी ढंग से रहने की प्रक्रिया ही संचार है।" संचार शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Kubernetes' से हुई है जिसका अंग्रेजी में अर्थ 'संचालक' (Steersman) है। वीनर ने इसे अंग्रेजी में इसके लिए 'Cybernetics' शब्द का प्रयोग किया है। उसकी राजनीतिक संचार की संकल्पना को राजनीतिक साइबरनेटिक्स भी कहा जाता है। 'साइबरनेटिक्स' सूचनाओं के आदान प्रदान को ही इंगित करता है। वीरन की बात से अन्य राजनीतिक विज्ञान भी सहमत है। राजनीति विज्ञान में प्रयुक्त संचार शब्द का अर्थ उस अर्थ से अलग है जिसका सम्बन्ध समाचारपत्रों, रेडियो और दूरदर्शन जैसे संचार साधनों से लिया जाता है। राजनीतिक संचार तो राजनीतिक व्यवस्था के एक भाग से दूसरे भाग तक मांगों और नियमों (निर्गतों) का गत्यात्मक संचरण है। यह राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न भागों को आपस में जोड़ता है। इसलिए राजनीतिक संचार का सम्बन्ध

राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन से ही सम्बन्धित है।"

(1) इसको परिभाषित करते हुए जीन ब्लौण्डेल ने लिखा है-"राजनीतिक सम्प्रेषण राजनीतिक व्यवस्था के एक भाग से दूसरे भाग तक मांगों और निर्णयों का गतिशील आंदोलन है, क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था की कोई भी संक्रिया तब तक नहीं हो सकती जब तक कि व्यवस्था के विभिन्न भाग एक दूसरे से सम्प्रेषण न कर सकें।"

(2) ल्यूशियन पाई ने अपनी पुस्तक 'Communication and Political Development' में लिखा है-"राजनीतिक सांचार राजनीतिक व्यवस्था का ताना-बाना है।" पाई की द ष्टि में राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था में गतिशीलता व सक्रियता का ऐसा माध्यम है जिनसे राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न भाग अन्तःक्रियाशील बनते हैं। यह राजनीतिक संचार का सीमित अर्थ है। ल्यूशियन पाई की परिभाषा भी जीन ब्लौण्डेल से मिलती-जुलती है।

(3) कार्ल डयूश के अनुसार-"राजनीतिक संचार सूचनाओं और जानकारी का राजनीतिक व्यवस्था के आर-पार सम्प्रेषण है।" इस तरह सीमित अर्थ में राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था में मांगों व निर्णयों का एक भाग से दूसरे भाग में गत्यात्मक संचलन है।"

(4) मिलेट के अनुसार-"राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था व प्रशासकीय संगठन की रक्तधारा है।"

(5) जार्ज ए० मिलर के अनुसार-"राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था में आगत-निर्गत सहसम्बन्धों का माप है।"

राजनीतिक संचार के अभिकरण व संरचनाएं

(Agencies and Structure of Political Communication)

विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने से यह तथ्य उजागर होता है कि प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचार की कुछ औपचारिक व अनौपचारिक संरचनाएं या अभिकरण है जो राजनीतिक संचार के कार्य करती है। औपचारिक संरचनाओं में - विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, राजनीतिक दल, व हित समूह शामिल हैं, जबकि अनौपचारिक संरचनाओं में परिवार, रक्त सम्बन्ध, वंश परम्पराएं, निकटस्थ समूह, पड़ोसी, समुदाय, ग्राम, जातीय और भाषायी समूह आदि हैं। लेकिन इनके साथ-साथ प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में जनसम्पर्क के साधन भी हैं जो उपरोक्त संरचनाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। ऑमण्ड तथा पावेल ने इन संरचनाओं को पांच भागों में बांटा है। उसके अनुसार राजनीतिक संचार की प्रमुख संरचनाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) राजनीतिक निदेशों की संरचनाएं (Political Input Structures)

(2) राजनीतिक निर्गतों की संरचनाएं (Political Output Structures)

(3) परम्परागत सामाजिक संस्थाएं (Traditional Social Institutions)

(4) जनसंचार के साधन (Mass Media)

(5) अनौपचारिक व प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध (Informat and Direct Personal Relations)

(1) राजनीतिक निवेशों की संरचनाएं (Political Input Structures) :- प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में निवेश प्रक्रिया को गति देने के लिए कुछ संरचनाएं होती हैं जो मांगों और समर्थनों के रूप में निवेशों की राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश कराती है। ये संरचनाएं प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में पाई जाती हैं, लेकिन प्रजातन्त्रीय देशों में इनका प्रभाव अधिक रहता है। राजनीतिक दल, हित समूह तथा दबाव समूह ऐसी ही औपचारिक संरचनाएं हैं जो जनता

की मांगों को राजनीतिक नेताओं तक पहुंचाते हैं। बलों व समूहों तक जनता की पहुंच होने के कारण ये मांगें आसानी से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश कर जाती हैं। सरकारी नियन्त्रण से मुक्त होने के कारण ये समूह राजनीतिक दलों के माध्यम से अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों के कारण अपना यह कार्य आसानी से कर लेते हैं। इसी कारण हित समूहों की निवेश प्रक्रिया के वाहक कहा जाता है। जिस तरह निवेश संरचनाएं जनता की मांगें राजनीतिक नेत त्व तक पहुंचाती हैं, उसी तरह वे सरकार की बातें भी जनता तक पहुंचाती हैं। अब राजनीतिक निवेशों की संरचनाएं राजनीतिक संचार के महत्वपूर्ण अभिकरण हैं।

(2) **राजनीतिक निर्गतों की संरचनाएं (Political Output Structures) :-** जिस तरह निवेशों की संरचनाएं होती हैं, उसी तरह प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में निर्गतों की भी औपचारिक राजनीतिक संरचनाएं होती हैं। इन संरचनाओं में सरकारी व प्रशासकीय मशीनरी आती है। विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा नौकरशाही ऐसी ही संरचनाएं है। इनका राजनीतिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण हाथ होता है। सूचनाओं को राजनीतिक व्यवस्था के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुंचाने में ये महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इन्हीं के कारण राजनीतिक व्यवस्था गतिशील बनी रहती है और सम्पूर्ण शासनतन्त्र एक ढांचे में बंधा रहता है। ये संस्थाएं जनता व नेताओं को जोड़ती है और जनता को राजनीतिक व्यवस्था के घेरे में जानकारी देती है। इन्हीं संरचनाओं के माध्यम से निर्गतों के रूप में निर्णयों को समाज में लागू किया जाता है। सरकारी तन्त्र की सभी सूचनाओं या निर्णयों को ये संरचनाएं ही समाज में वितरित करती है। इस तरह निर्गत-संरचनाएं भी राजनीतिक संचार की प्रक्रिया में अहम् भूमिका अदा करने वाले अभिकरण हैं।

(3) **परम्परागत सामाजिक संरचनाएं (Traditional Social Institutions) :-** इन संरचनाओं के अन्तर्गत परिवार, जाति, मत, रक्त सम्बन्ध, वंश परम्पराएं, निरुक्त समूह, पड़ोसी, समुदाय, ग्राम आदि आते हैं। इन सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं का भी राजनीतिक संचार में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। कबीलों तथा जनजातियों के सरदार अपने विशेष प्रभाव के कारण अपने समाज पर राजनीतिक प्रभाव डालने में सफल रहते हैं। राजनीतिक समाज की समस्त जानकारी रखने वाले व उसका प्रवाह करने वाले यही एकमात्र आधार होते हैं। आजकल धार्मिक नेताओं द्वारा भी राजनीतिक प्रश्नों तथा विवादों की व्याख्या की जाने लगी है। श्रीलंका तथा वियतनाम में धार्मिक नेता ही विशिष्ट वर्गों तथा साधारण जनता में राजनीतिक सम्प्रेषण का कार्य करते हैं। परिवार व जातीय समूह भी राजनीतिक सूचनाओं के आदान-प्रदान में पीछे नहीं हैं। वास्तव में सभी परम्परागत सामाजिक संरचनाएं ही राजनीतिक ज्ञान की सूचनाओं का आदान-प्रदान करने वाले अभिकरण हैं।

(4) **जनसंचार के साधन (Mass Media) :-** इन्हें जनसम्पर्क के साधन भी कहा जाता है। इनमें पत्र-पत्रिकाएं, रेडियो, दूरदर्शन, समाचार-पत्र, पुस्तकें, इन्टरनेट आदि व्यवस्थाएं शामिल हैं। इन साधनों का प्रयोग सभी राजनीतिक दल, दबाव समूह तथा निवेश व निर्गत राजनीतिक संरचनाएं खुलकर करती हैं। लोकतन्त्रीय देशों में इन साधनों को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रखकर सम्प्रेषण कार्य कराया जाता है, जबकि सर्वाधिकारवादी देशों में ये सरकारी नियन्त्रण में रहकर ही संचार कार्य करती है। ये साधन विशेषीकृत व विभेदीकृत होने के कारण राजनीतिक संचार के सर्वाधिक प्रभावशाली साधन माने जाते हैं। ये साधन जन मान्यताओं और अभिरुचियों को राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इसलिए जनसंचार के साधन राजनीतिक संचार के सबसे अच्छे व प्रभावी अभिकरण हैं।

(5) **अनौपचारिक व प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध (Informal and Direct Personal Relations) :-** राजनीतिक संचार की प्रक्रिया में व्यक्ति का व्यक्ति से अनौपचारिक व प्रत्यक्ष

सम्पर्क भी राजनीतिक संचार का अभिकरण है। यह अभिकरण प्रत्येक प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त रहता है। राजनीतिक संचार के जनसंचार के अभिकरण भी इतने प्रभावशाली नहीं हरते, जितना यह अभिकरण। राजनीतिक घटनाओं की जानकारी रखने वाले व्यक्ति राजनीतिक संचार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति अवश्य ही राजनीतिक बातों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। राजनीतिक घटनाओं की जानकारी रखने वाले व्यक्ति कभी-कभार राजनीतिक नेत त्व को भी प्राप्त कर लेते हैं। उस स्थिति में उनकी राजनीतिक संचार के अभिकरण के रूप में भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रजानीतिक संचार को गति देने वाली अनेक सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं या अभिकरण हैं। सभी अभिकरण राजनीतिक व्यवस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान तक एक भाग से दूसरे भाग तक राजनीतिक सूचनाओं का आदान प्रदान करते हैं। ये अभिकरण ही राजनीतिक व्यवस्था की गतिशीलता का आधार होते हैं और राजनीतिक व्यवस्था में रक्त संचार की तरह कार्य करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के जीवन का आधार यही अभिकरण होते हैं। इसी कारण इन्हें राजनीतिक व्यवस्था की प्राणवायु कहा जाता है।

राजनीतिक संचार व राजनीतिक समाजीकरण का सम्बन्ध

(Relationship between Political Communication and Political Socialization)

राजनीतिक संचार व राजनीतिक समाजीकरण में आपस में गहरा सम्बन्ध है। राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक संचार और जनसम्पर्क के साधनों पर आधारित है। राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण वास्तव में राजनीतिक संचार के ही अभिकरण हैं। व्यक्ति का राजनीतिक बातों के प्रति रूझान संचार साधनों द्वारा ही सम्भव बनाया जाता है। राजनीतिक सूचनाओं का आदान-प्रदान ही राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को गति देता है। आज जनसम्पर्क के साधनों ने राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान की है। इसी कारण राजनीतिक संचार राजनीतिक समाजीकरण एक पूर्व शर्त माना जाता है। राजनीतिक संचार की प्रक्रिया व्यक्ति के दिमाग पर सीधा असर डालती है और उसे राजनीति के प्रति उलझाव के लिए प्रेरित करती है। इसी कारण आज कहा जाता है कि संचार के बिना न तो समाजीकरण सम्भव है और न ही राजनीतिक संचार के बिना राजनीतिक समाजीकरण। आज प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपने लोगों का अपने प्रति रुझान या लगाव पैदा करने के लिए अपने राजनीतिक संचार के ताने-बाने को ही मजबूत बनाती है। सर्वाधिकारवादी देशों में राजनीतिक समाजीकरण के लिए राजनीतिक संचार की व्यवस्था को ही अधिक मजबूत व प्रभावशाली बनाया जाता है। लोकतन्त्रीय देशों में तो संचार की प्रक्रिया स्वतः ही इस कार्य में जुटी रहती है। राजनीतिक समाजीकरण का कार्य राजनीतिक संस्कृति को बनाए रखना व उसका विकास करना होता है। इस कार्य में राजनीतिक संचार ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। राजनीतिक संचार के बिना राजनीतिक समाजीकरण का लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः राजनीतिक संचार व राजनीतिक समाजीकरण में गहरा सम्बन्ध है। राजनीतिक संचार ही राजनीतिक समाजीकरण का आधार है।

राजनीतिक संचार व राजनीतिक विकास का सम्बन्ध

(Relationship between Political Communication and Political Development)

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में राजनीतिक विकास वह पक्ष है जिसमें राजनीतिक संरचनाओं का विभेदीकरण तथा विशेषीकरण होता है। यह राजनीतिक संस्कृति का लौकिकीकरण है जिसमें

जनता में समानता तथा राजनीतिक सहभागिता की व द्धि होती है। इसमें राजनीतिक कार्यक्षमता का विकास भी शामिल है। जन-संचार के साधनों का विकसित होना तथा राजनीतिक नियन्त्रणों से प्रकट होना व जन साधारण की उन तक पहुंच होना राजनीतिक विकास की पूर्व दशाएं हैं। संचार के साधन राजनीतिक विकास को गति प्रदान करने तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की समस्याओं का हल निकालने में सहायक होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में जन-संचारण और जन-सहभागिता बढ़ाने में संचार साधनों की ही भूमिका महत्वपूर्ण होती है। राजनीतिक विकास की सफलता व्यवस्थाओं का विकास भी संचार-साधनों के विकास के साथ ही हुआ है। राजनीतिक विकास में समानता व क्षमता को व्यवहारिकता प्रदान करने के लिए राजनीतिक जागरूकता का होना जरूरी है। इस जागरूकता को संचार के साधन ही ला सकते हैं। समानता व क्षमता की व्यवस्था से अभिप्राय यह है कि सभी को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के समान अवसर हों और राजनीतिक प्रक्रियाओं में जन सहभागिता हो तथा राजनीतिक व्यवस्था में जनसहभागिता को सहन करने की क्षमता हो। इसके लिए राजनीतिक जागरूकता का निर्माण संचार के साधन ही करते हैं। आज ये साधन व्यक्ति की हर गतिविधि के नियामक होते जा रहे हैं और समाज का ताना-बाना इन्हीं पर आधारित हो गया है। राजनीतिक विकास के लिए राजनीतिक व्यवस्था में सूचनाओं का समुचित आदान-प्रदान होना आवश्यक है। इस रूप में राजनीतिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में जन-संचार के साधन बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लोकतन्त्र में तो जनसंचार के साधनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। विभिन्न राजनीतिक दल जन-समर्थन के लिए इनका ही प्रयोग करते हैं। लोकतन्त्र में संचार साधनों की भूमिका स्वतः ही स्पष्ट है। इनके अभाव में न तो सरकारों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है और न ही जनमत का निर्माण किया जा सकता है। संचार साधन ही स्वस्थ जनमत का निर्माण करते हैं। स्वस्थ जनमत व जन-चेतना के अभाव में न तो राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्य प्राप्त हो सकते हैं और न ही राजनीतिक विकास सम्भव है। अतः राजनीतिक विकास में राजनीतिक संचार के अभिकरण ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। रजानीतिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में राजनीतिक संचार के अभिकरणों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचार की भूमिका

(Role of Political Communication in Political System)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचार की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। राजनीतिक संचार ही वह साधन है जो व्यवस्था के पक्ष में स्वस्थ जनमत तैयार करता है और राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। राजनीतिक जागरूकता लाकर राजनीतिक विकास को गति देने में संचार साधनों की भूमिका ही महत्वपूर्ण रहती है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था में तो राजनीतिक संचार के अभिकरण ही व्यवस्था को गतिशील बनाए रखते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर उद्योगों को भी संचार के साधन ही सहारा प्रदान करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के लिए विशेष राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार करने में राजनीतिक संचार के अभिकरणों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। राजनीतिक संचार द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के लिए किए गए कार्य ही उसकी भूमिका को स्पष्ट करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचार की निम्नलिखित भूमिका हो सकती है :-

(1) राजनीतिक संचार राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है।

(2) राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था व उसकी संरचनाओं के लिए स्वस्थ जनमत का निर्माण करता है।

(3) राजनीतिक संचार राजनीतिक विकास को गति देता है।

(4) राजनीतिक संचार जनता में राजनीतिक चेतना व जामरूकता का स्तर ऊँचा करता है।

(5) राजनीतिक संचार के अभिकरण औद्योगिक विकास में भी अहम् भूमिका निभाते हैं।

(6) राजनीतिक संचार राजनीतिक व्यवस्था के लिए विशेष व अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है।

(7) राजनीतिक संचार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देश का सम्मान बढ़ाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में व द्धि करता है।

राजनीतिक संचार की राजनीतिक प्रक्रिया के संचालन में भूमिका

(Role of Political Communication in the Operating of Political Process)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था कुछ न कुछ प्रकार्यों का निष्पादन करती है। इन प्रकार्यों के निष्पादन के लिए बहुप्रकार्यात्मक राजनीतिक संरचनाएं होती हैं। इन संरचनाओं की प्रकार्यात्मक व्यवस्था को राजनीतिक प्रक्रिया कहा जाता है। यह राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक व्यवस्था के निवेश व निर्गत सम्बन्धी कार्यों को निष्पादित करने वाली व्यवस्था है। इसमें राजनीतिक संचार की संरचनाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। राजनीतिक संचार ही राजनीतिक प्रक्रिया को गतिशील बनाकर राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है। कार्ल ड्यूश ने राजनीतिक व्यवस्था में प्रक्रियात्मक संरचनाओं के संचालन के लिए एक नया सिद्धान्त पेश किया है, जिसे राजनीतिक संचार का सिद्धान्त कहा जाता है।

कार्ल डयूश का कहना है कि अपने क्रियात्मक रूप को व्यवहारिक व गतिशील बनाए रखने के लिए प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को सूचना-प्रवाहों की आवश्यकता पड़ती है। उसका कहना है कि राजनीति और सरकार निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मानव प्रयासों का संचालन और समन्वय करने की प्रक्रियाएं हैं। इन प्रक्रियाओं का गत्यात्मक अध्ययन ही राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन है। इस प्रक्रियात्मक अध्ययन के लिए निम्नलिखित संकल्पनाएं विकसित की गई हैं :-

(I) परिचालन संरचनाओं से सम्बन्धित संकल्पनाएं।

(II) प्रवाहों और संक्रियाओं से सम्बन्धित संकल्पनाएं।

(III) परिणामों से सम्बन्धित संकल्पनाएं।

(IV) विशिष्ट संकल्पनाएं।

इन संकल्पनाओं के आधार पर कार्ल डयूश ने अपना संचार सिद्धान्त खड़ा किया है और राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता पर संचार के प्रभाव को इंगित किया है। कार्ल डयूश का कहना है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का प्रक्रियात्मक ढांचा घरेलू और विदेशी व्यवस्थाओं से सूचना प्राप्त करता है। उसके बाद सूचना की जांच पड़ताल और कांट-छांट होती है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में सूचनाओं के स्वागत व जांच-पड़ताल के लिए स्वागतकर्ता तथा स्वागत व्यवस्थाएं होती हैं। इसमें स्म ति का प्रतिनिधित्व करने वाले संरचनाएं सूचना को तुरन्त ही प्रक्रियाओं और परिणामों से सम्बन्ध रखने वाली अतीत के अनुभवों को अधिमान्यताओं से जोड़ देती है। मूल्यों को निर्धारित करने वाली सूचनाएं सम्भावनाओं को अधिमान्यताओं से जोड़ देती है और इसके बाद ही राजनीतिक व्यवस्था निर्णय-निर्माण की तरफ आगे बढ़ती है। संचालक संरचनाओं से और भी संरचनाएं होती हैं जो व्यवस्था द्वारा लिए गए निर्णयों को लागू करती है। ये संरचनाएं व्यवस्था द्वारा लागू किए गए निर्णयों के ऊपर लोगों की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में सूचना को फिर से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवाहित कर देती हैं।

उनके निर्णय निर्माण तक वही प्रक्रिया दोहराई जाती है जो पहले दोहराई गई थी। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था की समस्त प्रक्रिया सूचनाओं के प्रवाह-प्रतिमान के रूप में चलती रहती है।

सूचना-प्रवाहों और संक्रियात्मक संकल्पनाओं का सम्बन्ध सूत्रों, भरों व भार-क्षमता से होता है। सूचना प्रवाहों का प्रतिमानित सेट वास्तव में संचार का ताना-बाना होता है। भार का तात्पर्य सूचना की भेजी जाने वाली मात्रा से है। भार क्षमता इस बात पर निर्भर है कि सूचना के आदान-प्रदान के लिए कितने सूत्र (Channel) व्यवस्था में उपलब्ध हैं। भार-क्षमता का सम्बन्ध ग्रहणशीता, विश्वस्तता और विकृति से भी जोड़ा जाता है। यह सब राजनीतिक व्यवस्था में सूचना के संसाधन का कार्य करते हैं। यदि कोई अभिकरण व्यवस्था में आने वाली सूचना से कुशलता से निपट लेता है तो यह इसकी अनुक्रियात्मकता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो अवश्य सूचना के प्रवाह के रास्ते में कोई बाधा है।

परिणामों से सम्बन्धित संकल्पना में प्रतिसम्भरण या पुनर्निवेश की संकल्पना शामिल है। कार्ल डयूश ने नाबर्ट वीनर ये से अवधारणा ग्रहण की है। उसने अपनी इस संकल्पना पर ही संचार-सिद्धान्त खड़ा करते हुए कहा है कि व्यवस्था की प्रतिसम्भरण की प्रक्रिया ही उसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रभावकारी अधिकार देती है। कार्ल डयूश ने प्रतिसम्भरण की व्यवस्था को सकारात्मक तथा नकारात्मक दो भागों में बांटा है। उसने व्यवस्था के व्यवहार को घोषित दिशा में ले जाने वाली शक्ति को सकारात्मक प्रतिसम्भरण कहा है। उसका कहना है कि नकारात्मक प्रतिसम्भरण वह प्रक्रिया है जो निर्णयों और उनको लागू करने से उत्पन्न होने वाले परिणामों को स्वतः ही ऐसी दिशा में मोड देता है जो व्यवस्था को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के पास ले जाते हैं। कार्ल डयूश का मानना है कि नकारात्मक प्रतिसम्भरण की व्यवस्था ही व्यवस्था का आंतरिक संतुलन कम करके उसे गतिशील बनाए रखती है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने नकारात्मक प्रतिसभ्मरण को संचार सिद्धान्त की आत्मा कहा है। इस नकारात्मक प्रतिसम्भरण द्वारा ही कोई व्यवस्था अपने निर्णयों या निर्गतों को नियमित करके वांछित लक्ष्यों की तरफ ले जाती है। इसलिए इसका राजनीतिक व्यवस्था में होना बहुत आवश्यक है।

विशिष्ट संकल्पनाएं नकारात्मक प्रतिसम्भरण (Feedback) की प्रक्रियाओं के परिचालन की व्याख्या से सम्बन्धित हैं। इस भार (Load), विलम्ब (Lag), लाभ (Gain) तथा अग्रता (Lead) शामिल हैं। भार का अभिप्राय परिवर्तनों की उस व्यापकता और गति से है जो व्यवस्था को अपने लक्ष्यों की तरफ ले जाती है। विलम्ब परिणामों और कार्यों के परिणामों के बारे में सूचना पर रिपोर्ट और कार्य करने में देरी का माप है। लाभ इस सूचना की प्राप्ति के बारे में व्यवस्था की अनुक्रियाओं से सम्बन्धित विस्तार को दिखाता है। अग्रता भारी परिणामों के पूर्वानुमानों की अनुक्रियाओं में कार्य करने की क्षमता है।

इस प्रकार राजनीतिक संचार के सिद्धान्त के माध्यम से कार्ल डयूश ने राजनीतिक व्यवस्था के प्रक्रियात्मक पहलु पर जोर देकर राजनीतिक व्यवस्था को व्यवस्थित व गतिशील बनाए रखने पर जोर दिया है। उसका कहना है कि राजनीतिक व्यवस्था के सभी कार्य राजनीतिक संचार के माध्यम से ही किए जाते हैं। सभी राजनीतिक संरंचनाएं मांगों या निवेशों की प्रक्रिया से लेकर नियम-निर्माण व निर्णयों के निर्गतों के रूप में कार्य करने तक राजनीतिक प्रक्रिया के अंग बनी रहती है। राजनीतिक संचार ही राजनीतिक व्यवस्था के सभी अंगों की सूचना प्रवाह से जोड़कर उसकी क्रियात्मकता में व द्धि करता है। अतः निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक संचार राजनीतिक प्रक्रिया के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

अध्याय-13
दलीय-व्यवस्थाएं
(Party-Systems)

दलीय व्यवस्था लोकतन्त्र की आत्मा है। आज विश्व के सभी लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं वाले देशों में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका है। मुनरो ने तो स्वतन्त्र राजनीतिक दलों के शासन को ही लोकतन्त्रीय शासन कहा है। आज लोकतन्त्र और राजनीतिक दल एक दूसरे के पूरक हैं। लोकतन्त्र में जनता का ही शासन होता है और राजनीतिक दल जनमत का निर्माण करके लोकतन्त्रीय सरकार को गति प्रदान करते हैं। ब्राईस ने सभी स्वतन्त्र देशों में राजनीतिक दलों को आवश्यक माना है। सर्वसत्ताधिकारवादी देशों में भी एकमात्र राजनीतिक दल ही राजनीति जीवन में अहम् भूमिका अदा करता है। रूस और चीन में भी दल-प्रणाली का उतना ही महत्व है, जितना भारत, ब्रिटेन व अमेरिका में है। आधुनिकता और राजनीतिक चेतना के प्रतीक दल लोकतन्त्रीय और निरंकुश सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं में महत्व रखते हैं। जनता और सरकार में कड़ी का काम करके राजनीतिक दल ही किसी राजनीतिक व्यवस्था रूपी गाड़ी को गति देते हैं। जनता को शिक्षा देना व राजनीतिक चेतना का विकास करने, जनमत को तैयार करने, सरकार पर नियन्त्रण रखने तथा उसे निरंकुश बनने से रोकने में राजनीतिक दल ही अहम् भूमिका निभाते हैं। इसी कारण आज राजनीतिक दलों को राजनीतिक व्यवस्था की धुरी कहा जाने लगा है।

राजनीतिक दल का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Party)

साधरण शब्दों में राजनीतिक दल एक ऐसा संगठन है जो सम्पूर्ण देश या समाज के व्यापक हित के सन्दर्भ में अपने सेवार्थियों के हितों को बढ़ावा देने के लिए निश्चित सिद्धान्तों, नीतियों और कार्यक्रम का समर्थन करता है और उन्हें कार्यान्वित करने के उद्देश्य से राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। राजनीतिक दल को अनेक विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) मसलदान के अनुसार-"राजनीतिक दल उस स्वैच्छिक समूह को कहते हैं जो कुछ सामान्य राजनीतिक व सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर तथा कुछ समान्य लक्ष्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिए शासन चलाने का प्रयत्न करता है तथा अपने सदस्यों को सत्तारूढ़ करने की चेष्टा करता है ओर उसके लिए चुनाव तथा अन्य साधनों का भी प्रयोग करता है।"

(2) फ्रेडरिक के अनुसार-"एक राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो अपने नेताओं के लिए शासकीय नियन्त्रण प्राप्त करने अथवा उसे बनाए रखने के उद्देश्यसे स्थायी रूप से संगठित होते हैं और आगे अनुशासित रहकर लाभ प्राप्त करने के प्रयास करते हैं।"

(3) बर्क के अनुसार-"राजनीतिक दल मनुष्यों का एक समूह है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जिनमें वे सहमत हैं, अपने सामूहिक प्रयत्नों से राष्ट्रीय हित को आगे बढ़ाने के लिए एकता में बंधे होते हैं।"

(4) मैकाइवर के अनुसार-"राजनीतिक दल वह समुदाय है जिसका संगठन किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए हुआ हो और वह संविधानिक साधनों द्वारा सरकार बनाने के लिए इस सिद्धान्त या नीति का सहारा लेता हो।"

(5) गिलक्राइस्ट के अनुसार-"राजनीतिक दल व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्यों के राजनीतिक विचार एक से होते हैं और जो एक राजनीतिक इकाई की तरह कार्य करके सरकार पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करते हैं।"

(6) मैक्स वेबर के अनुसार-"राजनीतिक दल स्वेच्छा से बनाया हुआ वह संगठन है जो शासन शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता है और इसको हस्तगत करने के लिए प्रचार तथा आन्दोलन का सहारा लेता है। इस शासन शक्ति को हाथ में लेने के पीछे एक ही उद्देश्य हो सकता है जो या तो वस्तुनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति है या व्यक्तिगत स्वार्थ या दोनों है।"

(7) गैटल के अनुसार-"राजनीतिक दल नागरिकों का वह समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार को नियन्त्रित करना तथा अपनी सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहता है।"

(8) लीकाक के अनुसार-"राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो एक जगह मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नों पर एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।"

(9) रेने तथा केन्डल के अनुसार-"राजनीतिक दल संगठित स्वायत्त समूह है जो सरकार की नीतियों एवं कर्मचारियों पर अन्ततः नियन्त्रण प्राप्त करने की आशा में चुनाव में उम्मीदवारों का नामांकन करता है और चुनाव लड़ता है।"

(10) राबर्ट सी० बोन के अनुसार-"राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो अपने उद्देश्यों को सरकार पर औपचारिक नियन्त्रण प्राप्त करके, समाज में मूल्यों के अधिकारिक वितरण में प्राथमिकता के प्रकरण बनाकर, प्राप्त करता है।"

(11) पालोम्बरा के अनुसार-"राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है जिसका स्व-चेतन व प्रमुख उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक पदों पर पहुंचाना तथा उन पर नियन्त्रण बनाए रखना है जो अकेले या किसी से मिलकर शासन तन्त्र पर अपना नियन्त्रण करेंगे।"

(12) कोलमेन के अनुसार-"राजनीतिक दल वे समुदाय हैं जो औपचारिक रूप से इस उद्देश्य से संगठित होते हैं कि उन्हें वास्तविक अथवा सम्भावित सम्प्रभु राज्य सरकार की नीति और उसके सेवीवर्ग के ऊपर वैधानिक नियन्त्रण प्राप्त करना और बनाए रखना है, चाहे अकेले या मिलकर या वैसे ही अन्य समुदायों के साथ चुनाव प्रतियोगिता करके।"

इस प्रकार राजनीतिक दल के बारे में अनेक विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं जो राजनीतिक दल के सिद्धान्त, संगठन, कार्यक्रम, प्रकृति आदि पर प्रकाश डालती हैं। पालोम्बरा तथा राबर्ट सी० बोन ने राजनीतिक दल की जो यथार्थ परिभाषाएं दी हैं, वे राजनीतिक दल के संगठन, कार्यक्रम तथा प्रकृति को पूरी तरह परिभाषित करती हैं।

राजनीतिक दल की विशेषताएं

(Features of Political Party)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दल की निम्नलिखित विशेषताएं द ष्टिगोचर होती हैं :-

(1) राजनीतिक दल विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर संगठित व्यक्तियों का समूह है।

(2) राजनीतिक दल बहुत सारे व्यक्तियों का स्थायी संगठन है।

(3) राजनीतिक दल अपने सदस्यों के हितों को ध्यान में रखते हुए समाज के व्यापक हित को बढ़ावा देना चाहता है।

(4) राजनीतिक दल के सदस्यों में सामान्य लक्ष्यों व सिद्धान्तों पर आम सहमति पाई जाती है।

(5) राजनीतिक दल का कार्यक्रम स्पष्ट होता है।

(6) राजनीतिक दल अपने सिद्धान्तों, नीतियों व कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है।

(7) राजनीतिक दल राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए चुनावों में भाग लेता है।

(8) राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण तथा संविधान व कई बार असंविधानिक साधन भी अपनाता है।

(9) राजनीतिक दल राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के बाद अपने सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देना शुरु कर देता है।

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति व विकास

(Origin and Growth of Political Parties)

राजनीतिक दल की उत्पत्ति के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। पीटर मकर्ल ने इसे संस्थागत ढांचे से जोड़ा है। उसका कहना है कि राजनीतिक दल की उत्पत्ति संस्थागत परिवेश में ही हुई है। राजनीतिक व्यवस्था में विशेष प्रकार की संस्थागत संरचनाओं का निर्माण ही दल व्यवस्था का विकास कर देता है। ला पालोम्बारा एवं वीनर के अनुसार ऐतिहासिक संकटों से निपटने के लिए ही दलों का जन्म हुआ है। आधुनिक युग में अनेक विद्वानों ने राजनीतिक दलों का सम्बन्ध औद्योगिक क्रान्ति से जोड़ा है। कार्ल मार्क्स तथा लेनिन की ऐसी ही धारणा है कि दल औद्योगिक क्रान्ति की उत्पत्ति है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के अनेक कारण भी हो सकते हैं और एक कारण भी। लोकतन्त्रीय तथा तानाशाही देशों में दलों की उत्पत्ति के कारण कभी समान नहीं हो सकते। इन देशों में इनकी उत्पत्ति का आधार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है।

इस द ष्टि से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीतिक दलों की बीज प्राचीन काल में भी विद्यमान थे। प्राचीन यूनान में प्लेबियन्स तथा पैट्रीशियन्स दो दलों का अस्तित्व था। लेकिन दलीय व्यवस्था को व्यवस्थित करने का श्रेय ब्रिटेन को ही जाता है। इंग्लैण्ड में ग हयुद्ध का प्रारम्भ ही दलों द्वारा हुआ था। उस समय दलों का स्वरूप गुटीय था। उनके कार्य करने के तरीके असभ्य थे। कैवेलियर्स राजवंश के तथा राउण्डहैड्स संसद के अधिकारों के समर्थक दल थे। बाद में इन दलों को ही क्रमशः उदार (Liberal) तथा अनुदार (Conservative) बन गए। इंग्लैण्ड में श्रमिक दल का उदय तो औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। अमेरिका में भी राजनीतिक दलों की उत्पत्ति संविधान निर्माताओं की इच्छा के विपरीत हुई है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन के दौरान ही प्रतिनिधिगण संघवादी और संघ विरोधी दो भागों में बंटने लगे थे। धीरे-धीरे अमेरिका में भी दल प्रणाली विकसित होती गई और रिपब्लिकन तथा डैमोक्रेटिक दलों का जन्म हो गया, जो आज भी कार्य कर रहे हैं। लेनिन के समय से पूर्व ही सोवियत संघ में भी साम्यवादी दल का उद्‌भव हो चुका था जो आज विश्व के कई देशों में कार्य कर रहा है। चीन में साम्यवादी दल आज सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। फ्रांस, भारत, स्विस, कनाडा, जापान आदि सभी देशों में आज रजानीतिक दल कार्यरत् हैं। कहीं पर एकदलीय प्रणाली है, कहीं पर द्विदलीय तो कहीं पर बहुदलीय प्रणाली है।

भारत तथा स्विट्जरलैण्ड में बहुदलीय प्रणाली है, अमेरिका तथा ब्रिटेन में द्विदलीय है तथा चीन में एकदलीय प्रणाली है।

राजनीतिक दलों के कार्य व भूमिका

(Functions and Role of Political Parties)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का पाया जाना तथा दलीय व्यवस्था के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था का गतिशील होना एक आम बात है। यद्यपि सर्वसत्ताधिकारवादी और निरंकुश राजनीतिक व्यवस्थाओं में दलीय प्रणाली उतनी सफल नहीं रहती, जितनी लोकतन्त्रीय या संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में रहती है। बाहर से देखने पर तो लोकतन्त्रीय तथा तानाशाही शासन व्यवस्थाओं में दलों के कार्य समान प्रतीत होते हैं, लेकिन गहराई से अवलोकन करने पर, तानाशाही देशों में राजनीतिक दलों द्वारा किए जाने वाले कार्य व भूमिका में, लोकतन्त्रीय देशों की तुलना में काफी अन्तर आ जाता है। इसलिए न्यूमैन ने सर्वाधिकारवादी और लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों के कार्य व भूमिका में अन्तर किया है।

(I) तानशााही देशों में राजनीतिक दलों के कार्य व भूमिका

(Functions and Role of Political Parties in Dictatorial Countries)

न्युमैन का मानना है कि बाहर से तो राजनीतिक दल तानाशाही तथा लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं में समान कार्य करते प्रतीत होते हैं, लेकिन व्यवहारिक स्थिति कुछ अलग ही होती है। अधिनायकवादी देशों में केवल एक ही राजनीतिक दल होता है, इसी कारण उन देशों की शासन व्यवस्था, दलीय व्यवस्था के आधार पर एक दलीय प्रणाली ही कहलाती है। अधिनायकवादी देशों में दल जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखता है। शासन पर भी दल का ही प्रभाव रहता है और सभी कानूनों, नियन्त्रण रखता है। शासन पर भी दल का ही प्रभाव रहता है और सभी कानूनों, आदेशों तथा नीतियों के पीछे दल का ही हाथ होता है। शासन के सभी अंग दल के नियन्त्रण में ही रहते हैं। दल नेताओं और जनता के बीच कड़ी का तो काम करता है, लेकिन उसके माध्यम से नेतागण अपने कार्यों का प्रशंसाात्मक विवरण तथा निर्देश जनता तक पहुंचाते हैं और जनता से हर हालत में अपने आदेशों का पालन दल के माध्यम से ही रखना चाहते हैं। इस व्यवस्था में अन्य दल को पनपने का कोई अवसर नहीं रहता। राजनीतिक दल का ही यह कार्य होता है कि वह अपने विरोधी को शक्ति प्रयोग से नष्ट कर दे। राजनीतिक दल की तानाशाही देशों में यह प्रजातन्त्र विरोधी भूतिका लोकतन्त्र के लिए एक खतरे की घंटी मानी जाती है।

न्युमैन द्वारा तानाशाही देशों में राजनीतिक दलों द्वारा किए गए कार्यों को प्रजातन्त्रीय देशों की तुलना में अलग मानना अधिक तर्कसंगत नहीं हो सकता। लेकिन फिर भी अध्ययन की द ष्टि से सर्वाधिकारवादी देशों में राजनीतिक दलों के कार्यों को समझना ही पड़ता है। सर्वाधिकारवादी देशों में राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हो सकते है :-

(1) जनता की इच्छा पर राजनीतिक दल का कठोर नियन्त्रण।

(2) जनता पर शासकीय इच्छा का भार लादना।

(3) जनता व सरकार के बीच कड़ी का कार्य करना।

(4) नेताओं का चुनाव करना।

(5) विरोधियों को कुलचना।

(6) संचार व सूचना तन्त्र पर दल का कठोर नियन्त्रण।

यदि वास्तव में सर्वाधिकारवादी देशों में दलों के कार्यों का अवलोकन किया जाए तो ये लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं के विपरीत ही जान पड़ते हैं। राजनीतिक दलों की इन देशों में भूमिका देखने में तो चाहे प्रजातन्त्रीय हो, लेकिन व्यवहार में कदापि नहीं हो सकती। व्यवहार में तो राजनीतिक दल जनता की बजाय शासक-वर्ग के हितों का ही पोषण करते हैं।

(II) लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका व कार्य

(Role and Function of Political Parties in Democracy)

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका व कार्यों पर अनेक विद्वानों ने व्यापक चर्चा की है। राबर्ट सी०बोन के अनुसार राजनीतिक दल लोकतन्त्रीय देशों में - संगठन, मांगों में संशोधन, नेताओं की भर्ती, सत्ता का वैधीकरण, नीति का निर्धारण, शासन उत्तरदायित्व तथा आधुनिकीकरण जैसे कार्यों को पूरा करते हैं। ला पालोम्बारा ने भी नेताओं की भर्ती, समाजीकरण, सरकार बनाना, संघटन, सौदेबाजी तथा एकीकरण को राजनीतिक दलों के कार्य बताया है। पीटर एच० मर्कल ने भी लगभग वही कार्य गिनाए हैं जो राबर्ट सी० बोर्न तथा पालोम्बारा ने बताए हैं। न्युमैन ने राजनीतिक दलों के कार्यों पर अपने विचारों को तानाशाही देशों की तुलना में अलग आधार दिया है। उसकी द ष्टि में राजनीतिक दलों के कार्य - (i) जनमत को संगठित करना (ii) जनमत को शिक्षित बनाना (iii) जनता और सरकार को जोड़ना तथा (iv) नेत त्व को चुनना बताए हैं। यदि इन सभी विद्वानों के विचारों का अध्ययन किया जाए, तो सभी विद्वानों के विचार लगभग समानार्थी हैं। इन सभी के विचारों का संयुक्तिकरण करने से राजनीतिक दलों के प्रजातन्त्र में कार्य व भूमिकाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **जनमत तैयार करना (To mould Public Opinion) :-** लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक दल ही जनमत का निर्माण करते हैं। साधारण जनता को तो देश की समस्याओं का ज्ञान नहीं होता, जिस कारण वे उन समस्याओं के बारे में ठीक तरह सोच नहीं सकते। राजनीतिक दल उन समस्याओं का स्पष्टीकरण करके जनता को अपने पक्ष में करने का प्रयास करते रहते हैं। इससे जनता धीरे धीरे संगठित होकर मजबूत जनमत का निर्माण कर देती है। इस प्रकार जनमत के निर्माण में राजनीतिक दलों की ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(2) **जनता को राजनीतिक शिक्षा देना (To Impart Political Education to the citizens) :-** प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल लोगों में राजनीतिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके लिए वे जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। सभाओं, अधिवेशनों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से वे जनता को देश की समस्याओं की जानकारी देते रहते हैं और अपने पक्ष में जनता को लाने के लिए जोरदार अभियान चलाते हैं। चुनावों के समय वे अपना घोषणापत्र लेकर जनता के बीच में जाते हैं। इससे जनता को राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान भी हो जाता है और राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। इस तरह जनता राजनीतिक रूप से शिक्षित हो जाती है।

(3) **सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में जनता का नेत त्व (Leadership of Public in the formulation of Public Policies) :-** साधारण जनता को देश की समस्याओं का अधिक ज्ञान नहीं होता है। वह जटिल राजनीतिक समस्याओं को समझने में असमर्थ होती है। राजनीतिक दल उन समस्याओं का सरलीकरण करके जनता के सामने पेश करते हैं और वार-विवाद, जन-सभाओं, समाचार-पत्रों आदि के द्वारा समस्याओं के बारे में जनता को परिचित करवाते हैं। इसी कारण राजनीतिक दलों को 'विचारों का दलाल'

भी कहा जाता है। इस प्रकार सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में जनता का नेत त्व राजनीतिक दल ही करते हैं। इससे आम जनता सरकार की नीतियों के सम्बन्ध में बनाई गई योजनाओं में भागीदार बन जाती है और नीति पर जन-स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। अन्त में राजनीतिक दल ही जन-स्वीकृति प्राप्त करके नीति-निर्माण में भागीदार बन जाते हैं।

(4) **जनता तथा सरकार के बीच कड़ी का कार्य करना (To serve as a link between the people and the Government) :-** राजनीतिक दल जनता और सरकार के मध्य एक कड़ी का काम करते हैं। जिस दल की सरकार होती है, वह जनता में सरकार की नीति का प्रचार करता है और जनता को सरकार के साथ सहयोग करने की अपील भी करता है। राजनीतिक दल निर्वाचक समूह की जानकारी देने, प्रशिक्षित करने और सक्रिय बनाने का कार्य भी करते हैं जिससे जनता में सरकार की नीतियों के प्रति जागरूकता पैदा होती है। इसके लिए वे जनसम्पर्क के साधनों के बीच की खाई को पाटना। वे नीतियों के बारे में जनता से ज्ञान देने के साथ-साथ जनता की भावनाएं भी सरकार तक पहुंचाते हैं और उन्हें दूर करवाने के प्रयास भी करते हैं। एकात्मक सरकार की प्रादेशिक समस्याओं का ज्ञान सरकार को कराने में राजनीतिक दल ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस तरह राजनीतिक दलों द्वारा ही सूचनाओं का आदान-प्रदान जनता और सरकार के बीच में किया जाता है। अतः राजनीतिक दल सरकार और जनता को जोड़ने वाली महत्वपूर्ण कड़ी है।

(5) **चुनाव लड़ना व सरकार बनाना (To fight election and to form Government) :-** लोकतन्त्र में जनता अपने प्रतिनिधियों के आधार पर ही शासन करती है। लोकतन्त्र में चुनावों का बहुत महत्व होता है। राजनीतिक दल चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और चुनाव जीतने के लिए तरह तरह के हथकंडे अपनाते हैं। चुनावों में जीतकर उनका एक ही ध्येय होता है - सत्ता व शासन पर नियन्त्रण। जिस दल को चुनावों में बहुमत प्राप्त होता है, वही सरकार बनाता है और जनता के साथ किए गए वायदों को पूरा करने के लिए व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

(6) **सरकार की आलोचना करना (To oppose the Government) :-** लोकतन्त्र में आलोचना का बहुत महत्व होता है। सर्वाधिकारवादी देशों में तो आलोचना का अधिकार बिल्कुल नहीं होता है। अध्यक्षात्मक सरकार में भी कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल होने के कारण विरोधी दल प्रायः आलोचना से दूर ही रहता है। सरकार की आलोचना का प्रखर रूप संसदीय शासन प्रणालियों में देखने को मिलता है। संसदीय शासन प्रणाली में एक दल तो सरकार चलाता है और दूसरा सरकार की नीतियों पर नजर रखता है ताकि गलत कार्य करने की दशा में सरकार की आलोचना की जा सके। भारत में विरोधी दल का बड़ा सम्मान किया जाता है। विरोधी दल की आलोचना रचनात्मक होने के कारण सत्तारूढ़ दल जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का सदा ध्यान रखता है। संसदीय सरकार में कार्यपालिका का विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होना विरोधी दल को महत्वपूर्ण बना देता है। यदि अविश्वास का मत पारित हो जाए तो सत्तारूढ़ सरकार का स्थान विरोधी दल भी ले सकता है। इसलिए विरोधी दल की उपस्थिति लोकतन्त्र को मजबूत आधार प्रदान करती है तथा इससे सरकार की निरंकुशता पर रोक लग जाती है।

(7) **राजनीतिक नेताओं की भर्ती व चयन (Recruitment and Selection of Leaders) :-** राजनीतिक दल एक ऐसा संगठन होता है जो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने

पदाधिकारियों, नेताओं व सदस्यों की भर्ती व चयन भी करता है। निश्चित समय के बाद राजनीतिक दलों के संगठनात्मक चुनाव होते हैं जिनमें योग्य व्यक्तियों को संगठन में भर्ती करके कुछ संगठनात्मक कर्तव्य सौंपे जाते हैं। ये नेतागण ही आगे चुनावों में जीतकर सरकार बनाते हैं।

(8) **सत्ता का वैधीकरण** (Legitimization of Authority) :- लोकतन्त्र में नियत समय के बाद चुनाव होते रहते हैं। चुनाव ही सत्ता के वैधीकरण का प्रमुख साधन है। इस वैधीकरण को राजनीतिक दल अमली जामा पहनाते हैं। चुनावों में राजनीतिक दलों के माध्यम से सत्ता के वैधीकरण का ही प्रयास होता है। सत्ता का वैधीकरण ही राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता व विकास का प्रमुख साधन होता है।

(9) **समाज का एकीकरण** (Integration of Society) :- प्रत्येक समाज में अनेक हित समूह होते हैं जो अनेक वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हित समूहों से राजनीतिक दलों का गहरा सम्बन्ध होता है। समाज के विभिन्न वर्गों की मांगें हित समूहों द्वारा या प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों के पास पहुंचती रहती हैं। यदि इन मांगों की अनदेखी कर दी जाए तो समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो सकती है और राजनीतिक व्यवस्था को भी अस्थायित्व का खतरा उत्पन्न हो सकता है। राजनीतिक दल जनता की मांगों को एक सूत्र में पिरोकर सरकार तक पहुंचाते हैं और समाज को एकता के सूत्र में बंधे रखने का प्रयास भी करते हैं। राजनीतिक दलों की यह भूमिका राजनीतिक व्यवस्था की सुरक्षा नली मानी जाती है। हितों का समूहीकरण करके सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में राजनीतिक दलों ने अनेक अवसरों पर भारतीय लोकतन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सार रूप में तो यह कहना गलत नहीं है कि राजनीतिक दल जनता को जनता से जोड़ते हैं जो समाज की एकता का मूल मन्त्र है।

(10) **सरकार के विभिन्न अंगों में समन्वय करना** (To create harmony among different organs of Govt.) :- लोकतंत्र में कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच में तालमेल रखने में भी राजनीतिक दल महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अमेरिका में अध्यक्षात्मक सरकार में शक्तियों के विभाजन के खतरे से जनता को, कार्यपालिका तथा विधायिका को निकट लाकर, बचाने में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संसदीय सरकार में तो राजनीतिक दलों की समन्वयकारी भूमिका और अधिक होती है। बहुमत रहने के कारण विधायिका और कार्यपालिका पर एक ही दल का नियन्त्रण बना रहने के कारण समन्वय कायम करने में राजनीतिक दलों को अधिक सुविधा रहती है। संघात्मक शासन में यही कार्य केन्द्र और राज्य या इकाइयों में तालमेल रखने के लिए राजनीतिक दलों द्वारा ही किया जाता है।

(11) **आधुनिकीकरण के उपकरण** (Tools of Modernization) :- राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था की परम्परागत शक्तियों को आधुनिकीकरण के साथ जोड़ने का भी महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। विकासशील और विकसित देशों में राजनीतिक दल एक संयोजक का काम करते हैं। समाज के मूल्यों में आए बदलाव के प्रति राजनीतिक दल पूरी तरह सचेत होते हैं। परम्परागत मूल्यों को बनाए रखकर भी आधुनिकीकरण की दिशा में राजनीतिक समाज को ले जाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। अतः राजनीतिक दल समाज के नव-निर्माण के महत्वपूर्ण साधन हैं।

(12) **सामाजिक कल्याण** (Social Welfare) :- आधुनिक युग में राजनीतिक दल सामाजिक कल्याण में भी अहम् भूमिका निभाते हैं। देश में अकाल, युद्ध, महामारी आदि की समस्याओं से निजात दिलाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल सहायता कार्यक्रम भी चलाते हैं। राजनीतिक दल गरीबी, निरक्षरता, अज्ञानता, दहेज प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध

भी आन्दोलन करते रहते हैं। भारत में राजनीतिक दलों द्वारा समाज-कल्याण की भूमिका अन्य देशों से आगे हैं। भारत में गुजरात के कच्छ क्षेत्र में आए भूकम्प के समय, सूरत शहर में प्लेग के समय राजनीतिक दलों ने प्रभावग्रस्त इलाकों का दौरा करके अपनी देख-रेख में अनेक सहायता कार्यक्रम चलाए थे। इस प्रकार के कार्य अन्य देशों में भी राजनीतिक दलों द्वारा किए जाते रहे हैं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल लोकतन्त्र की रीढ़ की हड्डी है। राजनीतिक दलों के बिना न तो लोकतन्त्र का संचालन सम्भव है और न ही जनता के हितों की सुरक्षा, लोकतन्त्र के साथ-साथ प्रत्येक राजनीतिक समाज में दलों की भूमिका काफी महत्व की होती है। राजनीतिक व्यवस्था को गति देने तथा समाज को आधुनिक बनाने में राजनीतिक दलों का ही योगदान है। इसी कारण आज दलीय व्यवस्था अधिक लोकप्रियता प्राप्त करती जा रही है। लोकतन्त्रीय शासन को तो दलीय शासन की संज्ञा दी जाने लगी है। जनमत का निर्माण करने तथा राजनीतिक चेतना को जाग त करने में राजनीतिक दलों की जो भूमिका है, वह अन्य किसी साधन से सम्भव नहीं है। सत्य तो यह है कि राजनीतिक दलों के बिना न तो लोकतन्त्र ही कल्पना की जा सकती है और न ही सरकार की। अतः लोक-हित के लिए राजनीतिक दल ही आधुनिक समय में एकमात्र साधन है और जनता और सरकार को जोड़ने वाली कड़ी है।

दलीय-व्यवस्थाओं का वर्गीकरण

(Classification of Party Systems)

आधुनिक समय में दल-व्यवस्थाओं का राजनीतिक समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व का शायद ही कोई ऐसा देश हो जहां दल नहीं है। विश्व के सभी देशों में किसी न किसी रूप में दलीय प्रणाली अवश्य विद्यमान है। राजनीतिक व्यवस्था कें स्वरूप व संरचना तथा राजनीतिक दलों की प्रकृति, उद्देश्यों, संरचना आदि के आधार पर विश्व में अनेक दलीय-प्रणालियां विद्यमान हैं। अनेक विद्वानों ने राजनीतिक दलों की विशेषताओं, दलों के पारस्परिक सम्बन्ध, दल का इतिहास, राजनीतिक व्यवस्था की संरचना, सामाजिक संरचना व संस्कृति, दलों की विचारधारा, दलों की संख्या, दलों के संगठन आदि के आधार पर दलीय-व्यवस्थाओं का अनेक भागों में वर्गीकरण किया है। एलेन बाल ने दलीय-व्यवस्था को (i) अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां (ii) सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां (iii) कार्यवाहक बहुदलीय पद्धतियां (iv) अस्थिर बहुदलीय पद्धतियां (v) प्रभावी दल पद्धतियां (vi) एकदलीय पद्धतियां तथा (vii) सर्वाधिकारी एकदलीय पद्धतियां, सात भागों में बांटा है। ऑमण्ड ने दलीय व्यवस्था को सत्तावादी, गैर-सत्तावादी, प्रतिस्पर्धात्मक दो दलीय तथा प्रतिस्पर्धात्मक बहुदलीय में बांटा है। लॉ पालोम्बरा तथा वीनर ने दल प्रणालियों को प्रतियोगी तथा अप्रतियोगी दल प्रणालियां दो भागों में बांटा है। जॅम्प जप ने दलीय व्यवस्था को (i) अस्पष्ट द्वि-दलीय (ii) स्पष्ट द्वि-दलीय (iii) बहुदलीय (iv) वर्चस्ववादी (v) उदार एक-दलीय (vi) संकीण एक-दलीय (vii) सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं में बांटा है। आज अनेक विद्वानों ने दलों की संख्या के आधार पर भी दलीय-व्यवस्थाओं को तीन भागों में बांटकर उनके उपवर्गों के अन्तर्गत सभी दल-व्यवस्थाओं को समेट दिया है। आज भी मोरिस डूवेरजर के त्रिस्तरीय वर्गीकरण को ही प्रमुख स्थान प्राप्त है। इस त्रिस्तरीय वर्गीकरण में दलों की संख्या के आधार पर दलीय-व्यवस्थाओं को निम्नलिकखत तीन भागों में बांटा गया है :-

(I) **एकदलीय प्रणाली** (Single Party System)

(II) **द्विलीय प्रणाली** (Bi-Party System)

(III) **बहु-दलीय प्रणाली** (Multi-Party System)

(I) एकदलीय प्रणाली

(Single Party System)

एकदलीय प्रणाली ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें शासन का सूत्र एक ही राजनीतिक दल के हाथों में रहे। कर्टिस ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है-"एकदलीय पद्धति की यह विशेषता है कि इसमें सत्तारूढ़ दल का या तो सभी अन्य गुटों पर प्रभुत्व होता है जो सभी राजनीतिक विरोधों को अपने में समा लेने का प्रयास करता है, या वह बहुत ही अतिवादी स्थिति में उन सभी विरोधी गुटों का दमन कर देता है जिन्हें प्रति क्रांतिकारी या शासन के प्रति तोड़फोड़ करने वाला दल समझा जाता है, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय इच्छा को विभाजित करने वाली शक्तियां होती हैं।" इस व्यवस्था के अन्तर्गत केवल एक ही दल को कार्य करने की अनुमति प्राप्त होती है और सरकार पर उसी का वर्चस्व लम्बे समय तक भी बना रह सकता है। यह व्यवस्था सर्वाधिकारवादी और लोकतन्त्रीय दो प्रकार की होती है। भारत में 1967 तक लोकतन्त्रीय व्यवस्था का प्रचलन रहा। अन्य दलों के होते हुए भी वहां पर केन्द्र सरकार स्वतन्त्रता के बाद 1967 तक कांग्रेस की ही रहीं। इस प्रकार की दल व्यवस्थाएं भारत, जापान, मैक्सिको, कीनिया, ब्राजील आदि देशों में है। इसके विपरीत सर्वाधिकारवादी एक-दलीय व्यवस्थाएं इटली, जर्मनी, पुर्तगाल, चीन, सोवियत संघ, पोलैण्ड, हंगरी, वियतनाम, उत्तरी कोरिया, क्यूबा, पूर्वी जर्मनी, बुलगारिया, चैकोस्लोवाकिया, अलबानिया, स्पेन आदि देशों में रही है और कुछ में तो अब भी विद्यमान है।

एकदलीय प्रणाली के गुण (Merits of Single Party System) :- इस प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं :-

(1) विभिन्न दलों के संघर्ष के अभाव में यह राष्ट्रीय एकता को कायम रखती है, क्योंकि सभी नागरिक एक ही विचारधारा से बंधे रहते हैं।

(2) एक ही दल की कार्यपालिका तथा मन्त्रिमण्डल होने क कारण सह स्थायी सरकार की जनक है।

(3) किसी दूसरे दल के प्रभाव के बिना इसमें सुद ढ़ व मजबूत शासन की स्थापना होती है।

(4) लम्बे समय तक एक ही सरकार के रहने के कारण इसमें दीर्घकालीन योजनाओं को लागू करना संभव है।

(5) सरकार के सदस्यों में पारस्परिक विरोध न होने के कारण शासन के निर्णय शीघ्रता से लिए जाते हैं जिससे शासन में दक्षता आती है।

(6) ये गुटबन्दी की कमियों से सर्वथा दूर है।

एकदलीय प्रणाली के दोष (Demerits of Single Party System) :- एकदलीय प्रणाली पर निम्नलिखित आपेक्ष लगाए जाते हैं :-

(1) यह प्रणाली नागरिकों की स्वतंत्रता का हनन करने वाली होने के कारण अलोकतांत्रिक है।

(2) यह प्रणाली निरंकुशता की जनक है।

(3) इसमें सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता।

(4) इसमें मनुष्यों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता।

(5) यह लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने में असमर्थ है।

(6) इसमें विरोधी दल को सकारात्मक भूमिका की अनुपस्थिति है।

(7) इसमें चुनाव एकमात्र ढोंग है।

(8) यह बहुमत पर आधारित प्रणाली नहीं है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि एकदलीय प्रणाली एक तरह से तानाशाही शासन व्यवस्था की ही परिचायक है। जिन देशों में यह विद्यमान है, वहां नागरिकों की स्वतन्त्रता का हनन हो रहा है, अधिकसारों के नाम पर नागरिकों पर कर्त्तव्य थोपे जा रहे हैं। इस प्रणाली की तानाशाही ने ही सोवियत संघ को बिखेर दिया था। तानाशाही के बल पर शासन को चलाना और वैधता बनाए रखने का प्रयास कदापि सफल नहीं हो सकता। जिस देश में जनतन्त्रीय भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया जाता है, वहां पर थोड़ी सी भी ढील मिल जाने पर जनता उस शासन का तखता ही पलट देती है। निरन्तर शक्ति बनाए रखना ही इस शासन प्रणाली के अस्तित्व का एक मात्र आधार है। विश्व में चीन ही एकमात्र ऐसा देश है जहां यह प्रणाली लम्बे समय से कार्य कर रही है। आज आइवरी कोस्ट, केन्या, मलावी, जांबिया, लाइबेरिया, गिनी, सोवियत संघ, घाना आदि देशों में इस शासन प्रणाली के विनाश का उदाहरण हमारे सामने यह तर्क प्रस्तुत करता है कि जनसहभागिता के अभाव में एकदलीय प्रणालियां अधिक दिन तक चलने वाली नहीं हैं, देर-सवेर इनका अन्त अवश्यम्भावी है।

(II) द्वि-दलीय प्रणाली

(Bi-Party System)

द्वि-दलीय राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें शासन का सूत्र दो दलों के हाथ में रहता है। ये दोनों राजनीतिक दल इतने सशक्त होते हैं कि किसी तीसरे दल को सत्ता में नहीं आने देते। इन दो दलों के अतिरिक्त अन्य दलों की राजनीतिक व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। ब्रिटेन तथा अमेरिका द्वि-दलीय व्यवस्था के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ब्रिटेन में लम्बे समय से कंजर्वेटिव पार्टी तथा लेबर पार्टी ही कार्यरत् है। इसी तरह अमेरिका में लम्बे समय से दो ही दलों - डैमोक्रेटिक तथा रिपब्लिकन का वर्चस्व है। इंग्लैण्ड में साम्यवादी दल तथा उदारवादी दल भी हैं, लेकिन उनका कोई महत्व नहीं है, अमेरिका और ब्रिटेन में इन दो दलों को छोड़कर कभी किसी अन्य दल को सरकार बनने का अवसर नहीं मिला है। इनमें से एक दल तो सत्तारूढ़ रहता है, जबकि दूसरा दल अल्पमत में होने के कारण विरोधी दल की भूमिका अदा करता है। राजनीतिक शक्ति का द्वि-दलीय विभाजन होने के कारण ही इसे द्वि-दलीय प्रणाली कहा जाता है। बेल्जियम, आयरलैण्ड तथा लकजमबर्ग, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा आदि देशों में भी द्वि-दलीय व्यवस्थाएं ही प्रचलित हैं।

द्वि-दलीय प्रणाली के गुण (Merits of Bi-Party System) :- इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं -

(1) इसमें सरकार स्थिर होती है, क्योंकि इसमें मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल दोनों में एक ही दल का बहुमत होता है। कठोर दलीय अनुशासन के कारण न तो मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास किया जा सकता है और न ही समय पूर्व चुनाव कराए जा सकते हैं।

(2) इसमें सरकार बहुमत पर आधारित होने के कारण अधिक द ढ़ या शक्तिशाली होती है। इसी कारण वह अपनी नीति को आसानी से लागू कर सकती है। बिलों पर वाद-विवाद करते समय मन्त्रिमण्डल को बहुमत के कारण अधिक कठिनाई से बिन पास करवाने नहीं पड़ते। प्रत्येक बिल सरलता से पास हो जाता है।

(3) इसमें स्थायी सरकार होने के कारण दीर्घकालीन योजनाएं लागू की जा सकती हैं और नीति को भी प्रभावी रखा जा सकता है।

(4) इसमें सरकार अच्छे या बुरे शासन के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, क्योंकि मन्त्रीमण्डल में एक ही दल के सदस्य होते हैं। अतः यह प्रणाली उत्तरदायी सरकार को जन्म देती है।

(5) यह जनमत की भावना पर आधारित प्रणाली है। इसमें जनता प्रत्यक्ष रूप से सरकार का

चुनाव करती है। जनता की इच्छा के अनुसार ही कोई राजनीतिक दल सत्तारूढ़ होता है।

(6) स्पष्ट बहुमत के कारण इसमें सरकार बनाना आसान होता है। इसी कारण यह बहुदलीय प्रणाली की तरह भ्रष्ट तरीकों से सरकार बनाने के दोषों से जनता को राजनीतिक शिक्षा भी मिलती है।

(7) इसमें संगठित विरोधी दल होता है जो सरकार की रचनात्मक आलोचना करके सरकार को जनता की इच्छा का ध्यान दिलाता रहता है। इससे सरकार जन-इच्छा के प्रति जागरूक बनी रहती है।

(8) इसमें निरंकुशता की भावना नहीं है। शासन का संचालन जनतंत्रीय भावनाओं को ध्यान में रखकर ही किया जाता है।

द्वि-दलीय प्रणाली के दोष (Demerits of Bi-Party System) :- यद्यपि द्वि-दलीय प्रणाली स्थायी और उत्तरदायी सरकार की स्थापना करती है, लेकिन फिर भी इस प्रणाली की आलोचना की जाती है। इसकी आलोचना का आधार निम्नलिखित अवगुण हैं :-

(1) इसमें मन्त्रिमण्डल की तानाशाही की स्थापना हो जाती है, क्योंकि विधानमण्डल में मन्त्रिमण्डल का बहुमत रहने के कारण हर बिल को पास कराने में सुविधा रहती है।

(2) इसमें विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के हाथों का खिलौना बनकर रह जाता है, क्योंकि बहुमत के नशे में मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल पर हर अनुचित व उचित दबाव डाल सकता है।

(3) इसमें मतदाताओं की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है, क्योंकि उनके सामने दो ही दल होते हैं, जिनमें से एक को ही वे चुन सकते हैं।

(4) इसमें सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलता, क्योंकि जटिल सामाजिक संरचना में जन-प्रतिनिधित्व के लिए कई दलों का होना आवश्यक होता है।

(5) इसमें सारा देश दो परस्पर विरोधी गुटों या विचारधाराओं में बंट जाता है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस प्रणाली में निर्वाचकों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है और संसद की स्थिति मन्त्रिमण्डल के हाथों में एक खिलौने जैसी हो जाती है। लेकिन फिर भी यह प्रणाली सर्वोत्तम मानी जाती है। संसदीय व अध्यक्षात्मक सरकारों की सफलता के लिए इसका होना बहुत आवश्यक है। स्थिर प्रशासन व उत्तरदायी सरकार के रूप में आज यह प्रणाली अमेरिका और ब्रिटेन में सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। अतः निःसंदेह रूप से यह प्रणाली बहुत ही महत्वपूर्ण है।

(III) बहुदलीय प्रणाली

(Multi-Party System)

जिस देश में दो से अधिक राजनीतिक दल ऐसी स्थिति में हों कि चुनाव में उनमें से किसी को स्पष्ट बहुमत न मिल पाए, वहां बहुदलीय प्रणाली मिलती है। इससे सरकार एक दल की भी बन सकती है और कई दलों को मिलाकर सांझा सरकार भी बन सकती है। सांझा सरकार बनने का प्रमुख कारण यह होता है कि इसमें किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वोट विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व बल करने वाली पर्टियों में वितरित हो जाते हैं। ऐसी दल प्रणाली विश्व के अनेक देशों में पाई जाती हैं। भारत इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यह दल प्रणाली-स्थायी और अस्थायी दो तरह की होती है। स्थायी बहुदलीय प्रणाली वह है जिसमें अनेक दल सत्ता के लिए संघर्ष तो करते हैं, लेकिन उनका ध्येय सरकार चलाने के साथ-साथ यह भी रहताहै कि राजनीतिक व्यवस्था में अस्थिरता न आए। स्विट्जरलैंण्ड में ऐसी ही प्रणाली है। वहां पर सोशल डैमोक्रेटस, रेडिकल डैमोक्रेटस, लिब्रल डैमोक्रेट ओर साम्यवादी दल राजनीतिक विघटन की स्थिति

पैदा किए बिना ही सत्ता प्राप्ति का संघर्ष करते हैं। इसके विपरीत अस्थायी बहुदलीय प्रणाली में राजनीतिक अस्थिरता की राजनीतिक दलों को कोई चिन्ता नहीं होती है, उनका लक्ष्य तो सत्ता प्राप्त करना है। भारत तथा फ्रांस में ऐसी ही प्रणालियां हैं।

बहुदलीय प्रणाली के गुण (Merits of Multi-Party System) :- बहुदलीय प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं :-

(1) इसमें सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है, क्योंकि विभिन्न वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं।

(2) इसमें जन-साधारण को विचारों की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और राष्ट्र दो विरोधी गुटों या विचारधाराओं में नहीं बंटता।

(3) इसमें मतदाताओं को चुनाव की स्वतंत्रता रहती है। वे किसी एक दल को अच्छा मानकर उसका समर्थन कर सकते हैं।

(4) इसमें मन्त्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित नहीं होती, क्योंकि कई बार कई दल मिलाकर ही सरकार बनती है, जिसका संसद में मिला-जुला ही बहुमत रहता है।

(5) इसमें विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के हाथों का खिलौना नहीं बनता, क्योंकि इसमें मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल में एक दल के बहुमत पर निर्भर न रहकर विधानमण्डल के ही बहुमत पर निर्भर रहना पड़ता है।

(6) इसमें सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि सरकार जनहित विरोधी कार्य करती है तो वह समय से पूर्व भी टूट सकती है।

(7) इसमें स्थानीय स्वशासन की भावना का विकास होता है।

(8) इस प्रणाली का स्वरूप प्रजातांत्रिक है।

(9) इसमें राष्ट्रीय सरकार की परिकल्पना सम्भव है।

बहुदलीय प्रणाली के दोष (Demerits of Multi-Party System) :- इस प्रणाली में निम्नलिखित अवगुण पाए जाते हैं :-

(1) इसमें सरकार कई दलों से मिलकर बनी होने के कारण निर्बल और अस्थायी होती है, जो किसी भी समय टूट सकती है।

(2) इसमें सरकार दीर्घकालीन योजनाओं को लागू नहीं कर सकती और न ही द ढ़ नीतियों का निर्माण करके उन्हें लागू कर सकती है।

(3) इसमें सरकार का निर्माण करने में काफी मुसीबतें आती हैं। सरकार बनाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों में जो सौदेबाजी होती है, वह राजनीतिक भ्रष्टाचार का ही उन्नत रूप है।

(4) इसमें दल-बदली को बढ़ावा मिलता है और अनुशासनहीनता बढ़ती है।

(5) इसमें प्रायः संगठित विरोधी दल का अभाव रहता है।

(6) इसमें विभिन्न दलों के सदस्यों को मिलाकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है जो दल शासन का निर्माण नहीं कर सकता।

(7) इसमें शासनाध्यक्ष या प्रधानमंत्री की स्थिति बहुत कमजोर होती है। किसी एक दल द्वारा समर्थन वापिस ले लेने पर सरकार गिर जाती है।

(8) सांझा-सरकार होने के कारण इसमें उत्तरदायित्व का अभाव पाया जाता है।

(9) यह अवसरवादिता और सिद्धान्तहीनता की जनक है।

(10) यह अस्थिर सरकार की जनक होने के कारण देश पर चुनावी बोझ लादने वाली है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि बहुदलीय प्रणाली किसी भी देश में अधिक सफल नहीं रही है। निर्बल व अनुत्तरदायी सरकार के रूप में इसकी निरन्तर आलोचना होती रही है। इसमें कभी भी स्थिर सरकारों का निर्माण नहीं हुआ है। यद्यपि भारत में वर्तमान वाजपेयी सरकार ने अपना पूरा कार्यकाल निकाला है। सांझी-सरकार होते हुए भी ऐसी स्थिरता देना अपने आप में एक अनूठा उदाहरण है। लेकिन फ्रांस में 1870 से 1914 तक 88 सरकारों का निर्माण हुआ। बहुदलीय प्रणाली का इतिहास बताता है कि सांझा सरकारें कभी अधिक सफल नहीं रही हैं। ऐसे अवसर बहुत ही कम आए हैं जब बहुदलीय प्रणाली में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत मिलने पर सरकार बनाई गई हो। भारत में 1967 तक ही बहुदलीय प्रणाली अधिक सफल रही है। आज कम ही ऐसे देश हैं जहां बहुदलीय प्रणाली के अन्तर्गत स्थिर सरकारों का निर्माण हुआ है। यदि बहुदलीय प्रणाली के दोषों में से कुछ का भी निवारण कर दिया जाए तो यह प्रणाली स्थिर सरकारों के मार्ग पर चल सकती है। भारतीय संसद ने हाल ही में दल-बदल विरोधी कानून पास करके निर्धारित अवधि तक किसी भी विधायक को विधानमण्डल में दूसरे दल का प्रतिनिधित्व करने पर रोक लगा दी है। इससे सांझा सरकार का आधार मजबूत होने के प्रबल आसार हैं और बहुदलीय प्रणाली की सफलता के भी। लेकिन वर्तमान में तो यह अस्थिर सरकारों की जनक ही है।

दल-प्रणाली का मूल्यांकन

(Evaluation of Party System)

दलीय-व्यवस्था का उपरोक्त विवरण इस बात की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि प्रजातन्त्रीय देशों में तो दल-प्रणाली का स्वरूप लोकतन्त्रीय है, लेकिन सर्वाधिकारवादी देशों में राजनीतिक दल अलोकतांत्रिक तरीके से काम करते प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानों ने तो लोकतन्त्र सहित सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के संचालन के लिए राजनीतिक दलों के महत्व पर विचार किया है। मुनरो ने तो दलीय शासन को ही लोकतन्त्रीय शासन कहा है। मार्क्सवादियों की द ष्टि में दलीय प्रजातन्त्र विकृत प्रजातन्त्र है। सर्वोदयी विचारधारा दल विहीन प्रजातन्त्र की बात करती है। इस तरह दल-प्रणाली प्रशंसा उसके अन्तर्निहित गुणों के आधार पर की जाती है और आलोचना उसके दोषों के आधार पर।

दल प्रणाली के गुण (Merits of Party-System) :- दल प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं :-

(1) **लोकतन्त्र की रक्षक (Safeguard for Democracy) :-** लोकतन्त्र में दलों का बहुत महत्व होता है। जनता को राजनीतिक शिक्षा देने व उनमें राजनीतिक चेतना का विकास करने, जनता को सार्वजनिक नीति के निर्माण में भागीदार बनाने, जनमत का निर्माण करने, चुनाव लड़ने, सरकार बनाने तथा किसी दल के रूप में सरकार की आलोचना करने का कार्य लोकतन्त्र में राजनीतिक दल ही करते हैं। यदि राजनीतिक दल न हों तो यह पता लगाना कठिन हो जाएगा कि किस व्यक्ति को विधानमण्डल में बहुमत प्राप्त है। यदि बहुमत का पता न होगा तो राष्ट्रपति सरकार बनाने के लिए किसे आमन्त्रित करेगा। इसलिए लोकतन्त्र के मूल सूत्र की द ष्टि से कार्य करने के लिए सरकार को राजनीतिक दलों की ही सहायता लेनी पड़ती है। लीकॉक का कथन सही है-"लोकतन्त्र और दल प्रणाली में कोई विरोध नहीं है, वरन् उसी से लोकतन्त्र सम्भव है।" अतः सरकार को व्यवहारिक रूप देकर लोकतन्त्र की रक्षा राजनीतिक दल ही करते हैं।

(2) **द ढ़ सरकार की स्थापना में सहायक (Helpful in the establishment of strong Government) :-** राजनीतिक दल मतदाताओं को संगठित करके चुनावों में बहुमत प्राप्त

करके सरकार बनाते हैं। जिस दल की सरकार होती है, वह सदा बहुमत को बनाए रखने के लिए जन-भावना का ख्याल रखता है। जब सरकार को पता होता है कि उसे विधानमण्डल में बहुमत प्राप्त है तो वह निर्भय होकर नीतियों का निर्माण करते उन्हें लागू कर सकती है। यदि जनमत बिखरा हुआ हो और उसे संगठित करने वाले राजनीतिक दल न हों तो सरकार बनाना और चलाना दोनों कठिन होता है। दलीय अनुशासन ही सुद ढ़ सरकार का आधार है। राजनीतिक दल ही सरकार को शक्ति प्रदान करते हैं और उसकी वैधता की परीक्षा चुनावों में करा देते हैं। वास्तव में राजनीतिक दल ही जनमत को संगठित करके स्थिर सरकार को जन्म देते हैं।

(3) **जनमत का निर्माण (To mould Public Opinion) :-** लोकतन्त्र में बहुमत का शासन होता है। इसलिए जनमत को संगठित करना बहुत जरूरी होता है। इस संगठित जनमत का निर्माण करने में राजनीतिक दल ही बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके लिए वे जनता के बीच में विभिन्न कार्यक्रम लेकर जाते हैं। पत्र-पत्रिकाएं छपवाते हैं, नए नेताओं की भर्ती करते हैं, कर्मठ सदस्यों को संगठन में लेते हैं, विचार-गोष्ठियों का आयोजन करते हैं, सरकार की नीतियों में जनता को परिचित करवाते हैं और सरकार की गलत नीतियों पर आलोचना करने के लिए जनमत की सहायता लेते हैं। इस तरह वे बिखरी हुई जनता को सामान्य सिद्धान्त पर सहमति के निकट लाकर रख देते हैं।

(4) **सरकार पर नियन्त्रण (Control over Government) :-** लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों का भविष्य लोकमत पर टिका होता है। इसलिए वे सरकार की समस्त गतिविधियों पर नजर रखते हैं। विरोधी दल के रूप में दल ही सरकार की निरंकुशता रोकते हैं। सरकार की गलत नीतियों की आलोचना करके वे सरकार को चेता देते हैं और सरकार की मनमानी नहीं करने देते हैं। संसद सत्र के दौरान राजनीतिक दलों के द्वारा ही सरकार की गलत नीतियों पर हंगामा किया जाता है और उनमें बदलाव लाने के लिए बाध्य भी कर दिया जाता है। भारत में सांझा-सरकार होने के कारण इस नियन्त्रण में कुछ कमी अवश्य आ जाती है, क्योंकि संगठित विरोधी दल का प्रायः अभाव ही रहता है। लेकिन यह बात तो सत्य है कि लोकतन्त्र में प्रत्येक राजनीतिक दल जनता के भावी कोप से बचने के लिए जनविरोधी कार्यों से दूर ही रहता है।

(5) **जनता को राजनीतिक शिक्षा देकर, राजनीतिक चेतना पैदा करना (To create Political Consciousness by imparting Political Education to the people) :-** राजनीति दल जनता की उदासीनता दूर करके उसमें सरकार के प्रति रुचि पैदा करते हैं। इसके लिए जनता के बीच में जाते हैं और आम जनता का ध्यान राष्ट्रीय समस्याओं की तरफ खींचते हैं। सरकार की नीति पर जन-सहमति प्राप्त करने के लिए वे नीति पर अपने तर्क रखते हैं। इसके लिए वे जनसम्पर्क के साधनों का भी प्रयोग करते हैं। चुनावी प्रचार के द्वारा राजनीतिक दल आम जनता को भी राजनीति में जोड़ लेते हैं। इससे लोगों में देश की समस्याओं के प्रति चिन्ता उत्पन्न होती है और राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

(6) **जनता और सरकार के बीच कड़ी का कार्य करना (As a link between the People and the Government) :-** राजनीतिक दल जनता और सरकार को जोड़ते हैं। सत्तारूढ़ दल जनता को अपने पक्ष में करने के लिए अपनी नीतियों की प्रशंसा करता है और जनता को सरकार का सहयोग करने की अपील करता है। अपनी नीतियों को जनता तक पहुंचाने के साथ-साथ वे जनता की समस्याओं को भी सरकार तक पहुंचाते हैं और दूर करवाने के प्रयास भी करते हैं। एकात्मक सरकार में केन्द्रीय सरकार को प्रादेशिक समस्याओं से राजनीतिक दल ही परिचित कराते हैं। इस तरह राजनीतिक दल ही जनता और सरकार को जोड़ते हैं।

(7) **राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा करना** **(To create the spirit of National Unity) :-** लावेल का कहना है कि राजनीतिक दल विचारों के व्यापारी हैं। एक दल में अनेक धर्मों, भाषाओं, वर्गों, जातियों के लोग होते हैं। साथ रहकर कार्य करने से उनमें आपसी एकता बढ़ती है और पारस्परिक द्वेष की भावना का अन्त होता है। जो दल आर्थिक और राजनीतिक आधार पर बने होते हैं उनमें राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने की शक्ति बहुत ज्यादा होती है। समान राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को लेकर आन्दोलन करने से राष्ट्रीय एकता मजबूत होती है।

(8) **सामाजिक और आर्थिक सुधार** **(Social and Economic Reforms) :-** राजनीतिक दल राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के सुधार के प्रयास भी करते हैं। राजनीतिक दलों का ध्येय आधुनिकीकरण को क्रियान्वित करना होता है। इसके लिए वे परम्परागत मूल्यों को छोड़ने का प्रयास करना चाहते हैं और प्रचलित गलत रीति-रिवाजों को समाप्त करना चाहते हैं। भारत में छुआछूत के विरुद्ध कांग्रेस ने ही जोरदार आवाज उठाई थी। जाति-प्रथा, जमींदारी प्रथा, दहेज प्रथा, नारी शिक्षा, नारी की स्वतन्त्रता आदि समस्याओं पर राजनीतिक दलों ने ही आन्दोलन चलाए हैं।

(9) **कार्यपालिका तथा विधायिका में सहयोग पैदा करना** **(To create harmony between Liegislature and Executive) :-** गिलक्राइस्ट का कहना है कि "दलीय-व्यवस्था ने ही अमेरिकन संविधान की जटिलता को तोड़ा है।" इसका तात्पर्य यह है कि अमेरिका में शक्ति प थक्करण के कारण कार्यपालिका और विधायिका स्वतन्त्र शक्तियों की स्वामी होने के कारण अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। इससे प्रशासनिक एकरूपता का ह्रास होता है। अमेरिका में कार्यपालिका और विधायिका को साथ चलकर कार्य करने के लिए राजनीतिक दलों ने ही तैयार किया है। दलों की समन्वयकारी भूमिका सरकार की सफलता के लिए आवश्यक मानी जाती है। कार्यपालिका और विधायिका का आपसी सहयोग ही अच्छे शासन का आधार है। संसदीय सरकार में भी एक दल का विधायिका व मन्त्रिमण्डल में बहुमत रहने पर सरकार ठीक कार्य करती रहती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दल-व्यवस्था के कारण ही नागरिकों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है, शासन में लोचशीलता आती है, अच्छे कानूनों का निर्माण होता है, जनता की इच्छा का संचालन होता है, राष्ट्रीय एकता में व द्धि होती है, सामाजिक-आर्थिक विकास होता है, सभी वर्गों को शासन में प्रतिनिधित्व मिलता है और निरंकुश होने में बची रहती है। सार रूप में यह कहना गलत नहीं होगा कि दल-पद्धति ही सच्चे लोकतन्त्रीय शासन का मेरुदण्ड है।

दल प्रणाली के दोष **(Demerits of Party-System) :-** दल प्रणाली के बारे में अनेक आलोचकों ने निम्नलिखित आपत्ति उठाई है :-

(1) दल प्रणाली समाज को विभिन्न वर्गों व गुटों में बांटकर राष्ट्रीय एकता को भंग करती है। इससे देशभक्ति की भावना कम होने लगती है।

(2) दल प्रणाली लोगों को दलीय-स्वार्थों से बांधकर राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुंचाती है।

(3) कठोर दलीय अनुशासन व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल देता है।

(4) राजनीतिक दल भ्रष्टाचार के वाहक हैं। बहुमत हासिल करके सरकार बनाने के चक्कर में जनता को तरह तरह के प्रलोभन देकर वोट खरीदे जाते हैं। इससे समाज में नैतिकता का पतन होता है।

(5) बहुदलीय प्रणाली के कारण राजनीतिक अस्थिरता पैदा होती है और संकटकाल में भी सरकार द ढ़ निर्णय नहीं ले पाती, क्योंकि विरोधी दल प्रायः टकराव की स्थिति में ही रहते

हैं।

(6) राजनीतिक दल समाज में साम्प्रदायिकता का जहर फैलाते हैं।

(7) राजनीतिक दल देश व समाज का संकीर्ण क्षेत्रीय विभाजन कर देते हैं। क्षेत्रवाद ही राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ा खतरा होता है।

(8) विरोधी दल आलोचना में ही अधिक समय नष्ट करते हैं, इससे जनहित की हानि होती है। कई बार तो वे जनता को इस कद्र गुमराह कर देते हैं कि उससे समाज के विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है।

(9) चुनाव जीतने के बाद राजनीतिक दल नागरिक हितों की बलि दे देते हैं। उनकी सर्वोच्च प्राथमिकता तो अपने सदस्यों को खुश करने की ही होती है।

(10) दल-प्रणाली में आम जनता की बजाय पूंजीपति वर्ग का ही अधिक फायदा होता है। सरकार पूंजीपति वर्ग की कठपुतली की तरह ही कार्य करती है।

(11) दल-पद्धति योग्य व ईमानदार व्यक्तियों को शासन से दूर कर देती है। बहुदलीय व्यवस्था में तो प्रायः धूर्त व्यक्ति ही सत्ता में पहुंचते हैं।

(12) इससे समाज में अवसरवादिता, लालचीपन, बेईमानी, घूसखोरी जैसे अनैतिक साधनों को अधिक शक्ति मिलने लगती है, क्योंकि राजनीतिक दल अनैतिकता के सबसे बड़े पोषक होते हैं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि दल-प्रणाली में अनेक दोष हैं, लेकिन फिर भी दलों को समाज से समाप्त करना न तो सम्भव है और न ही उचित। आज सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का ताना-बाना दल-प्रणाली पर ही आधारित है। दलों के बिना न तो देश का भला हो सकता है और न समाज का। आज आवश्यकता इस बात की है कि दलीय व्यवस्था के दोषों को दूर किया जाए। इसके लिए जनता का जागरूक होना और सरकार का दल-व्यवस्था के दोषों को हटाने के प्रति वचनबद्ध होना जरूरी है। आज दल हमारे समाज का आवश्यक अंग बन चुके हैं। यह बात भी सही है कि सभी देशों में दल प्रणाली दोषयुक्त नहीं है। अमेरिका तथा ब्रिटेन में दल-व्यवस्था का आधार काफी मजबूत है, क्योंकि वहां की जनता और सरकार इसको सफल बनाने के लिए वचनबद्ध हैं। भारत में दलीय-प्रणाली ने समाज को जो हानि पहुंचायी है, उसको देखकर जनता को राजनीतिक दलों के लिए देश-हित एक तुच्छ वस्तु है। आज दलीय-व्यवस्था की दोषपूर्ण व्यवस्था पर देश-हित में प्रतिबन्ध लगाना अपरिहार्य है। दल-विहीन प्रजातन्त्र की धारणा न तो सम्भव है और न ही उचित। दल समाज का अभिन्न अंग है, इसलिए इसके दोषों को दूर करके इसे समाज में बनाए रखना ही उचित है।

अध्याय-14

दबाव समूह
(Pressure Groups)

आधुनिक युग उदारवादी लोकतन्त्र का युग है। उदारवादी लोकतन्त्र में प्रत्येक देश में नागरिकों को कुछ स्वतन्त्रताएं दी जाती है, जिनमें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रमुख है। जब नागरिक अपने विचारों की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप से करने लगते हैं तो साहचर्य का जन्म होता है। यही साहचर्य जब अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने लगता है तो इसे हित-समूह (Interest-Group) का नाम दिया जाता है। जब यह हित समूह सरकार की निर्णय-प्रक्रिया पर अपना दबाव बनाने में सफल हो जाता है तो उसे दबाव समूह की संज्ञा दी जाती है। आज ये दबाव समूह प्रत्येक देश में है। यद्यपि इनका जन्म तो सर्वप्रथम अमेरिका में हुआ था, लेकिन आज इनका महत्व प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था में बढ़ चुका है। जहां पहले दबाव समूहों से घ णा की जाती थी, आज उनको आदर का पात्र समझा जाता है। आज दबाव समूहों को प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना राजनीतिक व्यवस्था की मजबूरी है। इनके बिना राजनीतिक व्यवस्था गतिशील नहीं हो सकती, क्योंकि ये जनता की मांगों व दबावों का हित समूहीकरण करके राजनीतिक व्यवस्था को परोसते हैं। आज भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इजराईल आदि देशों में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

दबाव समूहों का अर्थ
(Meaning of Pressure Groups)

साधारण शब्दों में दबाव समूह लोगों के उस संगठित समूह को कहा जाता है जो अपने सदस्यों के हितों की सिद्धि के लिए सरकार की निर्णयकारिता को प्रभावित करता है। यद्यपि दबाव समूह के लिए कुछ विद्वान हित समूह का भी प्रयोग करते हैं, लेकिन बिना राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित किए कोई भी हित समूह दबाव नहीं कहला सकता। हित समूह में प्रभावकारिता की शक्ति आ जाने पर ही वह दबाव समूह का रूप लेता है। यही प्रभावकारिता समूह के हितों को प्राप्त करने में मददगार होती है। दबाव गुट समूह को कई विद्वानों ने निम्न प्रकार से प्रभावित किया है :-

(1) हेनरी ए० टर्नर के अनुसार-"दबाव समूह गैर-राजनीतिक संगठन है जो सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करता है।

(2) मैकाइवर के अनुसार-"दबाव समूह ऐसे संगठित या असंगठित व्यक्तियों का संकलन है जो दबाव के दांव-पेचों का प्रयोग करता है।

(3) ओडिगार्ड के अनुसार-"दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिसके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और घटनाक्रम को, विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयास करे कि उनके हितों की रक्षा और व द्धि हो सके।"

(4) मायरन वीनर के अनुसार-"हित अथवा दबाव समूह ऐसा ऐच्छिक समूह है जो प्रशासकीय ढांचे से बाहर रहकर सरकारी कर्मचारियों के नामांकन अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्माण, उनके प्रशासन और निर्वाचन को प्रभावित करने का प्रयास करता है।"

(5) वी०ओ० की के अनुसार-"दबाव समूह सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए बनाए जाने वाले संगठन है।"

(6) डेल के अनुसार-"दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया के भाग होते हैं और सरकारी नीति की दिशा निर्धारित करने या बदलने का प्रयास करते हैं, लेकिन स्वयं सरकार नहीं बनाना चाहते।"

(7) हिचनर तथा हर्वोल्ड के अनुसार-"दबाव समूह सामान्य उद्देश्यों वाला कोई ऐसा व्यक्तियों का समूह है जो सार्वजनिक नीति को प्रभावित करके राजनीतिक गतिविधियों द्वारा अपने उद्देश्य पूरा करना चाहता है।"

(8) बी० के० गोखले के अनुसार-"दबाव समूह वे निजी समुदाय हैं जो सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करके अपने हितों को बनाए रखना चाहते हैं।"

(9) एस० ई० फाइनर के अनुसार-"दबाव समूह मुख्य रूप में स्वतन्त्र और राजनीतिक द ष्टि से तटस्थ संस्थाएं होती हैं जो सत्तारूढ़ सरकार के राजनीतिक स्वरूप की ओर ध्यान दिए बिना ही राजनीतिक दलों और नौकरशाही के साथ सौदा करती हैं।"

(10) एच० जिगलर के अनुसार-"दबाव समूह एक ऐसा संगठित समूह है, जो अपने सदस्य को औपचारिक रूप से सरकारी पदों पर नियुक्त किए बिना ही सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने की चेष्टा करता है।"

(11) सी०एच० ढिल्लों के अनुसार-"हित समूह ऐसे लोगों का समूह है जिनके उद्देश्य समान होते हैं। जब हित समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार से कुछ चाहने लगते हैं तो, तब वे दबाव समूह कहलाते हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दबाव समूह और हित समूह में अन्तर है। अपने प्राथमिक स्वरूप में प्रत्येक दबाव समूह एक हित समूह ही होता है। जब वह अपने संगठित रूप में सरकार की नीतियों को प्रभावित करने में सफल हो जाता है तो वह दबाव समूह की श्रेणी में आ जाता है। अनेक विद्वानों ने दबाव समूह व हित समूह का समान अर्थ में प्रयोग किया है। ऐसा करना बिल्कुल गलत है। समाज में हित समूह तो अनेक हो सकते हैं, लेकिन दबाव समूह की श्रेणी में कम ही आ पाते हैं। चूंकि हित समूह भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते रहते हैं, इसी कारण उनको प्रायः दबाव समूह ही समझ लिया जाता है।

हित समूह व दबाव समूह में अन्तर

(Difference between Interest Group and Pressure Group)

यद्यपि कुछ विद्वान हित समूह और दबाव समूह में कोई अन्तर नहीं मानते, लेकिन दोनों में आधारभूत समानताएं होने के बावजूद भी अन्तर है। जब कोई समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजनीति को प्रभावित करने को तैयार हो जाता है तो उसे हित समूह कहा जाता हैं जब कोई हित समूह अत्यधिक सक्रिय होकर अन्य हित समूहों को पीछे धकेलकर अपने हितों की सिद्धि के लिए सरकार पर अपने दबाव बढ़ा लेता है तो उसे दबाव समूह की संज्ञा दी जाती है। कार्टर और हर्ज ने दबाव समूह और हित समूह में अन्तर बताते हुए लिखा है-"विभिन्न आर्थिक व्यावसायिक, धार्मिक, नैतिक और अन्य समूहों से परिपूर्ण आधुनिक बहुलवादी समाज के सामने अनिवार्य रूप से एक बड़ी समस्या यही है कि इन विभिन्न हितों तथा शासन और राजनीति के बीच में सम्बन्ध कैसे हों एक

स्वतन्त्र समाज में हित समूहों को स्वतन्त्र रूप में संगठित होने की अनुमति होती है और जब ये समूह सरकारी तन्त्र और प्रक्रिया पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार कानूनों, नियमों और प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते हैं तो वे हित-समूह, दबाव समूहों में बदलकर सरकार पर दबाव डालने वाले हो जाते हैं।" दबाव समूह और हित समूह में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :-

(1) हित समूह अपनी हित सुरक्षा के लिए अनुनयनी (Pressuasive) तरीके काम में लाते हैं। अर्थात् वे सरकार से प्रार्थना करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए सरकार पर दबाव के तरीके प्रयोग करते हैं।

(2) हित समूह राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते, जबकि दबाव समूह राजनीतिक गतिविधियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं और सदैव राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की चेष्टा करते रहते हैं।

(3) हित समूहों का सम्बन्ध सामाजिक संरचना व प्रक्रिया से होता है। उनका लक्ष्य तो सदैव सामाजिक गतिशीलता है। इसके विपरीत दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करते रहते हैं, क्योंकि यही गुण उन्हें हित समूहों से अलग करता है।

(4) समाज में हित समूह तो अनेक होते हैं, लेकिन दबाव समूह संख्या में कम होते हैं, क्योंकि सभी हित समूह राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने में सक्षम नहीं होते।

(5) हित समूहों का सम्बन्ध सामाजिक गतिशीलता से है, जबकि दबाव समूहों का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाने से है।

(6) हित समूह अपने लक्ष्य में कम सफल रहते हैं, क्योंकि उनके पास प्रभावशीलता का गुण नहीं होता। इसके विपरीत दबाव समूह प्रभावशीलता के गुण के कारण अपने लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हित समूह और दबाव समूह में कुछ अन्तर है, इसलिए दोनों को एक मानना भारी भूल है। लेकिन फिर भी राजनीतिक अध्ययन में इन दोनों का समानार्थी प्रयोग ही होता आया है। आज तक किसी ने भी हित समूह और दबाव समूह को सर्वथा अलग करके अध्ययन करने की चेष्टा नहीं की, इसी कारण इनके समानार्थी प्रयोग की विसंगति जारी है।

दबाव समूह व राजनीतिक दल में अन्तर

(Diference between Pressure Groups and Political Parties)

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह और राजनीतिक दल दोनों ही विद्यमान होते हैं। दोनों ही राजनीतिक गतिशीलता में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। दोनों आपस में भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध रखते हैं। दबाव समूह राजनीतिक दलों के साथ सहयोग करते हैं और राजनीतिक दल दबाव समूहों के। इसके बावजूद भी दोनों में निम्नलिखित अन्तर हैं :-

(1) राजनीतिक दल समुदाय के बहुत सारे वर्गों के बहुत सारे हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, यहां तक कि वे पूरे राष्ट्र के हितों की चिन्ता करते हैं। इसके विपरीत हित समूहों या दबाव समूहों के उद्देश्य सीमित होते हैं और वे विशेष समूह के हितों की ही देखरेख करते हैं।

(2) राजनीतिक दल अपने विशिष्ट हितों को प्राप्त करने के लिए सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जबकि दबाव समूह सत्ता प्राप्त करने या सरकार का निर्माण करने की बजाय सरकार को प्रभावित करने तक ही सीमित रहते हैं।

(3) राजनीतिक दलों के संगठन का आधार व्यापक होता है, जबकि दबाव समूह का संगठन

सीमित होता है। उसके सदस्यों की संख्या राजनीतिक दल की तुलना में कम होती है।

(4) राजनीतिक दलों की स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा होती है, जबकि दबाव समूह की कोई राजनीतिक विचारधारा या कार्यक्रम नहीं होता। उसका सम्बन्ध तो हितों की प्राप्ति तक ही सीमित रहता है।

(5) राजनीतिक दल चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और उनको सफलता दिलाने के लिए हर सम्भव प्रयास करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों की ही मदद करते हैं।

(6) राजनीतिक दल एक राजनीतिक संगठन है, जबकि दबाव समूह गैर-राजनीतिक संगठन है।

(7) राजनीतिक दलों की सदस्यता अनन्य होती है अर्थात् एक व्यक्ति एक ही समय में केवल एक ही राजनीतिक दल का सदस्य बन सकता है, जबकि एक व्यक्ति एक ही समय में अनेक हित या दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है।

(8) राजनीतिक दल सरकार के अन्दर तथा बाहर दोनों जगह कार्य करते हैं, जबकि दबाव समूह सरकार के बाहर ही कार्य करते हैं।

(9) राजनीतिक दल दीर्घकालिक लक्ष्य रखते हैं जबकि दबाव समूहों के लक्ष्य अल्पकालिक होते हैं। इसी कारण राजनीतिक दलों की तुलना में उनकी प्रकृति कम स्थायी है।

(10) राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र व्यापक होता है, जबकि दबाव समूहों का सम्बन्ध मानव जीवन के किसी विशेष पहलु से होता है। इस तरह राजनीतिक दलों की तुलना में दबाव समूहों का कार्यक्षेत्र संकुचित व विशिष्ट होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दबाव समूह और राजनीतिक दलों में काफी अन्तर है। लेकिन फिर भी राजनीतिक समाज में दोनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाने में समान भागीदार हैं। दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में स्पष्ट अन्तर तो विकसित देशों में ही देखने को मिलता है, विकासशील देशों में नहीं, क्योंकि विकासशील देशों में तो दबाव समूह आंतरिक संगठन की द ष्टि से कमजोर है।

दबाव समूहों की विशेषताएं

(Features of Pressure Groups)

उपरोक्त उपरोक्त विवेचन से दबाव समूहों को निम्नलिखित विशेषताएं द ष्टिगोचर होती हैं :-

(1) दबाव समूह औपचारिक रूप से संगठित व्यक्ति समूह होते हैं।

(2) दबाव समूह के निर्माण का आधार स्वहित होता है और इसी की प्राप्ति करना इसका ध्येय भी होता है।

(3) दबाव समूह सरकार में भाग नहीं लेते, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की नीतियों को प्रचारित करते हैं।

(4) दबाव समूह सदस्य संख्या, उद्देश्य, चुनाव आदि की द ष्टि से राजनीतिक दल से अलग होता है।

(5) दबाव समूहों का कार्यक्षेत्र राजनीतिक दलों की तुलना में सीमित होता है।

(6) दबाव समूह सरकार पर अपना प्रभाव राजनीतिक दलों के माध्यम से ही डालते हैं।

(7) दबाव समूह सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाए जाते हैं। इसी कारण इनकी प्रकृति सर्वव्यापी होती है।

(8) दबाव समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। एक व्यक्ति एक समय में अनेक दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है।

(9) दबाव समूहों का कार्यकाल अनिश्चित होता है।

(10) दबाव समूहों गैर-राजनीतिक संगठन होते हैं।

दबाव समूहों के प्रकार

(Types of Pressure Groups)

आज विश्व के सभी देशों में दबाव समूहों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका वर्गीकरण करना कठिन हो गया है। इनमें से आकार, उद्देश्य, प्रकृति की द ष्टि से सभी दबाव समूह अलग-अलग भागों में बांटे जा सकते हैं। फ्रेडरिक, राबर्टस सी० बोन, ब्लौण्डल, ऑमण्ड आदि विद्वानों ने दबाव समूहों को निम्नलिखित तरह से वर्गीकृत किया है :-

(1) **ब्लौण्डल का वर्गीकरण (Blondel's Classification) :-** ब्लौण्डल ने दबाव समूहों के निर्माण के प्रेरक तत्वों के आधार पर इन्हें दो भागों में बांटा है। यह वर्गीकरण (i) साम्प्रदायिक दबाव समूह (ii) साहचर्य दबाव समूहों के रूप में है। ब्लौण्डल का कहना है कि साम्प्रदायिक दबाव समूह सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर बनते हैं। इनके निर्माण में परिवार, प्रगति, धर्म, वर्ग आदि तत्वों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। ऐसे समूहों की सदस्यता जन्म से ही प्राप्त होती है। ब्लौण्डल ने सामप्रदायिक दबाव समूहों को भी दो भागों - प्रथागत तथा संस्थागत दबाव समूहों में बांटी है। प्रथागत दबाव समूह प्रथाओं, रीति-रिवाजों व रुढ़ियों पर आधारित होते हैं। भारत में ऐसे ही दबाव समूह हैं। जब एक धर्म व जाति के लोग औपचारिक रूप से संगठित होकर संस्था का निर्माण कर लेते हैं तो उससे संस्थागत दबाव समूहों का जन्म होता है। भारत में जाति व धर्म के आधार पर अनेक दबाव समूह सरकार की नीति को प्रभावित करते हैं। ब्लौण्डल ने दबाव समूह का दूसरा प्रकार साहचर्य दबाव समूह बताया है। इस प्रकार के दबाव समूहों का लक्ष्य विशिष्ट होता है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ ऐसे दबाव समूहों की संख्या में भी व द्धि हुई है। इन समूहों का विशिष्ट लक्ष्य साधन के रूप में राजनीतिक व्यवस्था में इनकी मांगों को प्रवेश कराने में समर्थ होता है। यह दबाव समूह साम्प्रदायिक दबाव समूहों से सदस्यता की प्रेरणा के द ष्टिकोण से अलग होता है। ये दबाव समूह भी साम्प्रदायिक दबाव समूहों की तरह - संरक्षाणात्मक व उत्थानात्मक दबाव समूह, दो तरह के होते हैं। संरक्षणात्मक दबाव समूह अपने सदस्यों के सामान्य हितों की रक्षा करता है, जबकि उत्थानात्मक दबाव समूह विशिष्ट लक्ष्यों के साथ जन्म लेता है। गौर संरक्षण संघ, नारी स्वतन्त्रता संघ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। श्रमिक कल्याण संघ संरक्षात्मक दबाव समूह का, हरिजन सेवक संघ प्रथागत का तथा सैनिक-कल्याण परिषद संस्थात्मक दबाव समूह का प्रमुख उदाहरण है।

(2) **ऑमण्ड का वर्गीकरण (Almond's Classification) :-** ऑमण्ड ने संरचना और हित संचारण के आधार पर दबाव समूहों को चार भागों - (i) संस्थात्मक (ii) प्रदर्शनात्मक (iii) असमुदायात्मक (iv) समुदायात्मक में बांटा है। ऑमण्ड ने संस्थागत दबाव समूहों में उनको लिया है जो किसी राजनीतिक दल या अन्य समान हितों वाले वर्गों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में संसद, नौकरशाही तथा राजनीतिक दलों में ऐसे ही समूह पाए जाते हैं। इसका उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक हितों की पूर्ति करना होता है। ये दबाव समूह विकसित देशों में अधिक पाए जाते हैं। मजबूत संगठन के स्वामी होने के कारण ये हितों का स्पष्टीकरण करने में अधिक सफल रहते हैं। दबाव समूहों का दूसरा

प्रकार प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों का है जो भीड़, जलूस, दंगों, धरनों, हड़तालों आदि के रूप में अचानक ही राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश कर जाते हैं। इन्हें चमत्कारिक दबाव समूह भी कहा जाता है। ये दबाव समूह अस्त-व्यस्त प्रकृति के होते हैं। ये शासनतन्त्र को भ्रमग्रस्त करके अपने हितों की प्राप्ति करने में सफल व असफल दोनों हो सकते हैं। भारत, फ्रांस, इटली आदि देशों में इनका बहुत प्रभाव है। तीसरा वर्ग असमुदायात्मक या असाहचर्य दबाव समूहों का है। इनका जन्म, धर्म, रक्त सम्बन्ध, वंशानुगत या हित-संचार आदि तत्वों के आधार पर होता है। ये दबाव समूह धार्मिक नेताओं, विशिष्ट व्यक्तियों आदि द्वारा संगठित व असंगठित होते रहते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि ये हितों के साधन का काम निरन्तर न करके समय-समय पर ही करते हैं। आधुनिक युग में इनका महत्व सीमित है। दबाव समूहों की चौथी प्रकार, समुदायात्मक या साहचर्य दबाव समूहों का है। इस प्रकार के समूह विशेष व्यक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए औपचारिक रूप से संगठित होते हैं। श्रमिक संघ, व्यापारिक संघ इस प्रकार के ही दबाव समूह हैं। इस प्रकार के दबाव समूह नियमों पर आधारित होते हैं और अपने हितों की प्राप्ति के लिए विधि-सम्मत प्रक्रिया अपनाते हैं। भारत व अमेरिका में इस प्रकार के काफी दबाव समूह हैं।

(3) **राबर्ट सी० बोन का वर्गीकरण (Robert C. Bone's Classification) :-** राबर्ट सी० बोन ने दबाव समूहों को प्रकृति व उद्देश्यों की द ष्टि से दो भागों (i) परिस्थिति-जन्य दबाव समूह (ii) अभिव ति जन्य दबाव समूह में बांटा है। परिस्थिति जन्य दबाव समूहों का उद्देश्य अपने सदस्यों की वर्तमान आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओं को सुधारना होता है। इनकी प्रकृति विशिष्ट होती है और यें अपने सदस्यों के हितों को साधने के लिए वैधानिक प्रक्रिया का ही उपयोग करते हैं। इनका ध्येय दीर्घकालीन हितों को प्राप्त करना होता है। दूसरा वर्ग अभिव ति जन्य समूहों का है जो कुछ मूल्यों पर आधारित होते हैं। ये समूह परिस्थिति जन्य समूहों से अलग होते हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन को प्राप्त करना है। इसके लिए ये शांतिपूर्ण तथा क्रांतिकारी दोनों साधनों का प्रयोग करते हैं। ये अपने लक्ष्यों को तेज गति की तकनीकों का प्रयोग करके अल्पकाल में ही प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं।

(4) **कार्ल फ्रेडरिक का वर्गीकरण (Karl Fredrick's Classification) :-** कार्ल फ्रेडरिक ने दबाव समूहों को दो श्रेणियों - सामान्य और विशिष्ट दबाव समूहों में बांटा है। जो दबाव समूह सामान्य लक्ष्यों को लेकर चलते हैं, वे सामान्य दबाव समूह और जिनके हित विशिष्ट प्रकार के होते हैं, वे विशिष्ट दबाव समूह कहलाते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि राबर्ट सी० बोन का वर्गीकरण सामान्य होते हुए भी दबाव समूहों की प्रकृति, संगठन, उद्देश्यों तथा कार्यविधि को स्पष्ट करने वाला महत्वपूर्ण वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण अन्य की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट तथा सुसंगत है। यह वर्गीकरण अपने आप में कुछ विशेष प्रकार के गुण लिए हुए है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि ऑमण्ड, फ्रेडरिक तथा ब्लौण्डल के वर्गीकरण का कोई महत्व नहीं है। ये सभी वर्गीकरण कुछ न कुछ महत्व अवश्य रखते हैं।

दबाव समूहों के कार्यात्मक तरीके

(Functional Techniques of Pressure Groups)

दबाव समूह अपने हितों को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में अलग-अलग ढंग से कार्य करने के तरीके अपनाते हैं। प्रत्येक दबाव समूह का कार्यात्मक व्यवहार भी

अलग-अलग होता है, इसी कारण उनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले हित-साधन भी अलग-अलग प्रकार के हो जाते हैं। अपने हितों की प्राप्ति के लिए दबाव समूहों द्वारा निम्नलिखित साधन या तकनीकें काम में लाई जाती हैं :-

(1) **लॉबिईंग (Lobbying) :-** सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए हित व दबाव समूहों के सदस्य विधानमण्डल के विधायकों से सांठ-गांठ करते हैं। यही सांठ-गांठ विधायकों को दबाव समूहों के हित में नीति बनाने को बाध्य कर देती है। वे अपने प्रबल समर्थक विधायिकों द्वारा विधानमण्डल में अपने हितों की मांग रखते हैं और मजबूत लॉबी के कारण प्रायः सफल भी हो जाते हैं। अपनी लॉबी मजबूत करने के लिए वे विधायकों को रिश्वत देने से भी नहीं चूकते। अमेरिका में इस प्रकार की मजबूत लॉबी वाले हजारों दबाव समूह हैं जो सरकार द्वारा रजिस्टर्ड भी हैं। वहां पर कानून निर्माण मे इस लॉबिइंगब प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है। भारत में भी इस प्रकार की लॉबिइंग वाले कुछ औद्योगिक घराने हैं जो नीति-निर्माण की प्रक्रिया को सीधे संसद में ही प्रभावित करते हैं।

(2) **जनमत को प्रभावित करना (To influence the Public Opinion) :-** दबाव समूह अपना पक्ष मजबूत करने के लिए जनता से सीधा सम्पर्क बनाए रखते हैं। अपनी वाक्पटुता के बल पर इनके सदस्य जनमानस में अपनी समस्याओं का प्रचार करते हैं ताकि जनता की सहानुभूति भी प्राप्त की जा सके। इसके लिए वे समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो, डी०वी०, इन्टरनेट, सार्वजनिक सभाएं तथा प्रचार आदि के साधन अपनाते हैं। ये जानते हैं कि जनमत यदि उनके पक्ष में हो गया तो उनके हितों को प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं आएगी। लोकतन्त्र में तो जनमत ही एक ऐसा अस्त्र है जो सरकार की नीति को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए ये प्रतिवर्ष या मासिक रूप में अपनी विशेष रिपोर्ट, पुस्तक, पुस्तिकाएं आदि भी प्रकाशित करवाते रहते हैं।

(3) **चुनाव (Elections) :-** यद्यपि कोई भी दबाव समूह चुनावों में न तो प्रत्यक्ष रूप से अपने उम्मीदवार खड़े करता है और न ही सरकार में शामिल होने की लालसा रखता है। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक दबाव समूह चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करता है। सभी दबाव समूह चुनावों के समय अपने सहयोगी राजनीतिक दल को आर्थिक मदद भी देते हैं और चुनाव प्रचार में सहयोगी दलों के प्रत्याशियों के पक्ष में प्रचार भी करते हैं। उनकी सदैव यही इच्छा रहती है कि उनके समर्थक दल ही संसद में जाकर सरकार बनाएं ताकि उनके हितों का पूरा सम्मान हो सके। उनका चुनावी कार्यक्रम पर्दे के पीछे से ही चलता है। उन्हें पता होता है कि यदि किसी दल या उम्मीदवार का खुला समर्थन किया गया तो कालान्तर में उस दल का सरकार में प्रभाव समाप्त होते ही उनको ही अधिक हानि होगी। कई बार तो वे टिकट वितरण में अहम् भूमिका निभाते हैं। उनकी यही इच्छा रहती है कि उनके चहेतों को ही टिकट मिले और वे चुनाव जीतकर सरकार बनाएं। कई बार उनकी यह इच्छा पूर्ण हो जाती है, लेकिन कई बार नहीं। लेकिन दबाव समूह हार नहीं मानते। वे अगले चुनावों के लिए सांठ-गांठ कर लेते है। इस तरह यह लुका-छुपी का खेल खेलते रहते हैं और अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयास जारी रखते हैं।

(4) **विधायिका को प्रभावित करना (To influence the Legislature) :-** दबाव समूह चुनावों में राजनीतिक दलों की सहायता इसी कारण करते हैं ताकि विधायिका में उनके हितों का ख्याल रखने वाले पहुंच जाएं। वे संसदीय दल के व्यक्तियों के नामजद होने से सरकार में पहुंचने तक उनका पूरा ख्याल रखते हैं। विधायिका को प्रभावित करने के लिए तरीके प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में अलग अलग होते हैं। ब्रिटेन जैसे संसदीय शासन प्रणाली वाले देश में ये अनुशासित ढंग से कार्य करते हैं। लेकिन अमेरिका में वे शक्तियों के प थक्करण के

कारण विधायिका का पूरा फायदा उठाने में सफल रहते हैं। वहां पर दल के सचेतकों द्वारा विधायकों पर कठोर नियन्त्रण न होने के कारण वे रिश्वत आदि साधनों द्वारा अपना काम आसानी से निकाल लेते हैं। भारत, इटली तथा फ्रांस में ये समूह संसद से बाहर रहकर ही सक्रिय रहते हैं। वे अपने हितों को प्राप्त करने के लिए विधायिका को प्रभावित करने के चक्कर में कई बार तो असंवैधानिक तरीकों का भी प्रयोग कर लेते हैं। ये दबाव समूह विधायिका की समितियों के आस-पास ही अधिक केन्द्रित रहते हैं। कई देशों में तो विधायी समितियों पर दबाव समूहों का पूरा प्रभाव है। इस प्रकार दबाव समूह अपने हितों को प्राप्त करने के लिए विधायिका को भी प्रभावित करने का पूरा प्रयास करते रहते हैं।

(5) **कार्यपालिका पर दबाव** (Pressure on Executive) :- अनेक देशों में दबाव समूह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यपालिका तक हो भी प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। अध्यक्षात्मक देशों में ये राष्ट्रपति के चुनावों में पूरा समर्थन करते हैं और अपना पैसा पानी की तरह बहा देते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति के चुनावों में दबाव समूहों की अहम् सक्रियता रहती है। संसदीय सरकार वाले देशों में भी ये विधायिका के माध्यम से कार्यपालिका को प्रभावित करने के प्रयास करते हैं। इन देशों में उत्तरदायी सरकार होने के कारण चुने हुए विधायिकों को स्थगन प्रस्तावों, ध्यानाकर्षण प्रस्तावों, निन्दा प्रस्तावों आदि द्वारा मन्त्रियों को प्रभावित करने पर जोर डालते हैं और यहां तक मजबूर कर देते हैं कि उनके हितों को बढ़ावा देने वाली नीति को ही क्रियान्वित करें। यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति किसी दबाव समूह की कृपा से ही विधायक बना हो, तो उसकी निष्ठा अवश्य ही उस दबाव समूह के प्रति रहेगी। कार्यपालिका की समितियों पर भी ये अपना नियन्त्रण रखने का प्रयास करते हैं। अपने हितों के लिए दबाव समूह कार्यपालिका से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखने का प्रयास करते रहते हैं। यदि शांतिपूर्ण ढंग से दबाव समूह कार्यपालिका पर नियन्त्रण व दबाव न बना सकें तो ये अहिंसात्मक तरीकों का प्रयोग करके सरकार पर दबाव बनाने से भी नहीं चूकते। भारत में टाटा समूह, बिड़ला समूह, डालमिया समूह और धीरुभाई अम्बानी समूह का कार्यपालिका पर पूरा प्रभाव है। औद्योगिक नीति के निर्माण में इन औद्योगिक घरानों के हितों का ख्याल अवश्य रखा जाता है।

(6) **नौकरशाही को प्रभावित करना** (To influence the Bureaucracy) :- दबाव समूह अपने हितों के लिए अधिकारीतन्त्र से भी सांठ-गांठ रखते हैं। आज राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णयों व नीतियों को गति देने में यह नौकरशाही तन्त्र ही अहम् भूमिका निभाता हैं विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा नीति-निर्माण के लिए भेजी जाने वाली सूचनाएं इस अधिकारीतन्त्र के हाथों से ही गुजरती है। नौकरशाही ही कार्यपालिका व विधायिका को आवश्यक नीति-निर्माण के आंकड़े उपलब्ध कराती है। भारत जैसे देशों में तो नौकरशाही कार्यपालिका के साथ इतनी अधिक उलझी हुई है कि कई बार लोग नौकरशाही को ही कार्यपालिका समझ बैठते हैं। नौकरशाही को अपने वश में करने के लिए दबाव समूह बेइमानी, घूसखोरी, भाई-भतीजावाद जैसे साधनों का प्रयोग भी करते हैं। यद्यपि नौकरशाही पर दबाव समूहों का प्रभाव सभी देशों में बराबर नहीं हैं। फ्रांस व इटली में एकदलीय व्यवस्था के कारण ये नौकरशाही के साथ ही सांठ-गांठ रखते हैं। इन देशों में दबाव समूह नौकरशाही को खुश करने के लिए साम-दाम-दण्ड-भेद सभी उपायों का सहारा लेते हैं।

(7) **न्यायपालिका को प्रभावित करना** (To influence the judiciary) :- दबाव समूह न्यायपालिका को विधायिका तथा कार्यपालिका के माध्यम से प्रभावित करने की बजाय न्यायधीशों की नियुक्ति के समय ही कार्यपालिका पर दबाव बनाना शुरु कर देते हैं। अमेरिका और भारत में कार्यपालिका पर इस तरह का दबाव कई अवसरों पर देखा गया है। न्यायपालिका को

दूर से ही प्रभावित करने का अधिक प्रयास रखते हैं, क्योंकि न्यायधीशों का कार्यपालिका तथा विधायिका की तरह चुनाव नहीं होता। अहिंसात्मक साधनों द्वारा न तो न्यायपालिका को प्रभावित करना अपेक्षित है और न ही संविधानिक। इसलिए वे अपने हितों के लिए कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित करवाने के लिए न्यायपालिका की ही शरण लेते हैं। वे पत्र-पत्रिकाओं में लेख छापकर, समाचार पत्रों में अपने विचार देकर न्यायधीशों के मन को प्रभावित करने के प्रयास भी करते हैं। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कानूनों के विरुद्ध दबाव समूहों ने ही न्यायपालिका के पास अपील की थी। भारत में अनेक जनहितकारी याचिकाएं दबाव समूहों ने ही न्यायपालिका में प्रस्तुत की है।

(8) **हड़ताल, बन्ध और प्रदर्शन** (Strike, Bandh and Demonstration) :- दबाव समूह जब अपनी बातें मनवाने में असफल हो जाते हैं तो वे अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते। वे हड़ताल करते हैं और आज जीवन को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। वे बन्ध की घोषणा भी करते हैं। कई बार तो वे हड़ताल में विपक्षी दल के विधायकों व समर्थकों तक को भी शामिल करते हैं। अपनी बात सरकार से मनवाने के लिए वे व्यापक स्तर पर प्रदर्शन भी करते हैं और कई बार मन्त्रियों तक का भी घेराव करते हैं। इन सभी गैर-कानूनी उपायों का प्रयोग करके वे सरकार पर दबाव बनाना चाहते हैं। इन साधनों के सफल रहने पर वे अपने उद्देश्यों में भी कामयाब हो जाते हैं। भारत में इस तरह के साधन दबाव समूहों द्वारा आमतौर पर प्रयोग किए जाते हैं।

(9) **प्रचार करना** (Propaganda) :- दबाव समूह अपने पक्ष में जनमत को तैयार करने के लिए तथा सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रचार का बहुत सहारा लेते हैं। वे समाचार पत्रों, रेडियो, टी०वी० आदि संचार साधनों पर अपने विचारों का प्रसारण करवाते रहते हैं। कई बार दबाव समूह पत्र-पत्रिकाएं भी छपवाते हैं और जनमत को प्रभावित करने के लिए उन्हें निःशुल्क जनता में वितरित करते हैं। उनका प्रभावशाली प्रचार तन्त्र शासन-वर्ग को भावी संकटों तक का भी आभास करा देता है। इसी कारण भविष्य में राजनीतिक व्यवस्था को संकट से बचाने के लिए सरकार उनकी बात मान ही लेती है।

(10) **अनुनयन** (Persuation) :- कई बार दबाव समूह सरकार से सीधी बातचीत भी करते हैं और प्रार्थनापूर्वक अपनी समस्याएं भी रखते हैं। सरकार विशाल जनमत के स्वामी होने के नाते उनकी बात को टालने का जोखिम उठाने से बचानेका ही प्रयास करती हैं और प्रायः उनकी मांगें स्वीकार कर ही लेती हैं। इस तरह अनुनयन द्वारा भी दबाव समूह अपने हितों की प्राप्ति के प्रयास करते हैं। यदि इस तरीके से उनकी मांग न मानी जाती है तो वे सीधी कार्यवाही या सौदेबाजी के साधनों का प्रयोग करना शुरु कर देते हैं।

(11) **गोष्ठियां करना** (Conferences) :- अनेक दबाव समूह अपने हितों की प्राप्ति के लिए वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के लिए गोष्ठियों, सेमिनारों, वार्ताओं आदि का आयोजन करके विधायकों तक को भी उनमें बुलाते हैं ताकि अपनी समस्या से उन्हें अवगत कराया जा सके। इससे विधायक व नौकरशाही उनकी मांगों के प्रति जागरुक हो जाती है और नीति-निर्माण करते समय उनकी बातों पर ध्यान देती है। भारत में दबाव समूहों के हितों को लेकर कई बार संसद में प्रश्नकाल के दौरान काफी नोक-झोंक होती है। जो विधायक दबाव समूहों के अनुग्रहित होते हैं, वे अनकी समस्याओं को संसद-सत्र में जोर-शोर से उठाते हैं।

(12) **अन्य साधन** (Other Means) :- दबाव समूह सरकारी नीति को अपनी इच्छानुसार ढालने के लिए विधायिका व कार्यपालिका पर कुछ अन्य तरीकों से भी दबाव बनाने का प्रयास करते हैं। भारत में बड़े-बड़े औद्योगिक घराने विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही आदि के रिश्तेदारों, बच्चों आदि को अपने उद्योगों में उच्च पद पर बैठा देते हैं। कई बार वे विधायकों,

कार्यपालकों तथा नौकरशाहों को रिश्वत देने के भी प्रयास करते हैं। वे नौकरशाहों को रिटायरमैंट के बाद अपने उद्योगों में उच्च पद देने का वायदा भी करते हैं। इस प्रकार अनेक अनैतिक साधनों से वे सरकारी तन्त्र को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

इस तरह उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि दबाव समूह सरकार को प्रभावित करने के लिए नैतिक तथा अनैतिक, हिंसक तथा अहिंसक, उचित तथा अनुचित सभी प्रकार की तकनीकं अपनाते हैं। उनका तो सदैव एक ही ध्येय होता है, अपने हितों की प्राप्ति के लिए कार्यपालिका तथा विधायिका पर दबाव। अपने अन्तिम विकल्प के तौर पर वे न्यायपालिका की शरण भी लेते हैं।

दबाव समूहों के निर्धारक

(Determinants of Pressure Groups)

प्रत्येक देश में दबाव समूहों की यह शाश्वत् इच्छा रहती है कि सार्वजनिक नीति को प्रभावित करके अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की जाए। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वे अपनी गतिविधियों का संचालन व समायोजन सरकारों को बाह्य संविधानिक संरचना के अनुसार करने की अपेक्षा, सरकारी तन्त्र के भीतर प्रभावी शक्ति-वितरण की व्यवस्था के अनुसार करते हैं। दबाव समूहों की गतिविधियों का संचालन प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में इसी कारण ही अलग तरह का होता है और उनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले साधन भी अलग-अलग होते हैं। कई बार तो दबाव समूह एक ही राजनीतिक व्यवस्था में भी अलग-अलग परिस्थितियों में अलग अलग विधियों का प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? इसी में दबाव समूहों की कार्यविधि के निर्धारकों की समस्या छिपी है। एलेन बाल तथा एकसटीन ने दबाव समूहों की राजनीति का व्यापक विश्लेषण करके उसके निर्धारकों का पता लगाया है। एलेन बाल ने तो दबाव समूहों के निर्धारकों का संक्षिप्त ब्यौरा ही दिया है, जबकि हैरी एकसटीन ने दबाव समूहों के निर्धारकों पर विस्तार से चर्चा की है। कुछ अन्य विद्वानों ने भी दबाव समूह की राजनीति का विश्लेषण करने के बाद इन निर्धारकों का सामान्यीकरण किया है। दबाव समूहों की राजनीति या उनकी प्रभावशीलता को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं :-

(1) **राजनीतिक संस्थागत संरचना :-** दबाव समूहों का अस्तित्व राजनीतिक व्यवस्था की संस्थागत संरचना से काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जिस शासन व्यवस्था में नीति-निर्माण और उसे अमली जामा पहनाने का कार्य प्रशासन की केन्द्र शाखा को करना पड़ता है तो वहां कोई भी दबाव समूह राष्ट्रीय स्तर पर भी महत्वपूर्ण, शक्तिशाली और सुसंगठित स्थान प्राप्त कर सकता है। जिस देश में शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है, उन एकात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों के दबाव समूहों की राजनीति का केन्द्र राजधानी होती है। इसके विपरीत संघात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में दबाव समूह प्रादेशिक स्तर पर अधिक सक्रिय रहते हैं। केन्द्र तक तो कम ही दबाव समूह पहुंच पाते हैं। दबाव समूहों को यह भी पता होता है कि कौन सी संरचना निर्णय लेने में सक्षम है। इसलिए वे विधायिका या कार्यपालिका की तरफ ही झुकते हैं। संसदीय शासनप्रणालियों में तो दबाव समूह विधायिका या कार्यपालिका की समितियों तक को भी अपनी पहुंच में ले लेते हैं। जिस देश में विधायिका या कार्यपालिका नौकरशाही पर अधिक आश्रित रहती है तो ये दबाव समूह अपना डेरा नौकरशाही के ही इर्द-गिर्द डाल लेते हैं। उदारवादी लोकतन्त्रों में तो शक्ति-विकेन्द्रीयकरण के दबाव समूहों की गतिविधियां अधिक तीव्र हो जाती हैं। सर्वसत्ताधिकारवादी शासन-व्यवस्थाओं में दबाव समूह प्रायः सुप्त अवस्था में रहते हैं, क्योंकि यहां पर इन्हें पैर पसारने की अनुमति नहीं होती। इसी कारण अमेरिका और ब्रिटेन में अध्यक्षात्मक व संसदीय शासन प्रणालियों की निर्णयकारी संरचनाओं में पाए जाने वाले अन्तर के कारण दबाव समूहों की प्रकृति में भी अन्तर आ जाता है।

(2) **दल पद्धति की संरचना व स्वरूप :-** दबाव समूहों की राजनीति पर दल-व्यवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ता हैं एक दल पद्धति वाले देशों में दबाव समूह अपना प्रभाव नहीं जमा पाते, क्योंकि इनका प्रभाव क्षेत्र तो बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में ही अधिक विकसित होता है। सर्वाधिकारवादी देशों में एकदलीय व्यवस्था के कारण ही दबाव समूहों को घ णा की द ष्टि से देखा जाता है। लोकतन्त्र से अलग प्रकार की सभी शासन व्यवस्थाओं में केवल उसी दबाव समूह को रहने की आज्ञा दी जा सकती है जो सत्तारूढ़ दल का समर्थन करता है। दो दलीय व्यवस्था वाले देशों में भी दबाव समूह को बहुदलीय शासन प्रणाली वाले देशों की तरह स्वतन्त्र ढंग से कार्य करने दिया जाता है। यहां पर वे किसी राजनीतिक दल के छिपे हुए समर्थन के अधीन कार्य करते हैं या राजनीतिक तटस्थता का ढोंग करके सत्तारूढ़ दल से अपना सम्बन्ध बनाए रहते हैं। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली वाली बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत ये लुका-छुपी का खेल खेलते हैं। कभी ये किसी दल के साथ रहते हैं तो कभी किसी। इसी तरह दल संरचना का स्वरूप भी दबाव समूहों का नियामक होता है। दल संरचना की कमजोरियां, अनुशासन का अभाव और दलों के बीच विचारधारा सम्बन्धी स्पष्ट अन्तर का होना भी दबाव समूहों की प्रभावशीलता का कारण बन जाता है। इसी कारण अमेरिका में दबाव समूह अधिक सक्रिय है। प्रतिनिधि सभा के चुनावों में अमेरिकी कांग्रेस के प्रतनिधि स्थानीय हितों के दबावों में रहती है। लेकिन ब्रिटेन में कठोर दलीय अनुशासन के कारण विधायकों पर दबाव समूहों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ने पाता है। बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत दलीय अनुशासन का अभाव होने के कारण दबाव समूहों की विधायकों पर पकड़ मजबूत होती है।

(3) **सरकार की नीतियां व गतिविधियां :-** दबाव समूहों की क्रियाशीलता सरकार की नीतियों पर ही आधारित होता है। जिस देश में सरकार कल्याणकारी नीतियां अपनाती है और सभी वर्गों को शासन में उचित प्रतिनिधित्व देती है तो वहां पर दबाव समूह आसानी से अपनी घुसपैठ कर जाते हैं। यदि सरकार ऐसी नीतियों व गतिविधियों का संचालन करना शुरु कर दे कि लोकतन्त्रीय आस्थाएं ही धूमिल होनें लग जाएं, वहां पर दबाव समूहों के पैर नहीं टिक सकते। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में यह बात सरकार ही निश्चित करती है कि किसे क्या देना है, किसे प्रतिबन्धित करना है या किसे अधिक सुविधायें देनी हैं ? इसी तरह दबाव समूहों की कार्यप्रणाली भी सरकार की नीतियों पर ही आधारित होती है। 1947 के समय में और आज के समय में सरकार की नीतियों में आए बदलाव के कारण ही आज दबाव समूह भारत में फल-फूल रहे हैं। आज सरकारें लोक कल्याणकारी नीतियों पर अधिक ध्यान देती है, इसलिए दबाव समूह उदारवादी लोकतन्त्रों में अपनी गतिविधियों को बड़े पैमाने पर संचालित करके अपने हितों को प्राप्त करने में सक्षम है।

(4) **सरकार की दबाव समूहों के प्रति अभिव ति या रवैया :-** सरकार का दबाव समूहों की प्रति सोच भी दबाव समूहों की प्रभावशीलता की नियामक मानी जाती है। उदार लोकतन्त्रों में समूह व्यवस्था को राजनीतिक व्यवस्था का स्वाभाविक अंग माना जाता है। इसी कारण वहां पर दबाव समूहों की भरमार होती है। सर्वसत्ताधिकारवादी व्यवस्थाओं में सरकारों का रवैया दबाव समूहों के प्रति कठोर होता है। वहां पर केवल वही दबाव समूह पनप सकता है तो सत्तारूढ़ सरकार की नीतियों का समर्थक बना रहे। सरकार विरोधी समूहों को सर्वाधिकारवादी सरकारें किसी भी कीमत पर बर्दाश्त नहीं कर सकती। लोकतन्त्र शासन प्रणाली ही एकमात्र ऐसी शासन प्रणाली है जो दबाव समूहों की गतिविधियों को झेल सकती है। इसी कारण निरंकुश और लोकतन्त्रीय सरकारों का दबाव समूहों के प्रति पाया जाने वाला रवैया दबाव समूहों द्वारा सरकार को प्रभावित करने वाले साधनों में भी भिन्नता ला देता है।

(5) **राजनीतिक संचारण :-** दबाव समूह की प्रभावशीलता का निर्धारण इस बात से भी होता है कि राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचारण का कितना निषेध है तथा कितनी छूट है। कोई राजनीतिक व्यवस्था तो दबाव समूहों की सक्रियता के प्रति सहनशील होती है तो कोई उसे आंशिक तौर पर ही स्वीकार करती है या उनकी सक्रियता को सहन ही नहीं करती। भारतीय शासन व्यवस्था राजनीतिक संचारण की छूट देती है। इसी कारण भारत में असंख्यक दबाव समूह व हित समूह उभरे हैं। कुछ देशों में दबाव समूहों को घ णा की द ष्टि से देखा जाता है, इसी कारण वहां पर राजनीतिक संचारण की छूट इनको प्राप्त नहीं है। चीन तथा जर्मनी में राजनीतिक संचारण की सीमित व्यवस्था होने के कारण वहां पर दबाव समूह अविकसित प्रकृति के हैं।

(6) **राजनीतिक व्यवस्था की समूह की मांगों को सहन करने की क्षमता :-** प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की गतिविधियां व मांगें अलग-अलग प्रकार की होती हैं। सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं दबाव समूहों की मांगों को पूरा करने में असमर्थ होती हैं। ऐसे में अपनी मांगों को पूरा करवाने के लिए दबाव समूह सरकार पर अनुचित दबाव डालने का प्रयास अवश्य करते हैं। उनकी गतिविधियों से परेशान होकर सरकार उन पर प्रतिबन्ध लगा देती है। 1975 के बाद भारत में अनेक दबाव समूह इस प्रतिबन्ध की श्रेणी में आ गए हैं, क्योंकि ये अपनी मांगें मनवाने के लिए अधिक हिंसक साधनों का प्रयोग करने लगे हैं। सरकार दबाव समूहों की गतिविधियों को वहीं पर स्वतन्त्र छोड़ सकती है, जहां उनकी मांगें राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के अनुरूप हों।

(7) **दबाव समूहों के स्वयं के लक्षण :-** एकसटीन का मानना है कि दबाव समूहों के स्वयं के लक्षण भी उनकी प्रभावकारिता के नियामक होते हैं। दबाव समूहों की आर्थिक स्थिति, उनका आकार, सदस्यों की लग्न व कर्मठता, संगठन की ठोसता, संगठन की सामाजिक प्रतिष्ठता आदि कारक भी दबाव समूहों की राजनीतिक व्यवस्था में प्रभावकारिता का कारण होते हैं। आधुनिक जीवन में आर्थिक शक्ति का बहुत महत्व है। आर्थिक शक्ति ही निर्णय-निर्माताओं को प्रभावित कर सकती है। जो दबाव समूह राजनीतिक दलों को अधिक चन्दे देता है, योग्य सदस्यों को भर्ती करता है, वही प्रशासनिक मशीनरी को अपने बारे में सोचने को विवश कर सकता है। दबाव समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा भी अनुकूल जनमत तैयार करने में उसका सहयोग करती है और सरकारी पदाधिकारियों पर प्रभाव भी डालती है। जो दबाव समूह अपने लग्नशील सदस्यों के माध्यम से चुनावी कार्यक्रम में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में सक्षम होता है, वही सरकार के नीति-निर्माण को प्रभावित करने वाली शक्ति बन जाता है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचनाएं, दल पद्धति का स्वरूप, सरकार की नीतियां, सरकार की दबाव समूह के प्रति अभिव ति, राजनीतिक संचारण, राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता, दबाव समूहों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति व राजनीतिक संस्कृति आदि तथ्य दबाव समूहों की राजनीतिक व्यवस्था में प्रभावकारिता के निर्धारक हो सकते हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति में अन्तर आने के कारण दबाव समूहों की प्रभावकारिता में भी अन्तर आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूह अपने हितों के सम्वर्द्धन के समान तरीके नहीं अपना सकते। संसदीय व्यवस्थाओं में तो दबाव समूहों की प्रभावकारिता अधिक से अधिक विकेन्द्रित होती है, जबकि अध्यक्षात्मक में यह केन्द्रित होती है। सर्वसत्ताधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की प्रभावकारिता सीमित व संकुचित होती है, जबकि लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं में यह अधिक व्यापक और विकेन्द्रित होती है। विकासशील देशों में तो सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचना, दल पद्धति का स्वरूप तथा राजनीतिक संचारण के प्रतिमान अनिश्चित होने के कारण दबाव समूह के निर्धारक भी अस्पष्ट है।

दबाव समूहों के कार्य व भूमिका

(Functions and Role of Pressure Groups)

आज प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का विशेष स्थान है। सभी लोकतन्त्रीय देशों में तो इसका महत्व और अधिक है। पहले तो दबाव समूहों को घ णा की द ष्टि से देखा जाता था, लेकिन आज स्थिति बदल चुकी है। आज दबाव समूह को प्रत्येक राजनीतिक समाज, राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करने लगा है। आज नीति-निर्माण की प्रक्रिया पर इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि इन्हें अद श्य साम्राज्य कहा जाने लगा है। सरकार की विधायी कार्यों पर इनके बढ़ते प्रभाव के कारण इन्हें विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल भी कहा जाता है। अपने हितों के सम्वर्द्धन के लिए इनका राजनीतिक दलों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहने के कारण फ्रेडरिक ने इन्हें 'दल के पीछठे सक्रिय जन' तक कह दिया है। आज अमेरिका, भारत, इंग्लैण्ड, स्विस, फ्रांस आदि देशों में ये समूह किसी न किसी रूप में राजनीतिक गतिशीलता में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। किसी राजनीतिक व्यवस्था में इनकी भूमिका निम्नलिखित कारणों से महत्वपूर्ण हो सकती है :-

(1) **लोकतन्त्रीय प्रक्रिया की अभिव्यक्ति :-** प्रजातन्त्रीय शासन प्रणालियां ही दबाव समूहों के पोषण के लिए अनुकूल परिस्थितियां प्रदान करती हैं। इन देशों में दबाव समूह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जनमत का अधिक सहारा लेते हैं। यहां पर जनमत तैयार करने के लिए वे विचार-गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं, सभाओं आदि का पूरा सहारा लेते हैं। प्रजातन्त्र में अपनी बात मनवाने के लिए यह जरूरी होता है कि जनमत को साथ लेकर चला जाए। इसलिए प्रजातन्त्र में दबाव समूहों द्वारा मजबूत जनमत को तैयार करना लोकतन्त्रीय प्रक्रिया की ही अभिव्यक्ति है। जनमत को शिक्षित करके आंकड़े एकत्रित करके, कानून निर्माताओं के पास पहुंचाकर वे अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार दबाव समूह लोकतन्त्रीय प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने का कार्य करते हैं।

(2) **सरकार की निरंकुशता पर रोक :-** आधुनिक युग में शक्तियों का झुकाव केन्द्र की तरफ ज्यादा बढ़ रहा है। आज आर्थिक विकास और सुरक्षा की आवश्यकता ने शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के विचार को जन्म दिया है। ऐसे में यह संभावना बढ़ जाती है कि सरकार अपनी शक्तियों का निरंकुश प्रयोग भी कर सकती है। परन्तु दबाव समूह किसी न किसी रूप में हर समय सरकारी तन्त्र पर नजर रखते हैं। अपने हितों के संरक्षण की आड़ में सरकार की निरंकुशता से आज जनता की रक्षा भी करते हैं। जिस देश में अधिकारी-तन्त्र (Bureaucracy) पर दबाव समूहों की द ष्टि हो, वह कभी निरंकुश नहीं बन सकता।

(3) **नीति-निर्माण में सहायक :-** लोकतन्त्रीय देशों में तो दबाव समूह शासन-तन्त्र के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते हैं। चाहे कार्यपालिका हो या विधायिका, शासन-तन्त्र के अंग के रूप में उनकी सदा यह जानने की इच्छा रहती है कि लोंगों की आवश्यकताएं क्या हैं ? इन आवश्यकताओं का ज्ञान दबाव समूहों को ही अधिक होता है। इस बारे में सभी आवश्यक सूचनाएं व आंकड़े दबाव समूह ही सरकार को उपलब्ध कराते हैं। वर्ने ने लिखा है-"समूह ही व्यक्ति-ज्ञान के क्षेत्र में विशेष है जो कानून के निर्माण और क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है।" इस प्रकार सरकार गैर-सरकारी स्त्रोत के रूप में दबाव समूहों से नीति-सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएं प्राप्त कर लेती हैं। इससे विवेकपूर्ण नीति व कानून निर्माण करना संभव हो जाता है। यद्यपि दबाव समूहों द्वारा एकत्रित सूचनाएं व आंकड़े उनके स्वयं के हितों से अधिक सरोकार रखते हैं, लेकिन नीति निर्माण में जो महत्व उन आंकड़ों का होता है, वह अन्य स्त्रोतों से एकत्रित किए गए आंकड़ों का नहीं हो सकता। अतः दबाव समूह सरकार को नीति-सम्बन्धी आवश्यक कच्ची सामग्री उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(4) **शासन-तन्त्र को प्रभावित करना :-** दबाव समूह लोकतान्त्रिक देशों में तो इतने संगठित हो जाते हैं कि वे सरकारी-तन्त्र को प्रभावित करने की क्षमता भी रखते है। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विधायिका, कार्यपालिका तथा नौकरशाही तन्त्र को सार्वजनिक नीति में परिवर्तन लाने के लिए दबाव डालते हैं। बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में ये राजनीतिक दलों के साथ सांठ-गांठ करके अपने हितों के लिए सरकार पर दबाव बनाए रखते हैं। द्विदलीय प्रणाली वाले देशों में ये मुख्य कार्यपालिका के आस-पास या विधायिका के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाते रहते हैं। अमेरिका में इनकी पहुंच राष्ट्रपति तक भी होती है। भारत में दबाव समूह अपने हितों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों या विधायकों के माध्यम से हर नीति-निर्णय को प्रभावित करने की चेष्टा करते रहते हैं। अपने हितों के लिए ये न्यायपालिका तक की भी शरण ले लेते हैं। इनका मुख्य लक्ष्य ही अपने हितों के लिए शासन-तन्त्र को अपने प्रभाव में रखना है।

(5) **समाज के विभिन्न वर्गों के हितों में सामंजस्य :-** प्रत्येक समाज में किसान, श्रमिक, व्यापारी, मजदूर, जातीय समुदाय, धार्मिक समुदाय, विद्यार्थी, स्त्रियों आदि के अपने अपने हित होते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए ये समूह आपस में प्रतियोगिता करते रहते हैं। प्रत्येक समूह एक दूसरे पर नियन्त्रक का कार्य करता है और अपने से विपरीत समूह को इतना शक्तिशाली नहीं होने देता कि वह निजी-स्वार्थों का केन्द्र ही बन जाए। इस प्रतियोगी-व्यवस्था में समाज में संतुलनकारी प्रव त्तियां पनपने लगती हैं और समाज के सभी वर्गों के हितों में सामंजस्य बना रहता है। दबाव समूहों की उपस्थिति समाज में संतुलन के साथ-साथ प्रशासन और समाज में भी संतुलन कायम कर देती है। इससे समाज विघटनकारी शक्तियों से निपटने में सक्षम हो जाता है।

(6) **जनता व सरकार में कड़ी का काम करना :-** दबाव समूह जनता और सरकार को जोड़ने वाली कड़ी है। जनता की मांगों को समूहीकरण के रूप में दबाव समूह ही सरकार तक पहुंचाते हैं। नीति-निर्माण करते समय दबाव समूहों द्वारा उपलब्ध सूचनाओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इस तरह दबाव समूह जनता व सरकार को जोड़ने का कार्य भी करते हैं।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि दबाव समूह सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। आधुनिक समाज में उनके बढ़ते प्रभाव को देखकर कहा जा सकता है कि दबाव समूह ही वास्तविक राजनीतिक दल है, जो सरकार और जनता को जोड़ने का कार्य करते हैं। लोगों को राजनीतिक शिक्षा देना, जनमत को तैयार करना, सार्वजनिक नीति को प्रभावित करना, सरकार को जनता की मांगें समूहीकरण के रूप में पेश करना आज राजनीतिक दलों की बजाय दबाव समूहों के ही कार्य हो गए हैं। इसी कारण आज कहा जाने लगा है कि दबाव समूह शासकों को बनाने वाले हो गए हैं। आज अमेरिका, भारत, ब्रिटेन, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, पूर्वी जर्मनी, पौलैंड आदि देशों में कम या अधिक मात्रा में दबाव समूह कार्यरत हैं। अमेरिका में तो इनका विशेष प्रभाव है। वहां पर ये समूह जितने संगठित तरीके से कार्य कर रहे हैं, अन्य देश में नहीं। इसी कारण अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने इन समूहों की शक्ति की ओर संकेत करते हुए लिखा है-"संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार एक ऐसा शिशु है जो विशेष हितों की देख-रेख में पला है।" इस प्रकार प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

दबाव समूहों की आलोचना

(Criticisms of Pressure Groups)

यद्यपि दबाव समूह प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाने, सरकार की निरंकुशता को रोकने, जनता और सरकार में कड़ी का काम करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य करते हैं और प्रत्येक

राजनीतिक समाज इन्हें आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार भी करने लगा है, लेकिन फिर भी इनकी भूमिका की आलोचना की जाती है। आलोचकों का मत है कि दबाव समूह विशिष्ट हित को लेकर ही सरकार के पास जाते हैं। उनका सामान्य हित से कोई लेना देना नहीं होता। कई बार दबाव समूह अहिंसक साधनों का प्रयोग करके राष्ट्रीय सम्पत्ति को हानि पहुंचाते हैं और समाज की एकता व शांति को भंग करने से भी नहीं चूकते। विधायकों को अनैतिक साधनों से प्रभावित करके वे राजनीतिक भ्रष्टाचार को जन्म देते हैं। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तो वे न्यायपालिका जैसे पवित्र संगठन को भी नहीं छोड़ते। अपने स्वार्थों के लिए वे साम-दाम-दण्ड-भेद सभी नीतियों का प्रयोग निर्बाध रूप से करते हैं। अपने अनैतिक कारनामों द्वारा वे समाज में अनैतिकता का प्रसार कर देते हैं। उनकी बढ़ती भूमिका ने राजनीतिक दलों तक की भूमिका व महत्व को भी सीमित कर दिया है। इसलिए समय की यह मांग है कि दबाव समूहों की निरंकुशता की प्रव त्ति पर रोक लगाई जाए अन्यथा ये समाज और सरकार दोनों के लिए गंभीर खतरे उत्पन्न कर देंगे।

अध्याय-15
प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन प्रणाली
(Representation and Electrol Systems)

आधुनिक युग प्रतिनिधि शासन का युग है। आज राज्यों का आकार प्राचीन राज्यों की तुलना में काफी बड़ा है, इसलिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से राज्य के कार्यों या शासन में भाग लेना असम्भव हो गया है। प्रजातन्त्र का यह मूल-सिद्धान्त होता है कि सभी शासन में भाग लें। इस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने के लिए प्रतिनिधि लोकतन्त्र का ही जन्म हुआ है। प्रतिनिधि लोकतन्त्र का सीधा अर्थ है कि जनता चुनावों में अपने प्रतिनिधि चुनकर सरकार में भेजती है। ये प्रतिनिधि ही शासन चलाते हैं। जनता के प्रतिनिधि होने के कारण उसकी स्थिति काफी मजबूत होती है। प्रतिनिधि लोकतन्त्र का दूसरा नाम अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र भी है। सिद्धान्त में तो ये जनता के प्रतिनिधि होते हैं, लेकिन व्यवहार में ये शासन शक्ति के वास्तविक धारक ओर प्रयोगकर्ता होते हैं। प्रतिनिधि लोकतन्त्र को अमली जामे पहनाने का कार्य सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार की प्रणाली द्वारा ही सम्भव बनाया जाता है जो आज विश्व के सभी लोकतन्त्रीय देशों में प्रचलित है। व्यस्क मताधिकार और प्रतिनिधि लोकतन्त्र पूर्णतया आधुनिक धारणाएं हैं जो प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को गति प्रदान करती है। स्वीट्जरलैण्ड को छोड़कर आज विश्व के सभी देशों में प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही है।

प्रतिनिधित्व का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Representation)

कोई भी समूह या गुट आज आवश्यक निर्णय लेने तथा आवश्य बातचीत के लिए अपने बड़े आकार के कारण प्रत्येक अवसर पर अपने सभी सदस्यों को एकत्रित नहीं कर सकते। इसके लिए वे अपने कुछ प्रतिनिधि सदस्यों का चुनाव कर लेते हैं, जो भविष्य में प्रत्येक निर्णय में भागीदार बनते हैं और समूह या गुट का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस द ष्टि से प्रतिनिधियों द्वारा समूह के लिए अधिकृत शक्ति के तहत कार्य करना प्रतिनिधित्व कहलाता है। एनसाईकलोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका में प्रतिनिधित्व की परिभाषा इस प्रकार दी गइे है-"प्रतिनिधित्व वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सारे नागरिकों या उनके किसी अंश की अभिव तियां, अधिमान्यताएं, द ष्टिकोण और इच्छाओं को, उनकी ऐच्छिक कार्य का रूप प्रदान करता है और जिनके प्रतिनिधि होते हैं उन्हीं पर बाध्यकारी प्रभाव होता है।" इसी तरह राबर्ट वॉन मोहल के अनुसा-"प्रतिनिधित्व वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समस्त नागरिक या उनका कोई अंश सरकारी कार्य पर जो प्रभाव डालता है, वह उनकी सुव्यक्त इच्छा के अनुसार होता है, उन्हीं में से थोड़े से लोगों द्वारा उनकी ओर से किया जाता है और यह उनके लिए मानना आवश्यक होता है जिसका वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।"

प्रतिनिधित्व का अर्थ समझने के बाद राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अर्थ समझना भी आवश्यक है। राजनीतिक प्रतिनिधित्व जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति की तरफ संकेत करता प्रतीत होता है। राजनीतिक प्रतिनिधि ही निर्वाचित व्यक्ति होता है जो समूह का प्रतिनिधित्व करता है। राजनीतिक प्रतिनिधि एक ऐसा व्यक्ति होता है हो किसी राजनीतिक समाज में शासन की प्रक्रिया को प्रभावित

करने तथा प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने का वैधिक अधिकार रखता है। ए०एच० विर्च ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है-"राजनीतिक प्रतिनिधि एक ऐसा व्यक्ति होता है जो परम्परागत या कानून द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिनिधि का स्तर रखता है और प्रतिनिधि की भूमिका निभाता है।" इस द ष्टि से राजनीतिक प्रतिनिधित्व राजनीतिक प्रतिनिधि द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की अदा की गई भूमिका का सूचक है।

प्रतिनिधिक प्रणाली का विकास

(Growth of the Representation System)

प्रतिनिधित्व प्रणाली की उत्पत्ति को लेकर राजनीतिक विद्वान एकमत नहीं हैं। मॉण्टेस्क्यू तथा रूसो इसे आधुनिक युग की उपज मानते हैं, उनका कहना है कि प्राचीन काल में राजा ही शक्ति का एकमात्र अधिकारी था और शासन के सभी निर्णय उसी के द्वारा लिये जाते थे। जब राजा की निरंकुशता बढ़ने लगी तो जनता की आवाज को दबाए रखने के लिए अपने कुछ सलाहकारों को जन-प्रतिनिधि के रूप में उभरने लगी। जब राजा को धन की जरूरत पड़ती थी तो वह कुछ जन-प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाने लगा और धीरे धीरे ये प्रतिनिधि समाज का महत्वपूर्ण अंग बन गए। राजा और जनता को जोड़ने में इन्हीं प्रतिनिधियों ने भूमिका अदा करनी शुरु कर दी और तेहरवीं सदी के अन्त में तथा चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैंड में संसद, फ्रांस में ईस्टेट्स जनरल (Estates General), स्पेन में कोर्टेस (Cortes), जर्मनी और जापान में डायट (Diet) के रूप में प्रतिनिधि संस्थाओं का उदय हुआ। इन संस्थाओं और राजाओं में लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा और अन्त में प्रतिनिधि संस्थाओं की ही विजय हुई। 1213 में जॉन ने प्रत्येक काउन्टी से चार बुद्धिमान नाइटों को व हत सभा की बैठक में बुलाया। हेनरी त तीय ने 1254 में, एडवर्ड प्रथम ने 1295 में ऐसी ही सभाएं की। एडवर्ड प्रथम की सभा आदर्श संसद के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसमें 400 व्यक्तियों ने भाग लिया था। इसमें सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व मिला था। इंग्लैण्ड की संसद एक मदर पार्लियामैंट के रूप में विख्यात थी, क्योंकि इसमें सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधि थे। धीरे धीरे इंग्लैण्ड में प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास होता रहा और 1919 में सभी व्यस्क पुरुष व स्त्रियों को मतदान का अधिकार दे दिया गया। आज इंग्लैण्ड प्रतिनिधि लोकतन्त्र व राजतन्त्र का अनूठा उदाहरण है।

इंग्लैण्ड की तरह ही अन्य देशों में भी प्रतिनिधिक प्रणाली का बराबर विकास होता रहा। 1871 का तीसरा फ्रांसीसी गणतन्त्र तथा 1919 का वाइमर गणतन्त्र प्रतिनिधिक प्रणाली के विकास के अनूठे उदाहरण हैं। अमेरिका क्रान्ति के समय भी 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' का नारा गूंजा और अन्त में वहां पर प्रतिनिधि लोकतन्त्र की स्थापना हुई। यद्यपि साम्यवादी देशों में भी प्रतिनिधिक प्रणाली का ढिंढोरा पीटा जाता रहा है, लेकिन वहां वास्तविकता कुछ और ही है। भारत में भी 1857 की क्रान्ति के बाद प्रतिनिधिक प्रणाली की शुरुआत हुई और भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 के तहत गवर्नर जनरल तथा गर्वनरों की परिषदों में भारतीयों को कुछ स्थान दि गए। 1892 तथा 1909 में इस संख्या को कुछ बढ़ा दिया गया और 1919 के मॉण्टेग्यू-चेम्स फोर्ड सुधारों के द्वारा उत्तरदायी प्रतिनिधिक शासन प्रणाली का जन्म हुआ। 1955 के भारत सरकार अधिनियम ने भारत में प्रतिनिधिक प्रणाली की जड़ें और अधिक गहरी कर दी। भारत में पहली बार प्रान्तों के लिए निर्वाचित प्रतिनिधिक सरकारें बनीं। 1946 में संविधान सभा का निर्माण भी प्रतिनिधिक व्यवस्था के तहत ही हुआ। इसमें सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया गया। स्वतन्त्रता के बाद भारत व्यस्क मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधि शासन का संचालन करने वाला सबसे बड़ा देश बन गया, जो आज भी विश्व का सबसे बड़ा प्रतिनिधि लोकतन्त्रीय देश है। आज भारत के संविधान में मताधिकार की आयु 18 वर्ष है और जनता अपना शासन प्रतिनिधियों के माध्यम से ही चला रही है।

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

(Theories of Representation)

प्रतिनिधित्व के बारे में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। एलेन बाल ने प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों को दो भागों (i) उदारवादी प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त (ii) समष्टिवादी सिद्धान्त में बांटा है। उसका कहना है कि उदारवादी प्रजातन्त्र में न केवल मताधिकार का विस्तार है, बल्कि मतदान के अधिकारों में भी समानता है। इस प्रणाली में व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग बुद्धिवाद के अनुसार ही करता है और जनता की सम्प्रभुता को सार्वभौमिक मताधिकार के रूप में ही प्रकट किया जाता है। इसमें चुनाव की आवश्यकता का आधार वह उदारवादी दर्शन है जो मनुष्य को अपने व्यक्तित्व एवं परिस्थिति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इसमें प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रतिनिधित्व का उदारवादी सिद्धान्त ही राजनीतिक दलों के उदय और कार्यपालिका की शक्ति में व द्धि का आधार है। इसके साथ ही समष्टिवादी सिद्धान्त भी घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि विधानमण्डल को व्यक्तियों और मतों की बजाय बहुसंख्यक वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इस सिद्धान्त का मानना है कि जनता की सम्प्रभुता तथा बहुमत की इच्छा दोनों ही सर्वोपरि हैं। लेकिन सोवियत संघ का यह दावा झूठा हो गया है कि साम्यवादी देशों की समष्टिवादी प्रतिनिधिक प्रणाली पूंजवादी राज्यों के लोकतन्त्र से अधिक श्रेष्ठ है। आज चीन, कोरिया, क्यूबा में भी प्रजातन्त्र के नाम पर प्रतिनिधिक प्रणाली के साथ वही मजाक किया जा रहा है जो सोवियत संघ में किया गया था। इसलिए समष्टिवादी प्रतिनिधिक सिद्धान्त ठीक नहीं है। केवल उदारवादी प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त ही प्रतिनिधिक प्रणाली का सही प्रतिमान हो सकता है। इस सिद्धान्त के अतिरिक्त आज दो प्रतिकूल सिद्धान्त ही अधिक मान्य हैं, जो आदिष्ट प्रतिनिधित्व तथा आदर्शहीन प्रतिनिधित्व के रूप में हैं।

(i) **आदिष्ट प्रतिनिधित्व (Instructed Representation) :-** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिनिधि ा निर्वाचकों या मतदाताओं के ही अधीन है, क्योंकि वे उनकी इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। किसी भी तरह का संशोधन प्रतिनिधि केवल निर्वाचकों की अनुमति से ही कर सकता है। विदेशों में जाने वाले राजदूत या राजनयिक प्रतिनिधि अपनी स्वामी की आज्ञा का ही पालन करते हैं। लेकिन वर्तमान समय में अदिष्ट प्रतिनिधित्व पर चलना असम्भव है। आज विधि-निर्माण के कार्य इतने जटिल हो गए हैं कि प्रतिनिधि को निर्वाचकों के प्रति वचनबद्ध रहना असम्भव है। संचार साधनों के विकास से राजनीतिक घटनाओं के बारे में प्रतिनिधियों को तीव्र निर्णय लेने व देने पड़ते हैं। किसी सम्मेलन के दौरान प्रतिनिधि द्वारा लिया जाने वाला निर्णय निर्वाचकों की इच्छा जानने की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। आज दलों को वोट मिलते हैं, प्रतिनिधियों को नहीं। प्रतिनिधि को कठोर दलीय अनुशासन में ही रहना पड़ता है। विजयी दल भी अपनी नीतियों का ही क्रियान्वयन करता है, निर्वाचकों की नहीं। आज प्रतिनिधि को मतदाताओं की इच्छा के साथ बांधना असम्भव है। इसी कारण लास्की ने इस सिद्धान्त को गलत तथा लीवर ने अन्यायपूर्ण, असंगत तथा अवैधानिक कहा है। सत्य तो यह है कि आधुनिक समय में इस सिद्धान्त की कोई प्रासंगिकता नहीं है।

(ii) **आदेशहीन प्रतिनिधित्व (Uninstructed Representation) :-** इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रतिनिधिगण निर्वाचकों के अभिकर्ता नहीं हैं। प्रतिनिधियों को निर्वाचित करना तो जनता का अधिकार है, लेकिन अपने वश में रखना उनके सामर्थ्य से बाहर की बात है। इसी कारण यह अपेक्षा करना भी बेकार है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों के अभिकर्ता के रूप में कार्य करेंगे। आज की बदलती परिस्थितियों में किसी सम्मेलन या समारोह में प्रतिनिधियों को देश-विदेश में त्वरित निर्णय लेने पड़ते हैं। आज प्रतिनिधि दल की इच्छा का संचालन करते हैं और

स्वविवेक के निर्णय लेते हैं। यही निर्वाचक और प्रतिनिधि के सम्बन्धों की सच्चाई है। प्रतिनिधि निर्वाचकों के अभिकर्ता होने की बजाय उनके हितों के ही संरक्षक होते हैं, जिन्हें वे दलीय अनुशासन में रहकर ही पूरा करते हैं। इसलिए प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य बनता है कि वे अपने निर्वाचकों के हितों के अनुरूप ही स्वैच्छिक नीतियों का निर्धारण करे और देश हित को प्राथमिकता दें। इसी कारण आज प्रतिनिधियों से निर्वाचकों के अधीन न रहकर स्वतन्त्र ढंग से कार्य करने की आशा की जाती है। आधुनिक युग में प्रतिनिधि निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधि न होकर सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधि माना जाता है। इसलिए आज आदेशहीन प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त ही अधिक मान्य व प्रासांगिक है।

प्रतिनिधित्व के प्रकार

(Types of Representatiuon)

प्रतिनिधित्व विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार का हो सकता है। आज प्रतिनिधित्व के निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं:-

1. **प्रादेशिक प्रतिनिधित्व** (Territorial Representation)
2. **व्यावसायिक प्रतिनिधित्व** (Professional Representation)
3. **आनुपातिक प्रतिनिधित्व** (Proportional Representation)
4. **अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व** (Minority Representation)

(1) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial Representation) :- इस प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत किसी क्षेत्र को निर्वाचन कराने के लिए कई भागों में बांटा जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक ही सदस्य का चुनाव किया जाता है। इसे भौगोलिक या क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व भी कहा जाता है। सुविधा की दृष्टि से निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या कम करके एक निर्वाचन क्षेत्र से कई सदस्ज्ञयों का भी चुनाव किया जा सकता है। जिस चुनाव क्षेत्र से केवल एक ही सदस्य चुना जाता है, उसे एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र तथा जिस क्षेत्र से एक साथ कई सदस्य चुने जाते हैं, उसे बहुदसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र अपेक्षाकृत भौगोलिक दृष्टि से छोटे और कम जनसंख्या वाले क्षेत्र होते हैं और कई बार राजनीतिक विभाजन के अनुरूप ही होते हैं। भारत तथा फ्रांस में ऐसे ही निर्वाचन क्षेत्र हैं। इस प्रणाली में सामान्य तौर पर मतों के बहुमत के आधार पर ही परिणाम घोषित किया जाता है। इसका प्रमुख गुण इसकी सरलता है। इसमें दलों की संख्या भी सीमित रहती है। लेकिन अनेक विद्वानों ने इस प्रणाली की भी आलोचना की है। इस प्रणाली के आधार पर चुना हुआ व्यक्ति केवल एक ही हित का प्रतिनिधित्व करता है, क्षेत्र के बाकी हित बिना प्रतिनिधित्व के रह जाते हैं। इसकी आलोचना करते हुए जी०डी०एच० कोल ने लिखा है-"वास्तविक लोकतन्त्र केवल एक सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि सभा में नहीं, बल्कि व्यवसायिक प्रतिनिधि निकायों के एक संयुक्त संगठन में पाया जाता है।" प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के दोषों को देखते हुए कुछ विद्वान व्यवसायिक आधार पर प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं। इसी कारण डुग्विट ने कहा है-"व्यवसाय, सम्पत्ति, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे यहां तक कि विज्ञान और धर्म आदि राष्ट्रीय जीवन की समस्त शक्तियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। आज इस पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए फ्रांस तथा आयलैण्ड में एकल हस्तांतरणीय मत प्रणाली को ही अपनाया जा रहा है। यह आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का ही एक रूप है।

(2) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Professional Representation) :- इस प्रतिनिधित्व को प्रकार्यात्मक प्रतिनिधित्व भी कहा जाता है। इसमें प्रतिनिधियों के चयन का आधार समाज को व्यावसायिक संगठन होता है। यह प्रादेशिक, आनुपातिक तथा अल्पंसंख्यक प्रतिनिधित्व तीनों के

विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। इस प्रतिनिधित्व का आधार यह है कि सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक समूहों राष्ट्रीय विधान सभा में स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। जी० डी० एच० कोल ने इसे सच्चा तथा लोकतान्त्रिक प्रतिनिधित्व कहा है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद रूप तथा इटली में इस प्रणाली को अपनाया गया था। 1919 के वायमर संविधान के अधीन इटली में एक राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना की गई जिसमें श्रमिकों, पूंजीपतियों और उपभोक्ताओं के हितों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। आधुनिक समय में यह इन्डोनेशिया में पाया जाता है। लेकिन इस प्रतिनिधित्व के दोष भी बहुत हैं। इसमें विधायिका के 'अल्पसंख्यक वर्ग अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधि भेजने में असफल रहता है। इसमें व्यवसायों को उचित वर्गीकरण न तो सम्भव है और न ही उचित। इससे संकीर्ण हितों को बढ़ावा मिलता है और मतदाताओं की स्वतन्त्रता भी सीमित हो जाती है। इससे विधायिका परस्पर विरोधी गुटों का अखाड़ा बन जाती है। इसमें न तो जनसंख्या का ही सही विभाजन किया जा सकता है और न ही समूहों का। इसके दोषों के कारण ही यह प्रणाली आज बहुत ही कम देशों में है। यदि यह कह दिया जाए कि यह म तप्रायः है तो कोई अतिश्योक्ति की बात नहीं है।

(3) **आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) :-** यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मतों की गणना की बजाय उनको तोला जाना चाहिए। इस पद्धति का प्रयोग बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही होता है। यह अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सक्षम है। इस पद्धति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग 1793 मं फ्रांस में हुआ था, लेकिन आज अनेक देशों में हो रहा है। इस पद्धति की व्याख्या सबसे पहले टॉमस हेयर ने अपनी रचना 'Election of Representation' में की थी। इस प्रणाजली के दो रूप हैं - (i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (ii) सूची प्रणाली। यद्यपि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के नाम से ही अधिक जाना जाने लगा है। इस प्रणाली के दोनों रूप निम्नलिखित हैं :-

(i) **एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System) :-** इस प्रणाली को 1851 में टॉमस हेयर ने विकसित किया था। इस प्रणाली के अनुसार देश को बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम तीन तथा अधिक से अधिक बीस सदस्यों को चुना जाता है। इस पद्धति में मतदाता को एक पर्चा दिया जाता है जिसकी कई तरफ सभी उम्मीदवारों के नाम और प्रतीक दिए होते हैं और दाईं ओर खाली खाने होते हैं। इस खाली जगह पर मतदाता 1, 2, 3, 4, आदि संख्या लिखकर अपनी प्राथमिकताएं प्रकट करता है। यह मतदाता की इच्छा होती है कि वह किसी खाने को भरे या किसी को खाली छोड़ दें मतों की गणना करने से पहले इसमें सभी अवैध मतों को रद्द कर दिया जाता है। फिर गिनती के बाद जिस उम्मीदवार को कोटे में निश्चित मत प्राप्त हो जाते हैं तो वह विजयी घोषित कर दिया जाता है। इस कोटे या मतों की संख्या को निकालने के दो तरीके हैं :-

(क) $\frac{\text{कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल स्थानों की संख्या}} = \text{कोटा}$

(ख) $\frac{\text{कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल स्थानों की संख्या} + 1} + 1 = \text{कोटा}$

उदाहरण स्वरूप किसी निर्वाचन क्षेत्र से 180000 मतदाताओं ने मतदान किया है और निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या 10 हो तो किसी प्रतिनिधि को निर्वाचित होने के लिए कम से कम निम्नलिखित मत संख्या प्राप्त करनी होगी :-

$$\frac{180000}{10 \times 1} + 1 = 18001 \text{ मत।}$$

यह हेयर सूत्र है। आज यही अधिक प्रचलित है। क सूत्र को कम ही अपनाया जाता है। हेयर सूत्र में मतों की गणना करते समय एक विशेष विधि का प्रयोग होता है। इसका आधार वरीयता के अनुसार मतों का प्रतिनिधि से दूसरे प्रतिनिधि को संक्रमण (Transfer) है। पहले तो प्रथम वरीयता वाले मतों की गिनती होती है। यदि कोई उम्मीदवार कम-से-कम मत-संख्या प्राप्त कर लेता है तो उसे निर्वाचित कर लिया जाता है। शेष मत जो प्रथम पसंद के रूप में उसे प्राप्त थे, उसका परिणाम घोषित होते ही ये दूसरी पसंद के उम्मीदवार को संक्रमणित (Transfer) कर दिये जाते हैं और उसको निश्चित मत-संख्या पर ले जाकर निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहती है, जब तक आवश्यक प्रतिनिधियों को निर्वाचित न कर लिया जाए। भारत में राष्ट्रपति तथा राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन इसी आधार पर होता है। 1969 में राष्ट्रपति वी०वी० गिरी द्वितीय वरीयता क्रम में बहुमत प्राप्त करके ही राष्ट्रपति बने थे।

(ii) **सूची-प्रणाली (List System) :-** इस प्रणाली के अन्तर्गत बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था होती है। इसमें एक ही क्षेत्र से कई प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाता है। इसमें निर्वाचन का आधार व्यक्तिगत न होकर दलीय होता है। उम्मीदवार को जो वोट मिलते हैं, वे दल के ही वोट होते हैं। इसमें मतदाताओं को विशेष सूची दिए गए उम्मीदवारों को अपनी पसन्द के अनुसार वोट देने को कहा जाता है। इसमें भी निर्वाचन अंक की गणना उपरोक्त विधि से ही की जाती है। उदाहरण के लिए चुनाव में खड़े तीन दलों - A, B, C को कुल मत 100000 प्राप्त हुए और निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या 10 रखी गई थी। इसमें से A को 60000 तथा B व C को 20-20 हजार वोट प्राप्त हुए। इस द ष्टि से सूची में A को 6 सदस्य तथा B व C को दो-दो सदस्य चुनने का अधिकार प्राप्त होगा। यद्यपि यह प्रणाली सरल व सस्ती है, लेकिन बड़े देशों के लिए अव्यवहारिक भी है। इसमें दलीय प्रणाली के दोष उजागर होने लगते हैं और उम्मीदवार के ऊपर कठोर दलीय अनुशासन लागू रहने से उसकी स्वतन्त्रता का ह्रास होने लगता है। लेकिन फिर भी वे बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क में इसे ही अपनाया गया है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण (Merits of Proportional Representation) :-

इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं :-

(1) इसमें जनता के सभी वर्गों विशेष तौर पर अल्पसंख्यक वर्ग को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(2) यह प्रणाली जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करती है।

(3) यह प्रणाली लोकतत का सही प्रतिनिधित्व करती है। इसमें सभी दलों को मतों के अनुरूप ही विधानमण्डल में स्थान प्राप्त हो जाते हैं।

(4) इसमें मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है।

(5) यह प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की सूचक है। इसमें दल विशेष का अधिपत्य स्थापित नहीं हो सकता।

(6) इसमें व्यवस्थापिका जनता के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है।

(7) इसमें कोई मत बेकार नहीं जाता।

(8) इसमें निर्वाचन सम्बन्धी भ्रष्टाचार पर अंकुश लग जाता है।

(9) यह प्रणाली अधिक खर्चीली नहीं है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अवगुण (Demerits of Proportional Representation) :-

यद्यपि यह प्रणाली वर्ग, दल, गुट व जाति के लिए कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व अवश्य सुनिश्चित करती है, लेकिन फिर भी इसमें कुछ दोष हैं :-

(1) यह प्रणाली दलों को अधिक महत्व देती है।

(2) यह प्रणाली जटिल तथा भ्रांतिपूर्ण है।

(3) यह मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों के बीच खाई पैदा करती है।

(4) इससे साम्प्रदायिकता तथा अल्पसंख्यक विचार-सारणी का जन्म होता है।

(5) यह व्यवस्थापिका को दलीय संघर्ष का अखाड़ा बना देती है।

(6) इसमें सार्वजनिक लाभ की आशा करना बेकार है।

(7) यह जनमत के शासन की बजाय गुटबन्ददी का शासन है।

(8) इसमें उप-चुनावों की व्यवस्था का अभाव है।

(9) इससे दलीय तानाशाही का जन्म होता है।

यद्यपि इस प्रणाली में अनेक दोष हैं, लेकिन फिर भी यह सर्वथा महत्वहीन नहीं है। आज विश्व के अनेक देशों में इसका प्रचलित होना ही इसके महत्व को प्रतिपादित करता है। इसके बारे में यह बात अवश्य सत्य है कि इसका प्रयोग अधिक जागरूक और प्रबुद्ध मतदाता ही ठीक तरह से कर सकते हैं। इसलिए हमें इसका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रणाली कोई अचूक या रामबाण औषधि नहीं है। इसकी सफलता राजनीतिक चेतना व प्रबुद्ध नागरिकों पर ही निर्भर है। अन्य सभी प्रणालियों से यह प्रणाली ही अधिक महत्व रखती है।

(4) **अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व (Minority Representation) :-** आधुनिक समय में अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था प्रत्येक राजनीतिक समाज के लिए एक चुनौती है। जे०एस०मिल ने सरकार को बहुसंख्यक वर्ग के हाथों में देना अलोकतन्त्रीय माना है। उसका कहना है कि किसी भी देश में किसी वर्ग का प्रतिनिधितव अनुपाती न होकर समानुपाति होना चाहिए। लेकी ने भी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व को उचित माना है। उसका कहना है कि बहुसंख्यक वर्ग के साथ-साथ सरकान में अल्पसंख्यक वर्ग का भी प्रतिनिधित्व बहुत आवश्यक है। इसलिए अल्पसंख्यक वर्ग को प्रतिनिधित्व देने से पहले अल्पसंख्यक वर्ग की समुचित जानकारी होना भी जरूरी हो जाता है। कुछ विद्वानों ने अल्पसंख्यक वर्ग को परिभाषित करने का भी प्रयास किया है। एनसाईकलोपेडिया ऑफ ब्रिटेनिका में लिखा है-"अल्पसंख्यक वर्ग वह है जो अन्य वर्गों या गुटों से कम सदस्य संख्या रखता है।" संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव-अधिकार रिपोर्ट में 1950 में कहा गया है कि "अल्पसंख्यक शब्द में जनता के वे ही अप्रभुत्वशील वर्ग शामिल हो सकते है जो स्थायी जातिय, धार्मिक या भाषायी परम्पराओं या विशेषताओं वाले होते हैं और जिन्हें वे बनाए रखना भी चाहते हैं ओर इस कारण वे शेष

जनसंख्या से भिन्न होते हैं।" आज राजनीतिक विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग से अलग होने के कारण अलग प्रतिनिधित्व का हकदार हो जाता है। अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिए अनेक देशों में अलग-अलग विधियां प्रयुक्त की जाती हैं। भारत में राष्ट्रपति या राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव करते समय आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ही अपनाई जाती है जिसका आधार 'एकल संक्रमणीय मत प्रणाली है। आज विश्व के सभी लोकतन्त्रीय देशों में अल्पसंख्यक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व देकर न्याय प्रणाली को भी संगत बनाया जाता है। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के प्रमुख तरीके निम्नलिखित हैं :-

(i) **द्वितीय मतदान पद्धति (Second Ballot System) :-** इस पद्धति के अधीन यह अपेक्षा की जाती है कि उम्मीदवार को जीतने के लिए 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त होने चाहिए। यदि कोई उम्मीदवार निर्धारित मत नहीं लेता है तो उसका निर्वाचन रद्द कर दिया जाता है और शेष उम्मीदवारों के बीच में ही फिर मतदान द्वारा मुकाबला चलता है। उदाहरण के लिए जब एक सीट के लिए केवल तीन उम्मीदवार मैदान में हों। उस निर्वाचन क्षेत्र में कुल 40000 मत चुनाव में उम्मीदवारों को प्राप्त हुए हों, जिनमें से A को 19000, B को 14000, C को 7000 वोट प्राप्त हुए हों, तो उस अवस्था में A को 50 प्रतिशत बहुमत मिलने के लिए तीसरे उम्मीदवार को चुनाव मैदान से हटाना जरूरी हो जाता है। दोबारा चुनाव मैदान में A और B ही रह जाते हैं। दोबारा मतदान में A या B में से कोई भी बहुमत हासिल करके विजयी बन सकता है। इस तरीके से भी अल्पसंख्यकों की स्थिति काफी सुधर सकती है, क्योंकि दोबारा होने वाले मतदान में वे किसी विशेष उम्मीदवार या राजनीतिक दल के साथ सौदेबाजी करके अपने हितों को सुरक्षित कर सकते हैं।

(ii) **वैकल्पिक मत प्रणाली (Alternate Vote System) :-** इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता अपना वोट देते समय अपनी कई पसंद व्यक्त कर सकता है। यदि पहली ही गिनती में उम्मीदवार जीत जाता है तो ठीक है, अन्यथा सबसे कम वोटों वाले उम्मीदवार को सूची से हटाकर उसके स्थान वाली वोटों में पसंद के अनुसार शेष उम्मीदवारों में बांट दिया जाता है। इसी तरह पूर्ण बहुमत तक यही प्रक्रिया दोहराई जाती है और अन्त में आवश्यक संख्या पर पहुंचते ही चुनाव परिणाम घोषित कर दिया जाता है। इस प्रणाली में भी अल्पसंख्यक किसी भी राजनीतिक दल के साथ सौदेबाजी करने की अपेक्षा स्वयं ही अपने हितो को सिद्ध करने के निकट पहुंच जाते हैं।

(iii) **सीमित मत प्रणाली (Limited Vote System) :-** इस प्रणाली में यह अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में कम से कम तीन सदस्यों को अवश्य निर्वाचित किया जाए। इसलिए प्रत्येक मतदाता निर्धारित सीटों की अपेक्षा कम मत डालता है। इसमें कोई भी प्रत्याशी एक मतदाता द्वारा एक ही मत प्राप्त करता है। इसमें मतदाता को यह हिदायत होती है कि वह एक उम्मीदवार को एक ही वोट दे। उदाहरण के लिए किसी निर्वाचन क्षेत्र से 10 उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे हों और उनमें से केवल 4 को ही चुना जाना हो तो प्रत्येक मतदाता को उसे अधिक मत डालने का अधिकार नहीं होगा। यह प्रणाली अल्पसंख्यकों की स्थिति में कुछ न कुछ सुधार अवश्य लाती है और यदि उनकी संख्या अधिक है तो वे एकाध स्थान तो प्राप्त कर ही लेते हैं, जो साधारण बहुमत प्रणाली में सम्भव नहीं होता। यह प्रणाली इंग्लैण्ड, जापान और इटली में प्रचलित थी, लेकिन अब नहीं है।

(iv) **प थक-निर्वाचन प्रणाली (Separate Electorate System) :-** इस प्रणाली को साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली भी कहा जाता है। इसका प्रयोग भारत में अंग्रेजों ने किया था। 1909 में मार्ले-मिण्टो सुधारो मे तहत इसमें प थक-निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गई थी जो हिन्दू और मुस्लिम समाज को धर्म के आधार पर दो भागों में बांटने वाली थी। 1919 के अधिनियम

तथा 1935 के अधिनियम के तहत यह व्यवस्था और अधिक मजबूत की गई और भारतीय समाज में फूट डालने का यह अनोखा तरीका था। दोनों सम्प्रदायों को अपने-अपने क्षेत्रों से अपने-अपने प्रतिनिधि चुनने की छूट थी। लेकिन इसका प्रमुख दोष यह था कि यह राष्ट्रीय एकता को भंग करने वाली थी और सामाजिक व आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक थी। स्वतन्त्रता के बाद भारत ने इस प्रणाली को समाप्त कर दिया।

(v) **संचयी मत-प्रणाली** (Commulative Vote System) :- इस प्रणाली के अधीन प्रत्येक मतदाताओं को स्थानों की संख्या के बराबर मत प्रदान किए जाते हैं और उसे यह अनुमति होती है कि वह अपने सभी मत अलग-अलग व्यक्तियों की अपेक्षा एक ही व्यक्ति को दे सकता है और चाहे तो कम या अधिक मात्रा में वोटों का बंटवारा कर सकता है। इससे जाहिर है कि अल्पसंख्यक मतदाता अपना वोट अल्पसंख्यक उम्मीदवार को ही देंगे। इससे उनका एक उम्मीदवार तो अवश्य प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकेगा। लेकिन इसके लिए अल्पसंख्याकों का संगठित व एकमत रहना जरूरी है। इस प्रणाली को एकल मतदान प्रणाली भी कहा जाता है।

(vi) **सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली** (Joint Electorate with Reservation of Seats):- इस पद्धति को आरक्षण पद्धति कहा जाता है। इसके अन्तर्गत चुनावों के दौरान कुछ स्थान आरक्षित कर दिए जाते हैं। उस स्थान से केवल वही उम्मीदवार चुनाव लड़ सकता है, जिस जाति, धर्म, वर्ग या प्रजाति के लिए सीट सुरक्षित है। भारत में यह प्रणाली है। संविधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत ही प्रत्येक चुनाव में अल्पसंख्यकों के लिए कुछ स्थान आरक्षित किए जाते हैं। इससे अल्पसंख्यक वर्ग को अवश्य प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इसका प्रमुख गुण यह है कि इसमें साम्प्रदायिकता के स्थान पर सामाजिक एकता का विकास होता है, क्योंकि चुनावों में सभी जातियों या वर्गों के मतदाता व्यक्ति विशेष को ही अपना मत देने के लिए बाध्य होते हैं।

(vii) **व्यवसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली** (Professional Representation System) :- इस व्यवस्था के अन्तर्गत उम्मीदवार अलग-अलग पेशों से होते हैं। इसमें मतदाताओं को अपने अपने व्यवसायों से ही प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। इस प्रणाली की व्यवस्था पेशेगत है। चुनाव क्षेत्र भी पेशेगत आधार पर ही बंटे होते हैं। लेकिन इस प्रणाली का दोष यह है कि इसके आधार पर चुने हुए उम्मीदवार पेशे विशेष के हितों का ध्यान रखते हैं, सम्पूर्ण समाज का नहीं। लेकिन फिर भी इसमें अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व अवश्य सुरक्षित हो जाता है।

(viii) **प्रवासी मतदान प्रणाली** (Vote System) :- इस प्रणाली के अन्तर्गत एक मतदाता एक बहुसदस्यीय-निर्वाचन क्षेत्र में एक उम्मीदवार के लिए अपना मत दे सकता है। कम से कम मतों की संख्या निर्धारित होती है और जो उम्मीदवार उतने मत प्राप्त कर लेता है, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। इसमें यह भी व्यवस्था की जाती है कि जो व्यक्ति अपना मत ऐसे व्यक्ति को देते हैं, जो असफल हो जाता है, तो वे मतदाता फिर से मतदान करके रिक्त पदों को भर सकते हैं। इसके लिए गुप्त मतदान प्रणाली अपनाई जाती है। इसमें भी अल्पसंख्यकों को कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व तो मिलने की संभावना अवश्य रहती है।

(ix) **मतभार प्रणाली** (Weightage System) :- इस प्रणाली के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को अधिक वोट देने का अधिकार प्रदान किया जाता है। उन्हें बहुसंख्यक वर्ग की संख्या से अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। भारत में स्वतन्त्रता से पहले मुसलमानों और सिखों को हिन्दुओं से अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त था। इसमें भी अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व मिलने की प्रबल संभावना होती है। लेकिन आज भारत में यह प्रणाली नहीं है।

(x) **आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation System) :-** आज अल्पसंख्यक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिए इस प्रणाली को सर्वोत्तम माना जाता है। इसमें अल्पसंख्यक वर्ग को उसकी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। जे०एस० मिल ने इसी प्रणाली को लोकतन्त्र का आधार माना है। इस प्रणाली को एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली तथा सूची प्रणाली की उपव्यवस्था के तहत संचालित किया जाता है। इस प्रणाली के बारे में इसी अध्याय के 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' नामक शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से समझाया गया है।

उपरोक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए अनेक प्रणालियां प्रचलित हैं। अल्पसंख्यक हमारे समाज का अभिन्न अंग हैं। यदि उनके हितों की उपेक्षा की जाती है तो वे समाज की आम धारा से कट सकते हैं और राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो सकता है। लेकिन प्रतिनिधितव की व्यवस्था करते समय यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि अल्पसंख्यक को अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग करके बहुसंख्यक के कोप का भाजन राजनीतिक व्यवस्था को न बना दे। विशेष व्यवस्थाओं के तहत अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों वर्गों को ही उचित प्रतिनिधित्व मिलने से ही समाज व देश का भला हो सकता है। सत्ता प्रतिनिधित्व की उचित व्यवस्था को ही लागू किया जाना चाहिए।

निर्वाचन प्रणाली

(Electoral System)

आधुनिक समय में चुनावों का बहुत महत्व है। चुनाव से जनता के हाथ में वे अस्त्र हैं, जिनके द्वारा वे अपनी इच्छा को व्यक्त करते हैं और अपने जनाधार द्वारा राजनीतिकदलों को सरकार बनाने के योग्य बनाते हैं। चुनाव ही राजनीतिक शक्ति की वैधता की परीक्षा करते हैं और सत्ता को औचित्यपूर्ण बनाते हैं। प्रत्येक देश में राजनीतिक शक्ति के वैधीकरण के लिए चुनाव रूपी साधन का प्रयोग किया जाता है, लोकतन्त्रीय देशों में तो चुनावों का बहुत महत्व होता है, क्योंकि लोकतन्त्रीय सरकार जनमत पर ही आधारित सरकार होती है जो अपना जनमत चुनावों से ही प्राप्त करती है। चुनावों के द्वारा जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है, इस प्रक्रिया को चुनाव प्रणाली कहा जाता है। इस तरह चुनाव-प्रणाली ही प्रतिनिधित्व प्रणाली का आधार है। आज सभी देशों में दो प्रकार की चुनाव प्रणालियां हैं - (i) प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली (ii) अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली।

(I) प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली

(Direct Election System)

जब मतदाता अपने उम्मीदवार या प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से वोट डालकर चुनते हैं, तो उसे प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उम्मीदवार स्वयं मतदाता के पास जाकर वोट मांगते हैं और चुने जाने के बाद वे अपना उत्तरदायित्व भी महसूस करते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रतिनिधि सरकार का गठन होता है जो अधिक उत्तरदायी रहती है। भारत में प्रांतीय विधानमण्डलों के अधिकतर सदस्य इसी पद्धति के तहत चुने जाते हैं। स्थानीय निकायों के प्रतिनिधियों व लोकसभा के सदस्यों का भी चुनाव इसी विधि से होता है।

प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के गुण (Merits of Direct Election System) :-

इस पद्धति में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं :-

(1) इससे लोगों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है।

(2) इसमें निर्वाचन सम्बन्धी भ्रष्टाचार के पनपने की संम्भावना कम है।

(3) इसमें जनता को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(4) इससे उत्तरदायी सरकार का जन्म होता है।

(5) यह प्रणाली लोकतन्त्र के अनुकूल है, क्योंकि इसमें जनता व सरकार का सीधा सम्बन्ध बना रहता है।

(6) इससे लोगों को राजनीतिक शिक्षा भी मिलती है और वे अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनते हैं।

(7) इससे सार्वजनिक हित को बढ़ावा मिलता है।

प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के दोष (Demerits of Direct Election System) :-

इस प्रणाली में निम्नलिखित दोष भी हैं :-

(1) यह प्रणाली अधिक खर्चीली है।

(2) इसमें दलबन्दी के सभी दोष उजागर हो जाते हैं।

(3) इसमें चुनावी प्रचार की चकाचौंध के कारण अयोग्य व्यक्ति भी चुने जा सकते हैं।

(4) यह जनता के शासन के नाम पर जनता के साथ धोखा है। चुने जाने के बाद प्रतिनिधियों का जनता के प्रति उत्तरदायी बने रहना सर्वथा असम्भव है।

(5) इससे चुनावी भ्रष्टाचार अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पनपने लगता है।

(6) इससे योग्य व्यक्ति सरकार में पहुंचने से पिछड़ जाते हैं, क्योंकि उसका स्थान चालाक व बेईमान व्यक्ति ले लेते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली में अनेक अवगुण हैं, लेकिन फिर भी यह विश्व के अनेक देशों में अपनाई गई है। इसको अपनाया जाना ही इसके महत्व को इंगित करता है।

(II) अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली

(Indirect Election System)

यह प्रणाली प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली पर ही आधारित है। प्रत्यक्ष रूप में जो प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने जाते हैं, वे आगे कुछ और प्रतिनितधयों का चुनाव करते हैं, इसे अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली कहा जाता है। इस तरह इसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन में भाग नहीं लिया जाता। इसमें प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के निर्वाचक मण्डल द्वारा ही होता है। अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव इसी पद्धति से होता है। भारत में भी राष्ट्रपति, राज्यसभा तथा विधान परिषदों का निर्वाचन इसी पद्धति से होता है।

अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के गुण (Merits of Indirect Election System) :-

इस पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं :-

(1) इस प्रणाली के अन्तर्गत योग्य तथा वांछनीय व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव है। क्योंकि इसमें चुने हुए व्यक्ति ही भाग लेते हैं, जिन्हें सुयोग्य व्यक्तियों की परख होती है।

(2) इसमें दलबन्दी के दोष नहीं होते हैं। इसमें दलीय उग्रता का अभाव होता है।

(3) यह भ्रष्टाचार से मुक्त रहती है।

(4) इससे सार्वजनिक मताधिकार और भीडतन्त्र के दोषों से छुटकारा मिल जाता है।

(5) इससे निर्वाचन की पवित्रता बनी रहती है, क्योंकि इसमें चुनाव जीतने के लिए हिंसा अपनाने

की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(6) यह प्रणाली कम खर्चीली है।

(7) यह प्रणाली पिछड़े देशों के लिए अधिक उपयुक्त है।

अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के अवगुण (Demerits of Indirect Election) :-

इस प्रणाली के निम्नलिखित अवगुण हैं :-

(1) यह प्रणाली अलोकतन्त्रीय है, क्योंकि इसमें मतदाता और प्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष सम्पर्क टूट जाता है। इसमें निर्वाचक मण्डल के सदस्यों को ही अधिक सम्मान मिलता है, आम मतदाता को नहीं।

(2) इससे नागरिकों को राजनीतिक चेतना व जागरूकता का ह्रास होता है।

(3) इससे नागरिकों का मताधिकार और स्वतन्त्रता दोनों सीमित हो जाते हैं।

(4) इसमें भ्रष्टाचार उच्च स्तर पर होता है, क्योंकि सभी मतदाताओं को लुभाने की बजाय गिने चुने विधायकों को ही अपने पक्ष में करना होता है। इसके लिये गुप्त भ्रष्ट तरीकों का बहुत अधिक प्रयोग होता है।

(5) इसमें दलबन्दी और साम्प्रदायिक भावनाएं अधिक प्रबल हो जाती हैं। जहां पर राजनीतिक दल सुव्यवस्थित अवस्था में होते हैं, वहां यह प्रणाली नाममात्र की रह जाती है। अमेरिका में सुव्यवस्थित दल प्रणाली के कारण राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष ही जान पड़ता है।

इस तरह अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली भी प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की तरह दोषमुक्त नहीं है। लेकिन फिर भी इसे अमेरिका व भारत सहित कई देशों में आंशिक या अधिक तौर पर अवश्य अपनाया गया है। इसमें दलबन्दी और भ्रष्टाचार जैसे आरोप सार्वभौमिक नहीं है। यदि जनता जागरूक है और प्रतिनिधिगण उत्तरदायित्व को समझते हैं तो यह प्रणाली काफी महत्व की हो जाती है। सत्य तो यह है कि कहीं पर प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली, तो कहीं पर अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली या दोनों को मिश्रित रूप में अवश्य अपनाया गया है। भारत में निम्न सदन (लोकसभा) का निर्वाचन तो प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली द्वारा तथा उच्च सदन (राज्य सभा) का निर्वाचन अप्रत्यक्ष तरीके से होता है। इसके लिए सारे देश को एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में बांट दिया जाता है। आधुनिक युग में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था ही अधिक लोकप्रिय हो चुकी है।

डुवरजर का राजनीतिक दल और निर्वाचन व्यवस्था के अर्न्तसम्बन्ध का सिद्धान्त

(Duverger's Theory of Relationship between Political Party and Electoral System)

राजनीतिक दल और निर्वाचन प्रणालियों का आपस में गहरा रिश्ता होता है, इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम डुवरजर ने अपरा ध्यान आक ष्ट किया। उसने अपनी पुस्तक 'Political Parties' में 1955 में 'निर्वाचन प्रणाली तथा दल-व्यवस्था के आपसी सम्बन्ध को उजागर कि। उसने कहा कि प्रारम्भ में संसद के भीतर कुछ मुद्दों पर सहमति के आधार पर कुछ समूह उभरकर आते हैं और फिर निर्वाचन समितियां बनती है। जब इन दोनों तत्वों में स्थायी सम्बन्ध हो जाता है तो राजनीतिक दलों का उदय होता है। जैसे-जैसे मताधिकार का विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे दलीय राजनीति का भी विस्तार होने लगता है। यूरोप में 20वीं सदी के पूर्वार्ध में समाजवादी दलों के विस्तार का यही कारण था कि वहां पर सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार लागू कर दिया गया था। डुवरजर का यह

भी कहना है कि कई बार दलों को उदय संसद के बाहर भी होने लगता है जिसका परिणाम कठोर दलीय अनुशासन होता है।

डुवरजर का मानना है कि निर्वाचन प्रणालियां दल पद्धतियों के क्रमिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। निर्वाचन प्रणालियों का दलों की संरचना, विचारधारा, दलों के परस्परिक सम्बन्ध ा, दलों की संख्या आदि पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। निर्वाचन व्यवस्था का संसद की सापेक्ष शक्ति तथा संख्या पर भी अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। डुवरजर की इस व्याख्या को 'डुवरजन सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। उसने कहा है कि सामान्य बहुमत प्रणाली दलों के स्वाभाविक दोहरापन लाती है। इस प्रणाली में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने के कारण प्रत्येक मतदाता को एक वोट देने का ही अधिकार होता है। इसमें निर्वाचन सामान्य व सापेक्ष बहुमत से होता है। इसमें पूर्ण बहुमत की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसमें ऐसे व्यक्ति भी चुन लिए जाते हैं। जो काफी अल्पमत में होते हैं। उदाहरण के लिए एक चुनाव में 5 प्रत्याशी हैं। उस चुनाव क्षेत्र में कुल 100000 मतदाता हैं और चुनाव में 80000 मत पोल होते हैं। उनमें से A को 20000, B को 12000, C को 180000, D को 16000 तथा E को 14000 वोट प्राप्त होते हैं। इसमें से साधारण बहुमत के आधार पर 20000 मत प्राप्त करने वाला ही चुनाव जीत जाता है, जबकि उसे 25% ही मत प्राप्त हुए हैं। डुवरजर की मान्यता है कि ऐसी निर्वाचन प्रणाली में तीसरे दल का प्रतिनिधित्व न होने के कारण इसके समर्थक दो दलों में से किसी एक के साथ होने की प्रव ति से युक्त हो जाते हैं और द्वि-दलीय व्यवस्था का जन्म हो जाता है। यह डुवरजर का स्वाभाविक दोहरापन का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में यह मान्यता निहित होती है कि सामान्य बहुमत प्रणाली में स्वतः ही दो दल विकसित करने की परिस्थितियां विद्यमान रहती हैं। ब्रिटैन में इसी निर्वाचन प्रणाली के कारण द्वि-दलीय प्रणाली का सूत्रपात हुआ है। डूवरजर का यह भी मानना है कि निर्वाचन प्रणाली दल प्रणाली के विकास में इसलिए भी सहायक हो जाती है क्योंकि ये दल प्रणाली के विकास को प्रोत्साहित करने वाली शक्तियों को भी प्रोत्साहित करती हैं।

डुवरजर ने अपने इस सिद्धान्त में इस बात का खुलासा किया है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली हमेशा बहु दलीय प्रणाली की मददगार होती है। यह प्रणाली दलों की संख्या में व द्धि का कारण अपने आप ही बन जाती है। इस प्रणाली से दलों की संख्या में कमी नहीं आती। इससे बहुदलीय पद्धति के विकास व उसके स्थायित्व में महत्वपूर्ण योगदान मिलता है। क्योंकि इस प्रणाली को अपनाने से छोटे-छोटे वर्गों व दलों को भी विधानमण्डल में उनकी शक्ति व समर्थन के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इस प्रणाली के कारण पुराने दल बंट जाते हैं और विभाजन के कारण नए दलों को जन्म देते रहते हैं। इस प्रणाली से दलों की संख्या में व द्धि के सभी तत्व मौजूद रहते हैं और यह प्रणाली उन शक्तियों को प्रोत्साहित करती रहती है जो दल-विखण्डन में अहम् भूमिका अदा कर सकती हैं। इन शक्तियों के राजनीतिक दल-व्यवस्था में थोड़े से ही प्रवेश से दलों का विखण्डन होना शुरु हो जाता है और बहुदलीय प्रणाली का जन्म हो जाता है। इस तरह प्रत्येक दल-व्यवस्था आधुनिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के कारण विखण्डित स्वभाव की बन जाती है और बहुदलीय बन जाती है। डुवरजर का यह भी मानना है कि मताधिकार का विस्तार भी दल प्रणाली को बहुदलीय बना देता है। पश्चिमी यूरोप मताधिकार के विस्तार के कारण ही श्रमिक दलों का उदय हुआ।

आलोचना (Criticism) :- डुवरजर के इस सिद्धान्त की सी० लेज ने काफी आलोचना की है। उसका कहना है कि डुवरजर की यह बात सर्वथा अनुचित है कि सामान्य बहुमत प्रणाली में तीसरे दल के समर्थक अन्य दो दलों के साथ स्वतः ही मिल जायेंगे, क्योंकि ऐसी अवस्था में तीसरे दल के प्रत्याशियों के समर्थकों के मत बेकार जाने के कारण इन समर्थकों में अपने मत के उपयोग की प्रव त्ति उत्पन्न हो जाती है और वे अन्य दलों के समर्थन में जुट जाते हैं। लेज का कहना है कि

जहां तीसरे दल का प्रत्याशी मजबूत हालत में है, वहां मतों की निरर्थकता है। यह तो यथास्थिति का ही सिद्धान्त हो सकता है। सामान्य बहुमत प्रणाली द्विदलीय व्यवस्था को प्रोत्साहित तो कर सकती है, निर्माण नहीं। भारत में सामान्य बहुमत प्रणाली के कारण आज बहुदलीय व्यवस्था ही है। ऐसा ही श्रीलंका में भी है। इसी कारण दल प्रणाली और निर्वाचन प्रणाली के आपसी सम्बन्ध को निर्णायक मानना भारी भूल है। इसी तरह आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का बहुदलीय का सिद्धान्त भी गलत है। यह प्रणाली भी यथास्थिति की ही पोषक हो सकती है, दलों की संख्या बढ़ानें की नही। फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड तथा पश्चिमी जर्मनी में आज तक भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के कारण दलों की संख्या में व द्धि नहीं हुई है। इसलिए निर्वाचन प्रणाली दल प्रणाली की प्रकृति के निर्धारक तत्वों में से एक है, निर्धारक नहीं।

अध्याय-16
राजनीतिक अभिजन
(Political Elites)

राजनीतिक अभिजन की अवधारणा राजनीति विज्ञान की आधुनिक व प्रमुख धारणा है, यद्यपि इस धारणा के बीज प्लेटो व अरस्तु के समय में भी मौजूद थे। यह धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि शासन करने के गुण थोड़े से व्यक्तियों में ही होते हैं। इसी कारण इसे सामाजिक डार्विनवाद का रूप माना जाता है। अभिजन वर्ग का अध्ययन समाजविज्ञान, धर्मशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान आदि में तो लम्बे समय से होता आ रहा है, लेकिन राजनीति विज्ञान में इसका वैज्ञानिक विवेचन सबसे पहले हैरोल्ड लॉसवेल ने किया। सर्वप्रथम 1923 में इसे ऑक्सफोर्ड कोश में स्थान दिया गया और आगे चलकर पैरेटो तथा मोस्मा ने इसे अमेरिका में लोकप्रिय बनाया। आज राजनीति विज्ञान में अभिजन वर्ग के लिए विशिष्ट वर्ग, उच्च वर्ग, अभिजात्व वर्ग, शक्ति वर्ग, शासक वर्ग, राजन्य, सम्भ्रान्त वर्ग, सत्ता वर्ग आदि नामों का प्रयोग किया जाता है। राजनीतिक समाज में सत्ता, शक्ति और प्रभाव का वास्तविक प्रयोग यही वर्ग करता है। संख्या में अल्प होते हुए भी इसकी शासन-व्यवस्था में निर्णायक भूमिका रहती है। अभिजन सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक मोस्का, पैरेटो, मिथेन्स, गेसेट, जेम्स बर्नहाम, वाल्डो, सी० राइट मिल्स, सारटोरी, राबर्ट डॉहल, लॉसवैल, शुम्पीटर आदि विचारक हैं।

राजनीतिक अभिजन का अर्थ
(Meaning of Political Elite)

प्लेटो और अरस्तु का कहना है कि शासन करने की योग्यता या गुण तो केवल गिने-चुनें व्यक्तियों में ही होते हैं। शेष जनता तो शासित होने के लिए ही है। प्रत्येक शासन प्रणाली चाहे वह सर्वसत्ताधिकारवादी या लोकतांत्रिक उसके आस-पास कुछ ऐसे लोग होते हैं जो उसे गति प्रदान करने में अहम् भूमिका निभाते हैं। संख्या में कम होते हुए भी इनका राजनीतिक समाज, राजनीतिक दल व शासन तन्त्र में महत्वपूर्ण स्थान होता है। ये राजनीतिक व्यवस्था में निर्णयकारी प्रक्रिया को पूरी तरह प्रभावित करने में सक्षम होते हैं। लोकतन्त्र में सभी का शासन कहना इन्हें अखरता है। वास्तव में लोकतन्त्र में भी इन्हीं का शासन होता है। जनता का शासन तो सिद्धान्त तक ही सीमित होता है। राजनीतिक व्यवस्था के संचालन व मूल्यों के निर्धारण में इसी वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। इन्हें उपरी तबके के लोग कहा जाता है। किसी भी राजनीतिक समाज के सारे कार्य यही उपरी तबके के लोग ही करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में इन्हें राजनीतिक अभिजन कहा जाता है। साधारण अर्थ में-"राजनीतिक अभिजन वे लोग हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक व्यवस्था के संचालन और उसकी निर्णयकारिता को प्रभावित करते हैं।" राजनीतिक अभिजन को कुछ विचारकों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) लॉसवैल के अनुसार-"राजनीतिक अभिजन राजनीतिक व्यवस्था के सत्ता धारक हैं।"

(2) पैरेटों के अनुसार-"राजनीतिक अभिजन में वे सफल लोग हैं जो राजनीतिक व्यवस्था में सबसे ऊपर आ जाते हैं।"

(3) कार्ल जे० फ्रेडरिक के अनुसार-"राजनीतिक अभिजन उन व्यक्तियों का समूह होता है जो राजनीति में अद्वितीय कार्य सम्पन्न करने के कारण विशिष्ट होते हैं। यह वर्ग समाज विशेष के शासन को प्रभावशाली ढंग से अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता है। इसमें समूह की भावना होती है जिसे यह समय-समय पर सहयोग के रूप में व्यक्त करता है। यह वर्ग शक्ति और शासन प्राप्त करने की योग्यता में पर्याप्त आगे बढ़ जाता है।"

(4) बॉटोमाला के अनुसार-"राजनीतिक अभिजन में वे लोग शामिल हैं जिन्हें समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है और एक समय में वे राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं।"

(5) जी०डी०एच० कोल के अनुसार-"राजनीतिक अभिजन एक ऐसा समूह है, जो राजनीतिक समाज के प्रत्येक स्तर पर नेत त्व प्रदान करने तथा प्रभाव डालने की स्थिति में होता है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अभिजन वर्ग अल्पतन्त्र व कुलीनतन्त्र दोनों के गुणों को समेट लेता है। यह संख्या में कम होते हुए भी श्रेष्ठ गुणों का स्वामी होता है। इसी कारण इसे समाज का चतुर व पढ़ा लिखा अल्पसंख्यक वर्ग कहा जाता है। राजनीतिक अभिजन वर्ग उन व्यक्तियों का वर्ग होता है जो अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण देश की राजनीति व समाज में अपना प्रभाव कायम रखते हैं। बर्नी ने भी कहा है कि सम्भ्रान्त जन में अल्पतन्त्र और कुलीनतन्त्र दोनों के लक्षण शामिल हैं। इसी कारण यह दोनों से श्रेष्ठ शासन व सत्ता का संचालन करता है। इसके शासन का आधार जन सहमति का सिद्धान्त है, चाहे वह दिखावा मात्र ही क्यों न हो।

राजनीतिक अभिजनों की प्रकृति

(Nature of Political Elites)

अभिजन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं - एक तो विशिष्ट वर्ग के रूप में तथा दूसरे जनसाधारण या जनपुंज के रूप में। मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या इसी मत की पुष्टि करते हैं। प्लेटो व अरस्तु` विचार भी इसी मत का समर्थन करते हैं कि शासन करने की योग्यता थोड़े से लोगों में ही होती है। इसका अर्थ यह भी है कि अधिकतर लोगों में शासन करने की बजाय शासित होने की योग्यता होती है। इसी आधार पर समाज के दो वर्ग बन जाते हैं। आधुनिक राजनीतिक समाज में अभिजनों का एक बहुत बड़ा भाग भौतिक शक्ति, परम्परा, समाज के साधनों पर नियन्त्रण, योग्यता या चुनाव आदि के बल पर या परिस्थितिवश राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान बना लेता है। राजनीति में विशिष्टता व लोकप्रियता के कारण इनके पैर राजनीतिक व्यवस्था में आसानी से टिक जाते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में अपनी पकड़ मजबूत बनाने के बाद ये राजनीतिक निर्णयों व कार्यों को प्रभावित करने लग जाते हैं। इनकी प्रकृति देश और काल के साथ बदल जाती है। सामाजिक विकास की अवस्थाओं का अभिजन वर्ग की प्रकृति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पूंजीवादी व्यवस्थाओं में अभिजनवर्ग समाजवादी व्यवस्थाओं से भिन्न प्रकार का होता है। व्यवस्था में परिवर्तन आने पर इनमें भी परिवर्तन आता है। एक व्यवस्था के भीतर भी इनमें परिसंचरण होता रहता है। जो आज सत्ता में हैं वे विपक्ष में चले जाते हैं और जो विपक्ष में हैं, वे सत्ता में आ जाते हैं। पैरेटो ने अभिजनों के इसी संचरण की पुष्टि की है। लोकतन्त्र में तो इनका स्थायित्व जन-सहमति पर टिका होता है। जब जनता की इनके ऊपर से अन्ध श्रद्धा समाप्त हो जाती है तो इनके पैर उखड़ जाते हैं। यदि लोकतन्त्र में ये व्यवस्था के शोषक बनने का प्रयास करते हैं तो इन्हें उखाड़ने के लिए गैर-लोकतांत्रिक तरीकों का भी प्रयोग किया जाता है। तानाशाही व्यवस्था वाले देशों में ये अपनी सत्ता को स्थाई बनाने के अनेक उपाय करते हैं लेकिन जन-विद्रोह या क्रान्ति करके इनका सफाया कर दिया जाता है। लोकतन्त्र की अपेक्षा तानाशाही व्यवस्थाओं में अधिक से अधिक शक्ति अर्जित करने का प्रयास करते हैं। सत्य तो यह है कि चाहे

किसी भी राजनीतिक समाज के अभिजन हों, उनका ध्येय सार्वजनिक सहभागिता के विचार का विरोध करना ही होता है। अपने स्वार्थों के लिए ये लोकतन्त्र को तानाशाही में बदनले से भी नहीं हिचकते। पैरेटो का कथन सत्य है कि शासन-अभिजन या तो मर जाते हैं या उखाड़ दिये जाते हैं। स्वयं हटना या परिवर्तित होना इन्हें स्वीकार्य नहीं होता। इसलिए इतिहास को कुलीनतन्त्रों की शमशान भूमि कहना सर्वथा उपयुक्त है। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए ये बल, शत्रु-विनाश, कैद, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, धोखेबाजी अर्थात् साम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी उपायों का सहारा लेते हैं।

मोस्का का मानना है कि अभिजनों में परिवर्तन संचरण प्रक्रिया द्वारा ही होता है। प्रतिनिधित्व और निर्वाचन, सहवरण तथा प्रतिस्थापन आदि माध्यमों से अभिजन लोकतन्त्र के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं और अपने अस्तित्व को कायम रखने में सफल हो जाते हैं। संचरण प्रक्रिया से अभिजनों के दो वर्गों का स्पष्ट आभास होता है। एक वर्ग तो शासक अभिजनों का होता है और दूसरा प्रतिपक्षी अभिजनों का। प्रतिपक्षी अभिजन अवसर की तलाश में रहते हैं कि कैसे शासक अभिजनों का स्थान लिया जाये। इसलिए कई बार जनता को गुमराह करके ये सत्ता अभिजन बन जाते हैं। फाईनर का मानना है कि लोकतन्त्र में नए अभिजनों की उल्ट-पुल्ट ही होती है, बदली नहीं। लोकतन्त्र में नए अभिजनों को भी प्रवेश मिल जाता है। इसी कारण लोकतन्त्र में अभिजनों की प्रकृति निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक खुलापन व स्थाईपन लिए हुए होती है।

राजनीतिक अभिजनों की इस प्रकृति से राजनीतिक अभिजनों की निम्न विशेषताएं द ष्टिगोचर होती हैं :-

(1) राजनीतिक समाज में दो वर्गों में से यह सत्ता का धारक वर्ग होता है।

(2) यह जनसाधारण से काफी श्रेष्ठ व उच्च स्थान पर होता है।

(3) यह समाज का अल्पसंख्यक वर्ग होता है।

(4) इसके हित आम लोगों से भिन्न व विरोधी होते हैं।

(5) यह वर्ग चालाकी और बल प्रयोग से सत्ता में रहने के हर सम्भव प्रयास करता है।

(6) यह वर्ग प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में मिलता है।

(7) राजनीतिक अभिजन शासक व प्रतिपक्षी दो प्रकार के होते हैं।

(8) इस वर्ग का राज्य की नीति-निर्माण व निर्णयकारी प्रक्रिया पर पूरा नियन्त्रण रहता है।

(9) यह वर्ग आर्थिक व सामाजिक द ष्टि से शेष लोगों से अधिक श्रेष्ठ होता है।

(10) यह वर्ग प्रभुत्व युक्त होने के बाद भी खुलापन रखता है।

(11) राजनीतिक अभिजनों में परिवर्तन व हेर-फेर होता रहता है।

(12) इनके पास बल-प्रयोग का वैध अधिकार भी होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक अभिजन राजनीतिक क्षेत्र के साथ साथ समाज के हर क्षेत्र में ऊपर के सिरे पर होते हैं। सत्ता प्राप्ति के बाद इनकी शक्ति और लोकप्रियता कई गुणा बढ़ जाती है। ये लोग प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। समस्त निर्णय व नीतियां इनसे प्रभावित होती हैं। इनका अस्तित्व वैधता तथा स्वेच्छाचारिता दोनों पर ही आधारित होता है।

राजनीतिक अभिजनों के प्रकार

(Types of Political Elites)

राजनीति विज्ञान में अभिजनों के अनेक प्रकार बताए गए हैं। पैरेटो ने शासक-अभिजन व विपक्षी

अभिजन दो प्रकारों का वर्णन किया है। ऐतिहासिक द ष्टि से अभिजनों को शासक प्रजाति, कुलीनतन्त्र, शासक वर्ग, व्यूहिक अभिजन (Strategic Elites) आदि वर्गों में बांटा जाता है। टी०बी० बोटोमोर ने अभिजनों को बुद्धिजीवी, प्रबन्धक तथा नौकरशाह तीन वर्गों में बांटा है। विकासशील देशों के सन्दर्भ में एडवर्ड शील्स ने अभिजनों को वंश परम्परागत, क्रान्तिकारी, मध्यमवर्गीय, औपनिवेशिक प्रशासक तथा राष्ट्रीय नेता पांच वर्गों में विभाजित किया है। इस प्रकार अभिजनों के अनेक प्रकार हैं। लेकिन राजनीतिक अभिजनों की द ष्टि से आज अभिजनों का दो तरह से अध्ययन किया जाता है :- (1) सामान्य द ष्टिकोण से (2) आधुनिक द ष्टिकोण से।

सामान्य रूप में अभिजन तीन प्रकार के माने जाते हैं :- (i) परम्परागत अभिजन (ii) शाही परिवार के सदस्य (iii) नवोदित अभिजन वर्ग। आधुनिक द ष्टिकोण से पैरेटो ने अभिजनों को दो भागों में बांटा है - (i) शासकीय अभिजन (ii) अशासकीय या प्रतिपक्षी अभिजन। परम्परागत अभिजनों में विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों के मुखिया शामिल होते हैं। इस प्रकार के अभिजन उन देशों में पाए जाते हैं जहां धर्म का ज्यादा प्रभाव है। पाकिस्तान, बंगला देश, ईरान, मोराक्को आदि देशों में इसी तरह के अभिजन हैं। शाही परिवार के सदस्य राजतन्त्रीय प्रणालियों में अभिजनों की भूमिका निभाते हैं। नेपाल, ब्रिटेन, जापान आदि देशों में ये अभिजन पाए जाते हैं। स्वतन्त्रता से पहले भारत में भी रियासतों के राजा इसी प्रकार के अभिजन वर्ग थे। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद की समाप्ति से तथा उससे पहले औद्योगिक क्रान्ति के कारण आए परिवर्तनों व आधुनिकीकरण के दौर में जिस नए अभिजन वर्ग का उदय हुआ उसे नवीन अभिजन वर्ग कहा जाता है। नौकरशाही एक ऐसा ही अभिजन वर्ग है। आज विश्व के अधिकांश विकसित व विकासशील देशों में इसी प्रकार के अभिजन पाए जाते हैं।

पैरेटो के विचार से आज राजनीतिक अभिजनों को शासकीय व अशासकीय दो भागों में बांटा जा सकता है। एस०ई०फाइनर भी अपनी पुस्तक 'Comparative Government' में सत्ता या शासक अभिजन (Governing Elites) तथा प्रतिपक्षी या विपक्षी अभिजन (Counter Elites) की ही बात करता है। वैसे तो अभिजनों के अनेक प्रकार व उप-प्रकार हैं, क्योंकि से समाज के हर क्षेत्र में पाए जाते हैं और राजनीतिक भूमिकाओं का भी निष्पादन करते रहते हैं। सामान्य तौर पर राजनीतिक अभिजन वे लोग ही होते हैं जो राजनीतिक व्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर होते हैं और उसकी निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। वास्तव में यह राजनीतिक अभिजन की सीमित व्याख्या है। राजनीतिक व्यवस्था में अभिजनों का एक ऐसा वर्ग भी होता है जो विपक्ष में होता है और सत्ता संभालने के लिए तैयार रहता है। लोकतन्त्र में चुनावी प्रक्रिया द्वारा इनका हेर-फेर होता रहता है। निरंकुश राजनीतिक व्यवस्थाओं में क्रान्तिकारी तरीकों से इन्हें उखाड़ फैंका जाता है और विपक्षी अभिजन उनका स्थान ले लेते हैं और ग ह-युद्ध जैसी स्थिति को समाप्त कर देते हैं। विपक्षी अभिजनों का अभाव तानाशाही को जन्म देता है। इसलिए राजनीतिक व्यवस्था के विकास व स्थायित्व के लिए दोनों प्रकार के अभिजनों का होना जरूरी है।

शासकीय अभिजन (Governing Elites) राजनीतिक व्यवस्था के शिखर पर पहुंचे हुए वे लोग होते हैं जो विधिवत् सत्ता के धारक होते हैं और औपचारिक रूप से राजनीतिक व्यवस्था में समस्त निर्णय लेने व लागू करवाने का अधिकार रखते हैं। ये न्यायसंगत बल प्रयोग का अधिकार भी रखते हैं। इनका मुख्य कार्य व्यवस्था को एक सूत्र में पिरोना व बनाए रखना होता है। ये जन सहमति के नाम पर ही शासन करते हैं और बहुसंख्यक वर्ग (जनता) से अपनी अलग पहचान रखते हैं। ये किसी समय विशेष में सत्ता व नेत त्व की भूमिकाओं के निष्पादक होते हैं। इसके विपरीत प्रतिपक्षी या अशासकीय अभिजन (Counter or Non-Governing Elites) ऐसा अभिजन वर्ग होता है जो आवश्यकता पड़ने पर शासकीय अभिजनों का स्थान ले सकता है। यह वर्ग सत्ता में नहीं होता। यह या तो पहले सत्ता में रह चुका होता है या परिस्थिति होने पर सत्तारूढ़ होने की योग्यता व

इच्छा रखता है। यह वर्ग भी सरकार की निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करता रहता है। संभावित सत्ताधारक होने के नाते इसका भी समाज व राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है। शासकीय अभिजन तो सत्ता में ही होते हैं, जबकि अशासकीय सत्ता के इर्द-गिर्द मंडराते रहते हैं। दोनों अभिजन जन समर्थन प्राप्त करने व बनाए रखने के लिए हर सम्भव कोशिश करते रहते हैं और दोनों में सत्ता प्राप्ति के लिए कठोर प्रतियोगिता व संघर्ष चलता रहता है।

राजनीतिक अभिजनों का सिद्धान्त

(Theory of Political Elites)

राजनीतिक अभिजन वर्ग का सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बीज प्लेटो और अरस्तु के दर्शन में भी मिलते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देने का सर्वप्रथम प्रयास लॉसवैल ने किया। 1950 के दशक में अमेरिका में इस सिद्धान्त को व्यापक आधार प्रदान करने के लिए श्रुम्पीटर, लॉसवैल तथा सी० राइट मिल्स द्वारा प्रयास किए गए। इसके बाद पैरेटो, मोस्का, मिथेल्स और गैसेट ने इसे सुनिश्चित आधार प्रदान किया। इन विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रकृति, उनकी कार्यक्षमता, उनके परिवर्तन, विकास और पतन को समझने का प्रयत्न किया है। अरस्तु और प्लेटों की तरह ये भी शासकीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि शासन करने के गुण या क्षमता थोड़े से व्यक्तियों में ही होती है और शेष जनपुंज शामिल होने के लिए ही जन्म लेता है। पैरेटो, मोस्का और मिचेल्स का मानना है कि प्रत्येक समाज का शासन ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों में होता है जिसके पास सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक सत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के आवश्यक गुण होते हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण यह वर्ग अन्य वर्गों से शीर्ष स्थान पर पहुंच जाता है।" यह वर्ग जोड़-तोड़ में निपुण होने के कारण राजनीति में छा जाता है और राजनीतिक व्यवस्था को खुला रखता है ताकि अन्य अभिजन भी इसमें प्रवेश पा सकें। अभिजन वर्ग अपनी असाधारण योग्यता, अनोखी सूझ-बूझ, कार्यकुशलता या प्रबन्ध-क्षमता के बल पर सम्पूर्ण संगठन में प्रभावशाली स्थान प्राप्त कर लेता है और उसे अपनी इच्छा या योजना के अनुसार संचालित करता है। इसके विपरीत बहुसंख्यक वर्ग में नेत त्व के गुण और उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव होने के कारण वे इस अल्पसंख्यक अभिजन वर्ग के निर्देशों में चलने में ही अपना हित समझते हैं। इस सिद्धान्त का विकास निम्नलिखित सिद्धान्तकारों ने किया है :-

पैरेटो के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- पैरेटो ने अपनी पुस्तक 'The Mind and Society' में लिखा है कि समाज अनिवार्य रूप से दो वर्गों में बंटा रहता है : विशिष्ट वर्ग और गैर-विशिष्ट वर्ग या जनपुंज। विशिष्ट वर्ग में वे लोग आते हैं जो किसी भी कार्यक्षेत्र में सर्वोच्च योग्यता रखते हैं। विशिष्ट वर्ग के भीतर सत्तारूढ़ या शासकीय अभिजन और गैर सत्तारूढ़ या अशासकीय अभिजन होते हैं। समय के परिवर्तन के अनुसार गैर-शासकीय वर्ग शासकीय अभिजनों को हटाकर उनका स्थान ले लेता है। इसे अभिजनों की अदला-बदली या संचलन (Circulation of Elites) कहा जाता है। पैरेटो ने अभिजन सिद्धान्त में अपनी विचारधारा की पुष्टि करते हुए लिखा है कि इतिहास कुलीनतन्त्रों का कब्रिस्तान है। इसमें अभिजनों में परिवर्तन अवश्यमभावी है। समाज के मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों से अभिजनों की विशेषताएं भी बदल जाती हैं। इनका ऊपर नीचे आना जाना लगा रहता है। अपनी बुद्धि और जोड़-तोड़ से प्रक्रिया से समाज का यह अल्पसंख्यक अभिजन वर्ग जनपुंज पर शासन करता रहता है। अभिजन के संचरण सिद्धान्त का सार भी यही है कि जनता शासित होने व अभिजन शासन करने के लिए ही जन्म लेते हैं। इस प्रक्रिया में अभिजन स्थाई नहीं होते हैं। उनकी अदला-बदली इस सिद्धान्त का शाश्वत नियम है। पूराने अभिजनों का स्थान नए अभिजन ले लेते हैं। कभी कभी यह परिवर्तन शासकीय सम्बन्धों तक ही सिमटकर रह जाता है। इसमें शासकीय व अशासकीय अभिजनों में भी अदला-बदली होती है। राजनीति अभिजनों का यही

संचरण क्रान्तियों से राजनीतिक व्यवस्था को दूर रखता है और स्थायित्व प्रदान करता है। फीस राजनीतिक व्यवस्था में इस संचरण का अभाव होता है, वहां क्रान्तियों का जन्म लेना अवश्यम्भावी बन जाता है।

कोस्मा के राजनीतिक अभिजन पर विचार :- मोस्का भी पैरेटो की तरह इटली की अभिजनवादी समाजशास्त्री था। उसने अपनी पुस्तक 'The Ruling Class' में विचार व्यक्त किया कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग द ष्टिगोचर होते हैं :- शासक और शासित। शासक वर्ग जिसकी संख्या कम होती है और जो राजनीतिक कार्य करता है, सत्ता पर उसका एकाधिकार होता है और वह धन-संपदा, शक्ति और सम्मान से सम्पन्न होने के कारण दूसरे वर्ग से अधिक शक्तिशाली होता है। दूसरा वर्ग जिसकी संख्या बहुत अधिक होती है, उसका नियन्त्रण व निर्देशन पहले वर्ग द्वारा ही किया जाता है। चाहे कोई भी और कहीं भी तथा किसी भी शासन प्रणाली को अपनाया जाए, शक्ति का स्वामी यह अल्पसंख्यक वर्ग ही होता है। अपने शासन को उचित ठहराने के लिए यह नैतिक और कानूनी सिद्धान्तों की शरण भी लेता है और ये सिद्धान्त प्रायः शासित वर्ग को मान्य होते हैं। दोनों वर्गों के सम्बन्ध कभी कभी स्वेच्छाचारिता पर भी आधारित हो सकते हैं। इस अल्पसंख्यक वर्ग की दो प्रमुख विशेषताएं होती हैं :- एक आदेश देने की अभिव ति तथा दूसरी राजनीतिक नियन्त्रण की क्षमता। इनका अभाव उनको नष्ट कर सकता है। जब इन दोनों तत्वों का राजनीतिक अभिजनों में अभाव हो जाता है तो उनका परिवर्तन अपरिहार्य हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन भी इस परिवर्तन या अभिजनों की अदला-बदली को अनिवार्य बना देते हैं। जो वर्ग सामाजिक परिवर्तनों के प्रति ध्यान देने से चूक जाता है या देरी करता है तो उसका ठहराव या परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। इस तरह मनोवैज्ञानिक कारणों के साथ-साथ सामाजिक कारणों से भी अभिजनों में संचलन होता है।

राबर्ट मिचेतस के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- मोस्का के संगठनात्मक सिद्धान्त की पुष्टि उसके शिष्य रॉबर्ट मिचेल्स ने अपने अभिजन सिद्धान्त में की है। मिचेल्स ने इसे 'अल्पतन्त्र या कुलीनतन्त्र का लौह नियम' कहा है। उसने अपनी पुस्तक 'Political Parties' में बताया है कि आधुनिक युग में संगठन के बिना कोई भी आन्दोलन व राजनीतिक दल सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे-जैसे संगठन का आकार बढ़ता हे, वैसे वैसे अधिक से अधिक कार्य उसके आन्तरिक नेताओं को सौंपने पड़ते हैं और धीरे-धीरे वे अपनी चतुराई व बल प्रयोग द्वारा सम्पूर्ण संगठन पर अपनी तानाशाही स्थापित कर लेते हैं। वे अपनी शक्तियों और विशेषाधिकारों के लिए इतने निरंकुश बन जाते हैं कि इन्हें उनके पद से हटाना असम्भव सा हो जाता है। मिचेल्स ने लिखा है-"ये नेता एक बार सत्ता में आ जाएं तो इन्हें उनके शक्ति के शिखर से हटाना असम्भव है।" यही कुलीनतन्त्र का लौह नियम है। सभी व्यवस्थाओं व सभ्यताओं में कुलीनतन्त्र का यही नियम लागू होता है। मिचेल्स का मानना है कि अधिकतर लोग स्वभाव से गुलाम प्रव त्ति के होते हैं। उनको नेताओं द्वारा मूर्ख बनाना कोई कठिन काम नहीं है। खुशामद, प्रार्थना और भावनाओं का वास्ता दिलाकर नेता लोग उन्हें सरलता से धोखा दे सकते हैं। गुलामी की शाश्वत् व ति के कारण वे सहजता से दूसरों का नेत त्व स्वीकार कर लेते हैं। सत्ता प्राप्ति के बाद मुट्ठी भर लोग बहुसंख्यकों का शोषण करते हैं और स्वयं मौज से सत्ता का सुख भोगते हैं। इस प्रकार का अल्पसंख्यक वर्ग प्रत्येक समाज में ऐसा ही व्यवहार करता है। अपनी वाक्पटुता, भाषणकला तथा समझाने-बुझाने की कला में दक्ष यह वर्ग अपनी सत्ता को स्थाई बनाए रखने के हर सम्भव प्रयास करते हैं। यदि एक बार ये सत्ता में अपना स्थान बना लें तो इन्हें कोई हटा नहीं सकता। मिचेल्स ने लिखा है-"नेताओं का प्रभुत्व को नियन्त्रित करने के लिए यदि कानून बनाए जाते हैं तो धीरे धीरे वे सारे कानून भी प्रभावहीन हो जाते हैं।" लेकिन इनका

अभिजनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि क्रान्ति द्वारा उन्हें हटा भी दिया जाए तो उनके स्थान पर उतने ही निरंकुश दूसरे शासक आ जाते हैं। इसलिए मिचेल्स से अपनी पुस्तक 'Political Parties' में लिखा है-"इतिहास की लोकतांत्रिक लहरें एक दूसरे के बाद आने वाली लहरों से मिलती जुलती हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि अभिजनों को बदलना जनता के दुःख कम नहीं कर सकता क्योंकि सभी अभिजन लगभग समान स्वभाव वाले होते हैं। अभिजनों के बारे में यह लौह-नियम प्रत्येक समाज पर लागू होता है और इसने प्रत्येक समाज को जकड़ लिया है।

सी० राइट मिल्स के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- सी० राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक 'The Power Elite' में अपना 'शक्ति अभिजन' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसका कहना है कि अभिजन समाज के संस्थागत या संरचनात्मक ढांचे के प्रतिफल होते हैं। आधुनिक समाज में शक्ति संस्थाकृत होती है। जनता संस्थाकृत शक्ति का ही पालन करती है। इन संस्थाओं के धारकों को चुनने में जनता को पूरी स्वतंत्रता होती है। नेताओं का बदलाव संस्थागत ढांचे से जुड़ा हुआ होता है। अभिजन वर्ग को सत्ता के संस्थीकरण के कारण सर्वोच्च शिखर पर होने के कारण सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। राजनीतिक अभिजन वर्ग वे लोग होते हैं जो संस्था में बड़े निर्णय लेने या निर्णयों को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं और उनका आधुनिक समाज के पुरुष संगठनों पर पूर्ण प्रभुत्व रहता है। यह वर्ग सामाजिक द ष्टि से उच्चस्तरीय, सामंजस्यपूर्ण तथा लोक नियन्त्रण को अस्वीकार करने वाला होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आर्गेटा वाई० गेसेट के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- गेसेट का मानना है कि राजनीतिक अभिजन न तो व्यक्तिगत योग्यता और न ही जोड़ तोड़ से सत्ता में आते हैं और बने रहते हैं, बल्कि जनता की इच्छा का परिणाम होते हैं। जनता चुने हुए तत्वों (नेताओं) के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करती है और उन्हें अपना समर्थन प्रदान करती हैं। यह जनसमर्थन ही अभिजन वर्ग की सत्ता का आधार है। जब तक जनता को अपने नेताओं पर विश्वास रहता है, तब तक वे सत्ता में बने रहते हैं। यदि जनता को अपने नेताओं पर अविश्वास पैदा होने लगता तो जनता उन्हें बदल देती है और नए अभिजनों को सत्ता सौंप देती है। इसी कारण अभिजन वर्ग सत्ता में रहने के लिए जन इच्छा के अनुसार ही कार्य करता है और राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। एस०पी० वर्मा ने कहा है-"जब कुलीनतन्त्र भ्रष्ट और अकुशल हो जाता है तो लोग विद्रोह कर देते हैं और विद्रोह के पीछे यह प्रेरणा प्रमुख होती है कि उन पर किसी सक्षम कुलीनतन्त्र का शासन हो।" यदि कोई समाज यह विश्वास करता है कि वह कुलीनतन्त्र के बिना भी कार्य चला सकता है, तो वह देश या समाज निश्चित रूप से पतन की ओर जाने वाला होता है। इसीलिए अभिजन वर्ग को जनता की इच्छा का और जनता को कुलीनतन्त्र के शासन पर अपना विश्वास जरूरी होता है।

लॉसवैल के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- हरोल्ड लॉसवेल का कहना है कि राजनीतिक अभिजन शक्ति के धारक होते हैं। सत्ता प्राप्त करने के बाद जो अपनी शक्ति को बनाए रखते हैं वे ही अभिजन वर्ग में टिक पाते हैं, बाकी नहीं। इन सत्ता धारकों को अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए हिंसा, प्रतीकों, आचरणों आदि का प्रयोग करने की छूट होती है। लॉसवेल का कहना है कि राजनीतिक अभिजन वे लोग होते हैं जिन्हें समाज में स्वयं सब कुछ दिया है। ये लोग जोड़-तोड़ मे माहिर होने के कारण अपनी सत्ता शक्ति के बल पर बनाए रखने में सफल रहते हैं। इस आधार पर लॉसवेल ने समाज को तीन वर्गों में बांटा है :- शक्तिशाली वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग। उसका कहना है कि सर्वाधिक शक्तिशाली अल्पसंख्यक वर्ग ही राजनीतिक अभिजन है जो निर्णय भी ले सकता है और बल प्रयोग से

इन्हें लागू भी कर सकता है। मध्यम वर्ग राजनीतिक अभिजनों के लिए जनसमर्थन जुटाता है ओर निम्न वर्ग बल प्रयोग से डरने के कारण राजनीतिक अभिजनों की प्रत्येक बात सरलता से स्वीकार करता है। लॉसवेल ने शक्ति के साथ साथ जनसहमति को अभिजनों के लिए अनुकूल बताकर अभिजन सिद्धान्त को नया अर्थ प्रदान किया है।

बर्नहाम के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- बर्नहाम के विचार मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। उसने राजनीतिक अभिजनों के आर्थिक पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। उसका कहना है कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति होती है, उसी के पास राजनीतिक शक्ति भी होती है। अभिजन वर्ग की शक्ति का आधार उत्पादन और वितरण के साधनों पर नियन्त्रण में निहित है। इसी विशेषाधिकारयुक्त स्थिति के कारण सत्तारूढ़ गुट समाज से पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है और दूसरों को सत्ता प्राप्त करने से भी रोकता है। इसी तरह समाज में शासक गुट का पता लगाने का तरीका यह देखना है कि किसी गुट की आय सबसे अधिक है। लेकिन भविष्य में अभिजन वर्ग उभरने से इस अभिजन वर्ग को खतरा उत्पन्न हो सकता है। अपनी पुस्तक 'The Managerial Revolution' में बर्नहाम ने लिखा है-"पूंजीवाद पतन की ओर जा रहा है और एक नया अभिजन वर्ग उभर रहा है जो प्रबन्धकों का है। भविष्य में समाज आर्थिक एवं राजनीतिक द ष्टि से प्रबन्धकीय अभिजन द्वारा ही संचालित होगा।" मार्क्स ने जिस प्रबन्धकीय वर्ग की उपेक्षा की थी, बर्नहाम ने उसे आर्थिक व राजनीतिक शक्ति के बीच एकता स्थापित करने वाला महत्वपूर्ण वर्ग माना है।

शुम्पीटर व कार्ल मैनहीम के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- शुम्पीटर व कार्ल मैनहीन बहुलवादी विचारक हैं। उन्होंने अभिजन वर्ग को बहुलवादी धारणा का समर्थन किया है। इनका कहना है कि लोकतन्त्र में सारे निर्णय जनता द्वारा ही किए जाते हैं, यह बात अव्यवहारिक है। वास्तव में सारे निर्णय गिने-चुने लोग ही करते हैं। वेबर ने भी लोकतन्त्र को नया अर्थ दिया है। उसका कहना है कि लोकतन्त्र राजनीतिक नेत त्व के लिए प्रतिस्पर्धा है। इसी बात को स्वीकार करते हुए शुम्पीटर ने अपनी पुस्तक 'Capitalism, Socialism and Democracy' में लिखा है कि लोकतन्त्र के राजनीतिक निर्णय नेताओं द्वारा लिए जाते हैं, जनता द्वारा नहीं। लोकतन्त्र में केवल यह खूबी है कि वहां पर राजनीतिक अभिजन असीम सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकते, बल्कि वे राजनीतिक बाजार में अधिक से अधिक ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अधिक-से-अधिक आकर्षक नीतियां और कार्यक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। लोकतन्त्र में अभिजनों के अनेक समूह होते हैं। इसलिए लोकतांत्रिक समाजों को बहुलवादी समाज कहा जाता है। इसी तरह मैनहीम ने अपनी पुस्तक 'Ideology and Utopia' में लिखा है कि "शक्ति अभिजन वर्ग के ही हाथों में होती है और यह अभिजन वर्ग लोकतन्त्र में बहुलवादी होता है तथा इसमें सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष चलता रहता है।" इस तरह लोकतन्त्र में शासित अपने हितों के अनुरूप शासक वर्ग को चलने को मजबूर कर देते हैं। यद्यपि नागरिकों को सरकार में सीधे भाग लेने से रोका जा सकता है, लेकिन उनकी इच्छा का दमन नहीं किया जा सकता है।

मिलोपन जिलास व मैक्स वेबर के राजनीतिक अभिजनों पर विचार :- इन दोनों विद्वानों का कहना है कि समाजवादियों का यह मानना गलत है कि समाजवादी व्यवस्था में अभिजन वर्ग नहीं होता। समाजवादियों का कहना है कि समाजवाद में अभिजनवर्ग की तानाशाही की बजाय सर्वहारा वर्ग की तानाशाही होती है, लेकिन रेमण्ड आरोन का कहना है कि समाजवादी समाज में भी एक अभिजन वर्ग अवश्य होता है जिसे सर्वहारा की तानाशाही कहा जाता है। वर्गविहीन समाज में इस अभिजन वर्ग से बचने का कोई उपाय नहीं होता है। मैक्स वेबर ने भी इसी मत की पुष्टि की है। उनका कहना है कि समाजवादी देशों में शासन सत्ता एक नये अभिजन वर्ग के हाथों में आ गई है जिसमें साम्यवादी दल के बड़े-बड़े नेता और उच्च अधिकारी शामिल हैं। मिलोवन जिलास ने भी इसी एकमात्र अभिजन वर्ग को समाजवादी व्यवस्था का अभिजन वर्ग कहा है। इसमें वे सभी

लोग शामिल हैं जिन्हें प्रशासनिक एकाधिकार के कारण कुछ विशेषाधिकार और शक्तियां प्राप्त होती हैं। यही वर्ग समस्त सुविधाओं का लाभ उठाता है।

विभिन्न विचारकों के अभिजन सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने के बाद कह सकते हैं कि प्रत्येक राजनीतिक समाज चाहे वह समाजवादी हो या सर्वसत्ताधिकारवादी, लोकतन्त्रीय हो या निरंकुश शासन व सत्ता के धारक कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपनी आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक स्थिति के कारण आम जनता से अलग होते हैं और राजनीतिक समाज के सर्वोच्च शिखर पर होते हैं। ये लोग अल्पसंख्यक होते हुए भी राजनीतिक समाज के बहुसंख्यक वर्ग या जनपुंज के लिए निर्णय लेते हैं और उन्हें लागू करते हैं। लोकतन्त्र में तो ये जनसहमति का कुछ अधिक ध्यान रखते हैं, लेकिन निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं में यह जनसहमति की बजाय बल-प्रयोग पर अधिक विश्वास रखते हैं। समाजवादी व्यवस्थाओं में भी इनका एक वर्ग अवश्य होता है। इनकी खुली प्रतिस्पर्धा तो लोकतन्त्र में ही चलती है। ये जोड़-तोड़ में माहिर होने के कारण अपने को सत्ता में बनाए रखने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। इनकी प्रकृति स्थाई नहीं होती। इन्हें सामाजिक परिवेश में ध्यान में रखकर ही कार्य करना पड़ता है। लोकतन्त्र में चुनावों द्वारा तथा निरंकुश व्यवस्थाओं में जन क्रान्तियों द्वारा ही इन्हें बदला जा सकता है। लेकिन अभिजन वर्ग कभी जनता का साथ नहीं छोड़ता। पुराने अभिजनों का स्थान समयानुसार नए अभिजन लेते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक राजनीतिक समाज में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यवस्था की निर्णयकारी प्रक्रिया पर इसी वर्ग का वर्चस्व होने के कारण ये जनपुंज के भाग्य विधाता हैं और राजनीतिक व्यवस्था के आधार हैं।

शासक-वर्ग का अभिजन सिद्धान्त

(Elite Theory of Ruling Class)

यह सिद्धान्त समाजवादी विचारक कार्ल मार्क्स की देन है। कार्ल मार्क्स की तरह अन्य समाजवादी भी मार्क्स के वर्ग-संघर्ष में विश्वास व्यक्त करते हैं। समाजवादियों का मानना है कि समाज में दो वर्ग होते हैं-एक तो शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग। इनमें शासक वर्ग उत्पादन व वितरण के साधनों पर स्वामित्व वाला वर्ग होता है जो राजनीतिक शक्ति का प्रयोग भी अपने पास रखता है। शासक और शासित वर्ग के हितों में भिन्नता होने के कारण इन दोनों में लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहता है। समाज में ऐतिहासिक द ष्टि से गौर किया जाए तो सदैव वर्ग-संघर्षों का अस्तित्व रहा है। स्वतन्त्र तथा दास, जागीरदार और कृषक, पूंजीपति व मजदूर, अमीर व गरीब, शासक व शासित आदि दो वर्गों के रूप में दोनों वर्ग एक दूसरे के विरोधी हितों का पोषण करते रहते हैं। जब तक क्रान्ति नहीं होगी तब तक शासित वर्ग को उखाड़ फैंकना असम्भव है। क्रान्ति के लिए वर्ग-संघर्ष का चरम सीमा पर पहुंचना आवश्यक है। आगे चलकर अन्य समाजवादियों ने भी मार्क्स की बात से सहमति दिखाई। समाजवादियों का कहना है कि समाजवाद में अभिजनवर्ग की तानाशाही से छुटकारा पाया जा सकता है क्योंकि वहां पर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जाती है। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो समाजवाद में भी अभिजन वर्ग का सिद्धान्त ही कार्य करता है। युगोस्वालावाकिया में साम्यवादी नेता मिलोवन जिलास ने लिखा है कि साम्यवादी देशों में अफसरों की एक पूरी फौज शोषक के रूप में उभर रही है जो देश की सम्पत्ति का उपभोग करती है, उसका आनन्द लेती है और उसका संचालन करती है। इसी प्रकार मैक्स वेबर भी समाजवादी देशों में सत्ता को नए वर्ग के हाथों में स्थानान्तरित होने की बात की पुष्टि करता है। रेमण्ड एरोन का कहना है कि साम्यवादी देशों में उभरने वाला नया अभिजन वर्ग लोकतन्त्रीय देशों के अभिजनों से भी अधिक शक्तिशाली हैं। इससे स्पष्ट होता है कि साम्यवादी देशों में भी शासक और शासित दो वर्ग आज भी विद्यमान हैं। 1917 की क्रान्ति के बाद रूस से तथा अन्य साम्यवादी देशों से भी इस वर्ग का सफाया नहीं हो सकता है। आज विश्व के सभी साम्यवादी देशों में इस वर्ग की पूर्ण

प्रभुता है।

मार्क्स व अन्य समाजवादियों द्वारा दिया गया शासक-वर्ग का सिद्धान्त आज कम प्रासंगिक है, क्योंकि उन्होंने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर इस सिद्धान्त को खड़ा करके इसे आलोचनाओं का भी पात्र बना दिया है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारणों पर अधिक ध्यान देकर गैर-आर्थिक तत्वों पर कम ध्यान दिया है। मार्क्स का यह विचार कि अन्त में पूंजीपति गुट समाप्त हो जाएगा और सर्वहारा शासक वर्ग बन जाएगा, सत्य नहीं निकली। अनेक देशों में पूंजीपति और श्रमिक वर्ग एक दूसरे के साथ रहकर ही अपने हितों का भला देखने लगे और आज मध्यम वर्ग के उदय ने मार्क्स के शासक-वर्ग के विचार को धूमिल कर दिया है। आज समाजवादी देशों में भी जो नया अभिजन वर्ग उभर रहा है, वह जनता के हितों का पोषक है। चीन में अभिजन वर्ग देश के चहुंमुखी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। आज का शासक-वर्ग मार्क्स के शासक-वर्ग से काफी भिन्न प्रकृति का है। वह जन-सहमति को व्यापक महत्व देता है। वास्तव में मार्क्स का शासक-वर्ग का सिद्धान्त ही अभिजन-सिद्धान्त का पोषक है। मार्क्स ने जिस शासक-वर्ग की पुष्टि की थी, वास्तव में वही शासक-वर्ग आज का अभिजन-वर्ग है। समाजवादी देशों में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के रूप में जो नया अभिजन वर्ग उभरा है, वह आधुनिक अभिजनों जैसी प्रकृति वाला है। इस अभिजन वर्ग की राजनीतिक-निर्णयों के निर्माण व लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। एस०पी० वर्मा ने लिखा है-"अभिजनवर्ग का सारा सिद्धान्त मार्क्स के शासक-वर्ग के सिद्धान्त के प्रतिरोध में खड़ा किया गया है।" आज सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार के आ जाने से शासक-वर्ग की धारणा का स्थान अभिजन वर्ग ले चुका है जो काफी लोकतांत्रिक स्वरूप के निकट है। जनसहमति को अपना आधार बनाकर यह वर्ग राजनीतिक व्यवस्था में नए प्रतिमान स्थापित कर रहा है। अतः मार्क्स का शासक-वर्ग का सिद्धान्त आज अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है। उसके स्थान पर अभिजन-वर्ग का जो नया सिद्धान्त प्रचलित हुआ है, वह उससे अधिक व्यवहारिक व प्रासंगिक है।

लोकतन्त्र का अभिजन सिद्धान्त

(Elite Theory of Democracy)

यद्यपि लोकतन्त्र और अभिजन एक दूसरे से बेमेल से पड़ते हैं, क्योंकि लोकतन्त्र तो बहुमत का शासन होता है जबकि अभिजन अल्पमत के शासन को व्यक्त करता है। लोकतन्त्र में प्रत्यक्ष रूप में जहां सारे निर्णय जनपुंज द्वारा लिए जाते हैं, वास्तविक रूप में सारे निर्णय गिने चुने लोगों या सत्ताधारियों द्वारा ही लिये जाते हैं। जर्मन समाज वैज्ञानिक मैक्स वेबर ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि लोकतन्त्र जनता का शासन न होकर 'राजनीतिक नेत त्व के लिए प्रतिस्पर्धा' है। अमेरिकी अर्थशास्त्री जो सेफ शुंपीटर ने भी वेबर की बात से सहमति प्रकट करते हुए अपनी पुस्तक 'Capitalism, Socialism and Democracy' में लिखा है कि "लोकतन्त्र में समस्त निर्णय राजनीतिक नेताओं द्वारा ही लिए जाते हैं, जनसाधारण द्वारा नहीं।" परन्तु लोकतन्त्र की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें राजनीतिक नेता तानाशाही की तरह असीम शक्ति व सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकते बल्कि लुभावनी घोषणाओं और कार्यक्रमों से व्यापक जनसमर्थन प्राप्त करने के प्रयासों में लगे रहते हैं।" इसी तरह आरवैल ने भी कहा है कि समाज के वास्तविक शासक अप्रकट होते हैं और ये शासन को बहुत प्रभावित करते हैं।

पैरेटो और मोस्का ने प्रजातन्त्र में भी अभिजन वर्ग का महत्व प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि लोकतन्त्र में व्यक्तियों की प्रतिभाओं और योग्यताओं आदि में स्वाभाविक असमानता पाई जाती है। इसीलिए प्रजातन्त्र प्रजा का और प्रजा के लिए तो शासन हो सकता है, लेकिन प्रजा के द्वारा शासन कभी नहीं हो सकता। मिचेल्स का कहना है कि अधिकतर मनुष्य स्वभाव से आलसी व दास व त्ति के होते हैं जो अपना शासन स्वयं नहीं चला सकते। इसलिए उन्हें भी शासित होने

के लिए बुद्धिजीवि शासक-वर्ग की आवश्यकता पड़ती है। मोस्का का यह कहना सही है कि लोकतन्त्र में विभिन्न वर्गों में शक्तियों का संतुलन रखने का कार्य अभिजन वर्ग ही करता है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए इस वर्ग द्वारा समाज में सन्तुलन बनाए रखना व प्रजातन्त्र के साथ तालमेल बनाए रखना आवश्यक होता है। कार्ल मैन्हाइम ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'Ideology and Utopia' में लिखा है कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था में जब समाज नीति-निर्माण का कार्य विशिष्ट वर्ग को सौंप देता है तो वह लोकतन्त्र शून्य नहीं हो जाता। जनसाधारण निश्चित अन्तराल के बाद वोट डालकर अपनी भावना प्रकट कर देता है। अपने मताधिकार के बल पर वे नेताओं को बहुमत के हित में निर्णय करने को विवश कर सकते हैं। विशिष्ट वर्ग के शासन और लोकतन्त्रीय शासन में तालमेल बिठाने के लिए यह आवश्यक होता है कि नेताओं का चुनाव योग्यता के आधार पर किया जाए और अभिजनवर्ग तथा जनपुंज की दूरी कम की जाए। रेमोंद आरों ने अपनी पुस्तक 'Social Structure and the Ruling Class' में लिखा है कि लोकतन्त्र तथा अन्य शासन-प्रणालियों के अभिजनों में बुनियादी अन्तर पाया जाता है। जहां समाजवाद में एक ही अभिजन को शासन का एकमात्र अधिकार प्राप्त होता है, वहीं उदार लोकतन्त्र में विशिष्ट वर्ग की बहुलता होती है और शासन में नियन्त्रण एवं संतुलन की ऐसी व्यवस्था पाई जाती है कि असीम सत्ता का प्रयोग असम्भव हो जाता है। उदारवादी लोकतन्त्र में सारा शासन जनमत की इच्छा से चलता है। जब एक अभिजन-वर्ग जनता की इच्छा का सम्मान करने में असफल हो जाता है तो उसका स्थान दूसरा अभिजन वर्ग ले लेता है। सारटोरी ने भी अपनी कृति 'Democratic Theory' में लिखा है कि लोकतन्त्र में अभिजन वर्ग चुनावी मैदान में उतरकर आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं। लेकिन विशिष्ट वर्ग को लोकतन्त्र की अपूर्णता नहीं समझना चाहिए। चूंकि जनपुंज अपने आप में शासन चलाने में समर्थ नहीं होता, इसलिए शासन सचमुच योग्य नेताओं का कार्य है। इसलिए लोकतन्त्र को असली खतरा नेत त्व के अस्तित्व में नहीं है, बल्कि नेत त्व के अभाव में है। यदि लोगों को उचित नेत त्व नहीं मिलेगा तो लोकतन्त्र विरोधी अभिजन लोकतन्त्र को नष्ट कर सकता है।

लोकतन्त्र एक खुली व्यवस्था होने के कारण इसमें भी अभिजन वर्ग का परिसंचरण होता है। शक्तिध ाारकों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनना ही पड़ता है। स्वयं अभिजनों में कड़ी प्रतिस्पर्धा होती है। अपने को शासन व सत्ता में बनाए रखने के लिए उन्हें कड़ी चुनावी परीक्षा से गुजरना पड़ता है। जो शासक-वर्ग जनहित की उपेक्षा करता है और सामाजिक परिवर्तन के प्रति उदासीन रहता है, वह जल्दी ही नष्ट हो जाता है और उसका स्थान दूसरा अभिजन वर्ग लेता है जो सामाजिक परिवर्तन व जनहित के प्रति अधिक सचेत रहता है। लोकतन्त्र में मिचेल्स का लौह नियम लागू नहीं हो सकता, क्योंकि प्रजातन्त्र बहुदलीय व्यवस्था होती है। इसमें निश्चित अवधि के बाद चुनाव अभिजनों की वैधता की परीक्षा करा देते हैं। लोकतन्त्र में भी अभिजनों और जनता के बीच विरोधों का मिलना एक स्वाभाविकता है। प्रजातन्त्र में इन दोनों वर्गों के विरोधी हितों में पूर्ण सामंजस्य सम्भव नहीं है, लेकिन फिर भी काफी हद तक आपसी विरोधों को टाला जा सकता है। यदि अभिजनों में मानवीय विशेषताएं उच्च कोटि की हों, अच्छे प्रशासक के गुण हों, प्रजातांत्रिक आत्मनियंत्रण की भावना हो तो अभिजनों और जनता के बीच संघर्ष को काफी हद तक कम किया जा सकता है। प्रजातन्त्र प्रतियोगिता की बजाय मतैक्य पर अधिक सफल हो सकता है। इसलिए इसमें छोटे छोटे समूहों की प्रतियोगिता से बचना चाहिए।

लोकतन्त्र में अभिजनों की भूमिका :- यद्यपि लोकतन्त्र और अभिजन सर्वथा एक दूसरे के विरोध ाी प्रतीत होते हैं। लेकिन कुछ विद्वानों ने इन दोनों में मेल कराने का प्रयास किया है। लेकिन व्यवहार में देखा जाए तो लोकतन्त्र का सारा कार्य अभिजन वर्ग ही करता है। लेकिन कई बार यह लोकतन्त्रीय आस्थाओं को कुलचने वाला तानाशाही शासक बन जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका में जिन देशों में लोकतन्त्रीय व्यवस्थाएं स्थापित हुई थी, वहां धीरे धीरे अभिजन वर्ग के कारनामों से सैनिक सरकारें स्थापित होने लगी और अभिजन वर्ग

लोकतन्त्र का रक्षक बनने की बजाय लोकतन्त्र का भक्षक बन गया। लेकिन फिर भी लोकतन्त्र में अभिजनों को बनाए रखना आवश्यक माना जाता है। लोकतन्त्र में इसकी भूमिका पर विचार करते हुए पीटर बाचार्च ने लिखा है-"लोकतांत्रिक खेल के नियमों को बनाए रखने का उत्तरदायित्व जनता के कन्धों पर न होकर विशिष्ट जनों के कन्धों पर होता है।" डाई व जिगलर ने अपनी पुस्तक 'The Theory of Democracy' में लिखा है-"यह लोकतन्त्र की विडम्बना है कि यह लोगों का शासन होते हुए भी इसको बनाए रखने का दायित्व अभिजनों के कन्धों पर ही होता है न कि सामान्य लोगों के ऊपर।" राबर्ट सी० बोन का कहना है कि "लोकतन्त्र की विचित्र बात यह है कि लोकतांत्रिक समाज के परम्परागत मूल्यों से प्रतिबद्धता जनसाधारण की न होकर अभिजनों की ही होती है।"

इन सभी विद्वानों का मानना है कि उदारवादी व्यवस्थाओं में प्रजातांत्रिक मूल्य जनता द्वारा नहीं अभिजन वर्ग द्वारा ही सुरक्षित रखे जाते हैं। जब उनके ऊपर कोई आंच आती है तो ये लोकतन्त्र को छोड़कर निरंकुश व्यवस्था के रूप में अपने को शासन व सत्ता में कायम रख लेते हैं। इसलिए लोकतन्त्र की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि जनता को राजनीति से अलग ही रखा जाए। जन राजनीति अभिजनों के लिए खतरे की घण्टी है। इससे भयभीत होकर ही वे लोकतन्त्रीय आस्थाओं का त्याग करते हैं। लोकतन्त्र की रक्षा के लिए ही वे लोकतन्त्र की बलि देकर निरंकुश व्यवस्थाओं की स्थापना करने लगते हैं। जब उन्हें सत्ता को कोई खतरा उत्पन्न हुआ लगता है तो लोकतन्त्र को बचाने के नाम पर समाचार पत्रों या प्रैस की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगवा देते हैं और प्रत्येक असहमति को कुचलने का प्रयास करते हैं। लोगों के मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का नाश करने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं होती। समस्त पुलिस तन्त्र को मजबूत बनाकर वे विरोधी अभिजनों तक को भी जेल में डाल देते हैं और भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का गला घोट देते हैं। डाई व जिगलर ने ठीक ही कहा है-"विडम्बना वास्तव में यह है कि लोकतन्त्र को बचाने के लिए अभिजन लोकतन्त्र की ही बलि चढ़ा देते हैं।" इसलिए लोकतन्त्र को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि अभिजनों को कोई आधारभूत चुनौती न मिले और राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्रों में कोई परिवर्तन न हो। अभिजन वर्ग को भी इतना खुला रखा जाए ताकि योग्य व्यक्ति उसमें प्रवेश पा सकें और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता दिखा सकें।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकतन्त्र और अभिजन सिद्धान्त बेमेल प्रतीत होते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब अभिजनों ने लोकतन्त्रीय आस्थाओं का गला घोटा है। जर्मनी में अभिजनों ने लोकतन्त्रीय आस्थाओं का जो जनाजा निकाला था, वह किसी से छिपा नहीं है। लोकतन्त्र में लगभग पांच वर्षों बाद होने वाले चुनाव अभिजनों की संख्या में अत्यधिक व द्धि कर देते हैं। प्रत्येक पांच वर्ष के अन्तराल पर अभिजनों के नए वर्ग उभर कर लोकतन्त्र में भीड़तन्त्र को जन्म देते हैं। अभिजनों का का जल्दी जल्दी बदलाव, परिवर्तन और संचलन अभिजनों को अपने पैर स्थाई तौर पर कभी नहीं जमने देता। इसलिए वास्तव में लोकतन्त्र में अभिजन बन ही नहीं पाते। एस०पी० वर्मा का ऐसा ही मानना है। इसलिए लोकतन्त्र और अभिज्ञान सिद्धान्त बेमेल है। लेकिन हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि विकासशील देशों में राष्ट्रीय आन्दोलनों को सफल बनाने में विशिष्ट वर्ग और बुद्धिजीवियों ने ही महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इसलिए आज भी राजनीतिक विकास व आधुनिकीकरण को गति देने में इसी वर्ग का विशेष योगदान है। जब तक अभिजनों की सत्ता को कोई खतरा उत्पन्न नहीं होता है, तब तक ये लोकतन्त्र के सजग प्रहरी बनकर ही कार्य करते हैं। इसलिए लोकतन्त्र की सुरक्षा के लिए जनता और अभिजनों को टकराव की नीति छोड़कर लोकतन्त्रीय आस्थाओं की सुरक्षा के लिए सहयोग के आधार पर ही कार्य करना चाहिए। इसी में जनता और अभिजन वर्ग दोनों का भला है और लोकतन्त्र में अभिजनों की सार्थकता का औचित्य भी है।

राजनीति अभिजन-सिद्धान्त का मूल्यांकन

(Evaluation of the theory of Political Elites)

यद्यपि अभिजन सिद्धान्त का जन्म मार्क्सवादी विचारों या शासक-वर्ग की कल्पना को असत्य सिद्ध करने के लिए हुआ था, लेकिन लोकतन्त्र के बढ़ते ज्वार ने इस सिद्धान्त को पैरों तले रौंद डाला। आज अभिजन सिद्धान्त पर तरह तरह के आपेक्ष लगाए जाते हैं :-

(1) यह सिद्धान्त राजनीति में जोड़-तोड़ जैसे शब्दों का प्रयोग करके राजनीति के नैतिक व आध्यात्मिक पक्षों की अवहेलना कर देता है। यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए तो आधुनिक युग में मैकयावेली और हॉब्स के कथन मानव स्वभाव को सही रूप में चित्रित करने लगेंगे और राजनीति में अच्छे जीवन और परिचालन के सिद्धान्तों का अन्त हो जाएगा।

(2) यह सिद्धान्त सत्ताधारकों और साधारण जनता के बीच कल्पित शक्ति आधारों के साथ सत्ता और नेत त्व की समानता करने का भी दोषी है। यह सिद्धान्त सत्ताधारियों व उसके अनुयायियों में प्रेरणा के तत्व की भूमिका की अवहेलना कर देता है।

(3) इस सिद्धान्त का यह विचार गलत है कि निर्णय-निर्माण में अभिजन वर्ग की भूमिका ही प्रमुख होती है। लोकतन्त्र में कोई भी सरकार जनमत की अवहेलना नहीं कर सकती। लोकतन्त्र में नीति-निर्माण में गैर-राजनीतिक तत्वों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः लोकतन्त्र की द ष्टि से यह विचार गलत है कि नीति व निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर अभिजनों का ही एकाधिकार होता है।

(4) यह सिद्धान्त सत्ता या शक्ति, प्राधिकार और प्रभाव जैसे शब्दों के बलच भेद को भुला देता है, जबकि ये सभी आपस में सम्बन्धित होने के कारण भी एक दूसरे से भिन्न होती है।

(5) यह सिद्धान्त मार्क्सवादी विचारधारा का खण्डन तो करता है, लेकिन उसका व्यवहारिक विकल्प प्रस्तुत करने में असफल रहा है। यह सिद्धान्त मार्क्सवादी सिद्धान्त के विरूप एक मध्यवर्गीय सिद्धान्त खड़ा करने के प्रयास के सिवाय कुछ नहीं है। इसने लोकतन्त्र का भी एक स्थिर राजनीतिक व्यवस्था के साथ तालमेल कर दिया है जिसे सामाजिक परितर्वन की संतोषजनक व्याख्या करना सम्भव नहीं है।

(6) इस सिद्धान्त का यह कहना गलत है कि अभिजन सम द्ध लोगों में से ही आते हैं। मुसोलिनी एक लुहार का पुत्र था, वह गरीब परिवार में जन्म लेकर भी इटली के अभिजन वर्ग का नेता बना। इस तरह के इतिहास में अनेकों उदाहरण हैं जब गरीब तबके से भी अभिजन पैदा हुए हैं।

(7) अभिजनों द्वारा बल-प्रयोग की बात निरंकुश शासन व्यवस्थाओं में तो कुछ तर्कसंगत हो सकती है, लेकिन सदैव बल प्रयोग उचित नहीं रहता। रूस में जार के बल प्रयोग के बाद भी वहां उसका तख्ता पलट दिया गया और शासन पर श्रमिक वर्ग का अधिकार हो गया। शासित वर्ग का शासक बनना अभिजन सिद्धान्त की मान्यताओं को ठुकरा देता है। लोकतन्त्र में तो बल प्रयोग को न्यायसंगत रूप में ही बड़ी मुश्किल से स्वीकार किया जाता है। खुला बल-प्रयोग अभिजनों के पतन का कारण बनता है।

(8) अभिजन सिद्धान्त का यह कहना गलत है कि अभिजन वर्ग अपने हितों के साथ-साथ जनपुंज के हितों का भी पोषक होता है। सत्य तो यह है कि इस वर्ग में संकीर्ण स्वार्थ व अहम् की भावना इतनी प्रबल होती है कि ये अपने स्वार्थों के लिए देश-हित का भी बलिदान कर देते हैं। 1950 के बाद एशिया व अफ्रीका के कई देशों में अभिजनों के कारण लोकतन्त्र की बजाय सैनिक व्यवस्थाएं स्थापित हो गई थी। जर्मनी में हिटलर द्वारा नाजीवाद और इटली में फासीवाद की स्थापना का एक कारण हिटलर व मुसोलिनी की महत्वाकांक्षा था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अभिजन सिद्धान्त में अनेक दोष हैं, लेकिन इन दोषों से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि व्यवहारिक राजनीति-विज्ञान में इस सिद्धान्त की कोई संगतता व उपयोगिता नहीं है। इस सिद्धान्त के द्वारा विश्व की अनेक राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। विकासशील देशों की राजनीति को समझने में यह सिद्धान्त बहुत सहायक है क्योंकि इन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास और स्वतन्त्रता के बाद संस्कृति-निर्माण, आर्थिक विकास, समाज सुधार, धार्मिक पुनरुत्थान आदि कार्यों को करने में अभिजन वर्ग का ही महत्वपूर्ण हाथ था। इन देशों में हम उन सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों की जानकारी अभिजन सिद्धान्त के सन्दर्भ में ही प्राप्त कर सकते हैं जिनके कारण विकासशील देशों में नए सम्भ्रान्त वर्गों का जन्म हो रहा है। आधुनीकिकरण व राजनीतिक विकास में अभिजनों की भूमिका की जानकारी इसी सिद्धान्त के सन्दर्भ में ही प्राप्त की जा सकती है। आज हर राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय-प्रक्रिया की बागडोर इसी अभिजन वर्ग के हाथ में है। अतः अभिजन वर्ग का सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

अध्याय-17
नौकरशाही
(Bureaucracy)

नौकरशाही की अवधारणा
(Concept of Bureaucracy)

औद्योगिक क्रान्ति के तुरन्त बाद सामाजिक व राजनीकि ढांचे में आए परिवर्तनों ने संगठन की जिस प्रणाली को वह जन्म दिया, वह नौकरशाही ही है। सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के दौर में परम्परागत समाज को संतुलित, व्यवस्थित और विकसित होने हेतु नौकरशाही जैसे तन्त्र की अत्यधिक आवश्यकता महसूस की गई। यद्यपि विशिष्ट वर्ग के रूप में नौकरशाही जैसे तन्त्र का जन्म युगों पहले ही हो चुका था, लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद इसका संगठित रूप उभरकर सामने आया। इसने एक ऐसे वर्ग की भूमिका निभाई जो पूर्णतयाः बुद्धिजीवियों और कार्यकुशलता से सम्बन्धित था और सामाजिक परिवर्तन को गतिशील बनाने को तत्पर था। लोकतन्त्रीय राज्यों के उद्‌भव ने इस वर्ग के महत्व में व द्धि कर दी। लोक कल्याण पर आधारित प्रजातन्त्रीय सरकारों को उनके लक्ष्यों को प्राप्त करने में नौकरशाही तन्त्र ने जो भूमिका अदा की, वह सर्वविदित है। आज तानाशाही देशों में तो इसे शासक वर्ग द्वारा जनता का शोषण करने का यन्त्र माना जाता है, जबकि प्रजातन्त्र में यह जनकल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रभावशाली साधन है। इसी कारण आज नौकरशाही तन्त्र विशिष्ट वर्ग के रूप में अपनी पहचान कायम कर चुका है।

नौकरशाही का अर्थ
(Meaning of Bureaucracy)

आज नौकरशाही का रूप इतना विकसित हो चुका है कि इसे अनेक नामों से पुकारा जाने लगा है। आज नौकरशाही के लिए सिविल सेवा (Civil Service), मैजिस्ट्रेसी (Magistracy), अधिकारी तन्त्र (Officialdom), सरकारी निरंकुशवाद (Offcial despotism), विभागीय सरकार (Departmental Govt.), स्थायी कार्यपालिका (Permanent executive), विशिष्ट वर्ग (Elite) गैर-राजनीतिक कार्यपालिका (Non-political executive) आदि नामों का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रमुख कारण देश और काल में अन्तर है। यूरोपीय देशों में यह शब्द साधारणतः नियमित सरकारी कर्मचारियों व अधिकारियों के समूह के लिए प्रयोग किया जाता है। नौकरशाही शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Bureaucracy' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। 'Bureaucracy' शब्द फ्रांसिसी भाषा के 'Bureau' शब्द से लिया गया है। इसका अर्थ होता है - 'मेज प्रशासन' या कार्यालयों द्वारा प्रबन्ध। आज नौकरशाही एक बदनाम सा शब्द हो गया है। इसी कारण प्रयोग अपव्यय, स्वेच्छाचारिता, कार्यालय की कार्यवाही, तानाशाही आदि के रूप में किया जाता है। नौकरशाही के बारे में अनेक विद्वानों ने अपनी अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं जो इसके अर्थ को स्पष्ट करती हैं। प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) मैक्स वेबर के अनुसार-"नौकरशाही प्रशासन प्रशासन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें विशेषज्ञता, निष्पक्षता तथा मानवता का अभाव होता है।"

(2) पाल एच. एपेलबी के अनुसार-"नौकरशाही तकनीकी द ष्टि से कुशल कर्मचारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जिसका संगठन पद-सोपान के अनुसार किया जाता है और जो निष्पक्ष होकर राज्य का कार्य करते हैं।"

(3) मार्शल ई० डिमॉक के अनुसार-"नौकरशाही का अर्थ है-विशेषीकृत पद सोपान तथा संचार की लम्बी रेखाएं।"

(4) कार्ल जे० फ्रेडरिक के अनुसार-"नौकरशाही से अभिप्राय ऐसे लोगों के समूह से है जो ऐसे निश्चित कार्य करता है जिन्हें समाज उपयुक्त समझता है।"

(5) विलोबी के अनुसार - "नौकरशाही के दो अर्थ हैं - विस्त त अर्थ में "यह एक सेवीवर्ग प्रणाली है जिसके द्वारा कर्मचारियों को विभिन्न वर्गीय पद-सोपानों जैसे सैक्शन, डिविजन, ब्यूरो तथा विभाग में बांटा जाता है।" संकुचित अर्थ में-"यह सरकारी कर्मचारियों के संगठन की पद-सोपान प्रणाली है, जिस पर बाह्य प्रभावशाली लोक-नियन्त्रण सम्भव नहीं है।"

(6) लास्की के अनुसार-"नौकरशाही का आशय उस व्यवस्था से है जिसका पूर्णरूपेण नियन्त्रण उच्च अधिकारियों के हाथों में होता है और इतने स्वेच्छाचारी हो जाते हैं कि उन्हें नागरिकों की निन्दा करते समय भी संकोच नहीं होता।"

(7) एनसाइकलोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार-"जिस प्रकार तानाशाही का अर्थ तानाशाह का तथा प्रजातन्त्र का अर्थ जनता का शासन होता है, उसी प्रकार ब्यूरोक्रेसी का अर्थ ब्यूरो का शासन है।"

(8) रॉबर्ट सी० स्टोन के अनुसार-"नौकरशाही का शाब्दिक अर्थ कार्यालय द्वारा शासन अधिकारियों द्वारा शासन है। सामान्यतः इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं के सन्दर्भ में किया गया है।"

(9) फिफनर के अनुसार-"नौकरशाही व्यक्ति और कार्यों का व्यवस्थित संगठन है जिसके द्वारा सामूहिक प्रयत्न रूपी उद्देश्य को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त किया जा सकता है।"

(10) ग्लैडन के अनुसार-"नौकरशाही एक ऐसा विनियमित प्रशासकीय तन्त्र है जो अन्तर सम्बन्धित पदों की श ंखला के रूप में संगठित होता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि नौकरशाही शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। साधारण रूप में कहा जा सकता है कि नौकरशाही स्थायी कर्मचारियों का शासन है जो न तो जनता द्वारा चुने जाते हैं और न ही इस कारण जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं, लेकिन देश की निर्णय-प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। एफ०एम० मार्क्स ने नौकरशाही को चार अर्थों में परिभाषित किया है- (i) एक विशेष प्रकार के संगठन में (ii) अच्छे प्रबन्धक में बाधक एक व्याधि के रूप में (iii) एक बड़ी सरकार के रूप में (iv) स्वतन्त्रता विरोधी के रूप में। एफ०एम० मार्क्स द्वारा बताए गए अर्थ उपरोक्त सभी परिभाषाओं को अपने में समेट लेते हैं। सत्य तो यह है कि यह शब्द आज बदनामी तथा बिगाड़ के कारण स्वेच्छाचारिता, अपव्यय, तानाशाही तथा

कार्यालय की कार्यवाही तक सीमित होकर रह गया है। एफ०एम० मार्क्स इसी मत की पुष्टि करता है। लेकिन नौकरशाही एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था भी है जो सरकार या प्रशासन के लक्ष्यों की बजाय प्रक्रिया पर अधिक बल देती है। अतः नौकरशाही का प्रयोग अच्छे व बुरे दोनों रूपों में होता है।

नौकरशाही का उदय

(Origin of Bureaucracy)

नौकरशाही का उदय बहुत पहले हुआ था। प्राचीन मिश्र, प्राचीन रोम, चीन के प्रशासन, तेहरवीं सदी में रोमन कैथोलिक चर्च में नौकरशाही के बीज मिलते हैं। किन्तु यह नौकरशाही सीमित प्रकृति की थी। 18वीं सदी में यह पश्चिमी यूरोप के देशों में विकसित रूप में उभरी। औद्योगिक क्रान्ति तथा आधुनिकीकरण के दौर में इसका बहुत तेज गति से विकास हुआ। धीरे-धीरे नौकरशाही चर्च, विश्वविद्यालय, आर्थिक संस्थानों, राजनीतिक दलों तक भी फैल गई। आज नौकरशाही पूरे विश्व में अपना अस्तित्व कायम कर चुकी है। इसके उदय व विकास के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

(1) सर्वप्रथम इसका जन्म कुलीनतन्त्र में सक्रिय सरकार की रुचि के अभाव के कारण हुआ और धीरे-धीरे सत्ता स्थायी अधिकारियों के हाथों में चली गई। सम्राट की यह इच्छा थी कि कुलीन वर्ग में शक्ति की बढ़ती लालसा को रोकने के लिए एक अधीनस्थ कर्मचारी तन्त्र का होना बहुत जरूरी है।

(2) लोकतन्त्र के उदय के कारण कुलीनतन्त्र को गहरा आघात पहुंचा। बदलती परिस्थितियों ने विशिष्ट सेवा का कार्य करने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता महसूस की और राज्यों के कल्याणकारी स्वरूप ने इसे अपरिहार्य बना दिया।

(3) पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय ने भी नौकरशाही को बढ़ावा दिया है। पूंजीवाद में अपने हितों की पूर्ति के लिए एक शक्तिशाली और सुव्यवस्थित सरकार की आवश्यकता महसूस हुई। इन सरकारों को नौकरशाही सिद्धान्तों का अनुकरण करना आवश्यक हो गया। इसी कारण पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने नौकरशाही सरकार को जन्म दिया।

(4) पश्चिमी समाज में बुद्धिवाद के विकास ने भी सभी क्षेत्रों में लाभ प्राप्त के लिए संगठित कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता अनुभव हुई। इसी से नौकरशाही का विकास हुआ। धीरे धीरे नौकरशाही विश्व के अन्य देशों में भी पहुंच गई।

(5) जनसंख्या व द्धि ने भी प्रशासनिक कार्यों में व द्धि कर दी। विश्व में सभी सरकारें अपनी जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बड़े-बड़े संगठनों को स्थापित करने लगी। इस प्रशासनिक वर्ग के लिए सरकारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करना जरूरी हो गया। इसी कारण धीरे धीरे नौकरशाही का आधार मजबूत होता गया।

(6) जटिल प्रशासनिक समस्याओं की उत्पत्ति ने अलग स्थाई कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता महसूस कराई। औद्योगिक क्रांति के बाद आई जटिल प्रशासनिक समस्याओं ने नौकरशाही के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सभी सरकारों के लिए जटिल प्रशासनिक कार्यों को निष्पादित करने के लिए नियमित संगठनों की स्थापना करना जरूरी हो गया।

इस प्रकार नौकरशाही का उदय एक शासन के सामने आई बहुत प्रशासनिक समस्याओं से निपटने के लिए हुआ। आज नौकरशाही एक ऐसे संगठन के रूप में अपना स्थान बना चुकी है कि इसके

बिना किसी देश की सरकार अपने प्रशासनिक कार्यों का निष्पादन नहीं कर सकती। आधुनिक संचार के साधनों ने प्रशासनिक समस्याओं को और अधिक जटिल बना दिया है। नौकरशाही के वर्तमान उत्तरदायित्वों का अभी भविष्य में और अधिक विकसित होना अपरिहार्य है। इसी कारण नौकरशाही का विकास भी अवश्यम्भावी है।

नौकरशाही की विशेषताएं

(Features of Bureacuracy)

नौकरशाही की सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :-

(1) **कार्यों का तर्कपूर्ण विभाजन** (Logical Division of Functions) :- नौकरशाही में प्रत्येक पद पर योग्य व्यक्ति को ही बिठाया जाता है ताकि वह अपने कार्यों व लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त कर सके। अपने कार्यों को पूरा करने के लिए उसे कानूनी सत्ता प्रदान की जाती है। उसे अपने कार्यों को पूरा करने के लिए अपनी सत्ता का पूर्ण प्रयोग करने की छूट होती है।

(2) **तकनीकी विशेषज्ञता** (Technical Specialization) :- नौकरशाही का जन्म ही तकनीकी आवश्यकता के कारण होता है। नौकरशाही में प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यों में दक्ष होता है। तकनीकी दक्षता के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग कार्य सौंपे जाते हैं।

(3) **कानूनी सत्ता** (Legal Authority) :- प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यों के निष्पादन के लिए अधिकारियों व कर्मचारियों को कानूनी शक्ति का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होती है।

(4) **पद-सोपान का सिद्धान्त** (Principle of Hierarchy) :- नौकरशाही में कार्यों के निष्पादन व प्रकृति के अनुसार कर्मचारियों के कई स्तर बना दिए जाते हैं। सबसे ऊपर महत्वपूर्ण अधिकारी होते हैं। कर्मचारी वर्ग सबसे निम्न स्तर पर होता है। इस सिद्धान्त के द्वारा सभी को 'आदेश की एकता' के सूत्र में बांधा जाता है।

(5) **कानूनी रूप से कार्यों का संचालन** (The legal Frame-work) :- नौकरशााही में सरकारी अधिकारी कानून व नियमों की मर्यादा में ही अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हैं। इससे प्रशासन में कठोरता आ जाती है। नौकरशाही का संचालन 'कानून के शासन' के द्वारा ही होता है। इसलिए उन्हें कानूनी सीमाओं में बंधकर ही अपना कार्य करना पड़ता है। इससे प्रशासन में लोचहीनता भी पैदा हो जाती है।

(6) **राजनीतिक तटस्थता** (Political Neutrality) :- नौकरशाही में राजनीतिक तटस्थता का महत्वपूर्ण गुण पाया जाता है। इसमें अधिकारियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। प्रशासनिक अधिकारियों को मत देने का तो अधिकार प्राप्त होता है, लेकिन सक्रिय राजनीतिक सहभागिता से बचना पड़ता है।

(7) **योग्यता-प्रणाली** (Merit System) :- नौकरशाही में प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों का चयन योग्यता के आधार पर होता है, सिफारिश के आधार पर नहीं। उनकी नियुक्ति के लिए निश्चित योग्यताएं रखी जाती हैं और प्रतियोगिता परीक्षाओं का संचालन एक उच्च सेवा आयोग के माध्यम से होता है।

(8) **निश्चित वेतन तथा भत्ते** Fixed Salaries and Allowances) :- नौकरशाही के अन्तर्गत सभी कर्मचारियों व अधिकारियों को निश्चित वेतन व भत्ते मिलते हैं। नौकरी से रिटायर होने

के बाद पैंशन का भी प्रावधान है।

(9) **पदोन्नति के अवसर** (Opportunities for Promotion) :- नौकरशाही में सभी कर्मचारियों व अधिकारियों को अपनी योग्यता व प्रतिभा विकसित करने के पूरे अवसर प्राप्त होते हैं। इसमें लोकसेवकों को परिश्रम व मेहनत के बल पर अपना पद विकसित करने के पूरे अवसर मिलते हैं।

(10) **निष्पक्षता** (Impartiality) :- नौकरशाही में लोकसेवकों को अपना कार्य बिना भेदभाव के करना पड़ता है। उनकी द ष्टि में सभी लोग चाहे वे अधिक प्रभावशाली हों या कम, बराबर होते हैं।

(11) **व्यवसायिक वर्ग** (Professional Class) :- नौकरशाही में लोकसेवकों का वर्ग एक व्यवसायिक वर्ग होता है। वह अपने कार्यों का निष्पादन जन सेवा के लिए न करके व्यवसाय समझकर ही करता है।

(12) **लालफीताशाही** (Red-Tapism) :- नौकरशाही में आवश्यकता से अधिक औपचारिकता को अपनाया जाता है। इससे प्रशासनिक निर्णयों में देरी होती है और इसी कारण नौकरशाही को बदनामी सहनी पड़ती है। इसमें अनौपचारिक सम्बन्धों का कोई स्थान नहीं होता। समस्त कार्य नियमानुसार परम्परा के अनुसार ही किया जाता है। इसमें कार्य-अनुशासन पर अधिक जोर देने के कारण लाल-फीताशाही को बढ़ावा मिलता है।

नौकरशाही के प्रकार

(Types of Bureaucracy)

नौकरशाही के संगठन के स्वरूप; प्रक्रिया द ष्टिकोण आदि पर सम्बन्धित देश और काल का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उस देश की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक परिस्थितियां उसके स्वरूप को निर्धारित करती हैं। एफ०एम० मार्क्स ने नौकरशाही के चार प्रकारों का उल्लेख किया है। नौकरशाही के ये चार प्रकार निम्नलिखित हैं :-

(1) अभिभावक नौकरशाही

(2) जातीय नौकरशाही

(3) प्रश्रय या संरक्षक नौकरशाही

(4) योग्यता पर आधारित नौकरशाही

(1) अभिभावक नौकरशाही :-

अभिभावक नौकरशाही में नौकरशाहों द्वारा जनता के साथ एक अभिभावक जैसा आचरण अमल में लाया जाता है।यह नौकरशाही सदैव जन-साधारण के हितों के लिए चिन्तित रहती है। इसके समस्त क्रिया-कलाप जनहित पर ही आधारित होते हैं। इस नौकरशाही में नौकरशाहों को समुदाय के न्याय तथा जनहित का संरक्षक माना जाता है। इस प्रकार की नौकरशाही प्लेटों के आदर्श राज्य में प्रकट होती है। 960 ई० में चीन में, प्रशा में 1640 तक अभिभावक नौकरशाही का ही प्रचलन था। प्रशा की नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएं थी :-

(i) राज्य के हित का समर्पित।

(ii) एकीकृत एवं संतुलित प्रशासनिक व्यवस्था।

(iii) शिक्षित व योगय प्रशासक।

(iv) राजतन्त्र के साथ साथ मध्यवर्गीय गुणों का समन्वय।

(v) सजग राजतन्त्र के मूल्यों का पोषण।

(vi) अन-भावादेशों के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव।

इस प्रकार प्रशा की नौकरशाही एक श्रेष्ठ नौकरशाही थी। मार्क्स के अनुसार-"राजा की पक्षपाती एवं उसी के माध्यम से जनता की सेवा करने वाली प्रशा की प्रारम्भिक नौकरशाही इस बात पर गर्व कर सकती है कि यह अपने उद्देश्य में अलोचशील, ईमानदार, जनता के साथ सम्बन्धों में सत्तावादी एवं सद्भावपूर्ण तथा बाहरी आलोचनाओं से अप्रभावित बनी रही।" इस नौकरशाही में अधिकारियों का प्रमुख कर्तव्य लोगों के सामने एक आदर्श जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करना था। इसी कारण उनका चुनाव योग्यता के आधार पर ही होता था और उन्हें शास्त्रीय पद्धति के अनुसार प्रशिक्षण दिया जाता था। लेकिन इस नौकरशाही में प्रमुख दोष यह आ गया कि निरंकुशता को ही अपना आदर्श मानने लगी और परम्परावादी व रुढ़िवादी बन गई। आज इस नौकरशाही का प्रमुख दोष इसका निरंकुश आचरण ही है।

(2) जातीय नौकरशाही :-

यह नौकरशाही जातीय पद्-क्रम पर आधारित होती है। इस नौकरशाही का जन्म तब होता है, जब प्रशासकीय तथा सत्ता शक्ति एक ही वर्ग के हाथों में होती है। इस प्रकार की नौकरशाही में वे व्यक्ति ही उच्च प्रशासनिक पदों को प्राप्त कर लेते हैं जो उच्च जाति या शासक-वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इस नौकरशाही में ऐसी योग्यताओं का निर्धारण किया जाता है जो उच्च वर्ग या जाति में ही पाई जाती हैं। विलोकी ने इसे कुलीनतन्त्रीय नौकरशाही कहा है। इसमें उच्च पदों के लिए योग्यताओं को जातिगत प्राथमिकताओं से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार की नौकरशाही प्राचीन समय में रोमन साम्राज्य तथा आधुनिक युग में जापान के मेजी संविधान के अन्तर्गत कार्यरत नौकरशाही का रूप है। 1950 में फ्रांस में भी इसी तरह की नौकरशाही का विकसित रूप था। इस नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(i) शैक्षिक योग्यताओं की अनिवार्यता।

(ii) पद और जाति में अन्तर्सम्बन्ध।

(iii) सेवा या पद का परिवार से जुड़ जाना।

(iv) दोषपूर्ण समाज व्यवस्था के प्रतीक।

इस प्रकार की नौकरशाही का विकसित रूप प्राचीन भारत में भी प्रचलित था। प्राचीन काल में ब्राह्मणों व क्षत्रियों को उच्च प्रशासनिक पद सौंपे जाते थे। इस नौकरशाही ने सामाजिक वर्ग विभेद को जन्म दिया है। यह वर्ग विशेष के हितों की पोषक होने के कारण सामाजिक विषमताओं की जननी मानी जाती है।

(3) संरक्षक या प्रश्रय नौकरशाही :-

इस नौकरशाही का दूसरा नाम लूट प्रणाली (Spoil System) भी है। इस प्रकार की नौकरशाही को राजनीतिक लाभ पर आधारित माना जाता है। चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को उच्च राजनीतिक व प्रशासनिक पदों पर नियुक्त करके प्रश्रय नौकरशाही को जन्म देते हैं। इस नौकरशाही में नियुक्ति का आधार योग्यता की बजाय राजनीतिक सम्बन्ध होते हैं। अमेरिका को इस नौकरशाही का जनक माना जाता है। वहां पर प्रत्येक नवनिर्चाचित राष्ट्रपति

पुराने पदाधिकारियों को सेवामुक्त करके उच्च पदों पर राजनीतिज्ञ समर्थकों को नियुक्त करता था। यह नौकरशाही लम्बे समय तक अमेरिका में अपना प्रभाव बनाए रही। राष्ट्रपति जैक्सन ने भी इसी नौकरशाही का पोषण किया था। 19वीं सदी से पहले ब्रिटेन में भी यह नौकरशाही प्रचलित थी। आगे चलकर इसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गए। इसके कारण अमेरिका व ब्रिटेन ने इसका त्याग कर दिया।

संरक्षक नौकरशाही की विशेषताएं (Features of Patronage Bureaucracy) :-

(i) इसमें कार्मिकों को भर्ती के समय शैक्षिक व व्यावसायिक योग्यताओं का कोई महत्व नहीं होता।

(ii) यह नौकरशाही सत्ताधारी दल के प्रति प्रतिबद्धता का पालन करती है।

(iii) यह नौकरशाही जनहित की अपेक्षा राजनीतिक नेत त्व का समर्थन करती है।

(iv) इसमें राजनीतिक तटस्थता का अभाव पाया जाता है।

(v) यह पक्षपातपूर्ण, भ्रष्ट, भाई-भतीजावाद पर आधारित होती है।

(vi) इसमें लोकसेवकों का कार्यकाल अनिश्चित होता है। वे अपने पद पर सत्तारूढ़ दल के सरंक्षण तक ही रह सकते हैं। सत्तारूढ दल के शासन छोड़ते ही उन्हें भी अपना पद त्यागना पड़ता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संरक्षक नौकरशाही राजनीतिक तटस्थता का त्याग करके शासक वर्ग के हितों की पोषक बनकर कार्य करती है। इसलिए इसमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जैसे - योग्यता का अभाव, अनुशासनहीनता, अधिकारियों का लालचीपन, पक्षपातपूर्ण, सेवाभाव का अभाव, राजनीतिक तटस्थता का अभाव आदि।

(4) योग्यता पर आधारित ::-

उपरोक्त तीनों नौकरशाहियों की कमियों के परिणामस्वरूप जिस नई नौकरशाही का उदय हुआ, वह योग्यता पर आधारित नौकरशाही ही है। इसमें लोकसेवकों की नियुक्ति योग्यता व मेरिट के हिसाब से की जाती है। इसमें लोकसेवकों के चयन के लिए निष्पक्ष भर्ती परीक्षाओं का आयोजन किया जाता है। इसमें लोकसेवकों पर शासक-वर्ग का कोई दबाव नहीं रहता। इसमें सदैव जन-कल्याण को ही महत्व दिया जाता है। इसी कारण आज विश्व के अधिकांश देशों में इसी प्रकार की नौकरशाही का प्रचलन है। इस नौकरशाही की प्रमुख विशेषता निम्नलिखित हैं :-

(i) योग्यता के आधार पर नियुक्तियां तथा नियुक्तियों के लिए लिखित परीक्षाएं।

(ii) कार्यकाल का निश्चित होना।

(iii) निर्धारित वेतन व भत्ते।

(iv) कानून के शासन पर आधारित।

(v) निष्पक्ष व निर्भयतापूर्ण कार्य-सम्पादन।

(vi) राजनीतिक तटस्थता।

(vii) संविधान व अपने कर्तव्यों के प्रति वचनबद्धता।

(viii) जन-हितों की पोषक।

भारत में नौकरशाही का यही रूप प्रचलित है।

नौकरशाही की भूमिका

(Role of Democracy)

आज के लोकतन्त्रीय युग में शासन को चलाने के लिए नौकरशाही की अहम् भूमिका है। कल्याणकारी राज्य के रूप में आज सरकार के कार्य इतने अधिक हो गए हैं कि नौकरशाही की मदद के बिना उन्हें पूरा करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव सा भी है। जौसेफ चैम्बरलेन का कहना सत्य है कि लोकसेवकों के बिना सरकार का काम नहीं चल सकता। राजनीतिक कार्यपालिका को इतना ज्ञान नहीं हो सकता कि वह कानून बनाकर उन्हें लागू भी कर दे। राजनीतिक कार्यपालिका को प्रशासन चलाने के लिए नौकरशाही की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है। यह सत्य है कि नौकरशाही के विकास के बाद प्रशासन अधिक कार्यकुशल, विवेकशील और संगत बना है। भारत जैसे संसदीय प्रजातन्त्रीय देश में तो नौकरशाही एक ऐसा मूल्य है जिसका अस्तित्व में रहना अपरिहार्य है। यदि कभी इस मूल्य का पतन हुआ तो नौकरशाही भी इस दोष से बच नहीं सकेगी। वास्तव में समाज में व्यवस्था बनाए रखने, उसे एकता के सूत्र में बाँधने और विकास को गति देने में नौकरशाही की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इसी कारण आज नौकरशाही के प्रभाव से बच पाना मुश्किल है। इसकी भूमिका का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

(1) **नीतियों के निर्माण में परामर्शदाता के रूप में भूमिका अदा करना** (Advisory Role in the formulation of Policies) :- विश्व के सभी प्रजातन्त्रीय देशों में नीति-निर्माण में नौकरशाही राजनीतिज्ञों की बहुत मदद करता है। राजनीतिज्ञों को प्रशासन की बारीकियों का कोई ज्ञान नहीं होता। इसी कारण वे नौकरशाही द्वारा मदद की अपेक्षा रखते हैं। नीतियों के निर्माण हेतु आवश्यक सूचनाएं, आंकड़े, तकनीकी शब्दावली, प्रक्रिया प्रणाली आदि सम्बन्धी ज्ञान लोकसेवकों द्वारा ही राजनीतिज्ञों तक पहुंचाया जाता है। प्रदत्त-व्यवस्थापन की शक्ति का प्रयोग करते हुए प्रशासक वर्ग नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की परामर्शदाता के रूप में मदद करता है।

(2) **नीतियों व निर्णयों का क्रियान्वयन करना** (Execution of Politics and Decisious) :- सरकार या राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्धारित नीतियों, निर्णयों, योजनाओं आदि के क्रियान्वयन का प्रमुख उत्तरदायित्व नौकरशाही पर ही है। यह भूमिका नौकरशाहों को राजनीति के अभिकर्ता सिद्ध करती है। नीति चाहे प्रशासक-वर्ग की इच्छाओं के प्रतिकूल भी हो, लेकिन उसका क्रियान्वयन करना प्रशासकों का प्रमुख उत्तरदायित्व है। यदि नीति को क्रियान्वित करते समय जरा सी भी लापरवाही की जाती है तो नीति-निर्माण का उद्देश्य ही नष्ट हो सकता है। इसलिए उत्तरदायी ढंग से प्रशासक वर्ग नीतियों का क्रियान्वयन करता है। भारत में कल्याणकारी राज्य के रूप में सरकार द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रम, योजनाएं, परियोजनाएं, नीतियां आदि भारतीय लोकसेवकों द्वारा क्रियान्वित की जा रही हैं। इस प्रकार नीतियों के प्रभावकारी क्रियान्वयन में नौकरशाही की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

(3) **विकास अभिकर्ता के रूप में** (As an agent of Development) :- विकासशील देशों में नौकरशाही एक ऐसे योग्य एवं प्रबुद्ध वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्रायः राजनीतिज्ञ स्तर से उच्च बौद्धिक स्तर का होता है। बदलती सामाजिक परिस्थितियों, सामाजिक मूल्यों और आर्थिक एवं अन्य आवश्यकताओं को पहचान कर उसके अनुरूप आधुनिक समाज का निर्माण करना नौकरशाही का प्रमुख उत्तरदायित्व है। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच रहन-सहन

का जो अन्तर पाया जाता है उसे दूर करना तथा अन्य विकास कार्यों को ग्रामीण स्तर तक विकेन्द्रित करना आज नौकरशाही का ही उत्तरदायित्व है। इसलिए आज विकासशील देशों के सन्दर्भ में नौकरशाही विकास अभिकर्ता के रूप में कार्य कर रही है।

(4) **जनसेवक की भूमिका** (As a Public-servant) :- विकासशील देशों में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में आए परिवर्तनों ने लोकसेवकों की जनसेवकों के रूप में भूमिका को अपरिहार्य बना दिया है। उसकी विकास अभिकर्ता के रूप में आम जनता तक पहुंच उसे जन सेवक के रूप में कार्य करर्य करने को बाध्य करती है। जनता को परामर्श देना, जनता को शिक्षित करना, जनता की मदद करना, जन-सहयोग प्राप्त करना आदि लोकसेवकों के प्रमुख कार्य बन गए हैं। विकासशील देशों में सरकारों की भूमिका के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी कारण आज लोकसेवमों की जनसेवक के रूप में भूमिका अधिक लोकप्रिय हो रही है।

(5) **हित स्पष्टीकरण तथा समूहीकरण** (Interest Articulation and Assimilation) :- जनता की विभिन्न मांगें प्रशासन के माध्यम से ही राजनीतिकों तक पहुंचती हैं। हितों का स्पष्टीकरण करके सरकार तक जनता की मांगों को सामूहिक रूप में पहुंचाना आज प्रशासकों का ही काम हो गया है। परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित करके संयुक्त मांग के रूप में तैयार करना प्रशासन का ही कार्य है। इसी कारण नौकरशाही आज हित स्पष्टीकरण व समूहीकरण की प्रबल प्रवक्ता मानी जाती है। इस द ष्टि से प्रशासनक सरकार व जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं।

(6) **नियमों की व्याख्या करना** (Interpretation of Rules) :- प्रदत्त व्यवस्थापन की शक्ति के अन्तर्गत आज नौकरशाही नियम निर्माण की व्यापक शक्ति का प्रयोग भी करती है। वह आवश्यकतानुसार नियमों की व्याख्या करके न्यायिक अभिनिर्णयों को मूर्तरूप देती है।

(7) **प्रतिद्वन्द्वी हितों में समन्वय करना** (Co-ordination between competing Interests) :- विकासशील देशों में जटिल सामाजिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समाज के विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों, धर्मों, भाषाओं, रीतियों, परम्पराओं, राज्यों, प्रान्तों आदि के रूप में पाई जाने वाली विभिन्नताओं में हितों का टकराव होना आम बात है। इस टकराव को रोकना और विरोधी हितों में समन्वय कायम करना प्रशासन का प्रमुख उत्तरदायित्व है। इसी पर सामाजिक व्यवस्था व राजनीतिक व्यवस्था का कुशल संचालन निर्भर है।

(8) **नियोजन** (Planning) :- नियोजन का किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। राजनीतिक कार्यपालिका को योजना बनाने के लिए आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है। इन आंकड़ों को विभिन्न विभागों के प्रशासनिक अधिकारी ही उपलब्ध कराते हैं। इस प्रकार नियोजन में भी प्रशासन या नौकरशाही की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है।

(9) **विधेयकों का प्रारूप तैयार करना** (Drafting of Bills) :- आज सभी देशों में कानून निर्माण के लिए प्रारूप तैयार करते समय नौकरशाही की मदद की आवश्यकता पड़ती है। प्रायः राजनीतिज्ञों के अनुभवहीन और अपरिपक्व होने के कारण कानून का प्रारूप तैयार करने में विधि विभाग की नौकरशाही का ही सहारा लिया जाता है। नौकरशाही के सहयोग के बिना कानून का प्रारूप तैयार नहीं हो सकता।

(10) **संविधानिक आदर्शों का क्रियान्वयन** (Implementation of Constitutional Ideals) :- प्रत्येक देश के संविधान में नागरिकों को जो मौलिक अधिकार व स्वतंत्रताएं प्रदान की गई हैं, उनको कायम रखना नौकरशाही का ही प्रमुख उत्तरदायित्व है। सामाजिक न्याय का

आदर्श प्राप्त करने में सरकार की मदद संविधानिक आदर्शों को कायम रखकर नौकरशाही ही करती है।

(11) **लोक सम्पर्क व संचार कार्य** (Public Relations and Communication) :- आज के लोकतन्त्रीय युग में नौकरशाही जनता से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखती है। वह समाज में होने वाली घटनाओं और विचारधाराओं से शासन-तन्त्र को अवगत कराती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नौकरशाही एक ऐसी सामाजिक साधन है जो राजनीतिक लक्ष्यों को पूरा करने में सरकार की मदद करता है, नीति-निर्धारण व उसके क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, विरोधी हितों में सामंजस्य पैदा करता है तथा विकास अभिकर्ता के रूप में आधुनिकीकरण को सम्भव बनाता है। शासनतन्त्र की सफलता कुशल प्रशासन-तन्त्र पर ही निर्भर काती है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि नौकरशाही को जनसेवक की भूमिका अधिक से अधिक अदा करनी चाहिए। उसे राजनीतिक तटस्थता को बरकरार रखकर ही संविधानिक आदर्शों के प्रति समर्पित होकर कार्य करने रहना चाहिए। इसी में उसकी भूमिका का औचित्य है।

नौकरशाही की आलोचना

(Criticism of Bureucracy)

यद्यपि नौकरशाही सामाजिक विकास को गति देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, लेकिन फिर भी इसको आलोचना का शिकार होना पड़ा है। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार हैं :-

(1) नौकरशाही में औपचारिकता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इससे अधिकारी गण मशीनी मानव बनकर रह जाते हैं और उनकी आत्म-निर्णय की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

(2) अनावश्यक व लम्बी औपचारिकता के कारण लालफीताशाही का जन्म होता है। इसका अर्थ होता है -कार्य में विलम्ब। कई बार तो जब निर्णय प्रभावी होते हैं, उनके पीछे मूल निहितार्थ ही बदल चुका होता है।

(3) नौकरशाही साधारणतः जनसाधारण की मांगों की उपेक्षा ही करती है। जनसाधारण परिवर्तन का पक्षधर होता है, जबकि नौकरशाही परिवर्तन की विरोधी होने के कारण परम्परावादी होती है।

(4) नौकरशाही में अपने कार्य के प्रति अनुत्तरदायित्व की भावना पाई जाती है, क्योंकि नीतियों के क्रियान्वयन की सफलता व असफलता का सारा श्रेय राजनीतिक कार्यपालिका को ही जाता है।

(5) नौकरशाही से एक ऐसे शक्तिशाली विशिष्ट वर्ग का जन्म होता है हो शक्ति प्रेम का भूखा होता है और निरंकुशता की प्रव त्ति को जन्म देता है।

(6) नौकरशाही प्रशासनिक कार्य-व्यवहार को अधिक जटिल बना देती है। इसमें जानबूझकर नियमों की तोड़- मरोड़ कर व्याख्या की जाती है।

(7) नौकरशाही लकीर के फकीर के रूप में ही रूढ़िवाद का समर्थन करती है।

(8) नौकरशाही का रूप अमानवीय होता है क्योंकि यह कानून के शासन के सिद्धान्त के आधार पर ही कार्य करती है। इसमें अधिकारियों के व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

मैक्य वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त

(Max-Weber's Theory of Bureaucracy)

नौकरशाही के बारे में मार्क्स, लेनिन, ट्राटस्की, लौराट, रिजी, वर्नहम, मिलोवन पिलास, मैक्स स्बैकटमैन, जैसिक कुरुन मैक्स वेबर आदि ने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सभी सिद्धान्तों में वेबर का सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण व व्यवस्थित है। इसी कारण नौकरशाही का व्यवस्थित अध्ययन जर्मनी के समाजशास्त्री मैक्स वेबर से ही प्रारम्भ माना जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में वेबर के नौकरशाही के सिद्धान्त की आलोचना भी हुई, लेकिन धीरे धीरे वह इतना लचीला बन गया कि उसे आदर्श सिद्धान्त की संज्ञा दी गई। वेबर ने अपना यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों के कठोरता के कारण विकसित किया और धीरे धीरे यह सिद्धान्त विकासशील देशों में अधिक लोकप्रिय होता गया।

मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'Economy and society' तथा 'Parliament and Government in the Newly Organised Germany' में इस सिद्धान्त का वर्णन किया है। यद्यपि मैक्स वेबर ने इन पुस्तकों में कहीं भी प्रत्यक्ष रूप में नौकरशाही का अलग सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है। उसका नौकरशाही का सिद्धान्त इन पुस्तकों में शक्ति, प्रभुत्व तथा सत्ता पर दिए गए विचारों में विद्यमान है। वेबर ने सत्ता का वर्गीकरण वैधता के आधार पर किया और इसी आधार पर संगठनों का भी वर्गीकरण किया। वास्तव में मैक्स वेबर का यह सिद्धान्त सत्ता या प्रभुत्व के सिद्धान्त पर ही आधारित है। उसने वैधानिक सत्ता को ही नौकरशाही माना है। विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही ही संगठन का सबसे अच्छा रूप है। इस प्रकार उसने नौकरशाही का प्रयोग एक निश्चित प्रकार के प्रशासनिक संगठन को बताने के लिए किया है।

नौकरशाही को विधिक सत्ता पर आधारित करते हुए वेबर ने कहा है कि इस सत्ता में एक विधि संहिता का निर्माण करके संगठन के सदस्यों को उसका पालन करना अनिवार्य कर दिया जाता है। प्रशासन कानून के शासन पर ही कार्य करता है और जो व्यक्ति सत्ता का प्रयोग करता है, वह अवैयक्तिक आदेशों का ही पालन करता है। विधिक सत्ता में वफादारी सत्ता प्राप्त व्यक्ति के प्रति न होकर अवैयक्तिक विधि या कानून के प्रति ही होती है। इसी प्रकार नौकरशाही भी निष्पक्ष, कार्य विशेषज्ञ तथा अवैयक्तिक होती है। मालटिन एलबरो का कहना है कि नौकरशाही नियुक्त किए गए योग्य प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों का समूह है जिसका विस्तार राज्य, चर्च, राजनीतिक दल, मजदूर संघ, व्यावसायिक उपक्रम, विश्वविद्यालय तथा गैर-राजनीतिक समूहों तक भी है। आज नौकरशाही शब्द का प्रयोग सरकार, उद्योग, सेना आदि बड़े-बड़े संगठनों में कार्यरत अधिकारी वर्ग व कर्मचारियों के समूह के लिए प्रयुक्त होता है। मैक्स वेबर की आदर्श नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :-

(1) यह नौकरशाही स्पष्ट श्रम विभाजन पर आधारित होती है। इसमें प्रत्येक कर्मचारी को कुछ निश्चित उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं और विधिक सत्ता की शक्ति भी दी जाती है।

(2) इस नौकरशाही में कार्य करने की प्रक्रिया पूर्व-निर्धारित होती है।

(3) इसमें कर्मचारियों को पद-सोपानों में बांट दिया जाता है। 'आदेश की एकता के' सिद्धान्त को प्रभावी बनाने के लिए इसमें आदेश ऊपर से नीचे आते हैं और संगठन एक पिरामिड की तरह होता है।

(4) इसमें कार्यों के निष्पादन के लिए विधिपूर्वक व्यवस्था होती है। इसमें व्यक्ति को वही कार्य सौंपा जाता है, जिसमें वह दक्ष होता है।

(5) इसमें पद के लिए योग्यताएं निर्धारित रहती हैं। इसमें उन्हीं व्यक्तियों का चयन किया जाता है जो पद हेतु निर्धारित योग्यता व दक्षता रखते हैं।

(6) इसमें कर्मचारियों का वेतन पदसोपान में उनके स्तर, पद के दायित्व, सामाजिक स्थिति आदि के आधार पर तय किया जाता है।

(7) यह नौकरशाही अनौपचारिक सम्बन्धों की बजाय औरपचारिक सम्बन्धों पर आधारित होती है। इसमें निर्णय व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों की बजाय औचित्य के आधार पर नियमों की परिधि में रहकर ही लिए जाते हैं।

(8) इसमें संगठन के निर्णयों और गतिविधियों का आधिकारिक रिकार्ड रखा जाता है। इस कार्य में फाईलिंग प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

(9) इसमें कार्य-अनुशासन पर जोर दिया जाता है।

(10) इसमें कर्मचारी तथा उसके कार्यालय में भेद किया जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेबर की नौकरशाही प्रशासन की एक ऐसी व्यवस्था है जो विशेषज्ञता, निस्पक्षता तथा अमानवीय सम्बन्धों पर आधारित होता है। वेबर के अनुसार नौकरशाही एक यन्त्र के रूप में कार्य करती है। पश्चिमी औद्योगिक देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाएं काफी हद तक नौकरशाही के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। वेबर नौकरशाही को ऐसे समाज का हिस्सा मानते हैं जो जटिल श्रम विभाजन, केन्द्रित प्रशासन तथा मुद्रा-अर्थव्यवस्था पर बना होता है। यदि बाकी सभी शर्तें समान रहें तो तकनीकी द ष्टि से नौकरशाही सदा ही विवेकशील प्रकार की होने के कारण जन-समूह-प्रशासन की आवश्यकताओं की द ष्टि से अनिवार्य होती है। आज नौकरशाही की प्रव त्यिां राज्यों और निजि उपक्रमों में ही नहीं पाई जाती, बल्कि सेना, चर्च तथा विश्वविद्यालयों में भी पाई जाती है। इसी कारण नौकरशाही आधुनिक युग की केन्द्रीय राजनीतिक सच्चाई है। इस सच्चाई से बचना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है।

विकासशील देशों में वेबर के नौकरशाही के सिद्धान्त की प्रासांगिकता

(Relevance of Weber's theory of Bureaucracy in Developing Countries)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए अधिकतर विकासशील देशों के सामने आर्थिक-विकास तथा राजनीतिक स्थायित्व की प्रमुख समस्या थी। इसमें से अधिकतर देश आज भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। इन देशों में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जो इन समस्याओं पर लगभग काबू पा चुका है। ब्रालीन भी इस मार्ग पर काफी आगे निकल चुका है। आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारत को एक ऐसे नौकरशाही तन्त्र की जरूरत थी जो उसके संविधानिक आदर्शों का सम्मान करते हुए निष्पक्ष रहकर विकास में अपना पूर्ण योगदान दे सके। इसी कारण उसने ऐसी नौकरशाही को विकसित किया जो निष्पक्ष, विशेषज्ञ व अमानवीय रहकर कार्य करती रहे। यदि विकासशील देशों ब्राजील और भारत के सन्दर्भ में देखा जाए तो वेबर द्वारा बताया गया आदर्श नौकरशाही का प्रतिरूप लगभग पूर्ण रूप में लागू होता है। भारत में नौकरशाही कानूनी सत्ता पर आधारित है। इसमें स्पष्ट श्रम विभाजन, निश्चित कार्य प्रक्रिया, कार्यों की विधिपूरक व्यवस्था, पद सोपान पद्धति, पद के लिए योग्यताएं, निवैयक्तिक सम्बन्ध तथा आधिकारिक रिकार्ड सभी विशेषताएं विद्यमान हैं। भारत में योग्यता प्रणाली को आधार बनाकर लिखित परीक्षाओं और कठिन साक्षात्कार के आधार पर ही लोकसेवकों का चयन किया जाता है। लोक सेवकों को पद के अनुसार

व कार्य की प्रकृति के हिसाब से वेतन व भत्ते प्रदान किये जाते हैं। प्रशासनिक व्यवहार में अनुशासन का विशेष महत्व है और सारा काम निष्पक्ष तरीके से करने को प्राथमिकता दी जाती है। लेकिन आज प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण अनौपचारिक व पक्षपातपूर्ण सम्बन्धों का प्रचलन बढ़ने लगा है। 1969 में तो भारत में प्रतिबद्ध नौकरशाही का विचार कार्यपालिका के प्रति प्रतिबद्ध हो या संविधानिक आदर्शों के प्रति। यदि विकासशील देशों में नौकरशाही को अपना निष्पक्ष रूप कायम रखना है तो उसे संविधानिक आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता दिखानी होगी और राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर रहना होगा। इसी में वेबर का आदर्श नौकरशाही की सार्थकता है। अतः आज विकासशील देशों में वेबर की आदर्श नौकरशाही का रूप कुछ धुंधला सा पड़ने लगा है।

वेबर के नौकरशाही के सिद्धान्त की आलोचना

(Criticism of Weber's theory of Bureaucracy)

वेबर के नौकरशाही सिद्धान्त की निम्नलिखित आधरों पर आलोचना की गई है :-

(1) मार्क्सवादियों की द ष्टि में वेबर का सिद्धान्त समाज पर पूंजीवादी प्रभुत्व को उचित मानता है। उनका तर्क है कि वेबर के तथाकथित 'इतिहास का दर्शन' का इरादा सत्ता को विधिसंगत बनाना था और वर्ग-संघर्ष को केवल शक्ति की राजनीति का रूप देना था।

(2) यह सिद्धान्त व्यावहारिक द ष्टि से अपूर्ण है। यह बाहर से व्यवस्थित और अनुशासित दिखाई देने पर भी अन्दर से शक्ति के लिए सर्वत्र फैले हुए संघर्ष की वास्तविकता पर ही आधारित है।

(3) अनौपचारिक सम्बन्धों पर आधारित होने के कारण यह संगठन के मनोवैज्ञानिक द ष्टिकोण की उपेक्षा करता है।

(4) आदर्श शब्द का प्रयोग नौकरशाही के लिए करना वेबर की मूर्खता ही है। यदि ध्यान से देखा जाए तो नौकरशाही सत्तावादी मनोव त्ति, अहं एवं श्रेष्ठता की भावना, अमानवीय व रूढ़िवादिता, लालफीताशाही आदि प्रव त्तियों के कारण घ णास्पद अवधारणा बन जाती है। इसलिए इसके लिए आदर्श शब्द का प्रयोग करना अनुचित है।

(5) संगठन की कार्यकुशलता में आदर्श रूप की बजाय कर्मचारियों के तकनीकी स्तर, संगठन के बच्चों, लोक सेवकों व कर्मचारियों के मधुर सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(6) यद्यपि यह नौकरशाही विकासशील देशों में प्रचलित अवश्य है, लेकिन इससे वहां की तीव्र आर्थिक-सामाजिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता है।

अतः वेबर का नौकरशाही का सिद्धान्त एक अपूर्ण व अव्यवहारिक औजार है जिसका सफल प्रयोग विकासशील देशों में नहीं किया जा सकता। लेकिन फिर भी विकसित पूंजीवादी देशों की नौकरशाही में तो इस सिद्धान्त के सभी लक्षण अवश्य मिल जाते हैं। इसलिए अन्य सभी सिद्धान्तों से यह सिद्धान्त अधिक प्रासंगिक है।

नौकरशाही का मूल्यांकन

(Evaluation of Bureaucracy)

आज नौकरशाही अपने बदनाम अर्थ को समाप्त करने की दिशा में कार्यरत् है। आज नौकरशाही में अत्यधिक विशेषीकरण के साथ-साथ सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित मानवीय सम्बन्धों को महत्व दिया जाता है। इससे संगठन के सदस्यों में अन्तर सम्बन्धों व अन्त-निर्भरता का विकास हुआ है।

आज नौकरशाही का रूप प्रजातन्त्रीय बन रहा है। आज निर्णय प्रक्रिया में अधीनस्थों की भूमिका को भी स्वीकार किया जाने लगा है। इसलिए आज नौकरशाही एक संक्रमणकालीन दौर से गुजर रही है। जहां यह अनेक लाभों को दर्शाती है, वहीं इसके कुछ दोष भी हैं। लाभों के रूप में कहा जा सकता है कि नौकरशाही प्रशासन को कुशल बनाने, राजनीतिक तटस्थता व निष्पक्षता से कार्य करने, विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने तथा सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दिशा में अग्रसर है, वहीं लालफीताशाही (Red Tapism) रूढिवादी, लकीर की फकीर, निरंकुश, औपचारिक, आत्मप्रशंसा की भूखी, लोचहीन, सामाजिक परिवर्तन के प्रति उदासीन आदि दोषों की भी शिकार है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि नौकरशाही के दोषों पर काबू पाया जाए। इसलिए अनेक विद्वान सत्ता के विकेन्द्रीकरण, संसदीय नियन्त्रण, प्रशासकीय न्यायधिकरणों की स्थापना, सरल प्रशासन प्रक्रिया, जागरूक जनता, अभिभावक व ति का विकास करने पर जोर देते हैं। यदि नौकरशाही राजनीतिक नेत त्व के अधीन रहकर, संविधानिक आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध रहकर कर्तव्य व निष्ठापूर्वक ईमानदारी से कार्य करे तो नौकरशाही की तानाशाही व रूढ़िवादी प्रव त्ति पर आसानी से काबू पाया जा सकता है और राजनीतिक व्यवस्था व संविधान के अभीष्ट लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

अध्याय-18

शक्तियों का प थक्करण

(Separation of Powers)

आधुनिक युग उदारवादी प्रजातन्त्र का युग है। आज कोई भी सरकार अपनी निरंकुश शक्ति व सत्ता का प्रयोग करके नागरिक स्वतन्त्रताओं व अधिकारों पर कुठाराघात नहीं कर सकती। लेकिन कई बार सरकार की नीतियां जन विरोधी हो सकती हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए सरकार या शासन को निरंकुश बनाने से रोकने के लिए कई देशों में संविधानिक उपबन्धों की व्यवस्था की गई है। ऐसे ही उपबन्ध शक्तियों का प थक्करण तथा विरोध व सन्तुलन की व्यवस्थाएं हैं। संस्थागत संरचनाओं के उत्पीड़न से जनता को बचाने के लिए आज अनेक देशों में संविधानिक शक्तियों का विभाजन किया गया है। यदि शक्तियों का केन्द्रीयकरण किसी एक व्यक्ति या संस्था के हाथ में कर दिया जाए तो उसके निरंकुश होने के आसार अधिक होते हैं। समस्त शक्तियों का स्वामी होने के नाते अमुक व्यक्ति या संस्था मानवीय स्वतन्त्रताओं का दलन करके कल्याणकारी राज्य के स्वप्न को चकनाचूर कर सकती है। शक्तियों का प थक्करण उदारवादल लोकतन्त्रों के साथ साथ स्वेच्छाचारी या कम प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाले देशों में भी कम या अधिक मात्रा में अवश्य देखने को मिलता है। इससे राजनीतिक सत्ता को स्थाई व औचित्यपूर्ण बनाए रखने की हर सम्भव कोशिश की जाती है। जिन देशों में शक्तियों का प थक्करण नहीं किया गया है, वहां पर शासन व सत्ता कभी भी नष्ट हो सकती है। ईराक में शक्तियों के केन्द्रीयकरण के कारण वहां लम्बे समय तक नागरिक स्वतन्त्रताओं को कुचला गया। अब वहां पर सद्दाम का तानाशाही शासन समाप्त होते ही जनता विदेशी शासन से भी राहत महसूस कर रही है। इसलिए शक्तियों का प थक्करण आध ुनिक युग में अपरिहार्य है।

शक्तियों के प थक्करण का अर्थ और पुनर्व्याख्या

(Meaning and Re-statement of Separation of Powers)

शक्तियों के प थक्करण का अर्थ है - सरकार के कार्यों के आधार पर शासन की शक्तियों का बंटवारा करना। सरकार के तीन कार्यों - कानून बनाना, कानून को लागू करना तथा कानून की व्याख्या के आधार पर शासन की शक्तियों को विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में बांटना ही शक्तियों का प थक्करण कहलाता है। मॉण्टेस्क्यू ने शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रत्येक सरकार की तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं - व्यवस्थापना सम्बन्धी, कार्यपालिका सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी। व्यवस्थापना की शक्ति के तहत वह स्थाई या अस्थाई कानूनों का निर्माण या पूर्ववर्ती कानूनों का संशोधन करती है। दूसरी शक्ति के अनुसार वह सन्धि, युद्ध की घोषणा, राजदूतों की नियुक्ति तथा बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा आदि कार्य करती है। तीसरी शक्ति के तहत वह व्यक्तियों के झगड़ों का निपटारा करती है व अपराधियों को सजा देती है। यदि ये तीनों शक्तियां एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित हो जाएं तो नागरिक स्वतन्त्रताओं को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसलिए शक्तियों का प थक्करण होना जरूरी है। इस

तरह शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि सरकार की तीनों शक्तियां एक ही व्यक्ति या समूह के हाथ में होनी चाहिए। इससे विधायिका कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी और कार्यपालिका विधायिका के क्षेत्राधिकार में। इससे न तो कार्यपालिका निर्णय ले सकेगी और न कानून का निर्माण कर सकेगी। इसी तरह न्यायपालिका भी कार्यपालिका व विधानपालिका के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी। इस तरह जो सिद्धान्त शक्तियों के केन्द्रीयकरण से नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है और शासक वर्ग को अत्याचारी बनने से रोकता है, वह शक्तियों का प थक्करण का सिद्धान्त है। मॉन्टेस्क्यू ने लिखा है - "निरन्तर का अनुभव यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास सत्ता है उसकी प्रव ति उस शक्ति का दुरुपयोग करने की होती है और वह उस शक्ति को तब तक बढ़ाता जाता है जब तक उसका सामना किसी नियन्त्रक सीमा में नहीं होता। ऐसी नियन्त्रक सीमा शक्तियों का प थक्करण ही है।" शक्तियों को प थक्करण सिद्धान्त के सिद्धान्त की यही मांग है कि सरकार की शक्तियां स्पष्ट रूप से एक दूसरे से प थक हों, प्रत्येक शक्ति का सुनिश्चित व सुव्यवस्थित कार्यक्षेत्र हो, कोई भी शक्ति अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण न करे तथा हर शक्ति समान व बराबर बनी रहे। शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए एम०सी०ज० वाइल ने कहा है-"राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना करने और उसे बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार का तीन विभागों - विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में विभाजन किया जाए। प्रत्येक विभाग को अपने कार्यों के निष्पादन तक सीमित कर दिया जाए और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने से रोका जाए। किसी व्यक्ति को एक ही समय में एक से अधिक शाखाओं या विभागों में शामिल होने की अनुमति न दी जाए। इस तरह प्रत्येक विभाग एक दूसरे का नियन्त्रक बनेगा और कोई भी व्यक्ति या गुट राज्य की मशीनरी पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकेगा।"

इस तरह शक्तियों का प थक्करण केवल राजनीतिक शक्तियों का सरकार के तीनों अंगों में विभाजन ही नहीं, बल्कि इसमें वितरण, विभेदीकरण, एकीकरण और टकराव आदि अनेक संकल्पनाएं निहित हैं। यही शक्तियों के प थक्करण की आधुनिक व्याख्या है।

शक्तियों का प थक्करण क्यों ?

(Why Separation of Powers ?)

यदि शक्तियों का प थक्करण कर दिया जाए तो इससे शासक वर्ग नागरिक स्वतन्त्रताओं को नष्ट नहीं कर सकते। शक्तियों का प थक्करण राजनीतिक शक्ति व सत्ता दोनों के दुरुपयोग को रोकता है। माण्टेस्क्यू ने ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर शक्तियों के प थक्करण को औचित्यपूर्ण माना है। उनका कहना है कि शक्तियों का प थक्करण राजनीतिक सत्ता के दुरुपयोग को रोकता है। मॉण्टेस्क्यू ने फ्रांस में राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के दोषों को अच्छी तरह समझ लिया था। इसी कारण उसने ब्रिटेन की राजव्यवस्था में शक्तियों के प थक्करण का सुन्दर रूप देखकर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। प्लेटो, अरस्तु, पोलिबियस, सिसरो, लॉक, मॉण्टेस्क्यू सभी ने शक्तियों के प थक्करण को आवश्यक माना है। आधुनिक युग में शक्तियों के प थक्करण की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस होती है :-

1. शक्तियों का प थक्करण नागरिक स्वतन्त्रताओं व अधिकारों की सुरक्षा करता है।
2. इसके राजनीतिक सत्ता का उत्तरदायित्व सुनिश्चित होता है।
3. इससे राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना कम होती है।
4. इससे प्रशासनिक कार्य-दक्षता व विशिष्टता में व द्धि होती है।
5. इससे राजनीतिक विकास व आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है।

6. इससे शासन प्रक्रिया सरल व सुविधाजनक बनती है।
7. इससे न्यायपालिका स्वतन्त्र व निष्पक्ष बनती है।
8. इससे राजनीतिक व्यवस्था को गति मिलती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्तियों का प थक्करण आधुनिक युग में अपरिहार्य बन चुका है। इसके त्याग का अर्थ है निरंकुशता का जन्म और नागरिक स्वतन्त्रताओं का विनाश।

शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास

(Historical Development of the theory of Separation of Powers)

राजनीतिक शक्ति व सत्ता पर नियन्त्रण का इतिहास काफी पुराना है। शक्ति को शक्ति द्वारा नियन्त्रित रखने के प्रयास युगों से हो रहे हैं। शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त भी राज्य नामक संस्था के जन्म के साथ ही अस्तित्व में आया है। सबसे पहले प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'लॉज' (Laws) में मिश्रित राज्य का जिक्र किया। आगे अरस्तु ने अपनी पुस्तक 'Politics' में सरकार को तीन भागों - असेम्बली, मजिस्ट्रेट और ज्यूडिशियरी में बांटा। परन्तु अरस्तु ने सरकार के कार्यों का ही प थक्करण किया, कार्यों को करने वाले व्यक्तियों का नहीं। इसके बाद रोम में पोलिबीयस और सिसरो ने सरकार के सन्तुलन पर जोर दिया। पोलिबीयस ने सरकार के तीन अंगों - सीनेट, कौंसल्ज तथा ट्रिब्यून का वर्णन किया। इसके बाद 16वीं सदी में बोदीन ने इस बात पर बल दिया कि राजा को न्याय करने की शक्ति का स्वयं प्रयोग नहीं करना चाहिए बल्कि व्यक्तियों के पास छोड़ देना चाहिए। उसके बाद 17वीं सदी में उदारवादी लेखक व राजनीतिक विचारक जॉन लॉक ने अपनी पुस्तक 'Civil Government' में शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त पर जोर दिया। उसने राज शक्ति को विधायिनी, कार्यपालिका तथा विदेश-विभाग या राजनय में विभाजित करने की वकालत की। इसके बाद मॉण्टेस्क्यू ने शक्तियों की प थक्करण पर विस्तार से विवेचन किया। उसने अपनी पुस्तक 'Spirit of Laws' में शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या की। इसी कारण मॉण्टेस्क्यू को शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त का जनक माना जाता है। आगे चलकर एक अंग्रेज विधिवेता ब्लैकस्टोन ने भी अपनी पुस्तक 'Commentaries on the Laws of England' में इस सिद्धान्त का वर्णन किया। उसने कहा कि जब कानून बनाने ओर उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति के पास होता है तो जनता की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। इसलिए उसने शक्तियों के प थक्करण पर जोर दिया। उसके बाद एक अमेरिकन लेखक मेडिसन ने भी विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की सभी शक्तियों के केन्द्रीयकरण का विरोध किया। आधुनिक युग में शक्तियों को प थक्करण का सिद्धान्त काफी लोकप्रिय हो चुका है। आज अनेक देशों में इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। विशेष तौर पर उदारवादी प्रजातन्त्रों में तो यह एक प्रतिष्ठित स्थान पर पहुंच चुका है। लेकिन इस सिद्धान्त का जनक होने का श्रेय मॉण्टेस्क्यू को ही प्राप्त है।

मॉण्टेस्क्यू का शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त

(Montesque's Theory of Separation of Powers)

मॉण्टेस्क्यू को इस सिद्धान्त का जनक होने का गौरव प्राप्त है। उसने इस सिद्धान्त की व्याख्या अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Spirit of Laws' में 1748 में की थी। मॉण्टेस्क्यू फ्रांस का निवासी था। लुई चौदहवां एक निरंकुश शासक था। उसका कहना था-"मैं ही राज्य हूं (I ma State)। नागरिकों को उसने कोई स्वतन्त्रता नहीं दे रखी थीं सरकार की समस्त शक्तियां उसके पास ही केन्द्रित थी। इस दौरान मॉण्टेस्क्यू को ब्रिटेन जाने का अवसर प्रापत हुआ। वही उसने देखा कि सरकार की तीनों शक्तियां अलग-अलग हाथों में हैं और नागरिक अपनी स्वतन्त्रताओं का भरपूर आनन्द उठा

रहे हैं। उसने फ्रांस और ब्रिटेन की राज व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि सरकार की शक्तियों का विभाजन अनिवार्य रूप से होना चाहिए ताकि नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जा सके। इस प्रकार उसने शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मॉण्टेस्क्यू ने सरकार की तीनों शक्तियों को विधायिनी, कार्यपालिका और न्यायपालिका में विभाजित किया। उसने शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त की व्यासख्या करते हुए लिखा है-"जब विधायिनी और कार्यपालिका की शक्तियां एक ही हाथों में केन्द्रित होती हैं तो वहां स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि वहां इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राज्य या सीनेट अत्याचारी कानूनों का निर्माण करें और उनको अत्याचारी ढंग से लागू करें। यदि न्यायपालिका को विध ाानपालिका और कार्यपालिका से अलग न किया जाए तो स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। यदि न्यायपालिका को विधानपालिका के साथ मिला दिया जाए तो लोगों का जीवन तथा स्वतन्त्रता पर स्वेच्छाचारी नियन्त्रण स्थापित हो जाएगा क्योंकि उस समय न्यायधीश कानून निर्माता भी बन जाएगा। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ मिला दिया जाए तो यह सम्भव है कि न्यायधीश हिंसात्मक और अत्याचारपूर्वक व्यवहार करें। यदि एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह तीनों कार्यों को अर्थात् कानूनों का निर्माण, उन्हें लागू करना और उनकी व्याख्या करने लगे तो मानवीय स्वतन्त्रता पूरी तरह नष्ट हो जाएगी और निरंकुश सत्ता का उदय होगा।" इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू ने इस नियम का प्रतिपादन किया है कि यदि तीनों शक्तियां अप्रतिबंधित होंगी तो सत्ता का अवश्य दुरुपयोग होगा। यदि सरकार के किन्हीं दो अंगों को आपस में मिला दिया जाता है तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। शक्तियों का केन्द्रीयकरण निरंकुश शासन को जन्म देता है और समस्त सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था को भी तहस-नहस कर देता है। इसलिए सरकार की तीनों शक्तियों का प थक्करण आवश्यक हो जाता है।

मॉण्टेस्क्यू के शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए ब्लेकस्टोन ने कहा है-"जब कानून बनाने तथा उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या एक ही संस्था के पास होता है तो तब जनता की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। शासक अत्याचारी कानून बनाता है और उन्हें अत्याचारपूर्ण तरीके से लागू करता है। सरकार की शक्तियों को एक ही व्यक्ति के हाथों में सौंपने से स्वेच्छाचारी शासक इतना शक्तिशाली बन जाता है कि उसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता।" इसलिए नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए शक्तियों का प थक्करण आवश्यक होता है। इसी तरह मेडिसन ने भी इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है-"विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की समस्त शक्तियों का केन्द्रीयकरण अत्याचार की परिभाषा है चाहे वह एक व्यक्ति हो, थोड़े हों अथवा अधिक, चाहे वंशानुगत हों, स्वतः नियुक्त हों या निर्वाचित।"

इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू की ही तरह ब्लैकस्टोन व मेडिसन ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सरकार की शक्तियों के विभाजन पर बल दिया। उन्होंने कहा कि सरकार के तीनों अंगों को अपने अपने कार्यक्षेत्र में ही रहकर कार्य करना चाहिए और दूसरे के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने की प्रव त्ति से बचना चाहिए ताकि राजनीतिक व्यवस्था सुचारू रूप से कार्य करती रहे।

शक्तियों के प थक्करण का व्यवहारिक रूप

(Practical form of Separation of Powers)

शक्तियों के प थक्करण सिद्धान्त का फ्रांस, अमेरिका, मैक्सिको, अर्जेन्टाइना, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, चिल्ली, भारत, ब्रिटेन तथा अन्य उदारवादी प्रजातन्त्रों में सर्वोत्तम व्यवहारिक रूप देखने को मिलता है। इसे कम निरंकुश शासन प्रणालियों में भी कम या आंशिक मात्रा में अवश्य प्रयोग किया गया

है। आज विकासशील देशों में आज इस सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया जाता है। इस सिद्धान्त को सबसे पहले अमेरिका में अपनाया गया है। वहां पर इस सिद्धान्त को प्रभावी बनाने के लिए 'निरोध और संतुलन' (Lock and Balance) का सिद्धान्त भी इसके साथ जोड़ा गया है। अमेरिका में सरकार की शक्तियों का प थक्करण किया गया है। 1780 में अमेरिका में संविधान का निर्माण करते समय कहा गया-"इस राज्य की सरकार में विधानपालिका कभी भी वैधानिक, न्यायकारी या दोनों की शक्तियों का प्रयोग नहीं करेगी। कार्यपालिका कभी भी वैधानिक या न्यायकारी शक्तियों का या दोनों का कभी भी प्रयोग नहीं करेगी। इसका मन्तव्य यह है कि यह कानूनों की सरकार हो न कि व्यक्तियों की।" उसके बाद 1787 के संविधान में जो आज भी प्रचलित है शक्तियों के बंटवारे का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में सारी वैधानिक शक्तियां कांग्रेस को, अनुच्छेद 2 के अनुसार कार्यकारी शक्तियां सर्वोच्च न्यायालयों को सौंपी गई हैं किलबॉर्न बनाम थॉम्पसन के मामले में भी सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि अमेरिका की लिखित संवैधानिक कानून की व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि सरकारों की सारी शक्तियां कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका में बंटी हुई है। इस व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि एक विभाग के अधिकारी दूसरे विभाग के अधिकारों का प्रयोग न करें। 1933 में पास हुए 'National Recovery Act' के सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि संविधान द्वारा विभाजित शक्तियों का केन्द्रीयकरण या प्रत्यायोजन न किया जाए। डा० फाईनर ने अमेरिका के संविधान के बारे में लिखा है-"अमेरिका का संविधान शक्तियों के प थक्करण पर चलने वाला विश्व में सबसे महत्वपूर्ण प्रलेख है।"

शक्तियों के प थक्करण को मजबूत बनाने के लिए अमेरिका में 'नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त' भी इसके साथ जोड़ा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि सरकार का कोई भी अंग मनमानी करती है या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है तो उस पर दूसरा अंग रोक लगा सकता है। जैसे कांग्रेस को कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु यदि वह अनुचित कानूनों का निर्माण करे तो राष्ट्रपति अपनी वीटो पावर या निर्णायक-शक्ति के द्वारा उस कानून को रद्द कर सकता हे। सर्वोच्च न्यायालय कानून की व्याख्या के अधिकार के तहत ऐसा करके कांग्रेस या विधानपालिका पर रोक व सन्तुलन कायम करते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रपति को अपनी कार्यपालक शक्तियों के व्यवहारिक प्रयोग में सीनेट की अनुमति लेनी पड़ती है। राष्ट्रपति को महाभियोग के द्वारा संविधान प्रदत शक्तियों के उल्लंघन का दोषी पाए जाने पर हटाया जा सकता है। इसी तरह सर्वोच्च न्यायालय भी कांग्रेस और राष्ट्रपति के अधीन है। कदाचार का दोषी पाए जाने पर न्यायधीशों को भी पद से हटाया जा सकता है। इससे प्रभावित होकर ऑग तथा रे ने लिखा है-"अमेरिकन सरकार की शक्तियों की बांट और उसके साथ जुड़े हुए 'रोक और सन्तुलन' के सिद्धान्त से अधिक कोई महत्वपूर्ण वस्तु वहां नहीं है।" बीयर्ड ने भी इस सिद्धान्त को अमेरिकन शासन व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता बताया है।

इस प्रकार अमेरिका में इस सिद्धान्त को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ है। लेकिन आज वहां पर इस सिद्धान्त का व्यवहारिक रूप बदलने लगा है। आज राष्ट्रपति की शक्तियों पर कांग्रेस का नियन्त्रण कल्पनामात्र या सैद्धान्तिक बनकर रह गया है। सीनेट राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों को प्रायः स्वीकार ही कर लेती है। विदेशी सन्धियों के नाम पर राष्ट्रपति की गई सन्धियों पर सीनेट की अनुमति लेना आवश्यक नहीं समझता। इसी तरह न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review) के नाम पर सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने ऊपर लगी रोक व नियन्त्रण की व्यवस्था को ढीला कर दिया हैं आज न्यायपालिका और कार्यपालिका के आगे विधायिका की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी है। इसलिए आज अमेरिका में इस सिद्धान्त का व्यवहारिक रूप कमजोर पड़ता जा रहा है।

अमेरिका के अतिरिक्त फ्रांस, इंग्लैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, सोवियत संघ, भारत आदि देशों में भी शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त का कम या अधिक व्यवहारिक रूप देखने को मिलता है। फ्रांस में 1789 की मानव अधिकारों की घोषणा के साथ ही शक्ति प थक्करण पर भी बल दिया गया थां फ्रांस में पांचवें गणतन्त्र में इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से अपनाया गया था। आज फ्रांस में कार्यपालक शक्तियां राष्ट्रपति के पास हैं और वह संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं है। फ्रांस में शक्तियों के प थक्करण का विकसित रूप देखने को नहीं मिलता है। न्यायालयों को न्यायिक पुनर्निरीक्षण का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। यह कार्य संवैधानिक परिषद ही करती है जो अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त का ही समर्थन करती है। इंग्लैण्ड में सिद्धान्त में तो यह सिद्धान्त दिखाई देता है लेकिन व्यवहार में वहां भी इसका अभाव है। स्विस संविधान में इस सिद्धान्त को अपनाने का प्रयास किया गया है। वहां पर आधे कैंटनों के संविधानों में तो सरकार की तीनों शक्तियों के विभाजन की बात कही गई है लेकिन संविधान की धारा 71 समस्त कार्यपालक, विधायी और न्यायिक शक्तियों को विधानपालिका में केन्द्रित करती है। सोवियत संघ में ब्रिटेन की तरह संसदीय प्रणाली अपनाकर इस सिद्धान्त का निषेध ही किया गया है। सोवितय संविधान द्वारा शक्ति के प थक्करण द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, लेकिन व्यवहार में साम्यवादी दल के प्रभुत्व ने इस सिद्धान्त को क्षति पहुंचाई है। विकासशील देशों में प्रारम्भ में शक्तियों के प थक्करण की जो व्यवस्था की गई थी, वह आज धराशायी होने के कगार पर पहुंच चुकी है। इन देशों में शक्तियों का कार्यपालिका में केन्द्रीयकरण होने की प्रव ति जन्म ले रही है। लेकिन इन देशों में इस सिद्धान्त का व्यवहारिक रूप आंशिक या कम मात्रा में अवश्य देखने को मिलता है। भारत में शक्तियों का प थक्करण सुन्दर रूप में देखने को मिलता है। इसी तरह चिल्ली व ब्राजील में यह सिद्धान्त अच्छा कार्य कर रहा है। जब तक शक्तियों के केन्द्रीयकरण की संरचनाएं या व्यवस्थाएं विकासशील देशों में पूर्णरूप से विकसित नहीं हो जाती तब तक यह सिद्धान्त अवश्य कार्य करता रहेगा।

शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त का महत्व

(Importance of the theory of Separation of Powers)

यह सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य की निरंकुशता से बचाता है। विकासशील देशों में इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है। इस सिद्धान्त ने फ्रांस और अमेरिका के संविधानों पर बहुत प्रभाव डाला है। सर्वप्रथम अमेरिका में ही इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। बीयर्ड ने इस सिद्धान्त को अमेरिकन संविधान की महत्वपूर्ण विशेषता माना है। डा० फाईनर ने भी इसे एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना है। यद्यपि सोवियत संघ व चीन में साम्यवादी व्यवस्थाने इस सिद्धान्त का मार्ग अवश्य अवरुद्ध किया है, लेकिन यह विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं में किसी न किसी रूप में प्रकट हो रहा है। आधुनिक संवैधानिक राज्यों में चाहे वे लोकतांत्रिक हों या स्वेच्छाचारी कम या अधिक मात्रा में इस सिद्धान्त का प्रचलन मानवीय स्वतन्त्रता की रखा का अचूक शास्त्र है। विकासशील देशों में यह सिद्धान्त आज एक आशा की किरण है। अधिकतर नवोदित स्वतन्त्र व विकासशील राज्यों में इस सिद्धान्त के लक्ष्य अनिवार्य रूप में विद्यमान हैं। नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा, राजनीतिक सत्ता के उत्तरदायित्व निश्चित करना, राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग को रोकना, प्रशासनिक कार्यकुशलता में सुधार लाना, न्यायपालिका को स्वतन्त्र व निष्पक्ष बनाना तथा राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाए रखने व समाज में सुव्यवस्था कायम रखने की द ष्टि से इस सिद्धान्त का शाश्वत् महत्व है।

शक्तियों के प थक्करण के सिद्धान्त की आलोचना

(Criticisms of the theory of Separation of Powers)

यद्यपि शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, लेकिन फिर भी यह आलोचनाओं से परे नहीं है। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

(1) **शक्तियों का पूर्ण प थक्करण असम्भव है (Absolute Separation of Powers is impossible)** :- इस सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि सरकार शरीर की तरह आंगिक एकता रखती है। इसके तीनों अंगों का आपस में गहरा व घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और उत्तरदायित्व और कुशलता के हित में इन्हें अलग करना गलत है। जिस प्रकार मानव शरीर से उसके अंगों को अलग कर दिया जाए तो शरीर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है और उन प थक अंगों का भी कोई महत्व नहीं रह जाता है। इसी तरह सरकार के तीनों अंग सरकार रूपी शरीर के साथ मिलकर रहने से ही कार्य कर सकते हैं। उनके पारस्परिक सहयोग के बिना सरकार में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने शक्तियों के प थक्करण को अयोग्य शासन का जनक कहा है। अतः शक्तियों का पूर्ण प थक्करण असम्भव भी है और गलत भी।

(2) **यह सिद्धान्त अप्रासंगिक है (This Theory is irrelevant)** :- इस सिद्धान्त का यह मानना गलत है कि सभी विभाग समान है, क्योंकि लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ कार्यपालिका और न्यायपालिका की अपेक्षा विधायिका के उत्तरदायित्वों में अधिक व द्धि हुई है। इसलिए इसे लागू करना असम्भव हो गया है। साम्यवादी देशों में तो इसे लागू किया ही नहीं जा सकता। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'Representative Govt.' में लिखा है-"आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में कार्यपालिका के कार्य बहुत अधिक व्यापक हो गए हैं। सरकारी कार्यों को अलग-अलग करने से गतिरोध की स्थिति पैदा हो जाएगी क्योंकि प्रत्येक विभाग अपनी शक्तियों की रक्षा करने के चक्कर में कभी दूसरे की मदद नहीं करेगा और इससे कुशलता की जो हानि होगी, वह उनकी स्वतन्त्रता से प्राप्त लाभों से अधिक होगी।" इंग्लैण्ड में शक्तियों के प थक्करण के बिना भी नागरिक स्वतन्त्रताएं पर्याप्त रूप में हैं। शक्तियों के प थक्करण की बजाय विकसित राजनीतिक शक्ति द्वारा ही अनेक देशों में नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जा रही है। अतः आज शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त अप्रासंगिक प्रतीत होने लगा है।

(3) **यह सिद्धान्त अव्यवहारिक है (This theory is impracticable)** :- यदि इस सिद्धान्त को कठोरता से लागू कर दिया जाए तो प्रत्येक विभाग निरंकुश बन सकता है। इसी करण अमेरिका में 'निरोध व सन्तुलन का सिद्धान्त' भी इसके साथ जोड़ा गया है। इस सिद्धान्त द्वारा वहां पर प्रत्येक अंग एक दूसरे पर नियन्त्रण रखता है। राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पास किए विधेयकों को अवैध घोषित कर सकता है। वहां पर आज राष्ट्रपति ने अधिक मात्रा में कार्यपालक शक्तियां अर्जित कर ली हैं। अमेरिका में भी अपनी अव्यवहारिकता के कारण यह सिद्धान्त अपना कर अपना सम्मान खो चुका है। ऐसी ही सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति द्वारा अपने ऊपर लगे नियन्त्रणों को ढीला कर दिया है। अतः यह सिद्धान्त अपना व्यवहारिक महत्व खोता जा रहा है।

(4) **शक्तियों का प थक्करण संसदीय शासन प्रणाली में असम्भव है (Separation of Powers in Parliamentary System is impossible)** :- संसदीय शासन प्रणाली में विधानपालिका व कार्यपालिका में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इस प्रणाली में मन्त्रीमण्डल संसद

के प्रति उत्तरदायी होता है। वह अपने पद पर बहुमत का विश्वास हासिल रहने तक ही रह सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने स्वयं इंग्लैण्ड के शक्ति-प थक्करण सिद्धान्त को अपना आधार बनाया था, जबकि इंग्लैण्ड में इस सिद्धान्त का सर्वथा अभाव है। अतः संसदीय शासन प्रणालियों में इसे लागू करना असम्भव है।

(5) **यह सिद्धान्त अच्छे कानूनों के निर्माण में बाधक है (This theory is an obstacle in making good laws)** :- अच्छे कानूनों के निर्माण के लिए कार्यपालिका व विधानपालिका में आपसी सहयोग होना बहुत आवश्यक होता है। कार्यपालिका जनता के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है। उसे जनता के ऊपर पड़ने वाले कानूनों के प्रभाव की पहले से ही जानकारी होती है। यदि कानून निर्माण में कार्यपालिका की दूरदर्शी सोच की उल्लंघना की जाएगी तो न्यायपूर्ण व उचित कानूनों का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। आज विश्व के अनेक देशों में कार्यपालिका व विधायिका आपसी सहयोग के आधार पर कार्य करके कानूनों का निर्माण कर रहे हैं। भारत में सरकार के दोनों अंग - कार्यपालिका और विधायिका के सहयोग से ही कानूनों का निर्माण होता है। अतः शक्तियों का प थक्करण अच्छे कानूनों के निर्माण में बाधा उत्पन्न करता है।

(6) **यह सिद्धान्त न्यायिक भ्रष्टाचार का जनक है (This Theofy is the creator of Judicial corruption)** :- यकद इस सिद्धान्त को कठोरता से अपना लिया जाए तो न्यायधीशों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा किया जाने लगेगा। सारी जनता बुद्धिमान नहीं होती। अभिजन सिद्धान्त के अनुसार शासन करने की योग्यता तो कुछ ही व्यक्तियों में होती है। इसी तरह अच्छे व योग्य न्यायधीशों को चुनना जनता के वश की बात नहीं हो सकती। ऐसी व्यवस्था में न्यायधीशों का निष्पक्ष रहना भी असम्भव है। वे दल विशेष के प्रति ही अधिक निष्ठावान रहेंगे। अमेरिका के कुछ प्रान्तों व स्विटजरलैण्ड के कुछ कैंटनों में इस व्यवस्था द्वारा न्यायधीशों का चुनाव किया जाता है। वहां पर यह व्यवस्था अधिक सफल नहीं हो सकी है। अतः शक्तियों का प थक्करण न्यायिक भ्रष्टाचार को जन्म दे सकता है।

(7) **यह सिद्धान्त कल्याणकारी राज्यों में सम्भव नहीं है (This Theory is not possible in Welfare-States)** :- आधुनिक युग कल्याणकारी राज्यों का युग है। राजनीतिक चेतना के युग में जनता की भलाई का लक्ष्य ही प्रत्येक देश की सरकार का प्राथमिक लक्ष्य होता है। इसलिए सरकार के तीनों अंगों को अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम कल्याण या सबके कल्याण को ध्यान में रखकर कार्य करना पड़ता है। आज सरकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु न होकर मित्र समझी जाती है। अब कार्यपालिका और विधानपालिका के सहयोग द्वारा ही सरकार के कल्याणकारी लक्ष्य प्राप्त किए जा रहे हैं। अतः यह सिद्धान्त कल्याणकारी राज्यों के युग में लागू नहीं किया जा सकता।

(8) **मार्शल द्वारा आलोचना (Criticism by Marshall)** :- मार्शल ने अपनी पुस्तक 'Consitutional Theory' में इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि प थक्करण का अर्थ अस्पष्ट है। साथ में यह सिद्धान्त यह बताने में भी असमर्थ है कि क्या-क्या प थक किया गया है, क्योंकि यह विधायन, न्याय-निर्णय और कार्यपालन की संकल्पनाओं को विशुद्ध ढंग से परिभाषित करने में नाकाम रहा है। उसमें कार्यों के विभाजन का स्तर भी अस्पष्ट है। अतः शक्तियों का प थक्करण का सिद्धान्त अयथार्थ और असंगत है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मॉण्टेस्क्यू का शक्तियों के प थक्करण का सिद्धान्त अव्यवहारिक, असंगत, अस्पष्ट व अप्रासंगिक है। इसके व्यवहारिक प्रयोग में अनेक समस्याएं हैं। मॉण्टेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का निर्माण करके भ्रामकता का ही विकास किया है। स्वयं फ्रांस व ब्रिटेन में भी यह

सिद्धान्त अपना महत्व खो चुका है। आज विश्व में राजनीतिक व्यवस्थाएं इस ढंग से कार्य कर रही हैं कि प थक्करण के बिना भी नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की गारन्टी मिल रही है। आज अमेरिका में इस सिद्धान्त का महत्व घट रहा है। वहां इसे व्यवहार में लागू रख्ना असम्भव हो गया है। आज आवश्यकता प थक्करण की नहीं, सहयोग की है। लेकिन केन्द्रीयकरण के दोषों को दूर करने के लिए यह सिद्धान्त एक आशा की किरण बना हुआ है। विकासशील देशों में तो यह सिद्धान्त आज भी कम या आंशिक रूप में अवश्य कार्य कर रहा है। निरंकुश सत्ता पर रोक लगाने के लिए इस सिद्धान्त से दूसरा अच्छा विकल्प नहीं है। अतः अनेक दोषों के बावजूद भी इस सिद्धान्त का कुछ न कुछ महत्व अवश्य है।

अध्याय-19

कानून का शासन
(Rule of Law)

आधुनिक समय में लोकतन्त्रीय आस्थाओं, नागरिकों के अधिकारों व स्वतन्त्रओं की रक्षा करने के लिए कानून के शासन से बढ़कर कोई अन्य विकल्प नहीं है। कानून का शासन इस मान्यता पर आधारित है कि कानून के सामने सब समान हैं। यह मान्यता राजनीतिक शक्ति को निरंकुश बनने से रोकती है और समाज में सुव्यवस्था भी बनाए रखने में मदद करती है। कानून का शासन सुशासन का आधार है। यह शासन सरकार की स्वेच्छाचारिता को रोककर जनकल्याण में व द्धि करता है। यह शासन परम्पराओं पर भी आधारित हो सकता है और संविधानिक उपबन्धों पर भी। इंग्लैण्ड में बिना मौलिक अधिकारों और न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review) के भी नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रताएं कानून के शासन के कारण ही सुरक्षित हैं। कानून का शासन सभ्य राजनीतिक समाज की पहचान है। आज भारत, ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य सभी सभ्य देशों में कानून के शासन का विशेष सम्मान किया जाता है। यद्यपि एक सिद्धान्त के रूप में यह इंग्लैण्ड की देन है, क्योंकि वहां इस विचार का प्रतिपादन सर्वप्रथम डायसी ने किया था। कानून के शासन का सिद्धान्त आज भी सभ्य देशों में प्रतिष्ठाजनक स्थान को प्राप्त है। इसका प्रमुख कारण इसका न्यायसंगत होना है। कानून का शासन समानता के उस सिद्धान्त पर आधारित है जो सामाजिक न्याय की मांग है। इसी कारण आज भी शासन एक महत्वपूर्ण विचार है।

कानून के शासन का अर्थ
(Theory of Rule of Law)

कानून का शासन कानून की अवधारणा पर आधारित है। कानून सम्प्रभु का आदेश होता है जो सभी को मान्य होता है, क्योंकि वह सामाजिक न्याय की भावना पर आधारित होता ह। इसी कारण सभी लोग कानून की आज्ञा का पालन करते हैं। जिस राजनीतिक समाज में कानून को उचित महत्व दिया जाता है। वहीं पर कानून के शासन की स्थापना हो जाती है। कानून के शासन का अर्थ है - किसी देश में कानून ही सर्वोच्च है और कानून के ऊपर कोई नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि सरकार की समस्त शक्तियां कानून द्वारा सीमित हैं और जनता पर कानून का शासन है न कि किसी स्वेच्छापूर्ण इच्छा का। कानून के साधन का अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानों ने इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) वेड़ और फिलिप्स ने कानून के शासन को परिभाषित करते हुए कहा है-"सरकार की शक्तियों का प्रयोग कानून की मर्यादा के अनुसार होता है, न कि शासक की स्वेच्छाचारी इच्छा के कारण, कानून का शासन कहलाता है।"

(2) लार्ड ह्यूवर्ट ऑफ बरी के अनुसार-"कानून के शासन का अर्थ है केवल निरंकुशता के स्थान पर कानून की श्रेष्ठता तथा सर्वोच्चता।"

साधारण रूप में कानून के शासन का अर्थ होता है-संवैधानिक सरकार जो अपनी शक्ति का प्रयोग स्वेच्छाचारिता के स्थान पर कानून के अनुसार करती है।

कानून के शासन की उत्पत्ति और विकास

(Origin and Development of Rule of Law)

कानून के शासन के बीच अप्रत्यक्ष रूप से हमें प्लेटो और अरस्तु के समय से ही मिलते हैं। लॉक ने भी सरकार को प्रतिनिधि रूप में सीमित करने की वकालत की थी। लेकिन एक व्यवस्थित विचार के रूप में इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रयोग डॉयसी ने ही किया है। डॉयसी इंग्लैण्ड का निवासी था। वही इसका प्रमाणित व्याचखकार है। 1689 में इंग्लैण्ड की संसद ने 'बिल ऑफ राइट्स' (Bill of Rights) पास किया। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में संसदीय सर्वोच्चता तथा कानून के शासन की सर्वोच्चता का जन्म हुआ। इस प्रकार एक व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में यह इंग्लैण्ड की ही देन है। धीरे-धीरे वहां पर इस सिद्धान्त को महत्व प्राप्त होने लगा। बिना संविधान के भी इंग्लैण्ड में कानून के शासन को अन्य देशों की तुलना में आज भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, जिसे ब्रिटिश सरकार की आधारशिला माना जाता है। वेड और फिलिप्स का कहना है कि कानून का शासन मध्य युग में ही ब्रिटिश संविधान का प्रमुख नियम रहा है, जो प्रशासन में कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता रोकता है। इंग्लैण्ड में कानून का राज्य है और कानून का पूरा सम्मान किया जाता है। भारत और अमेरिका में भी इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। भारत व अमेरिका में कानूनों का बहुत सम्मान है। किसी भी व्यक्ति और सरकार को कानून की मर्यादा भंग करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। भारतीय संविधान में दी गई नागरिकों की स्वतंत्रताओं व अधिकारों की रक्षा कानून के शासन के द्वारा ही की जाती है। भारत में कोई ऐसा कानून नहीं बनाया गया है जो नागरिकों की स्वतंत्रताओं को सीमित करने वाला हो और सुव्यवस्था को हानि पहुंचाने वाला हो। स्वतन्त्रता के बाद भारत में कानून द्वारा स्थापित पद्धति के द्वारा ही शासन चलाया जा रहा है। इसी तरह अमेरिका में भी कानूनों का बड़ा सम्मान है। आज भारत, अमेरिका तथा अन्य देशों में कानून के शासन को विशेष महत्व दिया जाता है। कानून की द ष्टि में शासक व शासित दोनों समान माने जाते हैं। समान अपराध के लिए समान दण्ड का प्रावधान कानून के शासन की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है।

कानून के शासन की विशेषताएं

(Features of Rule of Law)

कानून के शासन की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) कानून का शासन कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें कानून को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है, क्योकि कानून को सर्वोच्चता प्राप्त होती है।

(2) कानून का शासन सामाजिक न्याय की स्थापना करता है।

(3) कानून का शासन राजनीतिक समानता की स्थापना भी करता है।

(4) कानून का शासन नागरिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है।

(5) कानून का शासन सरकार की निरंकुशता को रोकता है तथा संविधानिक सरकार की स्थापना करता है।

(6) कानून का शासन राजनीतिक व्यवस्था में सुव्यवस्था बनाए रखता है।

(7) कानून का शासन प्रशासन में नौकरशाही की स्वेच्छाचारिता रोकता है।

(8) कानून का शासन राजनीतिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

(9) कानून का शासन संविधानिक आदर्शों व मूल्यों की रक्षा करता है और इनकी प्राप्ति में सरकार की सहायता करता है।

(10) कानून का शासन न्याय प्रणाली को चुस्त-दूरुस्त बनाता है व न्यायपालिका की कार्यक्षमता में व द्धि करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कानून का शासन सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाकर नागरिकों के अधिकारों व स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। कानून के शासन से बढ़कर सामाजिक न्याय की स्थापना का कोई अन्य विकल्प नहीं हो सकता। अतः सरकार को संविधानिक बनाने में कानून का शासन बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

कानून के शासन पर डॉयसी के विचार

(Dicey's Views on Rule of Law)

डॉयसी कानून के शासन का प्रमाणित व्याख्याकार है। उससे पहले कानून के शासन की स्पष्ट व्याख्या नहीं की थी। उन्होंने कानून के शासन की व्याख्या तीन प्रकार से की है -

(I) **कानून ही सर्वोच्च है (Law is Supreme)** :- डायसी के अनुसार-"साधारण कानून ही सर्वोच्च है और उस पर किसी स्वेच्छाचारी शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता। इंग्लैण्ड में किसी भी व्यक्ति को निरंकुश और स्वेच्छाचारी शक्ति प्राप्त नहीं है। अंग्रेज कानून और केवल कानून द्वारा ही संचालित होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कानून तोड़ने का ही दण्ड मिलता है और किसी कारण से नहीं। इसका अर्थ यह है कि इंग्लैण्ड में कानून ही सर्वोच्च है। कानून द्वारा सीमित सरकार की परम्परा का निर्वहन करना ही इंग्लैण्ड के कानून का लक्ष्य है। बिना कानून के उल्लंघन के किसी को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड देने का अधिकार केवल न्यायपालिका को ही है, कार्यपालिका को नहीं। अपराध साबित हुए बिना किसी व्यक्ति को न तो सम्पत्ति से बेदखल किया जा सकता है और न ही उसे दण्ड दिया जा सकता है। वहां पर मुकद्दमा भी सार्वजनिक रूप से चलता है ताकि जनता सम्पूर्ण कार्यवाही को देख सके। अपराधी को अपने आप को निर्दोष साबित करने का पूर्ण अधिकार होता है। मुकद्दमे की कार्यवाही के बाद दोष साबित होने पर सजा से बचने का कोई प्रावधान नहीं है। किसी भी अन्य संस्था को अपराधी की सजा कम करने या माफ करने का अधिकार नहीं है। अपराधी को सजा कानून की परिधि में अपराध की गम्भीरता को देखते हुए ही दी जाती है। इस प्रकार इंग्लैण्ड में कानून का शासन सरकार की बजाय कानून की सर्वोच्चता स्थापित करता है ताकि सरकार की परम्परागत स्वविवेकी और तानाशाही शक्तियों का अन्त किया जा सके। अतः कानून

के शासन का प्रथम अर्थ है कि कानून ही सर्वोच्च है, उसके ऊपर कोई नहीं हो सकता।

(II) **कानून के सामने सब समान हैं (All people are equal before law) :-** कानून के शासन का दूसरा अर्थ है - कानून के समक्ष समानता। डॉयसी का कहना है-"कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसकी पदवी या स्थिति कितनी भी बड़ी या महान् हो इस देश के शासन के सामान्य कानून को मानने के लिए बाध्य है तथा देश के सामान्य न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की परिधि में आता है। जो कानून एक के लिए है वह सबके लिए है।" डॉयसी का कहना है कि सरकारी कर्मचारी या अन्य शासकीय अधिकार और स्वयं राजा भी कानून के अधीन है। उस पर आम नागरिकों की तरह मुकद्दमा चलाया जा सकता है। डॉयसी ने लिखा है-"हमारे प्रधानमन्त्री से लेकर साधारण सिपाही या कर संग्रहकर्ता तक सभी साधारण नागरिकों की तरह ही अपने गैर-कानून कार्यों के लिए कानून के सामने समान रूप से उत्तरदायी है।" कानून सबको समान द ष्टि से देखता है। इंग्लैण्ड में सभी नागरिकों पर मुकद्दमे साधारण न्यायालयों में ही चलाए जाते हैं अर्थात् इंग्लैण्ड में प्रशासकीय न्यायलय नहीं हैं। इंग्लैण्ड में मुकद्दमा सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध फ्रांस की तरह प्रशासकीय न्यायालयों में नहीं चलाया जाता बल्कि साधारण न्यायालयों में चलाया जाता है। एक प्रभावशाली व्यक्ति को भी समान अपराध के लिए वही सजा मिलती है जो साधारण व्यक्ति को उसी अपराध के लिए मिलती है। अर्थात् इंग्लैण्ड में समान अपराध के लिए समान सजा का नियम सभी पर लागू होता है।

(III) **संविधान सामान्य कानून की देन है (Constitution is the result of Ordinary Law) :-** कानून के शासन का तीसरा अर्थ है-"संविधान के सामान्य सिद्धान्त उन न्यायिक निर्णयों का प्रतिफल है जिनके द्वारा न्यायालयों के सामने लाए गए मुकद्दमों में सामान्य नागरिकों के अधिकार व स्वतन्त्रताएं निश्चित की गई हैं।" इसका अर्थ यह है कि इंग्लैण्ड का संविधान अतिरिक्त होने के कारण नागरिकों के अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की व्याख्या करने में असमर्थ है। इसलिए नागरिक स्वतंत्रताओं व अधिकारों का वर्णन भारत के संविधान की तरह न होकर न्यायिक निर्णयों पर आधारित है। डॉयसी ने इंग्लैण्ड की न्याय-प्रक्रिया को विश्व में सर्वोच्च माना है और उसे ही नागरिक अधिकारों का उद्गम स्त्रोत बताया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉयसी ने कानून के शासन की विस्तार से व्याख्या की है। उसकी द ष्टि में कानून ही सर्वोच्च है। कानून से ऊपर कोई नहीं है। कानून के सामने छोटा-बड़ा प्रत्येक व्यक्ति समान है। कानून का शासन नागरिक अधिकारों का स्त्रोत भी है। इंग्लैण्ड में लिखित संविधान का अभाव होने के कारण वहां पर सरकार की शक्तियों को मर्यादित करने और न्यायिक निर्णयों के द्वारा नागरिक स्वतन्त्रताओं को विकसित करने में कानून के शासन का महत्व अधिक हो जाता है।

कानून के शासन की आलोचना

(Criticism of Rule of Law)

डॉयसी ने जिस समय 1885 में अपनी पुस्तक 'The Law and the Constitution' में कानून के शासन की व्याख्या की थी, उस समय इंग्लैण्ड में व्यक्तिवाद का बहुत अधिक प्रभाव था। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के प्राथमिक कार्य कानून को लागू करना, शांति की स्थापना करना, प्रतिरक्षा तथा विदेशी सम्बन्ध स्थापित करना है। डॉयसी स्वयं व्यक्तिवादी था। उसका विचार था कि स्वेच्छाचारी

शक्तियां या निरंकुश शासन व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात कर सकता है। इसी कारण उसने कानून के शासन का सिद्धान्त दिया ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्र की रक्षा की जा सके। लेकिन आज कानून के शासन का अर्थ डॉयसी की व्याख्या से आगे निकल चुका है। यद्यपि कानून का शासन इंग्लैण्ड में आज भी प्रचलित है, लेकिन वह अपना प्राचीन रूप खो चुका है। 19वीं सदी के बाद इंग्लैण्ड की शासन व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए उन्होंने कानून के शासन को सीमित कर दिया है। आज भारत व अमेरिका में कानून के शासन का वह रूप नहीं रह गया है जो पहले था। उदारीकरण के इस युग में कानूनी निरंकुशता की आज्ञा नहीं दी जा सकती। शासन व्यवस्था को चुस्त व दुरुस्त बनाने के लिए आज विश्व के अनेक देशों में त्वरित न्याय को महत्व दिया जाता है। न्याय में देरी करने का अर्थ है - न्याय से वंचित करना। इसलिए आज देश को कानून के शासन के सहारे नहीं छोड़ा जा सकता। विदेशी सम्बन्धों का विस्तार होने के कारण कानून के शासन का अर्थ बदल चुका है। आज इंग्लैण्ड में भी कानून के शासन पर अनेक सीमाएं लग चुकी हैं।

कानून के शासन की सीमाएं

(Limitations of Rule of Law)

आज बदलते विश्व परिवेश व राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप कानून के शासन का अर्थ भी बदल गया है। आज कानून के शासन को चुनौती देने वाली व्यवस्थाएं जन्म ले चुकी हैं। डॉयसी ने कानून के शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय इन सीमाओं पर ध्यान ही नहीं दिया था। इसी कारण आज कानून के शासन का डॉयसी द्वारा बताया गया अर्थ कुछ अप्रासंगिक सा होने लगा है। इसके कुछ अपवाद या सीमाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) **प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation)** :- डॉयसी ने कानून का अर्थ साधारण रूप में लिया था। उसकी द ष्टि से कानून से अभिप्राय संसदीय कानूनों से था। आज सरकार के इतने कार्य बढ़ गए हैं कि सभी के लिए पूर्ण कानून बनाना असम्भव है। विधायिका के पास कार्यभार की अधिकता के कारण आज कुछ मामलों में कानून को विस्त त व व्यापक रूप कार्यपालिका ही देती है। जो कानून पहले संसद बनाती थी, आज कार्यपालिका बनाती है। यही व्यवस्था प्रदत्त व्यवस्थापन कहलाती है। इस प्रकार कानून संसद के हाथों से निकलकर कार्यपालिका के पास आ चुका है।

(2) **प्रशासकीय न्याय व कानून (Administrative Justice and Law)** :- प्रशासकीय न्याय कानून के शासन का विरोधी है, परन्तु आज प्रत्येक देश में प्रशासकीय कानून किसी न किसी रूप में विद्यमान है। आज इंग्लैण्ड में भी सभी विभागों को अपने कर्मचारियों के मामलों में निर्णय लेने का अधिकार है और न्याय करने का भी अधिकार प्राप्त है। इन निर्णयों के विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। आज किसी विभाग को अपने कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने व सजा देने की पूरी छूट है। इसके लिए उसे किसी के सामने पूरी जानकारी देने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए ग ह विभाग को किसी व्यक्ति को पासपोर्ट जारी करने या न करने के मामले में किसी के सामने स्पष्टीकरण देने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार प्रशासकीय कानून व न्याय की उत्पत्ति से कानून के शाासन का परम्परागत अर्थ अनुपयुक्त हो चुका है।

(3) **विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां (Privileges and Immunities)** :- आज अनेक देशों में राजनीतिक प्रतिविधियों व कर्मचारियों को विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। आज ब्रिटेन के राजा या रानी को कुछ विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। उस पर कानून की सीमाएं

नहीं लगाई जा सकती हैं। इंग्लैण्ड में 1893 और 1939 'Public Authorities Act' के अनुसार किसी कर्मचारी पर 6 महीने के बाद 6 महीने पहले किए गए अपराध के लिए कोई मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों व विदेश विभाग के कर्मचारियों को भी कुछ विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। अपने गलत कार्यों के लिए विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों पर मुकद्दमा विशेष परिस्थितियों में ही चलाया जा सकता है। इंग्लैण्ड में न्यायधीशों को भी अपने कार्यों के मामलों में उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। यदि राजदूत या विदेशी शासक विदेशी धरती पर कोई अपराध कर दें तो उसे उसके देश वापिस भेजा जा सकता है, मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। इसी तरह इंग्लैण्ड में पासपोर्ट जारी करना या न करना राजा का विशेषाधिकार है। भारत के राष्ट्रपति को न्यायालयों द्वारा दी गई सजा को कम करने या माफ करने का अधिकार है। इस निर्णय के विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां कानून के शासन का प्रमुख अपवाद हैं।

(4) **सैनिक कानून (Military Law)** :- आज अनेक देशों में सैनिक व्यवस्था को पूर्णतयाः स्वतन्त्र दर्जा दिया गया है। सेना के अपने न्यायालय व बोर्ड होते हैं जो सैनिकों द्वारा किए गए अपराधों की जांच करते हैं व सजा देते हैं। सैनिक न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध किसी तरह की अपील साधारण न्यायालयों में या कहीं भी नहीं की जा सकती हैं। भारत में सैनिक न्यायालयों को अलग व स्वतन्त्र दर्जा प्राप्त है। इस तरह के प्रावधान पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, अमेरिका आदि देशों में भी है। इस व्यवस्था ने कानून के शासन के सिद्धान्त को अप्रासंगिक बना दिया है। सैनिकों पर सेवा के दौरान सैनिक कानून लागू होते हैं, साधारण कानून नहीं। इन कानूनों को संविदा कानून कहा जाता है।

(5) **मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)** :- डॉयसी का यह कहना गलत है कि इंग्लैण्ड में नागरिकों को अधिकार व स्वतन्त्रताएं कानूनी निर्णयों से प्राप्त हुए हैं। वहां पर कई अधिकार तो मेगनाकार्टा तथा 'बिल ऑफ राईटज' द्वारा प्राप्त किए हैं और इनकी रक्षा कानून के शासन की बजाय प्रत्यक्षीकरण कानून द्वारा की जाती है। इस प्रकार इंग्लैण्ड में तो यह सिद्धान्त सीमित ही हुआ है, लेकिन लिखित संविधानों वाले देशों में बिल्कुल अमान्य है। भारत, अमेरिका आदि देशों में नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का जन्म संविधानिक प्रावधानों की देन है, न कि न्यायिक निर्णयों की।

(6) **इंग्लैण्ड के कानून के शासन के अपवाद (Exceptions of Rule of Law in England)** :- इंग्लैण्ड में कानून के शासन का सिद्धान्त ट्रेड यूनियन तथा सामाजिक संस्थाओं के मामले में लागू नहीं होता। 1906 के 'Trade Dispute Act' के अनुसार यदि कोई मजदूर संघ व अन्य सामाजिक संघ अपने सदस्यो ंको हानि पहुंचाता है तो उसके विरुद्ध न्यायालय में नहीं जाया जा सकता। ये संस्थाएं कानून से ऊपर हैं। इंग्लैण्ड में 'Trade Board Act' तथा 'Public Health Act' के मामलों में भी न्यायिक प्रक्रिया प्रशासकीय है। वहां न्यायधीशों व राजदूतों को भी सामान्य कानून से छूट है। राजा को कुछ विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। राजा पर मुकद्दमा साधारण न्यायालय में नहीं चलाया जा सकता है। 1936 के 'Public Order Act' के तहत पुलिस को देश में शांति बनाए रखने के लिए सार्वजनिक जलूस को रोकने का पूर्ण अधिकार है। लॉर्ड चैम्बरलेन को फिल्मों व नाटकों को सैंसर करने का अधिकार है। उसके निर्णय के विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। इसी तरह आज इंग्लैण्ड में अनेक परिवर्तनों ने कानून के शासन का अर्थ सीमित कर दिया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉयसी ने यह कभी अनुभव नहीं किया कि इंग्लैण्ड व अन्य देशों में एक ऐसा वर्ग भी होता है जिसे विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त होती हैं। विदेशी मामलों में कानून का शासन कार्य नहीं कर सकता है। आज इंग्लैण्ड में इतने प्रशासकीय व राजनीतिक परिवर्तन हो चुके हैं जिन्होंने कानून के शासन का परम्परागत अर्थ सीमित कर दिया है। आज इंग्लैण्ड में प्रशासकीय न्याय व कानून का विकास हो चुका है। प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था ने इस सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र सीमित कर दिया है। लेकिन यह कहना सर्वथा गलत है कि इंग्लैण्ड में कानून का शासन नहीं है। आज कानून के शासन का सिद्धान्त कम या आंशिक रूप से विश्व के अन्य सभ्य देशों में कार्य कर रहा है। यद्यपि नवीन निरंकुशता ने इस सिद्धान्त को सीमित अवश्य किया है, लेकिन समाप्त नहीं। आज भी अनेक सरकारी विभाग सामान्य कानूनों के ही अधीन हैं। भारत में तो सैनिक मामलों को छोड़कर शेष सभी मामलों में कानूनी प्रक्रिया का प्रयोग वैध माना जाता है। आज आवश्यकता कानून के शासन के अर्थ को नए सिरे से परिभाषित करने की है। आज भी कानून का शासन अनेक संविधानिक व्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में कार्य करके नागरिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं का रक्षक बना हुआ है। अतः कानून के शासन का सिद्धान्त डॉयसी की राजनीति विज्ञान को एक महत्वपूर्ण व शाश्वत् देन है।

अध्याय-20

न्यायिक पुनरावलोकन या पुनर्निरीक्षण

(Judicial Review)

न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धान्त लोकतन्त्रीय संविधानवाद का महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ है। लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाले देशों में शासन का संचालन कानून के द्वारा होता है, न कि शासक वर्ग की इच्छा से। अधिकतर लोकतन्त्रीय देशों में संघीय शासन प्रणाली हैं जिसके अन्तर्गत शक्तियों का विभाजन केन्द्र व राज्यों में होना साधारण बात है। संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत उठने वाले विवादों को हल करने के लिए न्यायपालिका को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने की कोशिश की गई है। भारत तथा अमेरिका में न्यायपालिका को न्यायिक कार्यों के साथ साथ कानून की व्याख्या करने का अधिकार दिया गया है। इससे न्यायपालिका को विधायिका व कार्यपालिका द्वारा बनाए गए कानूनों की भी संविधानिक व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त हो गई है। इसी शक्ति को न्यायिक पुनरावलोकन या न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनर्निरीक्षण कहा जाता है। इस व्यवस्था को भारत और अमेरिका के संविधान में स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया गया है, लेकिन स्विस, सोवियत संघ, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों में इस व्यवस्था का नितान्त अभाव है। इन देशों में संसद को अधिक शक्तिशाली बनाकर न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का ह्रास किया गया है। जिन देशों में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था हे, वहां के राजनीतिक जीवन पर इसका निर्णायक प्रभाव पड़ा है और सरकार की निरंकुशता पर रोक लगी है।

न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ

(Meaning of Judicial Review)

न्यायिक पुनरावलोकन के बारे में अनेक विद्वानों ने अलग अलग परिभाषाएं दी हैं जो इसका अर्थ स्पष्ट करती है। साधारण रूप में तो न्यायिक पुनरावलोकन न्यायपालिका की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह कार्यपालिका व विधायिका के उन कानूनों तथा आदेशों को असंवैधानिक घोषित कर सकती है जो संविधान के आदर्शों के विपरीत हों। न्यायिक पुनरावलोकन के बारे में निम्नलिखित परिभाषाएं दी गई हैं :-

(1) अमेरिका के न्यायधीश मारबरी मार्शल ने न्यायिक पुनरावलोकन को परिभाषित करते हुए कहा है-"यह न्यायालय की ऐसी शक्ति है जिसमें यह किसी कानूनी या सरकासरी कार्य को असंवैधानिक घोषित कर सकती है जिसे यह देश की मूल विधि या संविधान के विरुद्ध समझती है।"

(2) मुनरो के अनुसार-"न्यायिक पुनरावलोकन वह शक्ति है जिसके अन्तर्गत कांग्रेस द्वारा पारित किसी कानून अथवा राज्य के संविधान की किसी व्यवस्था या कानून जैसे प्रभाव वाले और किसी सार्वजनिक नियम के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया जाता है कि वह संयुक्त राज्य के संविधान के अनुकूल है या नहीं।"

(3) मैक्रिडिस तथा ब्राउन के अनुसार-"न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ न्यायधीशों की उस शक्ति

में है जिसके अधीन वे एक उच्चतर कानून के नाम पर संविधियों तथा आदेशों की व्याख्या कर सकें और संविधान के विरुद्ध पाने पर उन्हें अमान्य ठहरा सकें।"

(4) डिमॉक के अनुसार-"न्यायिक पुनर्निरीक्षण, व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून और कार्यपालिका या प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों से सम्बन्धित अपने सामने आए मुकद्दमों में, न्यायालय द्वारा जांच को कहते हैं, जिसके अन्तर्गत वे निर्धारित करते हैं कि वे कानून या कार्य संविधान का अतिक्रमण करते हैं या नहीं।"

(5) हेनरी जे० अब्राहम के अनुसार-"न्यायिक समीक्षा वह शक्ति है जिससे कोई न्यायालय किसी कानून या इसके आधार पर कोई सरकारी कार्यवाही या किसी सार्वजनिक अधिकारी द्वारा किए गए गैर-कानूनी कार्य को असंविधानिक और इस प्रकार कानून द्वारा अप्रवर्तनीय घोषित कर सकता है जिसे वह देश की मूल विधि के विरुद्ध समझता है।"

(6) पिनॉक व स्मिथ के अनुसार-"न्यायिक पुनर्निरीक्षण न्यायालयों की वह शक्ति है जो संविधान को स्पष्ट करती है तथा व्यवस्थापिका, कार्यपालिका अथवा प्रशासन द्वारा बनाए गए कानूनों को प्रमुख कानून के विरुद्ध होने पर असंवैधानिक घोषित करती है।"

(7) एम० वी० पायली के अनुसार-"यह न्यायालय की वह क्षमता है जिससे वह व्यवस्थापन कार्यों की वैधानिकता या अवैधानिकता को घोषित करती है।"

(8) कोर्विन के अनुसार-"न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हें अपने न्याय के क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के बारे में तथा कानूनों को लागू करने के बारे में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध या व्यर्थ समझें।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालयों की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों की संविधानिकता जाँचते हैं और यदि वे कानून संविधान के विपरीत पाए जाएं तो असंवैधानिक घोषित किए जा सकते हैं।

न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति व विकास

(Origin and Development of Judicial Review)

सबसे पहले ब्रिटेन में कानून की व्याख्या करने वाली स्वतन्त्र न्यायपालिका के विचार की जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति को अमेरिका से सम्बन्धित किया जाता है, लेकिन इसके प्रामाणिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। सबसे पहले इंग्लैण्ड की प्रिवी कौंसिल को यह अधिकार प्राप्त हुआ था। इस परिषद को सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों का अवलोकन करने व रद्द करने का अधिकार प्राप्त था। पिनॉक व स्मिथ ने इसकी उत्पत्ति ब्रिटेन में ही मानी है। अमेरिका का संविधान न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था करने में असमर्थ है। वहां पर अप्रत्यक्ष रूप से ही इसकी व्यवस्था है। 1803 के मारबरी बनाम मेडिसन के मुकद्दमे में न्यायधीश मार्शल ने ही न्यायिक पुनरावलोकन को परिभाषित किया था। उसके बाद न्यायधीश मार्शल ने भी अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को प्रतिपादित किया। इन दोनों न्यायधीशों ने इसे कानून की वैधानिकता जांचने की महत्वपूर्ण कसौटी स्वीकार किया।

उपरोक्त वाद-विवाद के बाद निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चाहे इसकी उत्पत्ति ब्रिटेन में ही हुई हो, लेकिन एक व्यवस्थित विचार के रूप में इसके दर्शन सर्वप्रथम अमेरिका में ही होते हैं। आज न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धान्त भारत व अन्य संघात्मक राज्यों में महत्वपूर्ण स्थान बन चुका है।

अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन

(Judicial Review In America)

अमेरिका में 1787 ई० में संविधान का निर्माण करते समय न्यायिक पुनरावलोकन की कोई व्यवस्था नहीं की थी। लेकिन 1803 में मारबरी बनाम मेडिसिन के केस में न्यायधीश मार्शल ने ऐतिहासिक निर्णय सुनाते हुए कहा था-"न्यायिक पुनर्निरीक्षण न्यायालयों द्वारा अपने सामने पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यों का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि क्या ये एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किए गए हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्ति से बढ़कर कार्य किया है या नहीं।" मार्शल ने विस्तार से इस केस में व्याख्या करते हुए कहा है कि वह संविधान जो सरकार के ढांचे की व्याख्या करता है, स्वयं एक कानून है और देश का सर्वोच्च कानून है। न्यायधीश जिन्हें संविधान की रक्षा करने की शपथ ली होती है, संविधान और कानून में झगड़ा उत्पन्न होने की स्थिति में कांग्रेस के कानून को अवैध घोषित करने का अधिकार न्यायपालिका के पास है। इस टिप्पणी से अमेरिका में काफी वाद-विवाद हुआ और आखिरकार बहुमत ने इसे स्वीकृत कर दिया। यहीं से न्यायिक पुनरावलोकन की परम्परा की शुरुआत मानी जाती है। उसके बाद 1819 में मैंकुलाक बनाम मेरिलेंड के केस में तथा 1824 में गिब्बन बनाम औगडेन के केस में न्यायधीश मार्शल ने न्यायिक समीक्षा की शक्ति को फिर परिभाषित किया। उसके बाद 1857 में न्यायधीश रोजन बी० टॉनी जो स्कॉट बनाम स्टैनफोर्ड के मामले में कांग्रेस द्वारा बनाए गए एक अधिनियम को अवैध घोषित किया। इस न्यायिक सक्रियता से 1932 में राष्ट्रपति और न्यायपालिका में काफी विवाद छिड़ गया। 1933 में 'National Recovery Act' को न्यायपालिका के बारे में आपेक्ष करना शुरु कर दिया। लेकिन इसका न्यायिक पुनरावलोकन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अब सर्वोच्च न्यायालय अमेरिका में इस शक्ति का प्रयोग इतने प्रभावशाली ढंग से करता है कि जनता यह कहने को मजबूर है कि "संविधान वही है जो न्यायधीश कहते हैं।" न्यायिक पुनरावलोकन का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिकन संविधान में भी मिलता है। संविधान के अनुच्छेद की धारा 2 में कहा गया है-"इस संविधान या अमेरिका के कानूनों के अन्तर्गत या उनके प्राधिकार के अधीन की जाने वाली सन्धियों के अधीन, न्यायिक शक्ति विधि और सभ्यता में सभी मामलों तक व्यापक होगी।" वास्तव में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था अमेरिकन संविधान में न होकर संविधान की प्रकृति में ही निहित है। एल्सवर्थ ने इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि "यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य का शासन अपनी शक्तियों की सीमाओं का अतिक्रमण करे तो वह अनियमित है तथा संघीय न्यायधीश जो निष्पक्षता बनाए रखने के लिए स्वतन्त्र होने चाहिए; उसे अनियमित घोषित करेंगे। अमेरिका में न्यायालयों को यह शक्ति वहां की संघात्मक प्रणाली के कारण प्राप्त हुई है। न्यायिक पुनरावलोकन ही अमेरिका के संविधान को व्यावहारिक बनाता है, इसी कारण वहां पर न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था का निरन्तर विकास हुआ है। य़द्यपि कार्यपालिका न्यायपालिका के आदेश को मानने के लिए बाध्य नहीं है, लेकिन फिर भी कर्तव्य के रूप में प्रायः न्यायिक पुनरावलोकन का वहां सम्मान हुआ है। अमेरिका में संविधान की धारा 4 भी अप्रत्यक्ष रूप से न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था करती है। इसमें कहा गया है कि संविधान ही देश का सर्वोच्च व आधारभूत कानून माना गया है। इससे न्यायालयों को असंविधानिक कानूनों को अवैध ठहराने की शक्ति प्राप्त हुई है। बीयर्ड ने इसी धारा की पुष्टि करते हुए फिलाडेल्फिया सम्मेलन में न्यायपालिका की न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति का समर्थन किया था। उन्होंने राज्य व संघीय दोनों न्यायालयों द्वारा शासन के द्वारा शक्तियों के अतिक्रमण की स्थिति में इस शक्ति का प्रयोग करने की वकालत की है। इस प्रकार अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन का पालन करना एक परम्परा सी पड़ गई है। आज अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन का कोई संविधानिक आधार न होते हुए, वहां इसका निरन्तर विकास हो रहा है।

न्यायिक पुनरावलोकन का प्रभाव

(Impact of Judicial Review)

अमेरिका में न्यायिक समीक्षा की शक्ति का वहां के राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आज इसका वहां की राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। आज वहां पर न्यायिक पुनर्निरीक्षण के द्वारा ही संविधान की व्याख्या की जाती है, कांग्रेस तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के कानूनों तथा प्रशासकीय कानूनों की वैधानिकता-अवैधानिकता की जांच की जाती है। इस शक्ति के कारण न्यायालय व्यवस्थापन की शक्ति बन चुका है। इस शक्ति ने संविधान को देश का सर्वोच्च कानून बना दिया है। न्यायिक पुनरावलोकन ने वहां के पुलिस अधिकारों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। आज पुलिस अधिकारों में सार्वजनिक सुरक्षा, जन-कल्याण, स्वास्थ्य, नैतिकता आदि विषयों का भी समावेश हो चुका है। अपनी इस शक्ति के कारण आज सर्वोच्च न्यायालय राजनीतिक व्यवस्था का एक आधार-स्तम्भ तथा कांग्रेस का तीसरा सदन माना जाता है। आज बदलते परिवेश में भी न्यायपालिका अपनी इस शक्ति के कारण अपनी स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को कायम रखने की दिशा में कार्यरत है। लेकिन कई बार न्यायपालिका ने इस शक्ति का गलत प्रयोग जनता की सहानुभूति भी खोई है। 1933 से 1936 तक आर्थिक संकट के समय सरकार द्वारा बनाए गए नए कानूनों में से अधिकांश को असंविधानिक घोषित करके न्यायपालिका ने अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग किया है। लेकिन 1937 के बाद सर्वोच्च न्यायाल ने अपनी कतयों में सुधार करके इस शक्ति का व्यापक सोच-विचार करके ही क्रियान्वयन करने की नीति को अमल में लाया है। आज सर्वोच्च न्यायालय अपनी इस शक्ति का प्रयोग मर्यादित तरीके से करने की नीति अपना रहा है। इसी कारण आज न्यायिक पुनरावलोकन का महत्व बरकरार है।

अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन सीमाएं (Limitations on Judicial Review in America) :- अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग न्यायालय असीमित तरीके से नहीं कर सकते। वहां पर इस शक्ति को मर्यादित रखने का प्रयास किया गया है। इसको मर्यादित करने वाली सीमाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) सर्वोच्च न्यायलय उन्हें कानूनों को अवैध घोषित कर सकता है जो उनके सामने केस के रूप में आते हैं।

(2) केवल उसी कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है जिसकी असंविधानिक बिना भ्रम के स्पष्ट हो।

(3) केवल कानून की उन्हीं धाराओं को अवैध घोषित किया जा सकता है जो संविधान के विपरीत हो, न कि समस्त कानून को।

(4) राजनीतिक प्रश्नों पर इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचना

(Criticism of Judicial Review)

अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की आलोचना के निम्न आधार हैं :-

(1) सर्वोच्च न्यायालय ने कई बार वैध व उचित कानूनों को भी अवैध ठहराया है। 1933 में आर्थिक संकट के समय पास किए गए औचित्यपूर्ण कानूनों को अवैध ठहराना सर्वथा गलत था।

(2) न्यायिक पुनरावलोकन न्यायिक निरंकुशता को जन्म देता है।

(3) न्यायिक पुनरावलोकन प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के विपरीत है। प्रजातन्त्र में कानूनों की वैधता

भी जन-प्रतिनिधियों द्वारा ही जांची जानी चाहिए, क्योंकि उनका कानून निर्माण से गहरा सम्बन्ध होता है।

(4) इस शक्ति का अमरीका के संविधान में उल्लेख नहीं है। इसलिए न्यायालयों द्वारा इसका प्रयोग अपने आप में असंविधानिक है।

(5) इससे विधानमण्डल द्वारा कानून निर्माण में प्रायः लापरवाही बरती जाती है। उसे पता होता है कि यदि कानून गलत बन भी गया तो न्यायालय उसे सुधार देगा।

(6) इससे न केवल कानून ही रद्द होता है, बल्कि नीति को भी नुकसान पहुंचता है। नीति-निर्माण करना सरकार का कार्य है न कि न्यायालयों का।

(7) यह बहुमत की निरंकुशता पर आधारित है। इसमें किसी कानून को अवैध घोषित करने के लिए न्यायधीशों का बहुमत होना जरूरी है। उदाहरण के लिए यदि किसी कानून की वैधता जाँचने के लिए 10 न्यायधीशों का पैनल बैठता है तो उनमें से 6 के बहुमत से कानून वैध या अवैध माना जाता है। शेष 4 की राय का कोई महत्व नहीं है। इसमें एक मत से कानून को अवैध घोषित किया जाना लोकतन्त्रीय आस्थाओं पर करारा प्रहार है। अतः यह अल्पमत के हितों का विरोधी है।

(8) इससे राजनीतिक वाद-विवादों को बढ़ावा मिलता है।

(9) इससे कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका में गतिरोध उत्पन्न होता है। अच्छे शासन के लिए इन तीनों में तालमेल होना बहुत ही आवश्यक है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज सर्वोच्च न्यायालय अमेरिका में नीति-निर्माता बन गया है। वह कानूनों की व्याख्या की बजाय उनकी औचित्यता की जांच करने लगा है। इसने कई महत्वपूर्ण निर्णयों को प्रभावित करके राजनीतिक विवादों को जन्म दिया है। तीसरे सदन के रूप में उभरकर इसने न्यायिक निरंकुशता को जन्म दिया है। इसलिए हुक का कथन सही है कि "संविधान वह है जो न्यायधीश कहते हैं।" लेकिन अनेक विवादों से घिरे रहने के बाद भी आज अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का विकास जारी है। यह संविधान के चौथे स्तम्भ तथा कांग्रेस के तीसरे सदर के रूप में अपना स्थान बना चुका है। अमेरिका के संविधान को व्यावहारिक बनाने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। फाइनर ने इसे अमेरिकन संविधान की सर्वाधिक मौलिक देन कहा है। अतः अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन का भविष्य उज्ज्वल है।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन

(Judicial Review in India)

भारतीय संविधान में ब्रिटिश संविधान की तरह न तो संसद को सर्वोच्च बनाया गया है और न ही अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह न्यायिक निरंकुशता की परम्परा को विकसित किया है। भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था संविधानिक कानूनों की व्याख्या तक ही सीमित रखी गई है। इसका कानून की औचित्यता से कोई सरोकार नहीं है। कानून की उचित प्रक्रिया के स्थान पर वह कानून द्वारा स्थापित पद्धति को स्वीकार सर्वोच्च न्यायालय को संविधान कि अनुरूप ही कार्य करने को बाध्य किया गया है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को अमेरिका की तरह कानून की उचित प्रक्रिया पर आधारित किया गया होता तो वह तानाशाही का प्रतिबिम्ब बनकर सरकार के संचालन में गतिरोध उत्पन्न कर सकता था। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था को सीमित व लिखित रूप में सर्वोच्च बनाया गया है। यद्यपि न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था सम्बन्धी कोई भी विशेष उपबन्ध नहीं है, लेकिन न्यायपालिका की सर्वोच्चता में यह सिद्धान्त स्वयं निहित है। संविधान का अनुच्छेद 368 संविधान को सर्वोच्च बना देता है। इस

सर्वोच्चता के कारण सर्वोच्च न्यायालय के विरुद्ध कानून बनाते हैं, तो उसे असंवैधानिक घोषित करना सर्वोच्च न्यायालय का प्रमुख अधिकार है। यद्यपि गोलकनाथ मामले में सरकार व सर्वोच्च न्यायालय में सरकार व न्यायालय के बीच गतिरोध उत्पन्न हो गया था जिसे संविधान में संशोधन करके जल्दी ही दूर कर लिया गया। आज भारत का सर्वोच्च न्यायालय मर्यादित तरीके से अपनी इस शक्ति का प्रयोग कर रहा है।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की संविधानिक व्यवस्था

(Constitutional Provisions Relating to Judicial Review in India)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 12(2) में इस बात का उल्लेख किया गया है कि राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बना सकता जो मौलिक अधिकारों के विरुद्ध जाता हो। इस आधार पर सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि राज्य के कार्यों को अनुच्छेद 13 (2) के आधार पर जांच सकता है। 1971 तक वह व्यवस्था प्रभावी रही। लेकिन 1971 में 24 वां संविधान संशोधन करके अनुच्छेद 13 के खण्ड (3) के बाद खण्ड (4) जोड़ दी। इसमें कहा गया कि इस अनुच्छेद की बात अनुच्छेद 368 पर लागू नहीं होगी। इससे यह विवाद समाप्त हो गया कि संसद मौलिक अधिकारों में परिवर्तन कर सकती है या नहीं। 1973 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में संविधानिक संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया और संसद व सर्वोच्च न्यायालय का गतिरोध समाप्त हो गया जो गतिरोध इस बात पर था कि संसद को मौलिक अधिकारों में परिवर्तन करने का अधिकार है या नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने 1967 में गोलकनाथ के केस में अपने 1952 व 1965 के मामलों में दिए गए संसद के अधिकार की वैधता को उलट दिया। अब उसने निर्णय दिया कि संसद संशोधन तो कर सकती है, लेकिन मौलिक ढांचे में नहीं। इस प्रकार 1973 तक यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गई संसद को मौलिक ढांचे में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। इसी तरह अनुच्छेद 32 भी संविधानिक उपचारों के अधिकार के रूप में सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति देता है कि उसे यह देखने का अधिकार है कि क्या कहीं पर मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण तो नहीं हुआ है।

संविधान के अनुच्छेद 131 एवं 132 भी सर्वोच्च न्यायालय को संघीय व राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं। इनकी तरह सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कानून की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 246 भी न्यायिक पुनरावलोकन को दर्शाता है। इसके अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि संघ और राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में कानून बनाते समय संविधान की मर्यादा का अतिक्रमण करें तो उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग करे, उसे असंवैधानिक घोषित करने का अधिकार है। 42 वें संविधानिक संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक समीक्षा की शक्ति की स्पष्ट व्याख्या की गई है। इसके द्वारा भारतीय संविधान में 13-A नया अनुच्छेद जोड़कर यह बात स्पष्ट की गई है कि केन्द्रीय कानून की वैधता को केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही चुनौती दी जा सकती है, अन्यत्र नहीं। इससे पहले केन्द्रीय कानून की समीक्षा उच्च न्यायालय भी कर सकते थे। लेकिन अब यह अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय के पास रह गया। अनुच्छेद 137 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों और आदेशों का पुनरावलोकन करने की भी शक्ति प्राप्त है। 43वें संविधान संशोधन द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति वापिस उच्च न्यायालयों को भी दे दी गई। इसमें यह बात स्पष्ट कर दी गई उच्च न्यायालय को केन्द्रीय व राज्य के कानूनों की जांच करेंगे, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय को केन्द्रीय व राज्यों दोनों के कानूनों की संवैधानिकता जाँचने का अधिकार होगा।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यावहारिकता

(Practicability of Judicial Review in India)

भारत में सबसे पहले 1950 के निवारक नजरबन्दी कानून के खण्ड 14 को सर्वोच्न न्यायालय ने अवैध करार दिया। उसके बाद 1947 व 1954 के आयकर अधिनियम की धारा को सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध माना। उसके बाद 1951 की मद्रास सरकार की साम्प्रदायिक राज आज्ञा को समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध करार दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 19 तथा 31 के विरोधी कई कानूनों को असंवैधानिक माना। ब जभूषण बनाम दिल्ली सरकार के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रैस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। 1967 में गोलकनाथ केस में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संसद को मौलिक अधिकारों में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। उसके बाद 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण अधिनियम को संविधान के अनुच्छेद 19 तथा 31 का विरोधी करार दिया। 1970 में उसने प्रिवी पर्स तथा अन्य विशेषाधिकारों को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध बताया। 1973 में केशवानन्द भारती के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि संसद मौलिक अधिकारों में कटौती या परिवर्तन कर सकती है, लेकिन संविधान के मूल रूप से छेड़छाड़ नहीं कर सकती। उसके बाद सर्वोच्च न्यायालय ने 42 वें संशोधन के अधीन संविधान के संशोधित रूप के 31-C को भी रद्द कर दिया। 1983 में सर्वोच्च न्यायालय ने फौजदारी कानून की धारा 303 को अवैध घोषित किया। 1991 में सर्वोच्च न्यायालय ने दल-बदल अधिनियम (52वां संधोधन) को वैध करार दिया तथा राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को मंडल कमीशन की सिफारिशों को उचित बताया।

इसी तरह सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का अनेक अन्य अवसरों पर भी व्यावहारिक प्रयोग किया है तथा स्वतन्त्रता की रक्षा तथा सामाजिक न्याय की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसने संविधान के अनुच्छेदों 14, 19 तथा 31 का उल्लंघन करने वाले सभी कानूनों को अवैध करार देकर स्त्रियों व बच्चों के अधिकारों की रक्षा की है। अछूतों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है तथा संविधान के अनुच्छेदों 20 व 30 की उदारवादी व्याख्या करके अल्पसंख्यकों के हितों का पोषण किया है। लेकिन हाल ही में दिए गए निर्णय में हड़ताल के अधिकार को अवैध घोषित करके जनतांत्रिक आस्थाओं पर करारी चोट भी की है।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचनात्मक मूल्यांकन

(A Critical Evaluation of Judicial Review In India)

यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का अच्छे कार्यों के लिए बहुत अधिक प्रयोग किया है, लेकिन कई बार उसने अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग करके न्यायिक तानाशाही का भी परिचय दिया है। 1967 के गोलकनाथ मुकद्दमें में वह आलोचना का पात्र बन गया था और लोगों ने तो यहां तक कहना शुरु कर दिया था कि सर्वोच्च न्यायालय कानून का व्याख्याकार न होकर नीति-निर्माता बनता जा रहा है और विधायिका के कार्य भी स्वयं करने लगा है।। वर्ष 2003 में हड़ताल के अधिकार को गैर-कानूनी करार देना सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी तानाशाही का ही परिचय दिया है। आज सर्वोच्च न्यायालय कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिद्धान्त से हटकर कानून की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त की ओर बढ़ रहा है। अब अधिकतर निर्णय न्यायधीशों के सामाजिक-नैतिक द ष्टिकोण पर आधारित होते जा रहे हैं। अपने ही निर्णयों को बार-बार पुनरावलोकन करके सर्वोच्च न्यायालय ने अनिश्चय की स्थिति पैदा कर दी है। हड़ताल के अधिकार को पहले तो उसने सीमित किया था, लेकिन अब समाप्त करके न्यायिक प्रक्रिया के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया है। बहुमत पर आधारित निर्णयों के कारण आज अल्पपत की उपेक्षा हो रही है। कई बार अधिक महत्वपूर्ण मामलों में भी बहुमत के अभाव के कारण उचित निर्णय

नहीं हो पाते। इसी कारण आज न्यायिक पुनरावलोकन को अप्रजातांत्रिक कहा जाने लगा है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि सर्वोच्च न्यायालय उचित मामलों में ही अपनी इस शक्ति का प्रयोग करे। यद्यपि कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका सराहनीय रही है। आज उसी भूमिका को बरकरार रखने की महती आवश्यकता है। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय को अपनी छवि को संवैधानिक बनाए रखने के लिए ऐसे कदम उठाने चाहिंए जो कार्यपालिका व विधायिका के साथ उसके टकराव को रोककर राजनीतिक विकास के मार्ग पर देश को ले जाने वाला हो।

ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड, सोवियत संघ तथा फ्रांस में न्यायिक पुनरावलोकन

(Judicial Review in Britain, Switzerland[U.S.S.R. and France)

ब्रिटेन में संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त प्रचलित होने के कारण वहां पर न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति न्यायपालिका को प्राप्त नहीं है। वहां पर न्यायालय प्रशासकीय कानूनों को तो असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, संसदीय कानूनों को नहीं। इसलिए ब्रिटेन में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का न तो कोई संविधानिक प्रावधान है और न ही वह अस्तित्व में है। इसी तरह स्विस संघीय न्यायालय को भी यह अधिकार प्राप्त नहीं है। वहां पर यह अधिकार केवल जनता को है। वहां पर संघीय सभा के कानूनों का पुनरावलोकन करने की शक्ति पर पूर्ण प्रतिबन्ध है, लेकिन न्यायालयों का अधिकार कैण्टनों पर तो है। इस तरह स्विट्जरलैण्ड में सीमित न्यायिक पुनरावलोकन का प्रावधान है। सोवियत संघ में इस शक्ति का कोई प्रावधान नहीं था। अब तक भी सोवियत संघ के नए राज्यों में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति स्वरूप अस्पष्ट है। फ्रांस में भी न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार न्यायपालिका के पास नहीं है। वहां पर यह अधिकार 'संविधानिक परिषद' को सौंपा गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्यायिक पुनरावलोकन का विकसित रूप केवल अमेरिका और भारत की न्यायपालिका में ही देखने को मिलता है। इन देशों में न्यायिक पुनरावलोकन द्वारा संविधानिक व्यवस्था को गतिशील व व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया गया है।

न्यायिक पुनरावलोकन का महत्व

(Importance of Judicial Review)

न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति न्यायपालिका को ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती है कि वह कार्यपालिका और विधायिका के हस्तक्षेप से मुक्त रहकर नागरिक अधिकारों की रक्षा में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। संघात्मक शासन प्रणालियों में जहां शक्तियों का बंटवारा केन्द्र व राज्यों में होता है, वहां पर तो संविधानिक गतिरोध टालने में न्यायपालिका की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। मुनरो का कहना है कि-"यदि अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन प्रचलित न होता तो यहां न जाने कब की अराजकता फैल गई होती।" इसी प्रकार होम्स ने कहा है-"मेरा निश्चित मत यह है कि यदि सुप्रीम कोर्ट राज्यों द्वारा बनाए गए कानूनों को असंवैधानिक घोषित करने के अधिकार से वंचित हो जाएगा तो हमारा संघ अवश्य खतरे में पड़ जाएगा।" न्यायपालिका अपनी इसी शक्ति के कारण अमेरिका तथा भारत में विधायिका व कार्यपालिका द्वारा पास किए गए कई असंवैधानिक कानूनों को रद्द कर सकी है। अपनी इसी शक्ति के कारण आज न्यायपालिका संविधान का तीसरा सदन बन चुका है। कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा संविधान के अतिक्रमण को रोकने, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करने, संविधान को गत्यात्मक बनाने, संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करने तथा राजनीतिक व सामाजिक विकास का मार्ग प्रशस्त करने में न्यायिक पुनरावलोकन का बहुत महत्व है।

न्यायिक पुनरावलोकन पर सीमाएं

(Limitations of Judicial Review)

न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति का प्रयोग निर्बाध रूप से नहीं कर सकती। इस शक्ति के प्रयोग पर भी कुछ संविधानिक प्रतिबन्ध हैं जो न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को मर्यादित करके निरंकुश बनने से रोकते हैं। से सीमाएं निम्नलिखित हैं :-

(1) न्यायपालिका उन्हीं कानूनों को असंविधानिक घोषित कर सकती है जो उनके सामने मुकद्दमों के रूप में आते हैं, अन्य को नहीं।

(2) किसी भी कानून को तभी अवैध या असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, जब कानून की असंवैधानिकता पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाये।

(3) इस शक्ति का प्रयोग कानून की उचित प्रक्रिया के तहत ही किया जा सकता है। किसी कानून को अवैध घोषित करते समय न्यायधीशों को व्यक्तिगत राय से बचना पड़ता है। अमेरिका में कानून का ही प्रयोग किया जाता है। यह भी न्यायिक निरंकुशता को रोकने में सहायक होता है।

(4) कानून की उन्हीं धाराओं को अवैध घोषित किया जा सकता है जो संविधान के विपरीत हों। इसमें सारे कानून को अवैध नहीं माना जा सकता। समस्त कानून को अवैध घोषित करने के लिए इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कानून दूसरी धारा के बिना परिभाषित न किया जा सकता हो।

(5) राजनीतिक विवादों में न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग वर्जित है।

अमेरिकी न्यायिक पुनरावलोकन व भारतीय न्यायिक पुनरावलोकन में अन्तर

(Difference Between American Judicial Review and Indian Judicial Review)

उपरोक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि भारत तथा अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था में जमीन-आसमान का अन्तर है। जहां भारत में 'कानून द्वारा स्थापित पद्धति' के अन्तर्गत इस शक्ति का प्रयोग किया जाता है, वहीं अमेरिका में इस शक्ति का प्रयोग 'कानून की उचित प्रक्रिया' के तहत होता है। इसी कारण अमेरिका में न्यायिक निरंकुशता का जन्म हुआ है। वहां पर न्यायिक शक्ति पर तरह तरह के आपेक्ष उठाए जाते हैं। कई बार सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति का प्रयोग करके उचित कानूनों को भी अवैध ठहराया है। इससे वहां कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका में भारी गतिरोध पैदा हो चुका है। 1933 में राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने न्यायपालिका द्वारा 'National Recovery Act' को समाप्त करने की बात पर, न्यायपालिका को ही समाप्त करने की बात की थी। ऐसा अमेरिका के संविधान में कई बार हुआ है। व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने के कारण अमेरिका में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के दुरुपयोग का प्रचलन बढ़ा है। लेकिन भारत में अधिकतर मामलों में न्यायपालिका ने कानून द्वारा स्थापित पद्धति का ही प्रयोग किया है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने कभी भी मर्यादाओं से बाहर जाकर इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया है। इसी कारण अमेरिका की बजाय भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का स्वरूप सीमित प्रकृति का है। इसी कारण भारत में आज तक भी न्यायिक तानाशाही स्थापित नहीं हो सकी है। अतः अमेरिका का न्यायिक पुनरावलोकन भारत की तुलना में मर्यादाहीन व असीमित प्रकृति का है।

न्यायिक पुनरावलोकन का मूल्यांकन

(Evaluation of Judicial Review)

उपरोक्त विवेचन के बाद निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न्यायिक पुनरावलोकन न्यायपालिका के हाथ में ऐसा शस्त्र है जिसका प्रयोग करके वह कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा बनाए गए असंवैधानिक कानूनों को अवैध घोषित करके नागरिक स्वतंत्रता व अधिकारों की रक्षा करती है। भारत व अमेरिका में इस शक्ति ने न्यायिक सक्रियतावाद को जन्म दिया है। इसी सक्रियतावाद के कारण आज भारत व अमेरिका में न्यायपालिका अपना स्वतन्त्र व निष्पक्ष अस्तित्व बनाए हुए है। आज की परिवर्तनशील परिस्थितियों में सामाजिक न्याय व राजनीतिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने में न्यायपालिका का जागरुक होना कार्यपालिका और विधायिका को जन-हित में क्रियाशील बनाता है। किसी सरकार की उत्तमता की कसौटी उत्तम न्याय पद्धति ही होती है। भारत व अमेरिका में कई मामलों में कार्यपालिका व विधायिका द्वारा दिए गए गलत निर्णयों को क्रियान्वित होने से रोककर न्यायपालिका व विधायिका को क्रियाशील बनाकर देश हित में ही कार्य किया है। लेकिन इसके बावजूद भी कई बार न्यायपालिका द्वारा इस शक्ति का दुरुपयोग करने के कारण उसे आलोचना का शिकार होना पड़ा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग अति महत्वपूर्ण कानूनों के मामलों में ही किया जाए। यदि कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा निर्मित कोई कानून असंवैधानिक है और उससे जन-कल्याण की उपेक्षा होती है तो उसको न्यायपालिका द्वारा अवैध ठहराना पूर्णतयाः न्यायसंगत है। अतः न्यायपालिका को जहां तक सम्भव हो अन्य दोनों अंगों के साथ समन्वयकारी नीति के आधार पर ही क्रियाशील होना चाहिए। इसी में उसकी भी भलाई है और देश का विकास भी सम्भव है।

अध्याय-21

शक्ति, सत्ता और औचित्यपूर्णता

(Power, Authority and Legitimacy)

शक्ति की अवधारणा

(Concept of Power)

शक्ति की अवधारणा एक अति प्राचीन अवधारणा है। मनुष्य के सार्वजनिक व्यवहार का निर्माण करने में शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका है। राजनीति विज्ञान में शक्ति राजनीतिक सम्बन्धों व व्यवहार की प्रमुख निर्धारिक रही है। भारतीय राजदर्शन में शक्ति कौटिल्य के समय से ही राजनीति विज्ञान का प्रमुख तत्व रहा है। जब राजनीति विज्ञान में सम्प्रभुता, कानून, सरकार आदि का अध्ययन किया जाता है तो इनके पीछे शक्ति का तत्व अवश्य अन्तर्निहित रहता है। कैटलिन ने राजनीति को 'शक्ति का विज्ञान' कहा है। शक्ति न केवल राजनीतिक व्यवहार की ही निर्धारक है, बल्कि यह राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था में घटने वाली प्रत्येक घटना में अभिव्यक्त होती है। शक्ति प्रत्येक राजनीतिक व गैर-राजनीतिक समुदाय का आधार है। सुकरात व प्लेटो से लेकर आधुनिक समय तक शक्ति के बारे में कोई न कोई विचार अवश्य विकसित होता रहा है। लेकिन इस अवधारणा को अधिक बल राष्ट्र-राज्यों के जन्म के बाद ही मिला है। इस धारणा के विकास में कौटिल्य, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स, मैकियावेली, मेक्स वेबर, कैटलिन, लासवेल, नीत्शे, ट्रीटस्के, कॉप्लान, मैकाइवर, रसेल, डॉहलु मेरियम आदि विद्वानों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति की अवधारणा का प्रतिपादन करने का श्रेय मार्गेन्थो को जाता है। आज राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों में शक्ति व तत्व महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। शक्ति की अवधारणा के बिना न तो राष्ट्रीय राजनीति को समझा जा सकता है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को।

शक्ति का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Power)

शक्ति हमारे जीवन का आधार है। इस संसार में घटने वाले प्रत्येक शक्ति की अभिव्यक्ति है। राजनीतिक व गैर-राजनीतिक जीवन में शक्ति का वही स्थान है जो गाड़ी में इंजन का है। शक्ति के बिना समाज में शान्ति, व्यवस्था, न्याय, सुरक्षा और कल्याण सम्भव नहीं है। शक्ति के बारे में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं; लेकिन कोई भी विचार सर्वमान्य स्तर पर नहीं पहुंच सका है। साधारण शब्दों में 'लोग जो कुछ करना नहीं चाहते, उनसे वैसा कराने के क्षमता' को शक्ति कहा जाता है। शक्ति को अनेक विद्धानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :'-

(1) आर०एम० मैकाइवर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Web of Government' में शक्ति को परिभाषित करते हुए कहा है-"यह किसी सम्बन्ध के अन्तर्गत ऐसी क्षमता है जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञापालन कराया जाता है।"

(2) राबर्ट बायर्सटेड के अनुसार-"शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।

(3) पिपनर एवं शेरवुड के अनुसार-"शक्ति आदेश देने की क्षमता है।"

(4) मैक्स वेबर के अनुसार-"शक्ति का अर्थ है-किसी सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कर्ता द्वारा दूसरों की इच्छा के विपरीत अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने की सम्भावना।"

(5) बट्रैन्ड रसेल के अनुसार-"शक्ति से तात्पर्य है-मनचाहा प्रभाव पैदा करना।"

(6) राबर्ट ए० डाहल ने अपनी पुस्तक 'Modern Political Analysis' में शक्ति को परिभाषित करते हुए कहा है-"शक्ति परिणामों की सम्भावना को बदलने की क्षमता है।"

(7) कॉप्लान के अनुसार-"शक्ति संगठित क्रिया द्वारा किसी आयोजन को पूरा करने की एक योग्यता है।"

(8) कोजर एवं रोजेनबर्ग के अनुसार-"शक्ति अपनी इच्छाओं के अनुसार अन्यों के व्यवहार का निर्धारण करने की क्षमता है।"

(9) हॉब्स के अनुसार-"शक्ति भविष्य में कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने का वर्तमान साधन है।"

(10) कार्ल जे० फ्रेडरिक के अनुसार-"शक्ति प्रमुखतः एक विचार व अधिकार ही नहीं, बल्कि एक सम्बन्ध भी है।"

(11) एच० जे० मार्गेन्थो के अनुसार-"राजनीतिक शक्ति से राजकीय सत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा जनता के साथ उनके सम्बन्ध का बोध होता है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति प्रभाव की प्रक्रिया भी है और सम्बन्धों का आधार भी। यह प्राप्ति का साधन भी है और एक विचार भी। साधारण अर्थ में शक्ति का अर्थ है-अपनी इच्छा और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपेक्षित साधनों तक पहुंच। शक्ति दूसरों के व्यवहार में बदलाव लाने का साधन भी है। लॉसवेल ने अपनी पुस्तक 'Politics - Who gets, What, When and How' में लिखा है कि शक्ति राजनीति शास्त्र का मूल है। फ्रेडरिक ने इसे राजनीति का हृदय कहा है। वास्तव में शक्ति बहुअर्थी धारणा है। यह मानव व्यवहार के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

शक्ति के स्त्रोत या आधार

(Sources or Bases of Power)

शक्ति के स्त्रोतों को दो भागों में बांटा जा सकता है :-

(i) आन्तरिक स्त्रोत (Internal Sources)

(ii) बाह्य स्त्रोत (External Sources)

आन्तरिक स्त्रोतों में आत्म-ज्ञान, व्यक्तित्व, सम्मान, आत्म-नियन्त्रण शामिल हैं तथा बाह्य स्त्रोतों में प्राप्तियां अर्थात भौतिक वस्तुएं, प्रस्थिति, संगठन व संगठन का आकार, प्रभावशीलता, सत्ता, विश्वास आदि शामिल हैं। ये स्त्रोत निश्चित नहीं हैं, इनकी संख्या घट-बढ़ सकती है। बल या बल का प्रयोग, प्रेम या प्रभाव भी शक्ति के स्त्रोत हो सकते हैं। माइकेल मान ने सामाजिक शक्ति के चार स्त्रोत - विचारधारा, आर्थिक साधन, सैनिक व राजनीतिक बताए हैं। विचारधारा में मानक व रीति-रिवाज, आर्थिक में उत्पादन वितरण व विनिमय के साधन, सैनिक में अभिजन सैनिक तन्त्र तथा राजनीतिक में राज्य शामिल होता है। वास्तव में धन सम्पदा, प्राकृतिक सम्पदा, मानव शक्ति और शास्त्र आदि किसी भी राष्ट्र से पस शक्ति के स्त्रोतों को उपयोग करने की क्षमता नहीं है तो वह राष्ट्र कभी

शक्तिशाली नहीं बन सकता। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी में हिटलर व इटली में मुसोलिनी के उत्कर्ष से वहां की शक्ति के स्त्रोतों या साधनों का उचित प्रयोग होने से दोनों देशों का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रभाव बढ़ गया था। जो देश शक्ति के साधनों का दुरुपयोग करना जानता है, वही देश शक्तिशाली बन सकता है।

शक्ति के स्त्रोतों को सामान्य रूप से निम्न प्रकार समझा जा सकता है :-

(1) **प्राप्तियां और उपलब्धियां** :- प्राप्तियों को आर्थिक शक्ति कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत भौतिक वस्तुएं, स्वामित्व एवं सामाजिक वस्तुओं की शक्ति, एक व्यक्ति को समाज में प्राप्त स्थिति और स्तर आदि शामिल होते हैं। राजनीति व सामाजिक क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियां भी शक्ति प्राप्त करने का साधन होती हैं। लेकिन प्राप्तियों और उपलब्धियों को शक्ति का वास्तविक स्त्रोत तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक ये सामाजिकता के गुण से सम्पन्न न हो जाएं।

(2) **संगठन व संगठन का आकार** :- जब विभिन्न विरोधी मत वाले व्यक्ति एक हो जाते हैं तो उनकी शक्ति में अत्यधिक व द्धि हो जाती है। जैसे W.T.O. में अमेरिका जैसे धनी देशों का वर्चस्व होने के कारण वे दूसरे देशों की अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित करने की योग्यता रखते हैं। इसी तरह यूरोपीय संघ में कई विकसित देशों के शामिल होने के कारण इसका प्रभाव पूरे विश्व सम्बन्धों पर दिखाई देता है। इसी तरह संगठन का बड़ा आकार भी शक्ति की अधिकता का ही परिचायक होता है। लेकिन कई बार ज्यादा बड़ा आकार भी संगठनात्मक एकता ही बजाय संगठन के विघटन का कारण बनकर संगठनात्मक शक्ति को नष्ट कर देता है।

(3) **ज्ञान** :- ज्ञान शक्ति का प्रमुख स्त्रोत है। यह व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुनः प्रबन्धित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति की अन्य समस्त योग्यताओं का संचालन होता है। ज्ञान व्यक्ति को करिश्माई नेत त्व प्रदान करके उसकी शक्ति को कई गुणा बढ़ा देता है। व्यक्ति के नेत त्व के गुण, उसकी इच्छा शक्ति, सहनशीलता, उसकी अभिव्यक्त करने की क्षमता आदि तत्व ज्ञान के तत्व ये घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। इनका समन्वित रूप ही शक्ति में अभूतपूर्व व द्धि करता है।

(4) **विचार और कार्य** :- व्यक्ति व संस्थाओं की विचारधारा व कार्य भी शक्ति के स्त्रोत होते हैं। महात्मा गांधी की अहिंसा की विचारधारा, तिलक की स्वराज्य की विचारधारा, अरविन्द घोष की आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की विचारधारा सभी उनको शक्तिशाली बनाने में सहायक रही। माओ, फिदेल कास्त्रो, गांधी, लेनिन, नेल्सन मंडेला आदि व्यक्तियों के विचार और कार्यों ने उन्हें शक्ति प्रदान की। अपने विचार और कार्यों के आधार पर ही वे विशाल जनमत तैयार कर सके।

(5) **परिस्थितियां** :- कई बार परिस्थितिवश भी व्यक्ति या संस्था को शक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध व जार की तानाशाही से उत्पन्न परिस्थितियों ने रूस में लेनिन को शक्तिशाली बनाया। अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक शक्तिशाली संस्था के रूप में उभरने का अवसर दिया।

(6) **आत्म-विश्वास** :- आत्म विश्वास के बिना व्यक्ति कोई भी कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। आत्मविश्वास के बल पर उठाया गया जोखिम सफलता मिलने पर शक्ति में कई गुणा व द्धि कर देता है और सम्मान के बढ़ने पर शक्ति स्वयं ही बढ़ जाती है। इसका सम्बन्ध मानसिक विचारों से होता है। इसलिए यह शक्ति का मानसिक स्त्रोत है।

(7) **सत्ता** :- शक्ति की महानता इस बात पर निर्भर करती है कि वह दूसरों को कितनी प्रभावित

कर सकती है। सत्ता प्राप्त होने के बाद व्यक्ति अपने ज्ञान व आर्थिक साधनों का उचित संतुलन बिठाकर शक्ति में व द्धि करने में सक्षम होता है। सत्ता प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति दूसरों को प्रभावित करने की अधिक क्षमता प्राप्त कर लेता है। यदि कम शक्तिशाली व्यक्ति को भी सत्तारूढ़ कर दिया जाए तो वह अपने ज्ञान के बल पर दूसरों को प्रभावित करके अधिक शक्ति अर्जित करने में कामयाब हो सकता है।

(8) **प्राकृतिक संसाधन** :- जिस देश के पास प्राकृतिक साधन हैं और उनका दोहन करने की उचित व्यवस्था है, वह देश अधिक शक्तिशाली बन जाता है। बिना उचित तकनीक के संसाधनों का दोहन करने की क्षमता के अभाव में संसाधनों की प्रचुरता के बाद भी शक्ति अर्जित नहीं की जा सकती।

(9) **समाजीकरण** :- कोई व्यक्ति या संस्था जब तक अपने अन्दर सामाजिकता का गुण पैदा नहीं करती, तब तक वे शक्ति का साधन नहीं बन सकती। व्यक्ति द्वारा किए गए सामाजिक कार्य उसे समाज में महत्वपूर्ण सम्मान प्राप्त कराते हैं। उसकी आम जनता तक पहुंच उसे महान बनाती है। जो नेता आम जनता के प्रति अपना लगाव रखता है, वह हमेशा अन्य की तुलना में अधिक शक्ति का स्वामी होता है। समाजीकरण व्यक्ति व संस्था को शक्ति प्रदान करता है।

(10) **उत्पीड़न या बल प्रयोग** :- राजनीतिक शक्ति का प्रमुख आधार या स्त्रोत उत्पीड़न (Coercion) या बल प्रयोग ही होता है। सरकार के पास बल प्रयोग की शक्ति होती है। इसी से वह अपनी शक्ति में व द्धि करती है। या उसे बनाए रखती है। इसका प्रयोग प्रत्येक सरकार विशेष परिस्थितियों में ही करती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति के अनेक स्त्रोत हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शक्ति किन गुणों पर आधारित होती है। फिर भी आत्म-ज्ञान, सत्ता, व्यक्तित्व, सम्मान, आत्मविश्वास, भौतिक सम्पदा, संगठन, बल-प्रयोग आदि इसके प्रमुख स्त्रोत व आधार हैं।

शक्ति के प्रकार

(Types of Power)

शक्ति के अनेक प्रकार होते हैं। शक्ति के प्रकारों के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं।

(1) **व्यवहार परिवर्तन के आधार पर** :- (i) बल (ii) प्रभुत्व (iii) चातुर्य।

(2) **औचित्य के आधार पर** :- (i) कानूनी या वैधानिक (ii) परम्परागत (iii) करिश्माई।

(3) **बल प्रयोग की द ष्टि से** :- (i) दमनात्मक शक्ति (ii) अदमनात्मक शक्ति।

(4) **औपचारिकता के आधार पर** :- (i) औपचारिक (ii) अनौपचारिक।

(5) **शक्ति-प्रवाह या दिशा की द ष्टि से** :- (i) एकपक्षीय (ii) द्विपक्षीय (iii) बहुपक्षीय।

(6) **क्षेत्रियता के आधार पर** :- (i) स्थानीय (ii) राष्ट्रीय (iii) अन्तर्राष्ट्रीय।

(7) **शक्ति की मात्रा व प्रभाव के आधार पर** :- (ii) महान शक्तियां (ii) मध्यम शक्तियां (iii) निम्न या लघु शक्तियां।

शक्ति के विविध पक्ष

(Dimensions of Power)

राजनीति में शक्ति का प्रयोग बहुत विस्त त क्षेत्र में होता है। यह शक्ति जिस-जिस रूप में राजनीति को प्रभावित करती है, उन्हें शक्ति के विविध पक्ष कहा जाता है। शक्ति के निम्नलिखित पक्ष हैं :-

(I) राजनीतिक शक्ति (Political Power)

(II) **आर्थिक शक्ति** (Economic Power)

(III) **विचारात्मक शक्ति** (Ideological Power)

राजनीतिक शक्ति (Political Power) :- इसका अर्थ है - समाज के मूल्यवान संसाधनों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न समूहों के हितों या विभिन्न कार्यक्रमों में लगाने की शक्ति। इसमें नीतियां बनाने, कानूनों का निर्माण करने, कानूनों को लागू करने, कर लगाने व वसूल करने, किसी वर्ग को आर्थिक मदद देना, किसी का दायित्व निर्धारित करने, कानून की अवज्ञा करने वालों को पकड़ने व दण्ड देने, शत्रुओं और आक्रमणकारियों को नष्ट करने की शक्ति शामिल है। इस शक्ति के उपकरण पुलिस, जेल, न्यायालय, सैनिक शक्ति हैं। साधारण तौर पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के तीनों अंग (कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका) ही करते हैं। ये राजनीतिक शक्ति के औपचारिक या संस्थागत अंग हैं। इसके अतिरिक्त दबाव समूह, राजनीतिक दल भी राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रखने के कारण अनौपचारिक अंग है। ये अनौपचारिक अंग जनमत तैयार करके, जन आन्दोलन करके सीधे ही निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल चुनावी प्रक्रिया द्वारा सत्तारूढ़ होकर अपनी विशेष विचारधारा के आधार पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करके निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं। उपनिवेशों या पराधीन देशों तथा तानाशाही वाले देशों में स्वाधीनता संघर्ष के रूप में चलने वाले जब आन्दोलन राजनीतिक प्रक्रिया को देर-सवेर अवश्य प्रभावित करते हैं। भारत, चीन, श्रीलंका आदि देशों में चलले वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने उपनिवेशवादी ताकतों की समूची शासन-शक्ति को हिलाकर रख दिया था, आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्रों के संगठित संघ या समुदाय शक्तिशाली देशों की नीतियों को प्रभावित करते रहते हैं। आज तीसरी दुनिया के देशों के संगठन के आगे अमेरिका और अन्य महाशक्तियां भी भारत जैसे देशों को महत्वपूर्ण मानने को बाध्य हैं। इन देशों का विश्व राजनीति में निरन्तर प्रभाव बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक क्षमता और निपुणता के बल पर कोई भी देश या व्यक्ति अन्य देशों या समूह की राजनीतिक शक्ति को प्रभावित कर सकता है। धनी व्यक्ति अपनी राजनीतिक पहुंच के बल पर या क्षमता के कारण आज समूची निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की चेटा कर सकता है। राजनीतिक क्षमता के बल पर कोई भी व्यक्ति जन सम्पर्क में व द्धि कर सकता सकता है। जिसके पीछे अपार भीड़ होती है, वही वास्तविक शक्ति का स्वामी माना जाता है। अपनी राजनीतिक निपुणता के बल पर भी कुछ लोक व्यापक जनसमूह को प्रभावित कर लेते हैं और अपनी अर्जित गैर-राजनीतिक शक्ति को राजनीतिक क्षमता में बदल लेते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी में हिटलर ने तथा मुसोलिनी ने इटली में अपनी राजनीतिक निपुणता को राजनीतिक क्षमता में बदलकर वहां की सत्ता पर कब्जा कर लिया था। इस तरह राजनीतिक निर्णयों को कोई भी गैर-सत्ताधारी व्यक्ति प्रभावित करके राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। राजनीतिक शक्ति का होना काफी कुछ राजनीतिक निपुणता व क्षमता पर ही निर्भर है।

आर्थिक शक्ति (Economic Power) :- इसका अर्थ है - धन सम्पदा, उत्पादन के साधनों या अन्य दुर्लभ संसाधनों के स्वामित्व के बल पर निर्धन लोगों या राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति। कार्ल मार्क्स व लेनिन नें सबसे पहले शक्ति के आर्थिक सिद्धान्त की व्याख्या की थी। आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति का आधार होती है। आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्ग ही प्रायः सत्ता का स्वामी होता है। उदारवादी लोकतन्त्रों में तो बड़े-बड़े जमींदार, उद्योगपति और व्यापारिक घराने सार्वजनिक नीतियों और निर्णयों के स्वामी बन जाते हैं। सरकार अपनी प्राथमिकताओं में इन वर्गों के हितों को अवश्य स्थान देती है। भारत में आज नई उद्योग नीति उद्योगों के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं दे रही है और कृषि पर से 'Subsidies' हटा रही है। इसका प्रमुख कारण कृषक संगठनों का आर्थिक द ष्टि से कमजोर होना है। वे सरकार को चुनावों के समय आर्थिक सहायता नहीं दे सकते। इसके विपरीत उद्योगपति व औद्योगिक घराने राजनीतिक दलों को तरह तरह की मदद पहुंचाते रहते हैं। इसके बदले कोई भी राजनीतिक दल

सत्तारूढ़ होने पर उनके हितों का ख्याल रखता है। आर्थिक शक्ति के स्वामी होने के नाते ये दबाव समूह अधिक संगठित होते हैं। भारत में वाणिज्य ओर उद्योग मण्डल अत्यन्त संगठित व सम्पन्न हैं। जनसम्पर्क के साधनों पर इन्हीं का वर्चस्व है। ये अपने हितों के अनुसार ही जनमत तैयार करते हैं। इस तरह आर्थिक शक्ति के स्वामी ही राजनीतिक शक्ति के भी वास्तविक स्वामी बन जाते हैं। कोई भी सरकार औद्योगिक घरानों व पूंजीपतियों के हितों की अपेक्षा नहीं कर सकती। यदि सरकार उनके हितों के विरुद्ध कार्य करती है तो वे सरकार गिराने का भी सामर्थ्य रखते हैं।

विचारात्मक शक्ति (Ideological Power) :- विचारात्मक शक्ति का अर्थ है, किसी विचारधरा के बल पर लोगों के सोचने-समझने के ढंग को प्रभावित करने की शक्ति। विचारधारा विचारों का पुंज होती है। ये विचार समाज में ही जन्म लेते हैं। विचार विशेष सामाजिक वातावरण या परिस्थितियों की उपज होते हैं। विचारों की दुहाई देकर कई बार सरकार जनमत को युद्ध के लिए तैयार भी करती है। कई बार तानाशाही शासक उग्र-राष्ट्रवाद की दुहाई देकर देशहित के नाम पर जनता को युद्ध की आग में झोंक देता है। युद्ध में होने वाली म त्यु को वीरगति का नाम दिया जाता है। इतिहास गवाह की युद्धों से कभी भी मानवता का भला नहीं हुआ है। युद्ध शासक वर्ग की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की ही पूर्ति करते हैं। युद्धों के नाम पर जनता को मरने-मिटने की प्रेरणा देना विचारात्मक शक्ति का दुरुपयोग करना है। यदि विचारात्मक शक्ति का सदुपयोग किया जाए तो यह शक्ति महान कार्य करती है। यह किसी भी शासन को वैधता या औचित्यपूर्णता प्रदान करती हे। कई बार शासक वर्ग सर्वोत्तम शासन प्रणाली के बारे में अपने विचारों को अधिक महत्व देते हैं जिन्हें राजनीतिक विचारधारा कहा जा सकता है। आज अनेक देशों में विचारधारा पर आधारित शासन प्रणालियां भी हैं। पूंजीवाद, उदारवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रीय समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, माओवाद, नाजीवाद आदि का सम्बन्ध शासक-वर्गों के विचारों से रहा है। राजनीतिक विचारधारा को समर्थन मिलने से सत्ता को वैधता प्राप्त हो जाती है। कार्ल मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा को विशेष प्रयासों से लेनिन ने वैधता प्रदान की थी। आगे स्टालिन ने भी उसे मजबूत बनाया था। आज चीन माओ की विचारधारा का ही अनुसरण कर रहा है। वैधता प्राप्त होने पर ही राजनीतिक शक्ति को स्थायित्व मिल पाता है। अपनी राजनीतिक विचारधारा को मजबूत बनाने के लिए व वैधता प्राप्त करने के लिए शासक वर्ग राष्ट्रीय गीत, राष्ट्रीय ध्वज आदि प्रतीकों का सहारा लेने से भी नहीं चूकता। अतः विचारधारा राजनीतिक सत्ता को स्थायित्व व वैधता प्रदान करती है।

शक्ति और प्रभाव

(Power and Influence)

राबर्ट ए० डाहल ने अपनी पुस्तक 'Modern Political Analysis' में शक्ति और प्रभाव को राजनीति विज्ञान की केन्द्रीय अवधारणाएं माना है। इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। दोनों ही बौद्धिक और सम्बन्धात्मक हैं। दोनों औचित्यपूर्ण हो जाने पर ही प्रभावशाली हो पाते हैं। प्रभाव शक्ति को जन्म देता है और शक्ति प्रभाव को। प्रभाव और शक्ति एक दूसरे के लिए महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों में कुछ समानताएं हैं और कुछ असमानताएं।

(1) शक्ति और प्रभाव में समानताएं :-

(1) दोनों बौद्धिक और सम्बन्धात्मक हैं तथा एक दूसरे को सहारा देती हैं।

(2) दोनों औचित्यपूर्ण होने पर ही प्रभावी होती हैं।

(3) प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है और शक्ति प्रभाव को। इस प्रकार शक्ति और प्रभाव एक दूसरे का आधार है।

(4) शक्ति और प्रभाव समान रूप में मानव-व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

(II) शक्ति और प्रभाव में असमानताएं :-

1) शक्ति दमनात्मक होती है क्योंकि उसके पीछे कठोर भौतिक बल कार्य कर रहा होता है। जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो उसे स्वीकार करने वाले व्यक्ति के पास उसे स्वीकार करने के सिवाय कोई और चारा नहीं होता है। इसके विपरीत प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है। प्रभावित व्यक्ति के पास उसके अनुपालन के बारे में अनेक विकल्प खुले रहते हैं।

(2) शक्ति को प्रायः अप्रजातंत्रात्मक माना जाता है। वह प्रतिशक्ति को जन्म देती है और भय पर आधारित होती है। इसके विपरीत प्रभाव प्रजातन्त्रीय होता है। उसका अनुपालन स्वेच्छा से किया जाता है; भय से नहीं।

(3) जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो प्रभाव समाप्त हो जाता है। शक्ति को कभी भी स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। उस पर अनेक सीमाएं लगी होती हैं। शक्ति को किसी न किसी रूप में प्रभाव के सहारे की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। अन्यथा शक्ति के दुर्बल होते ही बिना प्रभाव के उसका पालन नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत प्रभाव की शक्ति असीम होती है। प्रभाव अर्जित करने पर शक्ति में कमी नहीं आती, बल्कि व द्धि होती है। इससे प्रभावक व प्रभावित व्यक्ति के बीच एक मनोभावनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रभाव उपलब्ध हो जाने पर शक्ति का इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है।

(4) शक्ति का प्रयोग निश्चित, सीमित तथा विशिष्ट होता है, क्योंकि शक्ति सभ्यता और संस्कृति का बाह्य तत्व होता है। प्रभाव का प्रयोग व्यक्तिगत, अमूर्त, अस्पष्ट तथा व्यापक होता है।

(5) शक्ति प्रायः शक्तिधारक के पास एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में रहती है। उसका प्रयोग शक्तिधारक दूसरों की इच्छा के विरुद्ध एवं प्रतिरोध के रहते हुए कर सकता है। प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और उसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति या स्वीकृति होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति और दमन प्रभाव को स्वीकार कर लेने के बाद निरर्थक हो जाते हैं। गई बार प्रभाव का प्रयोग अन्य व्यक्ति के साथ मिलकर नीतियों व निर्णयों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। शक्ति शास्तियों पर आधारित होती है। इसका प्रयोग असीम नहीं होता। शक्ति सदैव व्यक्ति के कार्यों को पूर्ण होने में मदद नहीं कर सकती। वास्तव में प्रभाव ही एक ऐसा स्वेच्छावाद है जो प्रजातन्त्र का हृदय है। इससे दूसरों की इच्छा का दमन नहीं होता। प्रभाव के बल पर ही एक व्यक्ति दूसरे का दिल जीत सकता है, शक्ति के जोर पर नहीं।

शक्ति का प्रयोग और सीमाएं

(Use and Limitations of Power)

शक्ति का प्रयोग अनेक साधनों द्वारा होता है। वस्तुतः शक्ति का प्रयोग शास्तियों (Sanctions) के तहत ही किया जाता है। इन शास्तियों में दण्ड देना, पुरस्कार देना, आर्थिक लाभ देना या रोकना आदि शामिल हैं। इन शास्तियों की मात्रा देश, काल, संस्कृति आदि के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। जब कोई शक्ति व्यवहार में असफल हो जाती है तो इसे शास्ति द्वारा दूसरी शक्ति में बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिए दो व्यक्ति या राष्ट्र एक दूसरे को प्रभावित करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद आदि चार शास्तियों का विकल्प के अनुसार प्रयोग कर सकते हैं। इसमें से समझाना या साम सबसे आसान तरीका है। समझाने से दूसरे का विचार बदल जाता है और वह पहले व्यक्ति की बात मान लेता है। दूसरा तरीका लालच देने का है। इससे दूसरे व्यक्ति का आचरण इच्छानुकूल बनाया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति समझाने-बुझाने या लोभ देने से भी नहीं मानता तो उसे दण्ड की धमकी दी जाए। लेकिन जहां तक सम्भव हो दण्ड का प्रयोग नहीं

किया जाए। जब उपरोक्त तीनों साधन असफल रह जाएं तो शक्ति को प्रयोग में लाने के लिए बल का सहारा लिया जा सकता है। जब दण्ड की धमकी कार्यवाही का रूप ले लेती है तो उसे बल कहा जाता है। प्रायः बल प्रयोग से आंशिक या पूर्ण सफलता मिल जाती है। कई बार विरोधी से अपनी बात मनवाने के लिए उसकी पिटाई तक कर दी जाती है।

लेकिन शक्ति का प्रयोग असीमित नहीं होता। उस पर अनेक प्रतिबन्ध व सीमाएं हैं। ये सीमाएं - इतिहास, परम्पराएं, सहमति प्राप्त करने की आवश्यकता, राजनीतिक विकास का प्रभाव, धर्म, नैतिकता एवं समूहों के दबाव आदि के रूप में हैं। शक्ति की सीमाएं प्रयोगकर्ता के लक्ष्य एवं उद्देश्यों, उसकी अपनी क्षमता, पारस्परिक सम्बन्धों, प्रतियोगिता, कार्यपद्धतियों, पर्यावरणात्मक कारकों आदि से भी उत्पन्न होती हैं। शक्ति का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि शक्ति का प्रयोग किसी ऐसे उद्देश्य के लिए न किया गया हो, जो इतिहास व परम्पराओं पर आघात करने वाला हो। कोई भी काम नैतिकता तथा धर्म के खिलाफ किया जाएगा तो उसे औचित्यपूर्ण नहीं माना जाएगा। शक्ति का प्रयोग सदैव राजनीतिक व सामाजिक विकास के अनुकूल ही होना चाहिए अन्यथा जन आन्दोलन भड़कने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। जिन देशों में दबाव समूह या हित समूह अधिक संगठित व प्रभावशाली होते हैं वहां सरकार कोई भी कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकती। जो बातें सामाजिक द ष्टि से सही हों और कानून की द ष्टि से गलत हों, उनके विरुद्ध कभी भी शक्ति का प्रयोग करना व्यवस्था विघटन का खतरा मोल लेना होता है। अतः शक्ति प्रयोग की कुछ सीमाएं हैं। शक्ति का प्रयोग विशिष्ट परिस्थितियों में ही सोच-विचार करके ही करना चाहिए।

शक्ति की अवधारणा का महत्व

(Importance of the Concept of Power)

शक्ति राजनीतिक व्यवहार का महत्वपूर्ण तत्व है। प्राचीनकाल से ही शक्ति राजनीति-शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रही है। इसी कारण आधुनिक समय में भी शक्ति को राजनीति-विज्ञान में प्रमुख स्थान दिया गया है। कौटिल्य की दण्डनीति का अर्थ शक्ति ही था। आज भी वही अर्थ मान्य है। यूनानी विचारकों प्लेटो व अरस्तु से लेकर लासवैल व डाहल तक आधुनिक समय में भी शक्ति राजनीति-विज्ञान का महत्वपूर्ण विषय है। कौटिल्य ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान कहा है। मार्गेन्थो ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिए संघर्ष कहा है। शक्ति मनुष्य की समस्त गतिविधियों का आधार है। प्रसिद्ध दार्शनिक एरिक कॉफमैन ने लिखा है कि राज्य शक्ति के विकास, बुद्धि और प्रदर्शन का प्रतीक है। आज सभी व्यक्ति और राष्ट्र शक्ति प्राप्ति की लिप्सा में लीन हैं, इसलिए यह सम्पूर्ण सामाजिक व राजनीतिक जीवन का आधार है। लॉसवेल और कॉपलान ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Power and Society' में शक्ति सिद्धान्त को राजनीति विज्ञान का सबसे मौलिक सिद्धान्त माना है। आज शक्ति की अवधारणा राजनीति विज्ञान की एक विशेष अध्ययन शाखा बन गई है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि शक्ति की अवधारणा का राजनीति विज्ञान में बहुत महत्व है।

सत्ता की अवधारणा

(Concept of Authority)

प्रत्येक व्यक्ति या देश अपनी शक्ति को औचित्यपूर्ण बनाने के लिए अनेक प्रयास करता है। जब उसकी शक्ति को जनता का औचित्यपूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है तो वह सत्ता में परिवर्तित हो जाती है। सत्ता का इतिहास बहुत पुराना है। राजनीतिक शक्ति के प्रादुर्भाव के साथ ही सत्ता का भी अस्तित्व कायम हुआ है। प्रत्येक राजनेता को अपनी शासकीय नीतियों को लागू करने के लिए औचित्यपूर्ण सत्ता की आवश्यकता पड़ती है। सत्ता राज्य रूपी शरीर की आत्मा है और विभिन्न

राजनीतिक प्रक्रियाओं - शक्ति, प्रभाव तथा नेत त्व का मूल उपकरण है। इसी के माध्यम से समन्वय, निर्णय निर्माण, पराक्रम, अनुशासन, प्रत्यायोजन जैसी व्यवस्थापक प्रक्रियाएं सम्भव होती हैं। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही किसी न किसी रूप में सत्ता राजनीतिक चिन्तन का आधार रही है और इसे राज्य से भी अधिक प्राचीन और मौलिक माना जाता है। सभी उदारवादी लोकतन्त्रों में सत्ता की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस अवधारणा का सुकरात, प्लेटो, ऑगस्टीन, एक्विनांस, मैकियावेली, बोंदा के चिन्तन में क्रमिक विकास हुआ है और इसे आधुनिक रूप प्रदान करने में मैक्स वेबर, लॉसवेल, साइमन, बायर्सटेड, माइकल कर्टिस आदि विद्वानों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

सत्ता का अर्थ

(Meaning of Authority)

साधारण रूप में सत्ता वह आचरण है जिसके आधार पर कोई भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। सत्ता एक विशेष प्रकार का औचित्यपूर्ण प्रभाव भी है। सत्ता शक्ति का संस्थात्मक एवं विधिक रूप है। यह उस समय उत्पन्न होती है जब शासक और शासित में सम्बन्ध स्थापित होता है। हेराल्ड लॉसवेल ने इसे प्रभाव सद श माना है। साधारण अर्थ में सत्ता निर्णय लेने की वह शक्ति है जो दूसरों के कार्यों को प्रभावित करती है। हरबर्ट साईमन ने इसे निर्णय लेने की शक्ति ही कहा है। यूनेस्को की 1955 की रिपोर्ट के अनुसार-"सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण होती है।" इसे अनेक विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित भी किया है :-

(1) बायर्सटेड के अनुसार-"सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, स्वयं शक्ति नहीं।"

(2) बीच के अनुसार-"दूसरे के कार्यों को प्रभावित एवं निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहते हैं।"

(3) रोवे के अनुसार-"सत्ता व्यक्ति या व्यक्ति समूह के राजनीतिक निश्चयों के निर्माण तथा राजनीतिक व्यवहारों को प्रभावित करने का अधिकार है।"

(4) बनार्ड बारबर एवं एमितॉय इर्जियोनी के अनुसार-"सत्ता औचित्यपूर्ण शक्ति है।"

(5) एस०ई० फाइनर के अनुसार-"शक्ति पर सत्ता उन बाह्य प्रभावों के समस्त परिवेश की द्योतक है, जो व्यक्ति को अपने प्रभाव से अपेक्षित दिशा में आगे बढ़ने पर बाध्य कर सकती है।"

(6) ई०एम० कोल्टर के अनुसार-"सत्ता वह क्षमता है जिससे कोई घटना हो सकती है जो उस क्षमता के बिना नहीं होती।"

(7) जे० फ्रेडरिक के अनुसार-"जिसे केवल संकल्प इच्छा या प्राथमिकता के आधार पर चाहा जाता है, उसके औचित्य को तार्किक प्रक्रिया के द्वारा सिद्ध करने की क्षमता को सत्ता कहा जाता है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सत्ता राज्य के शासकों द्वारा संचालिक राज्य की शक्ति है जो औचित्यतापूर्णता पर आधारित है।

सत्ता की प्रकृति

(Nature of Authority)

सत्ता राज्य की सक्रियता का प्रमुख तत्व है। यह जनहित का प्रमुख साधन भी है। सत्ता निर्णय लेने की वह शक्ति है हो दूसरे के कार्यों का पथ-प्रदर्शन करती है। सत्ता औपचारिक, निश्चित व विशिष्ट होती है। इसका स्वरूप वैधानिक एवं संगठनात्मक है। इसकी प्रकृति के बारे में दो सिद्धान्त - (i) औपचारिक सत्ता सिद्धान्त (Formal Authoriity Theory) तथा (ii) स्वीकृति सिद्धान्त

(Acceptance Theory) प्रचलित है। औपचारिक सत्ता सिद्धान्त के अनुसार सत्ता का प्रभाव ऊपर से नीचे की तरफ चलता हैं सत्ता को आदेश देने व नौकरशाही का गठन करने का अधिकार है। इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए औचित्यपूर्णता को साथ लेकर चलती है। स्वीकृति सिद्धान्त के अनुसार सत्ता वैधानिक रूप से केवल औपचारिक होती है और इसे वास्तविक आधार तभी प्राप्त होता है, जब अधीनस्थों द्वारा इसकी स्वीकृति हो जाए। किन्तु अधीनस्थों में सत्ता की स्थिति को समझने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। हैमन ने सत्ता को प्रबन्धात्मक कार्यों तथा प्रत्यायोजन की कुंजी कहा है। सत्ता वशिष्ठ एवं कनिष्ठ में अन्तवैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करती है। आज सत्ता की प्रकृति के बारे में जो संतुलित द ष्टिकोण अपनाया जाता है, उसके अनुसार अधीनस्थों की स्वीकृति एवं संस्थागत औचित्यपूर्ण शक्ति दोनों सत्ता के आधार हैं।

सत्ता के प्रमुख घटक

(Major Components of Authority)

सत्ता के प्रमुख घटक दो हैं :- (i) शक्ति (Power) (ii) वैधता (Legitimacy)। जब शक्ति को जनता का औचित्वपूर्ण समर्थन मिल जाता है तो इसे वैधता प्राप्त हो जाती है। शक्ति का अर्थ, अपनी इच्छानुसार दूसरों से अपने आदेश का पालन कराना होता है। समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिए शक्ति और वैधता दोनों एक दूसरी की मदद करते हैं। सत्ता को प्रभावी रखने के लिए शक्ति और औचित्यपूर्णता दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

सत्ता के प्रकार व स्त्रोत

(Types and Sources of Authority)

सत्ता वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है। इसको क्षेत्रीय, प्रशासनिक एवं राजनीतिक द ष्टि से कई भागों में बांटा जा सकता है। विभिन्न स्त्रोतों के अनुसार सत्ता के विविध रूप हो जाते हैं। सत्ता को औचित्यपूर्णता के अनुसार मैक्स वेबर ने आधुनिक राज्य में तीन तरह की बताया है :-

(i) **परम्परागत सत्ता** (Traditional Authority)

(ii) **कानूनी विवेकपूर्ण या तर्कसंगत सत्ता** (Legal7Rational Authority)

(iii) **करिश्माई सत्ता** (Charismatic Authority)

परम्परागत सत्ता :- यह सत्ता परम्परागत शक्ति ढांचे से जन्म लेती है। जब प्रजा या अधीनस्थ कर्मचारी अपने शासक या वरिष्ठ अधिकारियों की आज्ञा या आदेशों का पालन करते हैं तो वह परम्परागत सत्ता होती है। ऐसा करना एक परम्परा बन जाती है। इस सत्ता का आधार यह है कि जो व्यक्ति या वंश आदेश देने का अधिकार रखता है, वह प्रचलित परम्परा पर ही आधारित होता है। इस प्रकार की सत्ता में प्रत्यायोजन अस्थाई और स्वेच्छाचारी होता है। राजतन्त्र में इसी प्रकार की सत्ता प्रचलित होती है। प्रशासनिक द ष्टि से अधीनस्थ वर्ग आने वरिष्ठों की बात इसलिए मानता है कि ऐसा युगों से होता आया है। इस प्रकार की सत्ता में शासक या वरिष्ठ कर्मचारियों का जनता या अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक आँख बन्द करके पालन किया जाता है। इस प्रकार की सत्ता नेपाल व ब्रिटेन में युगों से प्रचलित है।

कानूनी-विवेकपूर्ण सत्ता :- इस सत्ता का आधार शासक या प्रशासनिक अधिकारी का राजनीतिक पद होता है। आधुनिक नौकरशाही इसी प्रकार की सत्ता को प्रकट करती है। इसमें प्रत्यायोजन स्थाई व बौद्धिक होता है। इसमें कुर्सी या पद का सम्मान किया जाता है, व्यक्ति का नहीं। इसमें औपचारिक सम्बन्धों का महत्व समझा जाता है। इसमें समस्त कार्य-व्यवहार कानून की परिधि में ही किया जाता है। इसमें संवैधानिक नियमों के अनुसार प्रशासनिक व राजनीतिक पद का प्रयोग किया जाता है। कोई भी व्यक्ति कानून से बड़ा नहीं होता। इस प्रकार की सत्ता का आधार कानून

का शासन होता है। अमेरिका का राष्ट्रपति व भारत का प्रधानमन्त्री इसी प्रकार की सत्ता का प्रयोग करते हैं। इसमें सब कुछ कानूनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है।

करिश्माई सत्ता :- जब जनता या अधीनस्थ कर्मचारी अपने शासक या वरिष्ठ अधिकारियों की आज्ञा का पालन उनकी व्यक्तिगत छवि के कारण करते हैं तो वह सत्ता करिश्माई सत्ता होती है। इस प्रकार की सत्ता में वरिष्ठ की आज्ञा का पालन उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर किया जाता है। इस प्रकार सत्ता में अनुयायी अपने नेता के कहने पर कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए नेता के शब्द वेद-वाक्य हैं। इस प्रकार की सत्ता धार्मिक और युद्ध के क्षेत्र में अधिक प्रभावी रहती है। यह सत्ता विशेष परिस्थितियों की उपज होती है। चीन में माओ, जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी, स्पेन में जनरल फ्रांकों, भारत में पंडित जवाहरलाल नेहरु, इन्दिरा गांधी, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, मिश्र में कर्नल नासिर, युगोस्लाविया में मार्शल टीटो, अफ्रीका में नेल्सन मंडेला, रूस में स्टालिन और लेनिन, ईराक में सद्दाम हुसैन इस प्रकार की सत्ता के प्रमुख उदाहरण हैं।

सत्ता के आधार

(Basis of Authority)

सत्ता राजनीतिक व्यवस्था में लोक कल्याण का प्रमुख साधन होती है। आधुनिक लोकतन्त्रीय देशों में सत्ता का स्त्रोत संविधानिक कानून है। इस कानून का पालन करने में ही अधीनस्थों या जनता का हित निहित होता है। सत्ता का मूल आधार तो औचित्यपूर्णता ही है। सामान्य रूप में तो विश्वास और मूल्यों को ही सत्ता का आधार मान लिया जाता है। लेकिन सत्ता को कानूनी आधार प्राप्त हुए बिना वह प्रभावी नहीं बन सकती। विचारों की एकरूपता, विभिन्न शास्त्रियां, अधीनस्थों की प्रकृति, पर्यावरणात्मक दबाव भी सत्ता को आधार प्रदान करते हैं। आधुनिक राज-व्यवस्थाओं में राजनीतिक संस्थाएं, जैसे संविधान, प्रशासनिक संगठन, शास्त्रियां ही सत्ता के प्रमुख आधार हैं। लेकिन औचित्यपूर्णता ही सत्ता की नींव है। इसके द्वारा ही शासक की शक्तियों को वैधता मिलती है।

सत्ता के कार्य

(Functions of Authority)

सत्ता के अनेक कार्य हैं, क्योंकि उसे विभिन्न उद्देश्यों के लिए अनेक व्यवस्थाओं में विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :-

(1) सत्ता शासन के विभिन्न अंगों में तनाव व टकराहट दूर करके समन्वय उत्पन्न करती है।

(2) सत्ता शासन के विभिन्न अंगों में अनुशासन कायम रखती है।

(3) सत्ता कार्य-निष्पादन के लिए अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों के अनुरुप निर्णय लेती है।

(4) सत्ता अपनी शक्ति के सदुपयोग के लिए अपने अधीनस्थों पर नियन्त्रण रखती है।

(5) सत्ता शासन व प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रत्यायोजन भी करती है।

(6) सत्ता राष्ट्रीय विकास के लक्ष्य को पूरा करने व प्राप्त करने का प्रयास करती है।

इस प्रकार सत्ता अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न विभागों व अपने अधीनस्थों में समन्वय, समायोजन, नियन्त्रण व अनुशासन करती है। इसके लिए वह विभिन्न संचार साधनों व क्रियाविधियों का प्रयोग करती है।

सत्ता की सीमाएं

(Limitations of Authority)

सत्ता अपनी शक्ति को कभी भी निरंकुश, मनमाने व निरुद्देश्य तरीके से प्रयुक्त नहीं कर सकती है,

क्योंकि उस पर कुछ प्रतिबन्ध या सीमाएं लगाई जाती हैं। आज विश्व में मानवीय अधिकारों के प्रति आम व्यक्ति में जागरूकता बढ़ी है और राजनीतिक चेतना का भी विकास हुआ है। इसलिए सत्ता को अपनी मर्यादाओं में रहकर ही कार्य करना पड़ता है। सत्ता को निरंकुश बनने से रोकने के लिए इस पर आन्तरिक या बाह्य, प्राकृतिक, उद्देश्यगत या प्रक्रिया सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। औचित्वपूर्णता के बिना सत्ता का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इसलिए सत्ता को स्वयं को वैध या औचित्यपूर्ण ही बनाए रखना पड़ता है। अपने को औचित्यपूर्ण बनाए रखने के लिए उसे संविधानिक कानूनों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर ही कार्य करना पड़ता है। प्रत्येक व्यवसाय संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं, रुढ़ियों से बंधी होने के कारण सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाने को बाध्य होती है। आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में अन्तर्राष्ट्रीय विधियों, संगठनों, सन्धियों, समझौतों आदि का राष्ट्रीय सत्ताओं पर प्रतिबन्ध है। कोई भी देश विश्व जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता। मानव अधिकार आयोग के अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण सत्ता कोई भी निरंकुश कार्य नहीं कर सकती है। राष्ट्रीय स्तर पर भी विभिन्न प्रकार के संगठनों, दबाव समूहों, छात्र-संघों, प्रतिपक्ष, प्रैस, न्यायपालिका, जनमत आदि का सत्ता पर प्रभाव रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सत्ता का कार्यक्षेत्र असीमित व निरंकुश न होकर प्रतिबन्धों से मर्यादित है।

औचित्यपूर्णता या वैधता की अवधारणा

(Concept of Liegitimacy)

औचित्यपूर्णता राजनीतिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इस अवधारणा के बीज सर्वप्रथम यूनानी चिन्तन मे देखने को मिलते हैं। यह अवधारणा निरन्तर लोकप्रियता प्राप्त करती हुई आज राजनीति विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है। राजनीतिक विकास और सभ्यता की प्रगति के साथ साथ इस अवधारणा का भी विकास हुआ है। जैसे जैसे राजनीतिक व गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में बल, दमन, निरंकुशता आदि का प्रयोग कम होता रहा, वैसे वैसे औचित्यपूर्णता को मजबूत आधार प्राप्त होता रहा। आज औचित्यता शक्ति और सत्ता की अवधारणा को सफलता प्रदान करने वाला तत्व बन चुकी है। यह शक्ति और सत्ता के बीच की कड़ी है। मानव सम्बन्धी शक्ति को औचित्यता ही सहारा देकर उसे स्थायित्व प्रदान करती है। वैधता या औचित्यपूर्णता के बिना न तो शक्ति मान्य हो सकती है और न ही सत्ता। वैधता ही एक ऐसा तत्व है जो पाशविक शक्ति को मान्य सत्ता में ढाल सकता है। वैधता के अभाव में शक्ति व सत्ता जल्दी ही अपना प्रभाव खो देती है। औचित्यता के अभाव में सरकार अपना आधार खो देती है और जन-क्रान्ति की घटना होने की सम्भावना दिखाई देने लगती है। इसलिए औचित्यपूर्णता को राजनीतिक शक्ति की नींव कहा जाता है।

औचित्यपूर्णता

(Meaning of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता अंग्रेजी के शब्द 'Legitimacy' का हिन्दी रूपान्तरण है। इस शब्द की उत्पत्ति लातीनी भाषा के शब्द 'Legitimus' से हुई है। लातीनी भाषा में 'Legitimus' का अर्थ - वैधानिक या कानूनी होता है। मैक्सवेबर ने औचित्यपूर्णता को विश्वास पर आधारित अवधारणा कहा है। राजनीतिक व्यवस्था में शासक वर्ग की नीतियों, कार्यकलापों, संरचनाओं आदि के प्रति विश्वास को ही औचित्यपूर्णता कहा जाता है। यह शासन को क्रियाशील बनाए रखने की व्यवहारिक शक्ति है। औचित्यपूर्णता प्रभाव, शक्ति और सत्ता से सम्बन्धित अवधारणा भी है। यह लोकतन्त्रीय शासन प्रणालियों के लिए प्राणदायक है। औचित्यपूर्णता ही वह मानम है जो राज-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है। डेविड ईस्टन ने इसे नैतिक अवधारणा के स्थान पर मनोवैज्ञानिक अवधारणा माना है। वर्तमान समय में औचित्यपूर्णता से अभिप्राय न्याय की आवश्यकता या मानवीय भावना से लिया

जाता है। आज औचित्यपूर्णता को एक ऐसा विचार नियम मापा जाता है जो किसी विशेष व्यक्ति या समूह को राजनीतिक व अन्य शक्ति को प्रयुक्त करने का अधिकार इस शर्त पर देता है कि जनता को वह शक्ति मान्य है या स्वीकृत है। औचित्यपूर्णता को कुछ विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :-

(1) स्टर्न बर्जर के अनुसार-"औचित्यपूर्णता शासकीय शक्ति की नींव है। एक ओर तो यह सरकार को ध्यान दिलाती है कि उसे शासन करने का अधिकार प्राप्त है तथा दूसरी तरफ जनता द्वारा उस अधिकार का अभिज्ञान कराती है।"

(2) मैक्स वेबर के अनुसार-"औचित्यपूर्णता विश्वास पर आधारित होती है और अनुपालन प्राप्त करती है।"

(3) कून एतफ्रेड के अनुसार-"औचित्यपूर्णता का अर्थ शासकों और शासितों के बीच एक समझौते की स्वीकृति है। यह लोगों का एक ऐसा समझौता है जिसके अधीन लोग जीवित रहने और कारागार से बाहर रहने के बदले सरकार के आदेशों का पालन करना और कर देना स्वीकार करते हैं।"

(4) लिपसेट के अनुसार-"औचित्य का अर्थ राजनीतिक पद्धति द्वारा लोगों में विश्वास पैदा करने की क्षमता है जिसके बल पर लोगों में यह भावना पैदा की जाती है कि स्थापित राजनीतिक संस्थाएं सामाजिक कल्याण के लिए पूर्णतः पर्याप्त है।"

(5) जीन बलोंडेल के अनुसार-"औचित्यपूर्णता से अभिप्राय वह सीमा है जिसे व्यक्ति सम्बन्धित संगठन से पूछे बिना स्वभावतः स्वीकार करते हैं। सहमति या स्वीकृति का क्षेत्र जितना विशाल होगा, उस संगठन का औचित्य उतना ही अधिक होगा।"

इस तरह उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि औचित्यपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का एक ऐसा गुण है जिससे सरकारी संरचना के उपक्रमों तथा इसी प्रकार व्यवस्था की क्षमता को निश्चित किया जाता है। औचित्यपूर्णता एक ऐसा तत्व है जो शक्ति और सत्ता को जोड़ता है। औचित्यपूर्णता के बिना शक्ति और सत्ता में स्थायित्व नहीं आ सकता। राजनीतिक शक्ति और सत्ता के पीछे जो जनसमर्थन या सहमति होती है उसे ही औचित्यपूर्णता कहा जाता है। राजनीतिक शक्ति व सत्ता के पीछे जन सहमति का अभाव राजनीतिक अस्थिरता का कारण बनता है। इसलिए प्रत्येक सरकार अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण बनाए रखना चाहती है। अतः औचित्यपूर्णता के बिना सत्ता व शक्ति सदैव ही संदिग्ध होती है।

औचित्यपूर्णता की अवधारणा का विकास

(Development of the concept of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता की अवधारणा के बीच सर्वप्रथम प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में मिलते हैं। प्लेटो का कहना था कि प्रत्येक शासन का आधार नैतिक मूल्य और विश्वास ही होने चाहिए। आगे चलकर अरस्तु ने इसे संविधानिक शासन के रूप में चित्रित किया। मध्य काल में इस अवधारणा का प्रयोग अत्याचारी और न्यायमुक्त शासक के बीच अन्तर करने के लिए किया गया। मार्सिलियो ऑफ पेडुवा ने इस शब्द की संविधानिक व्याख्या की। आगे चलकर जॉन लॉक ने अपने जन सहमति के सिद्धान्त में इस विचार का पोषण किया। आधुनिक युग में सबसे पहले मैक्स वेबर ने इसका सार्वभौमिक अवधारणा के रूप में प्रयोग किया। वेबर ने बताया कि औचित्यपूर्णता विश्वास पर आधारित होती है और उसका अनुपालन प्राप्त करती है। उसने औचित्यपूर्णता के आधारों पर भी व्यापक विचार-विमर्श किया। उसके बाद कार्ल श्मिट ने तथा गुगलीमों फैरो ने भी औचित्यपूर्णता की समस्या पर विचार किया। इन्होंने मतैक्य को औचित्यपूर्णता का अनिवार्य तत्व नहीं माना। फैरो ने बहुमत, अल्पसंख्यक विरोधी-दल को औचित्यपूर्णता का आधार बताया। वर्तमान युग में

औचित्यपूर्णता को लोकतन्त्रीय आस्थाओं का आधार माना जाता है। एम०एम० लिपसेट ने कहा है कि किसी विशिष्ट लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थिरता न केवल आर्थिक विकास पर ही निर्भर करती है, बल्कि वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की औचित्यपूर्णता पर भी निर्भर करती है। राबर्ट डॉहल व रोवे ने भी औचित्यपूर्णता को महत्वपूर्ण माना है। इस तरह प्लेटो से लेकर आधुनिक समय तक पहुंचते पहुंचते औचित्यपूर्णता की अवधारणा काफी लोकप्रिय बन चुकी है। आज इसका शक्ति, सत्ता और प्रभाव की अवधारणाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

औचित्यपूर्णता की विशेषताएं

(Characteristics of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) औचित्यपूर्णता सामाजिक स्वीकृति पर आधारित अवधारणा है, क्योंकि इसमें जनता की विवेकशीलता और आस्था निहित है।

(2) औचित्यपूर्णता राजनीतिक व्यवस्था को गतिशील बनाती है।

(3) औचित्यपूर्णता शक्ति और सत्ता को व्यवहारिक रूप देती है। जनसमर्थन के आधार पर शक्ति और सत्ता वैध मानी जाती है। औचित्यपूर्णता के अभाव में व्यापक जन आन्दोलन के जन्म लेने की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं।

(4) औचित्यपूर्णता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करती है। जनता शक्ति को औचित्यपूर्ण आधार पर ही स्वीकार करती है और सत्ता का प्रभाव स्वीकार करती है।

(5) औचित्यपूर्णता राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जन-समर्थन प्राप्त करती है और जनता के मन में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास पैदा करती है।

औचित्यपूर्णता के स्त्रोत

(Sources of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता के स्त्रोतों को अलग-अलग विद्वानों ने कई तरह से बताया है। मैक्स वेबर के अनुसार औचित्यपूर्णता के तीन स्त्रोत - (i) परम्पराएं (ii) राजनेताओं का करिश्माई नेत त्व (iii) कानूनी-बौद्धिक सत्ता हैं। वास्तव में औचित्यपूर्णता का स्त्रोत राजनीतिक व्यवस्थाओं के सदस्यों की विचारधारा है। औचित्यपूणैता की समस्या राजनीतिक व्यवस्था की विभिन्न संरचनाओं, कार्यों, प्रक्रियाओं, मूल्य-विविधानों तथा स्वयं राजनेताओं के पद ग्रहण और क्रियान्विति के अन्तर्गत होता है। लोकतन्त्र में राजनीतिक व्यवस्था के आदर्श व मूल्य, लोकप्रिय सहमति, प्रतिनिधित्व, निर्वाचन, बहुमत का शासन, नागरिक अधिकार व स्वतन्त्रताएं औचित्यपूर्णता के प्रतीक होते हैं। कार्ल ले० फ्रेडरिक ने औचित्यपूर्णता को धार्मिक, दार्शनिक और न्यायमूलक, परम्परागत, प्रक्रियामूलक, व्यवहारिक एवं आनुभाविग वर्गों में बांटा है। इनमें न्याय की आवश्यकता औचित्यपूर्णता का सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत है। ग्रेस ए० जोन्स ने ब्रिटिश राज-व्यवस्था के सन्दर्भ में औचित्यपूर्णता के स्त्रोत निम्नलिखित बताये हैं :-

(1) राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में भूतकालीन निरन्तरता।

(2) अहिंसा की परम्परा।

(3) विभिन्न संकेत, प्रतीक एवं धार्मिक विधियां (Rituals)।

(4) अनुकूलनात्मक राजनीतिक संस्कृति।

(5) सामंजस्यपूर्ण एवं स्वीकृत समाज तथा उसकी परम्पराओं की निरन्तरता।

(6) वर्तमान राजनीतिक क्रियाविधियों की प्रामाणिकता व अन्तर्निहित मूल्यों में विश्वास।

(7) निर्वाचन प्रक्रिया, स्वतन्त्रता एवं मतैक्य।

लोकतन्त्र में स्वतन्त्र व निष्पक्ष चुनाव, सहमति, उचित प्रतिनिधित्व, व्यस्क मताधिकार, प्रैस की स्वतन्त्रता एवं सहिष्णुता औचित्यपूर्णता के स्त्रोत होते हैं। पुरस्कार और दण्ड के रूप में यह भौतिक स्वरूप प्राप्त करती है, जबकि कानून के शासन की प्रेरक एवं नियामक शक्ति के रूप में यह विधिक या कानूनी स्वरूप प्राप्त करती है। लोकतन्त्र की अपेक्षा तानाशाही राज-व्यवस्थाओं में औचित्यपूर्णता के स्त्रोतों में अन्तर आ जाता है, क्योंकि तानाशाही शासकों को अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने के लिए जनसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

औचित्यपूर्णता के प्रकार

(Types of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता अपने स्त्रोतों की तरह ही अनेक प्रकार की होती है। इसके अनेक रूप हैं। डॉल्फ स्टर्न बर्गर ने औचित्यपूर्णता को दो भागों - दैवीय (Numinous) तथा नागरिक (Civil) में बांटा है। औचित्यपूर्णता का दैवीय रूप मिस्त्र में देवतुल्य सम्राटों, ईसाई जगत् में ईसा के ईश्वर पुत्र की 'मिथ' मूसा की प्रेरणाएं, मार्क्स का इतिहास का मूर्तिकरण, हीगल की विश्वात्मा का विचार आदि में देखने को मिलता है। इस प्रकार की औचित्यपूर्णता प्राचीन राजतन्त्रों में भी विद्यमान थी, क्योंकि उनमें राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। नागरिक औचित्यपूर्णता का सम्बन्ध किसी देश के शासन को नागरिकों द्वारा स्वीकृति प्रदान करने से होता है। अरस्तु का पोलिस, मध्यकाल के आर्थिक संघ और आधुनिक संविधानिक व्यवस्थाएं इसी प्रकार की औचित्यपूर्णता का प्रतिबिम्ब हैं।

मैक्स वेबर ने सत्ता की तरह ही औचित्यपूर्णता के तीन प्रकार परम्परागत, बौद्धिक-कानूनी तथा करिश्माई बताए हैं। जब राजनीतिक सत्ता के आदेशों का पालन अधीनस्थों या जनता द्वारा रीति-रिवाजों, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के आधार पर किया जाता है तो परम्परागत औचित्यपूर्णता का जन्म होता है। जब लोग शासकीय सत्ता की आज्ञा का पालन संविधानिक कानूनों को न्यायसंगत मानकर करते हैं तो बौद्धिक-कानूनी औचित्यपूर्णता प्रकट होती है। नौकरशाही के आदेशों का पालन उनकी कार्यकुशलता के आधार पर ही किया जाता है। जब सत्ताधारी की आज्ञा का पालन जनता या अधीनस्थ उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्वाभाविक रूप से करते हैं तो करिश्माई औचित्यपूर्णता का उदय होता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी में हिटलर को तथा इटली में मुसोलिनी को इसी प्रकार की औचित्यपूर्णता प्राप्त हुई थी। चीन में माओ को 1966 में सांस्कृतिक क्रांति के नाम पर विद्रोहियों को कुचलने के कारनामे को जनता ने उनके करिश्माई व्यक्तित्व से ही प्रभावित होकर औचित्यपूर्ण माना था।

राबर्ट डॉहल ने सरकारों की स्थिति एवं औचित्य को ध्यान में रखकर औचित्यपूर्णता को उच्चस्तरीय व दुर्बल दो भागों में बांटा है। उच्च स्तरीय औचित्यपूर्णता सरकारों में उच्च जन-आस्था पर आधारित है, जबकि दुर्बल-स्तर की औचित्यपूर्णता सरकारों को प्राप्त कमजोर व तदर्थ समर्थन पर ही आधारित होती है। इसी तरह कार्ल श्मिट ने केवल जनतांत्रिक औचित्यपूर्णता की समस्या पर ही विचार किया है। गुगगलीमो फेरो ने औचित्यपूर्णता को चार भागों - (i) निर्वाचन पर आधारित राजनीतिक औचित्यपूर्णता (ii) जनतांत्रिक औचित्यपूर्णता (iii) उत्तराधिकार पर आधारित या पैत क औचित्यपूर्णता (iv) कुलीनतन्त्रीय व राजतन्त्रीय औचित्यपूर्णता में बांटा है। निर्वाचन पर आधारित औचित्यपूर्णता चुनावी प्रक्रिया का परिणाम होती है। उत्तराधिकार में प्राप्त औचित्यपूर्णता परम्परओं पर आधारित होती है। राजतन्त्रीय औचित्यपूर्णता को व्यापक जनसमर्थन मिलने पर वह कुलीनतन्त्रीय औचित्यपूर्णता में बदल जाती है। इस प्रकार की औचित्यपूर्णता वर्गीय हितों की पोषक होती है। कार्ल जे० फ्रेडरिक ने औचित्यपूर्णता को पांच भागों में बांटा है। उनके अनुसार औचित्यपूर्णता (i) धार्मिक (ii) दार्शनिक और न्यायशास्त्रीय (iii) परम्परागत (iv) प्रक्रियात्मक (v) व्यावहारिक एवं अनुभववादी पांच तरह की होती है।

औचित्यपूर्णता का महत्व

(Importance of Legitimacy)

किसी राजनीतिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। लेकिन शक्ति का निर्बाध रूप से प्रयोग होना जनक्रान्ति का कारण बन सकता है। इससे जनसमुदाय का शासन-व्यवस्था पर से विश्वास उठ जाता है। इसलिए शक्ति को न्यायसंगत बनाने के लिए औचित्यपूर्णता के द्वारा सत्ता में परिवर्तित किया जाता है। औचित्यपूर्णता के प्राप्त होते ही सत्ता और शक्ति दोनों ही स्थायित्व गुण प्राप्त कर लेती हैं। औचित्यपूर्णता प्रभाव को भी सत्ता में परिवर्तित करती है। विकासशील देशों में औचित्यपूर्णता की प्राप्ति के लिए शासक-वर्ग को अधिक से अधिक औचित्यपूर्ण बनाना पड़ता है। औचित्यपूर्णता प्रजातन्त्र का आधार है। यह औचित्यपूर्णता ही है जो अल्पसंख्यक तथाबहुसंख्यकों को जोड़े रखती है। लोकतन्त्र में अपने कार्यों व नीतियों को औचित्यपूर्ण बनाने के लिए सभी राजनीतक दल प्रयासरत् रहते हैं। औचित्यपूर्ण ही समाज-व्यवस्था की आधारभूत सांस्कृतिक मूल्य-संरचना है। आज औचित्यपूर्णता का अर्थ है - कौन, कब, क्यों और कैसे प्राप्त करता है ? स्वतन्त्र एवं नियमित चुनाव, सहमति, उचित प्रतिनिधित्व, व्यस्क मताधिकार आदि औचित्यपूर्णता के महत्वपूर्ण संकेतक हैं। औचित्यपूर्णता के बिना न तो जनसमुदाय का विश्वास जीता जा सकता है और न ही शासन-व्यवस्था सफल रह सकती है। अतः औचित्यपूर्णता शक्ति और सत्ता को गतिशील बनाने व स्थायित्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी कारण यह आधुनिक समय में राजनीति विज्ञान की महत्वपूर्ण अवधारणा बन चुकी है।

औचित्यपूर्णता की बाधाएं

(Problems of Legitimacy)

किसी सत्ता व शक्ति को औचित्यपूर्ण बनाना एक कठिन कार्य है। आज जनता में इतनी अधिक जाग ति व राजनीतिक चेतना आ चुकी है कि वह सहजता से बिना जांच-परख के सत्ता के कार्यों को स्वीकार नहीं करती। इसी कारण आज शासक-वर्ग को अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण बनाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास करना पड़ता है। लेकिन जब कोई शासक जनहित की उपेक्षा करता है तो उसके सामने औचित्यपूर्णता का संकट उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी समाज के वर्गीय भेद भी औचित्यपूर्णता के लिए सिरदर्द बन जाते हैं। कई बार दीर्घकालीन नेत त्व भी औचित्यपूर्णता का विनाश करने वाला होता है। राजनेताओं की कथनी और करनी में अन्तर आ जाने पर जनता का सत्ता पर से विश्वास उठ जाता है। इसी प्रकार व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओं, परम्पराओं व सामाजिक मूल्यों की अवमाना, आर्थिक संकट, ग ह युद्ध, राष्ट्रीय संकट, युद्ध आदि के कारण भी औचित्यपूर्णता को झटका लगता है।

ल्यूसियन पाई के अनुसार औचित्यपूर्णता के लिए संकट चार प्रकार से उत्पन्न होता है :-

(1) सरकारी संस्थाओं में संघर्ष के कारण।

(2) राजनीतिक संस्थाओं में शक्ति-अर्जन की निरन्तर प्रतियोगिता।

(3) राजनेताओं द्वारा दिए गए गलत वाक्य।

(4) जन नेत त्व में जनता का अविश्वास।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि औचित्यपूर्णता के मार्ग में अनेक बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए सरकार को अपनी संरचनाओं में संघर्ष की भावना पैदा नहीं होने देनी चाहिए। विभिन्न संस्थागत संरचनाओं में मतैक्य की भावना का विकास किया जाना चाहिए। राजनेताओं को नपी

तुली भाषा में ही जनता के बीच जाना चाहिए। उन्हें कभी भी ऐसे वायदे जनता के साथ नहीं करने चाहिए जो पूरे न किए जा सकें। जो शासक जानबूझ कर देश को आर्थिक संकट या युद्ध की आग में झौकता है, उसके कार्यों को कभी भी जनता का समर्थन नहीं मिल सकता। इसलिए शासक वर्ग को अपनी नीतियों व निर्णयों को न्यायसंगत बनाने के लिए ही प्रयास करने चाहिए ताकि औचित्यपूर्णता की प्राप्ति की जा सके और उसे बनाया भी रखा जा सके।

औचित्यपूर्णता और राजनीतिक दायित्व

(Ligitimacy and Political Obligation)

व्यवस्थाओं के औचित्यपूर्ण होने का अर्थ है - दायित्वपूर्णता। राज-व्यवस्था में सत्ता को पहचान औचित्यपूर्णता से ही प्राप्त होती है। औचित्यपूर्ण शासन ही राजनीतिक दायित्व का आधार है। आधुनिक उदारवादी लोकतन्त्रों में औचित्यपूर्ण सत्ता को कई उत्तरदायित्यों का निर्वहन करना जरूरी है। इसी कारण आज प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को औचित्यपूर्ण बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। औचित्यपूर्णता की द ष्टि से राजनीतिक व्यवस्था के निम्नलिखित दायित्व हो सकते हैं :-

(1) सीमित, स्वीकृत एवं समय-समय पर शक्ति एवं सत्ता के प्रयोग को स्वीकृति देना।

(2) उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधित्व, सामाजिक एवं स्वतन्त्र निर्वाचन, व्यस्क मताधिकार, स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष संचार-साधन और नागरिक शासन की स्थापना को बनाए रखना।

(3) सत्ता का विकेन्द्रीयकरण करना।

(4) सुरक्षा, न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति व लोककल्याण को सुनिश्चित बनाना।

(5) नागरिकों के न्यूनतम मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था करना।

(6) प्रगतिशील लक्ष्यों, मूल्यों एवं उद्देश्यों को जन सहमति के अनुकूल बनानां

(7) लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही, सेना, अशासकीय संघों एवं उद्यमों आदि को पूरी तरह राजनीतिक सत्ता के नियन्त्रण में रखना।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपनी सत्ता को औचित्यपूर्ण बनाए रखने के लिए और क्रान्ति या विद्रोह की स्थिति टालने के लिए समय समय पर अपने जनता के प्रति उत्तरदायित्व की समीक्षा करती रहती है और उनका निर्वहन भी करती है। यदि राजनीतिक सत्ता ऐसा करने में चुक जाती है तो उसके दिन लदने वाले होते हैं। ऐसी सत्ता औचित्यपूर्ण नहीं रह सकती। वह बालू की दीवार की तरह हल्के से जन-आन्दोलन से तरह-नहस हो सकती है।

शक्ति, सत्ता और औचित्यपूर्णता का पारस्परिक सम्बन्ध

(Relation between Power, Authority and Legitimacy)

सत्ता और शक्ति को जोड़ने में वैधता या औचित्यपूर्णता की महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति और सत्ता का स्थान भी महत्वपूर्ण होता है। कई बार अनुचित राजनीतिक निर्णयों को जन स्वीकृति प्राप्त कराकर औचित्यपूर्ण बना दिया जाता है। ऐसी जनस्वीकृति किसी भय या पाशविक बल पर आधारित हो सकती है। बिना किसी भय के राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों व नीतियों को मिलने वाला जनसमर्थन ही औचित्यपूर्ण होता है। सत्ता निश्चित और स्पष्ट होती है, लेकिन शक्ति अस्पष्ट व अनिश्चित होती है। जब शक्ति को औचित्यपूर्ण मान लिया जाता है तो वह सत्ता में परिवर्तित हो जाती है। चार्ल्स ई० मेरियम ने अपनी पुस्तक 'Political Power' में शक्ति और सत्ता को एक माना है। लेकिन सत्ता सहमति पर आधारित होती

है और शक्ति दमन का यन्त्र मानी जाती है। इसलिए प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपनी शक्ति को औचित्यपूर्ण आधार पर सत्ता में बदलने का प्रयास करती है। यद्यपि राजनीतिक निर्णयों को लागू करने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है, लेकिन इसे प्रभावशाली बनाने के लिए इसे वैधता या औचित्यपूर्णता के साथ जोड़ा जाता है। सत्ता में शक्ति और वैधता दोनों शामिल होती हैं। समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिए औचित्यपूर्णता और शक्ति एक दूसरे की पूरक बनकर कार्य करती हैं। शक्ति राजनीतिक व्यवस्था की नंगी तलवार होती है तो सत्ता म्यान में ढकी हुई तलवार है जो आवश्यकता पड़ने पर ही बाहर निकाली जाती है। सत्ता के साथ जब तक औचित्यपूर्णता जुड़ी रहती है, तब तक उसे प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक राजनीतिक शक्ति को वैधता प्राप्त रहती है तब तक वह अस्तित्व में रहती है। बिना वैधता या औचित्यपूर्णता के न तो शक्ति टिक पाती है और न ही सत्ता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति, सत्ता और औचित्यपूर्णता आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। यह तीनों अवधारणाएं आज राजनीति विज्ञान का महत्वपूर्ण अध्ययन विषय हैं। सत्ता का अर्थ है - शक्ति + वैधता। अतः शक्ति, सत्ता व औचित्यपूर्णता में औचित्यपूर्णता शक्ति और सत्ता को जोड़ने वाली कड़ी है। औचित्यपूर्णता के बिना न तो शक्ति स्थाई हो सकती है और न ही सत्ता।